सम्पादक—हजारीप्रसाद द्विवेदी

सहकारी—रघुवंश : जगदीश गुप्त

वर्ष ११

अंक १

जनवरी—मार्च १९५८ ई०

प्रकाशन तिथि—२० मई १९५८ ई०

भारतीय हिन्दी परिषद्

प्रयाग

वार्षिक ३)　　विद्यार्थियों से २)　　इस अंक का १)

विषय-सूची

हिन्दी-अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्ष ११] जनवरी–मार्च, १९५८ ई० [अंक १

'उज्ज्वलनीलमणि' में मधुर रस का निरूपण

रमाशंकर तिवारी, एम० ए०, सतीशचन्द्र कालेज, बलिया

सुप्रसिद्ध गौड़ीय वैष्णव आचार्य श्री रूपगोस्वामी को शृंगार रस का भक्तिपरक निरूपण करने का श्रेय प्राप्त है। 'भक्तिरसामृतसिंधु' में उन्होंने भक्तिरस को ही प्रकृत रस स्वीकार किया है तथा अन्य रसों को उसी की "विभिन्न विकृतियाँ" एवं प्रभेद ठहराया है। भक्तिरस के विशिष्ट रूप का उपन्यास करते हुए, उस ग्रंथ में क्रमशः शान्तभक्ति, प्रतीभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सलभक्ति, तथा मधुरभक्ति रस का विभिन्न लहरियों में अत्यंत सर्वांगपूर्ण विवेचन हुआ है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में रूपगोस्वामी ने भक्तिरसराज मधुररस का विस्तारपूर्वक उपपादन किया है।[१] आगे कहे जाने वाले विभावादिकों से आस्वाद्यमान मधुरारति ही 'मधुर' नामक भक्तिरस है।[२] कृष्ण और उनकी वल्लभाएँ इसमें आलंबन विभाव हैं जिनमें कृष्ण विषयालंबन तथा उनकी वल्लभाएँ आश्रयालंबन कही गई हैं। श्रीकृष्ण पति और उपपति

१—मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥
—उज्ज्वलनीलमणि, द्वितीय संस्करण, (निर्णयसागर प्रेस): पृ० ४

२—वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥
—वही, पृष्ठ ५।

दोनों हैं। औपपत्य में ही शृंगार का परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित है। प्राकृत नायकों में तो यह अवश्य हेय है, लेकिन रसावतार कृष्ण में यह अभिनंदनार्ह है।[३] हरिवल्लभाएँ स्वकीया एवं परकीया, दो प्रकार की हैं। स्वकीयाओं की संख्या सोलह हज़ार है जिनमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, अर्कनंदिनी, शैब्या, भद्रा, कौशल्या तथा माद्री, ये आठ श्रेष्ठ हैं। परकीयाओं की कन्यका एवं परोढ़ा दो कोटियाँ हैं जिनमें कन्यकाएँ अविवाहित, दुर्गा का व्रत करने वाली तथा मुग्धा के गुणों से युक्त हैं और परोढ़ाएँ, गोपों से विवाहित होने पर भी, हरि के साथ संयोग की लालसा रखने वाली अ-पुत्रवती नारियाँ हैं। ये परकीयाएँ पुनः साधनपरा, देवी एवं नित्यप्रिया, इन तीन वर्गों में बाँटी गई हैं। नित्यप्रियाएँ कृष्ण के ही समान नित्य सौन्दर्य, वैदग्ध्य इत्यादि गुणों से युक्त हैं तथा इनमें राधा सर्वश्रेष्ठ हैं जो नववय वाली, विदग्ध लज्जाशील एवं महाभाव के उत्कर्ष की अभिलाषा रखने वाली कृष्ण की मुख्य प्रिया हैं। इसी सिलसिले में नायिकाभेद, दूती-भेद तथा सखियों का विस्तृत कथन किया गया है। यहाँ भी आचार्य ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि शृंगार रस में गोकुल की कमलनयनियों के कुल के बिना परोढ़ा इष्ट नहीं है।

आलंबन विभाव के विवेचन में रूपगोस्वामी ने, एक तरह से, अपने समस्त शृंगार-निरूपण के लिए एक ठोस साम्प्रदायिक आधार निर्मित कर लिया है। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस आधार का कोई बड़ा महत्त्व नहीं है। लेकिन, उसके बाद का निरूपण हमारे लिए निश्चयमेव महत्त्वपूर्ण बन गया है। उद्दीपन विभावों की छः श्रेणियाँ बताई गई हैं जो गुण, नाम, चरित्र, मंडन, संबन्धी तथा तटस्थ संज्ञा से अभिहित हुए हैं। गुण तीन प्रकार के होते हैं—मानसिक, वाचिक एवं कायिक। कायिक गुणों में वय, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य एवं मार्दव प्रमुख बताए गए हैं। वयःसंधि, नव्ययौवन, व्यक्तयौवन तथा पूर्ण यौवन नाम से मधुर रस में चार प्रकार की अवस्थाएँ निर्दिष्ट हुई हैं। अन्य कायिक गुणों में रूप, लावण्य तथा सौन्दर्य का उपपादन उल्लेख्य है। अभूषित अंगों से ही जो शोभा देता है, वह 'रूप' है। मोतियों में छाया की आन्तरिक तरलता के समान जो वस्तु अंगों में चमकती है, वह 'लावण्य' है। अंग-प्रत्यंगों का सुश्लिष्ट संधिबंध से युक्त जो उचित सन्निवेश है, वह सौन्दर्य है।[४]

३—अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः।

... ...

लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥

वही, [illegible]

४—अंगान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना।
येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥
मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥
अंगप्रत्यंगकानां यः सं[illegible]
सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्या[illegible]

माधुर्य की परिभाषा भी अन्य आचार्यों की तुलना में अधिक संगत एवं ग्राह्य है।[५] चरित उद्दीपन के दो भेद 'अनुभाव' और 'लीला' किए गए हैं तथा वस्त्र, भूषण, माल्य एवं अनुलेपन चार प्रकार के मंडन बताए गए हैं। संबंधी उद्दीपनों में वंशी, शृंगी-ध्वनि, भूषणों की झनझनाहट, उतारी हुई माला, वस्त्र, प्रिय-सखादि का दर्शन, वृन्दावन तथा तदाश्रित वस्तुएँ, गोवर्धनादि परिगणित हुए हैं। तटस्थ उद्दीपनों के अंतर्गत, नायक-नायिका से असंबद्ध, प्राकृतिक वस्तुएँ, जैसे चन्द्रिका, मेघ, विद्युत्, वसंत इत्यादि रखी गई हैं। लेकिन कृष्ण-मुख से निकली हुई मुरली-ध्वनि सभी उद्दीपनों में श्रेष्ठतम ठहराई गई है।

अनुभावों को चित्तस्थ भावों के बोधक बताते हुए भी,[६] उन्हें 'चरित' नामक उद्दीपन का एक भेद बताया गया है। यह पूर्णतः संगत विधान है क्योंकि अनुभाव दूसरे पक्ष के लिए उद्दीपन का कार्य करते ही हैं। नायिका के सत्त्वज अलंकारों को अनुभावों की श्रेणी में गृहीत कर 'उद्भास्वर' एवं 'वाचिक' नामक दो अन्य प्रकार के अनुभाव भी कहे गए हैं। नीवी, उत्तरीय, केश-स्रंसन, अँगड़ाई इत्यादि उद्भास्वर तथा आलाप, विलाप, संदेश इत्यादि वाचिक हैं। नाट्यशास्त्र का अनुसरण करने के कारण, अलंकार बीस ही निर्दिष्ट हैं, अट्ठाईस नहीं, जैसा साहित्यदर्पण में है। सात्विक भावों एवं व्यभिचारियों के निरूपण में कोई वैशिष्ट्य लक्षित नहीं होता।

शृंगार के स्थायिभाव 'मधुरारति' का विवेचन[७] 'उज्ज्वलनीलमणि' की अपनी विशेषता समझी जाएगी, यद्यपि इसका एक यथेष्ट अंश भोजदेव के 'सरस्वती कंठाभरण' से लिया गया है। यह रति अभियोग से, विषय से, सम्बन्ध से, अभिमान से, तदीय विशेष से, उपमा से एवं स्वभाव से—इन सात प्रकारों से उत्पन्न होती है। स्व या पर से अनुराग की व्यक्ति 'अभियोग' है। शब्द, स्पर्श रूप, रस एवं गंध से उत्पन्न रति 'वैषयिकी' है। कुल, रूप, शौर्य, सौशील्य इत्यादि की समग्रता के आधिक्य से उद्भूत रति सम्बन्धजा है। अनेक रमणीय पदार्थों वा व्यक्तियों के होते हुए भी किसी एक ही की प्रार्थना वा अभिलाषा करना 'अभिमान' है। पद-चिह्न, गोष्ठ तथा प्रिय-सखादि 'तदीयविशेष' हैं और सादृश्य से उत्पन्न रति 'उपमाजन्य' है। इन संपूर्ण वाह्य हेतुओं की अपेक्षा न करने वाली रति 'स्वाभाविकी' है एवं गोकुल की

५—रूपं किमप्यानिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते।

—वही, पृ० २७५।

मिलाइए—

अभ्यासात् करणानांतु श्लिष्टत्वं यत्र जायते।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमिति स्मृतम्॥

—नाट्यशास्त्र, २४।३४।

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता।—साहित्य दर्पण, ३।६७।

६—अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः।

—भक्तिरसामृतसिन्धु।

७—स्थायिभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरा रतिः।

—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ३८८

सुन्दरियों में प्रायः यही रति विद्यामान रहती है।[८] रति की अभिव्यक्ति के ये प्रकार 'सरस्वती कंठाभरण' से मिलते हैं।

हरि-वल्लभाओं की कोटियों को ध्यान में रख कर रति की तीन कक्षाएँ—साधारणी, समंजसा एवं समर्था—निरूपित की गई हैं। ये क्रमशः कुब्जादि में, महिषियों में तथा गोकुलदेवियों में होती हैं।[९] अथच क्रमशः मणि के समान नातिसुलभ, चिन्तामणि के समान सुदुर्लभ एवं कौस्तुभमणि के समान अनन्य लभ्य होती हैं। साधारणी रति हरि के साक्षात्दर्शन से उत्पन्न होती है, अतिसान्द्र नहीं होती तथा संभोग की इच्छा से युक्त रहती है और संभोगेच्छा के ह्रास से इसका भी ह्रास हो जाता है। पत्नी-भाव से समन्वित, गुणादि के श्रवणादि से उत्पन्न सघन रति 'समंजसा' है जिसमें संभोग-तृष्णा कभी-कभी खंडित भी होती है। कुछ विशेषता को प्राप्त होने वाली इस रति से संभोगेच्छा जब तादात्म्य (एकीभाव) उपलब्ध करती है, तब वह रति 'समर्था' कहलाती है। सबसे अद्भुत विलास की लहर का चमत्कार उत्पन्न करने वाली शोभा इस रति में वर्तमान रहती है तथा यह संभोगेच्छा-विशेष से बाधित वा खंडित नहीं होती। इसमें केवल कृष्ण के सौख्यार्थ ही उद्यम होता है तथा यही रति प्रौढ़ होकर 'महाभाव-दशा' को प्राप्त हो जाती है। श्रेष्ठ भक्तों तथा विमुक्तों द्वारा यह मृग्य है, प्राप्य चाहे न हो। रूपगोस्वामी ने उद्दीपन-प्रकरण में बताया है कि साधक भक्त-जन ब्रजदेवियों के कृष्णविषयक भाव को स्वरूप-लक्षण से तथा कृष्ण के ब्रजदेवी-विषयक भाव को तटस्थ-लक्षण से आस्वादित करते हैं।

अवस्था-भेद से उत्पन्न उत्कर्ष की विशिष्टता से भी रति के भेद किए गए हैं। यह मधुरा रति दृढ़ होकर 'प्रेम' बन जाती है। प्रेम सूर्य के समान चित्त रूपी नवनीत को अपने ताप से द्रवित करता हुआ 'स्नेह' हो जाता है। यह स्नेह वृद्धि पाकर 'मान' और मान वृद्धि पाकर 'प्रणय' में बदल जाता है। प्रणय वृद्धि पाकर 'राग' तथा राग वृद्धि पाकर 'अनुराग' की आख्या से अभिहित होते हैं। यही अनुराग उत्कर्ष को उपलब्ध कर 'भाव' अथवा 'महाभाव' में परिणत हो जाता है जो 'समर्था रति' के लिए ही संभव है। जैसे बीज अंकुरित होकर ईख हो जाता है और ईख से रस, रस से गुड़, गुड़ से खड, खंड से शर्करा, शर्करा से मिश्री (सिता), तथा मिश्री से सितोपला बन जाती है, वैसे ही यह रति प्रेम, स्नेह इत्यादि सोपानों से होकर, उत्तरोत्तर अधिक माधुर्य ग्रहण करती हुई 'महाभाव' की अनन्यलभ्य दशा को प्राप्त कर जाती है। जिस समर्थारति वाली हरि-प्रेयसी का कृष्ण में जिस जाति का प्रेम होता है, उस प्रेयसी में उसी जाति का प्रेम कृष्ण का भी हो जाता है।

८—रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम्।

—वही, पृ० ००६

९—साधारणी निगदिता समंजसासौ समर्था च।
कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः॥
मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता।
नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च॥

—वही, पृ० ४०७

इसी संदर्भ में प्रेम, स्नेह, मान इत्यादि के लक्षणों का उपपादन किया गया है। विस्रंभ अर्थात् विश्वास धारण करने वाला 'मान' ही 'प्रणय' बताया गया है जो अधिक उत्कर्ष पाकर 'राग' में परिणत हो जाता है। 'राग' में दुःख भी सुख बन जाता है। यह राग दो प्रकार का होता है—'नीलिमा' एवं 'रक्तिमा'। पुनः नीलिमा के 'नीली राग' और 'श्यामा राग' तथा रक्तिमा के 'कौसुम्भ राग' और 'मांजिष्ठ राग' दो-दो भेद किए गए हैं। इन चतुर्विध रागों में अनुरक्ति की निविड़ता एवं प्रकाशवत्ता उत्तरोत्तर अधिक होती है। कृष्ण की प्रेयसियों में कौसुंभ राग मलिन नहीं होता। जो अनाश्य, अनन्यसापेक्ष तथा निरंतर अपनी कांति को बढ़ाता जाता है, वह मांजिष्ठ राग है। राधा एवं माधव में यही राग विद्यमान रहता है। प्रेम की इन विभिन्न अवस्थाओं की आश्रयभूत गोपियों का स्पष्ट निर्देश भी इस प्रकरण में उपलब्ध होता है। सतत अनुभूत होते हुए जो प्रिय को नव-नव बना देता है, वह स्वयं भी नव-नव बनने वाला राग 'अनुराग' है। अनुराग का अनुभव यों कथित है—इसमें नायक-नायिका एक-दूसरे के वशीभूत होते हैं, प्रेम की विचित्रता हो जाती है तथा अन्य प्राणियों वा जड़ पदार्थों में भी (प्रिय-संनिकर्ष की प्राप्ति की लालसा से) जन्म लेने की इच्छा अत्यंत बढ़ जाती है। विप्रलंभ में यही अनुराग नितांत पुष्ट हो जाता है। स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त कर प्रकाशित होने वाला अनुराग ही 'भाव' है। यह भाव कृष्ण की महिषियों सत्यभामा, रुक्मिणी इत्यादि के लिए अत्यंत दुर्लभ है तथा व्रजदेवियों में संवेद्य होने पर 'महाभाव' कहलाता है। इस 'महाभाव' की शोभा (श्री) श्रेष्ठ अमृत जैसी होती है तथा यह मन को अपने रूप में मिला लेता है।[१०] महिषियों के लिए 'महाभाव' दुर्लभ इस कारण बताया गया है कि उनकी संभोगेच्छा पृथक ही स्थित रहती है जिससे उनका मन कभी सम्यक्रूपेण प्रेमात्मक होता ही नहीं है। इसके विपरीत, व्रजसुन्दरियों की सम्पूर्ण मनोवृत्ति, मन इत्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ महाभावरूप बन जाती हैं तथा उन इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापारों द्वारा व्रजांगनाओं को कृष्ण में वश्यता सिद्ध होती है। स्मरणीय यह है कि समर्था रति में ही महाभाव दशा आती है और इसमें संभोग-विलास की अत्यंत चमत्कारी तरंगों का प्रादुर्भाव बताया गया है।[११] इस महाभाव की दशा के भी 'रूढ़' और 'अधिरूढ़' दो मोड़ बताए गए हैं। पुनः अधिरूढ़ को भी 'मोदन' तथा 'मादन' दो कोटियों में विभक्त कर 'मादन' को सर्वभाव के उद्गम का उल्लास करने वाली, सबसे श्रेष्ठ मनोदशा निरूपित किया गया है जो राधा में ही शोभा देता है तथा जिसका

---

१० मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥

वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः॥

—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४६२-६३

११—सर्वाद्भुतविलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः।
संभोगेच्छाविशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते॥

वही, पृ०, ४२३

सार आनन्द किंवा ह्लाद है। यह एक विचित्र योग है जिसकी गति मदन की तरह दुर्गम है तथा जिसमें सहस्रशः विलास-क्रीड़ाएँ चला करती हैं।[१२]

शृंगार के दो भेद संभोग एवं विप्रलंभ सामान्य रूप से आचार्यों को मान्य रहे हैं। धनंजय ने 'अयोग', 'विप्रयोग' तथा 'संभोग' नाम से तीन भेद किए हैं जिनमें 'अयोग' (न मिलना) एवं 'विप्रयोग' (मिलकर अलग हो जाना) विप्रलंभ के ही दो रूप हैं। रूपगोस्वामी ने सामान्य दो भेद माने हैं। विप्रलंभ के 'पूर्वराग', 'मान', 'प्रेमवैचित्य' तथा 'प्रवास' चार भेद बताए गए हैं। 'करुण' विप्रलंभ को प्रवास के ही अन्तर्गत गृहीत किया गया है। प्रेमोत्कर्ष के स्वाभाव के कारण, प्रिय के निकटस्थ होने पर भी, वियोग-भावना (वियोग की आशंका) से उत्पन्न पीड़ा 'प्रेमवैचित्य' है। अन्य तीन भेदों के निरूपण में कोई विशेषता नहीं है। संभोग शृंगार के दो प्रकार, मुख्य तथा गौण कहे गए हैं। जाग्रत अवस्था का संभोग 'मुख्य' है और स्वप्न में हरि की प्राप्ति विशेष 'गौण' संभोग है। मुख्य संभोग चार प्रकार का होता है—पूर्वराग के अनन्तर होने वाला 'संक्षिप्त' संभोग है, मान के अनन्तर होने वाला 'संकीर्ण' संभोग है, कुछ दूर प्रवास के अन्ततर घटित होने वाला 'सम्पन्न' संभोग है तथा सुदूर प्रवास के अनन्तर घटित होने वाला 'समृद्ध' संभोग है। संभोग शृंगार के ये चतुर्विध भेद भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' से लिए गए हैं। इनका संक्षिप्त उल्लेख विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में भी किया है। संभोग शृंगार के इन भेदों में सम्पन्न होने वाले अगणित विलासों को भी उज्ज्वलनीलमणिकार ने निर्देशित कर दिया है, जो ये हैं—संदर्शन, जल्प, स्पर्श, मार्गावरोध, रास, वृन्दावन-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, नौकाविहार, चीरहरण, मधुपान, वधूवेश-धारण, कपट-शयन, द्यूत-क्रीड़ा, चुंबन, आलिंगन, नख-दान, अधर-पान, संभोग इत्यादि।

अन्त में, रूपगोस्वामी ने मधुर रस के समुद्र को अतल, अपार एवं दुर्विगाह बता कर स्वीकार किया है कि मैंने तट पर खड़े होकर ही इस रसार्णव को स्पर्श किया है—

स्पृष्टः परं तटस्थेन रसाब्धिर्मधुरो मया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण की लीलाओं के आधार पर मधुर रस का निरूपण किया है। सूर इत्यादि कृष्ण-कवियों की रचनाओं को समझने में इस निरूपण से सहायता मिलेगी—इसमें दो मत नहीं हो सकते। सामान्य पाठक सूर के पदों में जो निविड़ ऐन्द्रियता का साक्षात्कार कर चकित हो जाता है, उसकी घबराहट का निरास हो जाएगा यदि वह 'समर्था रति' तथा 'महाभाव' दशा का विवेचन ध्यान में रख कर पदों का अध्ययन करे। स्मरणीय यह है कि संभोग-लीला की नित्य-नव-नव विलास-लहरियों का घटन

१२—सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥
... ...
योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः।
यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाःसहस्रधाः॥
मादनस्य गतिः सुष्ठु मदनस्येव दुर्गमा।
—वही, पृ० ४९९-५०२

'महाभाव' दशा में स्वीकार किया गया है तथा उसके सर्वश्रेष्ट स्वरूप 'मादन' को मदन के समान दुर्गम बताया गया है और आनन्द को उसका सार कहा गया है। वास्तव में, यह सम्पूर्ण निरूपण आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित है तथा भक्ति-प्राप्ति ही उसका उद्देश्य है। राधा भगवान की ह्लादिनी शक्ति की मूर्ति हैं और इनके साथ नित्य वृन्दावनधाम में कृष्ण की नित्य लीला चलती रहती है। महाभाव की दशा राधा के लिए ही अधिगम्य बताई गई है और राधा की कृपा से ही जीव भगवत्प्रेम का आनन्द प्राप्त कर सकता है। भक्ति के गूढ़ तत्त्वों को साहित्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली में व्यक्त कर तथा साहित्यशास्त्र के एक विशिष्ट अंग शृंगार को भक्ति-विषयक सिद्धान्तों की कसौटी पर कस कर, गौड़ीय वैष्णव आचार्यों ने काव्यानुरागियों को एक अनुपम रसायन प्रदान कर दिया है। आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि श्री वल्लभ एवं हितहरिवंश के सम्प्रदायों में भी कोई अध्यात्मवादी रससिद्धान्त अवश्य होगा।[१२] नन्ददास की 'रसमंजरी' केवल नायिकाभेद का ग्रंथ है और 'भक्तिरसामृत-सिन्धु, एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' के व्यापक, सर्वग्राह्य पटल को वह स्पर्श नहीं करती। यदि पुष्टिमार्गीय कोई साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध हो जाए, तो हिन्दी के भक्ति-काव्य के अनुशीलकों का परम कल्याण होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।

१२—'आलोचना' (आलोचना विशेषांक) अक्तूबर, ५२ में "गौड़ीय वैष्णव रस-सिद्धान्त"

तुलसी में उदात्तीकरण

सु० शंकर राजू नायडू , मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास

भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में पाठक उन्हें भक्त, कवि एवं सुधारक के रूप में पाता है। उन्होंने सियाराम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को व्यक्त करते हुए प्रार्थना की है—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

श्रृंगार, करुण, वीर आदि विभिन्न रसों का उन्होंने चित्रोपम वर्णन किया है। हिन्दू समाज के दृष्टिकोण से उन्होंने तात्कालिक भारत में जहाँ जहाँ सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया, उनके संबंध में भी अपने दृढ़ विचारों को निर्भय होकर अभिव्यक्त किया है। यदि कहा जाय कि हिन्दी में तुलसी ही ऐसे कविवर हैं जिनमें सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के प्रतिबिम्ब हमें उपलब्ध होते हैं तो कदाचित् अनुचित नहीं होगा, क्योंकि उन्होंने चौदह वर्षों तक सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया और ये चारों धार्मिक केन्द्रों अर्थात् जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारिका और बदरिकाश्रम तक के दर्शन कर चुके थे। केवल उनके 'रामचरितमानस' के ही आधार पर हम कह सकते है कि वे केवल हिन्दी के ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत के एक प्रतिनिधि कवि हैं।

ऐसा होते हुए भी तुलसी की कृतियों में कतिपय ऐसे स्थल भी उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर भक्त तुलसी की प्रतिकूल आलोचनाएँ की जाती हैं। कहा जाता है कि, 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।' कह कर गोस्वामी जी ने नारी की निन्दा की है। इस का उत्तर साधारणतः यह दिया जाता है कि ये शब्द समुद्र के हैं, इसलिये उन्हें गोस्वामी जी के व्यक्तिगत विचार नहीं मान सकते। परन्तु हम देखते हैं कि 'रामचरितमानस' में और भी ऐसे कतिपय स्थल हैं जहाँ नारी के संबंध में विचार व्यक्त किए गए हैं।

शबरी राम को 'कन्द मूल फल सरस अति' प्रदान करने के पश्चात् 'पानि जोरि आगे भई ठाढी और सविनय कहने लगी—

अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

यहाँ प्रथम चरण में नारी के प्रति सामान्य कथन है और द्वितीय चरण में अपनी अतिशय दीनता व्यक्त करती हुई शबरी के अपने सम्बन्ध में वचन हैं। शबरी के मुख से कहलाया गया है कि अधमाधमों में भी अत्यन्त अधम प्राणी नारी है।

अनन्तर शबरी से सुग्रीव का पता पाकर राम-लक्ष्मण उसकी खोज में निकले तो एक स्थल पर राम अपने अनुज लक्ष्मण से शास्त्र, भूप एवं नारी के सम्बन्ध में कहते हैं—

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय, भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।
राखिय नारि जदपि उर माहीं, जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं।

शास्त्र एवं सम्राट् के समान ही स्त्री भी किसी एक ही पुरुष के वश में रह नहीं सकती। इसके पश्चात्, नारद मुनि ने मार्ग में रामचन्द्र जी से जब प्रश्न किया कि—

तव बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा, प्रभु केहि कारण करइ न दीन्हा।

तो राम मुनिवर को पहले तो यह समझाते हैं कि 'भले बुरे को विचारने की बुद्धिवाले' पंडित मुझे क्यों भजते हैं और ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति को क्यों नहीं तजते, तदनन्तर प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रुपी नारि।

नारी में षड्ऋतु का वर्णन काव्य कौशल के साथ इस प्रकार किया गया है—

सुन मुनि कह पुरान श्रुति संता, मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।
जप तप नेम जलासय भारी, होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी।
काम क्रोध मद मत्सर नेका, इनहिं हरषप्रद बरषा एका।
दुर्वासना कुमुद समुदाई, तिन्ह महँ सदा सरद सुखदाई।
धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा, होइ हिम तिन्हहिं देति दुखदन्दा।
पुनि ममता जवास बहुताई, पलुहै नारि सिसिर ऋतु पाई।

और आगे—

पाप उलूक निकर सुखकारी, नारि निविड रजनी अँधियारी।
बुधि बल सील सत्य सब मीना, बनसी सम त्रिय कहँहिं प्रवीना।

अंत में राम कहते हैं—

अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ता तें कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि।

नारी के प्रति गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में इस प्रकार के वचन क्यों हैं? क्या वास्तव में उनका विचार ही ऐसा था? कदापि नहीं। ऐसे स्थलों का उनकी कृतियों में आ सम्मिलित होना एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत को ही सिद्ध करता है, न कि उनके व्यक्तित्व का अभिव्यक्तीकरण। माना कि 'अध्यात्म रामायण' में शबरी अपने बारे में 'हीन जाति समुद्भवा' बस इतना ही कहती है। समुद्र के संदर्भ में भी अध्यात्म रामायणकार ने पशुओं और मूर्खों को ही 'ताड़न के अधिकारी' माना है। तुलसी-साहित्य में नारी की निन्दा की गई है तो केवल उसके निरूपण मात्र से यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि गोस्वामी जी ने नारी की निंदा की है, तो यह तुलसी के प्रति अन्याय करना ही नहीं, अपितु आलोचक में गूढ़ निरीक्षण की असमर्थता का ही परिचायक होगा। वस्तुतः ये शब्द उस गोस्वामी तुलसीदास के नहीं हैं जिन्होंने 'सीय राम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी' कहा था। ये शब्द उस

युवक तुलसी के हैं जो 'स्त्री से अमर्यादित व उपहसित' हुआ था, ये शब्द उस कामुक तुलसी के हैं जो अपनी पत्नी की भर्त्सना के फलस्वरूप वैरागी हो गया था, ये शब्द उस प्रेमी तुलसी के हैं जो गोस्वामी तुलसीदास के अचेतन में अतृप्तवासना के रूप में बैठा रहा और ये शब्द उस विलासी तुलसी के हैं जो गोस्वामी के अंतःकरण की आधार भूमि में गुप्त रूप से निवास करने लगा था।

कलाकार की मानसिक प्रणाली के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का निष्कर्ष आधुनिक सिद्धांतों के आधार पर श्री ए० कलटटन ब्राक यह बताते हैं कि 'अभिव्यक्तीकरण कोई विलास का चिह्न नहीं है, अपितु एक अनिवार्य कर्म है। यहाँ तक कि साहित्यकार को इसका भान भी नहीं होता कि मेरी कौन सी इच्छा अतृप्त रह गई है। परन्तु वह इच्छा निकास का कोई मार्ग न पाकर दमित अवस्था में बनी रहती है।'

'साहित्यिक मनोविज्ञान' पर लिखते हुए इरविन एडमन कहते हैं कि साहित्यकार अपनी अनभिव्यक्त वा दमित भावनाओं को यथाशक्ति अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करके निकास का एक मार्ग प्राप्त करता है। कलाकार की रचना बाह्य रूप से एक सरस नाटक की रोचकता से पूर्ण होने पर भी वास्तव में लेखक के आभ्यंतरिक विषयोन्मुख विचारों का प्रकट अभिव्यक्तीकरण होता है।

डॉ० जे० वेरेन्डाक को उनका मनोवैज्ञानिक अनुसंधान इस निश्चय पर पहुँचाता है कि 'कल्पनाओं और मानसिक तरंगों के लिए आधार, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा शैशवावस्था से ही संचित सभी प्रकार के अनुभव ही हैं जो एक बार मानस पटल पर अंकित हो जाने पर सदा के लिए अमिट हो जाते हैं और उपयुक्त वातावरण पाने पर उद्‌बुद्ध हो उठते हैं।' इसी प्रकार श्री० जान एम्० थोर्नबर्न का विचार है। वस्तुतः कलात्मक रचनाओं में सन्निहित विविध रूपात्मक चित्र तथा असाधारण व अलौकिक भावभंगिमा का मूल संबंध कलाकार के 'अचेतन' से रहता है।

'अप्रज्ञ स्मृति' का विश्लेषण करते हुए सेमुवल बटलर लिखते हैं कि 'विशिष्ट कल्पना के क्षेत्र में विचरण करते समय कलाकार को भी यह भान नहीं होता कि अपना ही वर्णन कर रहा हूँ, आत्म-चरित लिख रहा हूँ, लेखक अथवा कलाकार विचार करने पर भी यह नहीं जान पाता कि इसका अनुभव मुझे कब और कहाँ प्राप्त हुआ, पर सत्य यही है कि अचेतन में भूतकालीन स्मृतियाँ बनी रहती हैं।'

'अचेतन की शक्ति' का विवेचन करते हुए एर्नेस्ट जोन्स लिखते हैं कि 'जब मैं युवक था तब एक अति प्रचलित गीत का प्रथम चरण था—'कारण है अज्ञात तदपि मैं करता तुमसे अतुलित प्रेम'। एर्नेस्ट जोन्स कहते हैं कि इस गीत का लेखक कदाचित् अनजाने ही, एक विशिष्ट सत्य को व्यक्त कर रहा है।

अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक एवं कवि स्टेवेन्सन भी इस मत से पूर्णतः सहमत हैं। उन्होंने स्पष्टतः अपने ही संबंध में कहा है, 'मेरी कृतियों का वास्तविक कलाकार वस्तुतः मेरे ही अन्दर गुप्त रूप में उपस्थित कोई सहकार्य कर्ता है जो मेरी गूढ़ निद्रावस्था में अर्धभाग पूर्ण कर देता है और शेष अर्धभाग जब कि मैं पूर्ण जाग्रत होता हूँ। तथ्य तो यही है, और मैं

अर्थात् मेरा 'स्व-चेतन' या वह व्यक्ति जो हैट और बूट पहने हुए उपस्थित है, कोई कलाकार ही नहीं है, वह तो दूध-मलाई बेचने वाले के समान ही एक अति साधारण व्यक्ति है।

इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का समर्थन करते हुए जार्ज इलियट ने भी लिखा है कि 'मानों किसी दूसरे मन ने मेरी लेखनी को अपने वश में करके उसका पथ प्रदर्शित किया था'। कविवर कालरिज़ व ब्लेक का ही नहीं अपितु गेटे का भी निश्चित मत यही है और वे यही कहते हैं कि मैंने अपना सर्वोत्तम उपन्यास एक ऐसी स्वप्निल समाधि में रचा है जो मानो निद्राभ्रमण की अर्ध चेतनावस्था हो।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिसिल बर्ट ने इसके दूसरे पक्ष का स्पष्टतः वर्णन करते हुए व्यक्त किया है कि साधारण कोटि की रचनाओं की बात और है जिनमें रचयिता का चेतन व स्थूल व्यक्तित्व तथा बाह्य संसार का विचार सतत् बना रहता है। यही व्यावसायिक रचयिताओं का स्तर होता है। उनकी कल्पना में स्वप्न की स्वछंदता व अचेतन की अलौकिकता नहीं होती। स्थूल मानसिक कार्यकलाप मात्र के दर्शन उनकी कृतियों में होते हैं।

अब सर्वाधिक प्रसिद्ध डा० फ्रायड के सिद्धांतों का भी तनिक अवलोकन करें, जिनके नाममात्र से कुछ अनुशीलनकर्ता भयभीत हो उठते हैं और लैंगिक मानकर उन पर लांछन लगाने की धृष्टता करते हैं। उनका युक्ति-युक्त मत यह है कि वस्तुतः काल्पनिक रचना के द्वारा सृजित काव्य कृतियों में हम कवि की अतृप्त वासनाओं को ही तृप्त होते हुए पाते हैं। वे 'कला' को कल्पना के माध्यम से जीवन के यथार्थ की ओर पुनः अग्रसर होने का एक मार्ग मानते हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र का अनुसंधान करने पर उपर्युक्त निष्कर्ष युक्ति-युक्त प्रतीत होते हैं। इस युक्तियुक्त तत्त्व एवं तथ्य के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास के कथनों का विवेचन करना होगा। इस प्रकार विशद अनुशीलन करने पर यह स्वतः सिद्ध हो जायगा कि नारी के संबंध में कथित वे वचन वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास के नहीं हैं अपितु वे उनके अचेतन के ही अभिव्यक्तीकरण हैं।

भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास के अचेतन में उपस्थित गुप्त तुलसी और है, और 'तुलसी में उदात्तीकरण' होने के अनन्तर उत्पन्न भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास भिन्न हैं जो हिन्दू-धर्म एवं भारत के प्रतिनिधि भक्त के रूप में माने जाते हैं।

पद्मावत में दंगवै और भीम

माताप्रसाद गुप्त एम० ए०, डी० लिट्०, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

'पद्मावत' में आए हुए इन दो शब्दों के अर्थों पर विचार करते हुए प्रस्तुत लेखक का ध्यान एक विस्तृत किन्तु रोचक लोक-कथा की ओर गया जिससे उक्त शब्दों के अर्थों पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है। वह उसे आपके सामने रखना चाहता है।

दगवै अथवा दंगवै के साथ भीम का उल्लेख 'पद्मावत' में चार स्थलों पर होता है, वे स्थल संक्षिप्त प्रसंग-संकेत के साथ निम्नलिखित हैं :—

(१) नागमती पक्षी के द्वारा रत्नसेन के पास संदेश भेजते हुए कहती है :—

तासौं दुख कहिए हो बीरा। जेहि सुनिकै लागै पर पीरा॥
को होइ भीवँ दँगवै परगाहा। को सिंघल पहुँचावै चाहा॥ (३६१)

(२) अलाउद्दीन की सेना के साथ आती हुई तोपों के विध्वंसकारी रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

धरती सरग असूझ भा तबहुँ न आगि बुझाइ।
अहुठौ बज्र दंगवै मारा चहैं जुझाइ॥ (५७८)

(३) चित्तौड़ दुर्ग पर अलाउद्दीन की गोलाबारी का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

सबहि कहा अब परलौ आवा।
धरती सरग जूझ दुहुँ लावा।

अहुठौ बज्र जुरे सनमुख होइ एक दंगवै लागि।
जगत जरै चारिहुँ दिसि को रे बुझावै आगि॥ (५८६)

(४) रत्नसेन को बन्दी-गृह से छुड़ा कर लाते समय पीछा करती हुई अलाउद्दीन की सेना से रत्नसेन की रक्षा करने का संकल्प करते हुए गोरा कहता है :—

हौं होइ भीवँ आजु रन गाजा।
पाछैं घालि दंगवै राजा॥ (६२९)

'पद्मावत' की सबसे खोजपूर्ण टीका 'सजीवन भाष्य' में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'द्रंग' का अर्थ 'गढ़' बताते हुए दंगवै∠दंगपति ∠द्रंगपति से 'गढ़पति' या 'राजा' का अर्थ लिया है और कहा है कि वह उपर्युक्त में से प्रथम तथा चतुर्थ स्थलों पर चित्तौड़ के राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसकी रक्षा गुजरात क भोला भीम ने मुहम्मद गोरी के आक्रमण से

की थी, और द्वितीय तथा तृतीय स्थलों पर वह रत्नसेन के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रथम और चतुर्थ स्थलों के भीम के संबंध में उनका मत है कि वह गुजरात का उपर्युक्त भोला भीम है।

जहाँ तक 'द्रंग' और 'द्रंगपति' की बात है यह विचारणीय है कि 'द्रंग' का यह अर्थ कोषों में नहीं मिलता। संस्कृत के सुप्रसिद्ध कोषकार मोनियर विलियम्स ने 'द्रंग' शब्द का अर्थ 'ए टाउन ऑर सिटी' दिया है। नगेन्द्रनाथ वसु ने 'हिन्दी विश्वकोष' में इसका अर्थ दिया है, 'वह नगर जो पत्तन से बड़ा और कर्बर से छोटा हो'। 'हिन्दी शब्दसागर' के संपादकों ने भी उक्त कोष में यही अर्थ दिया है। जहाँ तक गुजरात के भोला भीम की बात है, अपने सामन्तों की रक्षा मध्य युग में प्रत्येक राजा किया करता था, और युद्धों में सहयोगी राजाओं का सम्मिलित होना भी उस युग की एक बहुव्यापक बात थी। इसलिए भीम से गुजरात के भीम चालुक्य का लिया गया अर्थ भी बहुत संतोषजनक नहीं प्रतीत होता। 'पद्मावत' के अन्य टीकाकारों ने 'दंगवै' या 'द्रंगवै' के जो अर्थ किए हैं, शब्द की व्युत्पत्ति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भीम से अवश्य उन्होंने महाभारत के योद्धा का आशय लिया है, किन्तु 'दंगवै' या 'द्रंगवै' के अपने किए गए अर्थों के साथ भीम के इस अर्थ की कोई संगति उपर्युक्त प्रसंगों में वे नहीं लगा सके हैं।

'दंगवै' तथा भीम से सम्बद्ध लोककथा का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है; वह इस प्रकार है :—

किसी समय दुर्वासा इन्द्रलोक में जा पहुँचते हैं। इन्द्र उनके सत्कार में तिलोत्तमा के नृत्य का आयोजन करते हैं। नृत्य करते हुए तिलोत्तमा को ऋषि की नृत्य-गीत विषयक अरसिकता का परिचय मिलता है, इसलिए वह इन्द्र से विदा माँगती है। ऋषि इस पर चिढ़ कर उसे शाप दे देते हैं कि वह अब पृथ्वी पर अवतरित हो जहाँ पर वह दिन में घोड़ी के रूप में रहे, और रात्रि में स्त्री के रूप में। इस शाप से मुक्ति के लिए तिलोत्तमा के अनुनय-विनय करने पर ऋषि उसके शाप मोचन की भी व्यवस्था कर देते हैं। ऋषि के उस शाप के कारण तिलोत्तमा पृथ्वीतल पर घोड़ी बनकर अवतरित होती है, और पुरपट्टन के राजा दंगवै के द्वारा ग्रहण की जाती है। नारद को इस विचित्र घोड़ी की बात अपने विचरण में ज्ञात होती है, वे द्वारकानरेश कृष्ण से जाकर उसकी चर्चा कर देते हैं। कृष्ण अपने बल के अभिमान में दंगवै के पास उस घोड़ी को उन्हें भेंट कर देने का संदेश भिजवाते हैं और जब दंगवै उनकी इस माँग को स्वीकार नहीं करता है, वे उस पर आक्रमण कर देते हैं। बेचारा दंगवै सुभद्रा से जाकर इसकी फ़रियाद करता है। सुभद्रा को इस परिस्थिति में भीम ही एक ऐसे योद्धा दिखाई पड़ते हैं जो न्याय के लिए कृष्ण का भी सामना कर सकने का साहस कर सकते हैं, और इसलिए वह दंगवै को भीम के पास भेजती हैं। दंगवै भीम की शरण में जाता है, और भीम उसे अभयदान देते हैं। कृष्ण और भीम में घोर युद्ध होता है। इस युद्ध में अहुठौ वज्र भी भगवान् कृष्ण की ओर से युद्ध में आ जुटते हैं। (यह ध्यान देने योग्य है कि उल्लिखित स्थलों पर जायसी ने भी अहुठौ वज्र के आ जुटने की बात कही है)। युद्ध चलता ही रहता है कि वह अप्सरा ऋषि द्वारा पूर्वनिर्धारित व्यवस्था के अनुसार शाप-मुक्त हो जाती है, और उड़ कर इन्द्रलोक को चली जाती है। दोनों पक्षों को स्वभावतः इस घटना के परिणाम-स्वरूप पश्चात्ताप होता है। तदनंतर मृत योद्धा अमृत पिलाकर जीवित किए जाते हैं।

यह कथा १६३५-३७ के नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विवरण की संख्या १५२ पर 'दंगवै पुराण' नाम की एक कृति का परिचय देते हुए दी गई है। 'डंगवपर्व' के नाम से सं० १६०८ में लिखने वाले बलबीर नामक एक अवधी कवि की उक्त रचना की कथा भी यही है जो नागरी प्रचारिणी सभा के १६१७-१८ के खोज-विवरण में संख्या १३ पर उल्लिखित है। रचना के उद्धृत अंशों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है, यद्यपि पूरी कथा नहीं दी हुई है। इस बात की संभावना यथेष्ट है कि यह दोनों रचनाएँ एक ही प्रमाणित हों। दोनों दोहा-चौपाई में हैं। इनके अतिरिक्त इस विषय की एक कुछ ही पूर्व की रचना तोताराम की 'जिकरी दंग राजा' की है जिसका विवरण नागरी प्रचारिणी सभा के १६३२-३४ के खोज-विवरण में संख्या २२० पर किया गया है। विवरण में कथा का संक्षिप्त उल्लेख भी हुआ है। 'दंगवै पुराण' और इस रचना की कथा में कुल अन्तर इतना ही है कि एक तो इन्द्र हरि के स्वागत में उक्त नृत्य का आयोजन करते हैं, उस नृत्य पर प्रसन्न होकर जब वे अप्सरा को एक मुद्रिका पारितोषिक के रूप में प्रदान करते हैं और अप्सरा अभिमानवश उस पारितोषिक को तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करती है तब हरि उसको घोड़ी बन जाने का अभिशाप देते हैं; और दूसरे दंग राजा पांडवों की शरण में जाता है, और पांडव कृष्ण से युद्ध करते हैं।

इस लोक-कथा का संक्षिप्त उल्लेख करने के बाद यह बताना अनावश्यक हो जाता है कि 'पद्मावत' के उल्लिखित चारों स्थलों पर आने वाले 'दंगवै' तथा 'भीम' इसी कथा के 'दंगवै' तथा 'भीम हैं, कोई और नहीं। गुजरात का पट्टन एक महानगर रहा है, इसलिए उसे 'द्रङ्ग' और उसके शासक को 'द्रङ्गपति' या 'दंगवै' कहना यथार्थ ही है। भीम की परोपकार के लिए किए गए साहस की कथाएँ 'महाभारत' में भी मिलती हैं, जिनका उल्लेख करना अनावश्यक होगा। उन्हीं कथाओं की परम्परा में यह लोककथा भी निर्मित हुई प्रतीत होती है, यह प्रकट है।

प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित 'पद्मावत' के पाठ में उद्धृत प्रथम स्थल पर पाठ 'अँगवै' द्वितीय तथा तृतीय पर 'दिन कोई' तथा चतुर्थ पर 'दंगवै' था। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने संजीवन भाष्य में इन चारों स्थलों पर मूल में 'दंगवै' पाठ होने का सुझाव दिया है। चारों स्थलों पर पाठ एक ही होना चाहिए। उपर्युक्त लोककथा की पृष्ठभूमि में उनके इस सुझाव का प्रस्तुत लेखक स्वागत करता है। उर्दू लिपि के माध्यम से 'दंगवै' से 'अंगवै' और 'दिन कोई' पाठों की संभावना प्रकट है। उनके 'दंगवै' तथा 'भीम' सम्बन्धी अर्थों से अवश्य सहमत होना संभव नहीं है। भीम का उल्लेख 'पद्मावत' में अन्यत्र भी हुआ है (दे० छंद १६६ तथा ६११)। उन स्थलों पर भी जायसी का आशय लोककथा या महाभारत के इन्हीं भीम से है, गुजरात के भीम से नहीं। उसका उल्लेख जायसी ने 'भोराराय' के नाम से किया है :—

भाँट कहा धनि गोरा तू भोरा रन राउ।
आँति सैंति करि काँधे तुरै देत है पाउ॥ (६३५)

किन्तु इन अन्य स्थलों पर 'दंगवै' का स्पष्ट उल्लेख न होने से भिन्न अर्थ लेने की संभावना अधिक थी, इसलिए इन पर यहाँ विचार नहीं किया गया है।

भारतीय कथा-साहित्य में सिंहलदीप

रवीन्द्रनाथ राय, महाराजा कालेज, आगरा

एतद्देशीय कथा-साहित्य में किसी सिंहलदीप, सिंहलदेश या सिंहलगढ़ की कल्पना अत्यन्त प्राचीन जान पड़ती है। एकाधिक कथा-काव्यों में उसकी नायिका को 'सिंहलदीपी' कहा गया है और 'सिंहल' को कोई सुदूरवर्ती समुद्र-स्थित दीप।[१] बहुधा कथा-नायक समुद्र-यात्रा करके यहाँ पहुँचता है और उक्त नायिका से विवाह करता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि स्वयं नायिका ही किसी न किसी प्रकार से नायक-देश तक पहुँचती है—जैसे हर्षदेव कृत 'रत्नावली' में, किन्तु वह सर्वत्र सिंहलदीप की राजकुमारी अवश्य होती है।

काल-विचार की दृष्टि से सिंहलदीप की कथा छठीं-सातवीं शताब्दी ई० के आसपास लोकप्रिय हुई होगी। हर्ष की 'रत्नावली' (नाटिका) की नायिका 'सागरिका' सिंहलदेश की ही राजकन्या है। हर्ष का राज्यकाल ६०६-६४८ ई० माना गया है। 'रत्नावली' इसी समय लिखी गई होगी।[२] अस्तु, सिहलदीप या सिंहलदेश के प्राचीनतम प्रामाणिक उल्लेख को सातवीं शताब्दी ई० का मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' के अठारहवें अध्याय में भी 'सिंहल' नामक एक देश का उल्लेख हुआ है और इस प्रसंग में राजा विक्रमादित्य एवं उक्त देश की राजपुत्री मदनलेखा के विवाह की कथा कही गई है। 'कथासरित्सागर' ग्यारहवीं शताब्दी ई० की रचना है।[३] भारतीय कथाओं का यह महाकोष पैशाची में कवि गुणाढ्य कृत 'बड्ड-कहा' (बृहत्-कथा) पर आश्रित कहा जाता है। यदि इसमें उपलब्ध सिंहलदेश की मदनलेखा वाली कहानी को 'बड्ड कहा' (जो अब दुर्भाग्यवश अप्राप्य है) का अंग मान लिया जाय तो सिंहलदीप की कल्पना ४थी ५वीं शताब्दी ई० की वस्तु ठहरेगी, किन्तु ठोस प्रमाणों के अभाव में इस बात पर बहुत अधिक ज़ोर नहीं दिया जा सकता। परवर्ती काल के १० वीं-११ वीं शताब्दी ई० के साहित्य में सिंहलदीप से सम्बद्ध कथा का अत्यन्त प्रचलित हो जाना सुनिश्चित है। इस काल की कृति 'कल्कि-पुराण' की नायिका पद्मावती, कौतूहल कवि कृत 'लीलावई कहा' की नायिका लीलावती, और मुनिकन कामर विरचित 'करकंडु चरिउ' की नायिका रतिवेगा सभी सिंहलदीप की राजकन्याएँ हैं।

१—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना १९५२, पृ० ७९।

२—ए० बी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, आक्सफ़ोर्ड १९२४, पृ० १७०।

३—ए० बी० कीथ, हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, १९२०, पृ० २८१।

सिंहलदीप की कथा से सम्बद्ध उपर्युक्त ग्रन्थ विभिन्न भारतीय भाषाओं के हैं। 'रत्नावली', 'कल्कि-पुराण' और 'कथासरित्सागर' नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए हैं। 'लीलावई-कहा' प्राकृत भाषा की कृति है और 'करकंडु-चरिउ' अपभ्रंश का सुपरिचित चरित-काव्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की यह परम्परा आगे भी बढ़ी है। परवर्ती हिन्दी साहित्य में यत्र-तत्र सिंहलदीप के उल्लेख उपलब्ध हो जाते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' के 'पद्मावती समय' में पद्मावती को किसी समुद्र-शिषर-गढ़ नामक उत्तरदेश की राजकुमारी कहा गया है।[४] यह नाम सिंहलगढ़ या सिंहलदीप से बहुत कुछ मिलता जुलता प्रतीत होता है और उसके साथ जुड़ा हुआ समुद्र शब्द इस बात की सूचना देता है कि इसका कोई न कोई सम्बन्ध समुद्र-स्थित सिंहलदीप से अवश्य रहा होगा। मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' में तो प्रचलित सिंहल-दीप की कथा ज्यों की त्यों ले ली गई है और पद्मावतकार ने दोहा-चौपाई निबद्ध कोई पचीस-एक कड़वकों में सिंहलदीप का वर्णन भी जमकर किया है। सिंहलदीप जाकर वहाँ की राज-कन्या के साथ विवाह करने की कथा मध्यकालीन लोक-जीवन में इतनी अधिक प्रचलित हुई कि 'राम के खोजी कबीर' ने इसे एक लोकोक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया—

> कबीर खोजी राम का, गया जु सिंहलदीप।
> राम तौ घटि भीतर रमि रह्या जौ आवै परतीत ॥[५]

यह सिंहलदीप क्या है, इसकी भौगोलिक स्थिति कहाँ है? कुछ लोग इसे प्राचीन लंका मानते हैं,[६] किन्तु यह धारणा बहुत ठीक नहीं जान पड़ती। राजशेखर ने इसे लंका से अलग एक भिन्न द्वीप माना है। 'काव्य-मीमांसा' के देश-विभाग प्रकरण (सत्रहवाँ अध्याय) में महिष्मती के आगे दक्षिण-पथ के महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुंतल, क्रथ-कैशिक, सूर्पारक, कांची, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, चोल, दण्डक, पांड्य, पल्लव, गांग, नाशिक्य, कोंकण, कोल्लगिरि और वल्लर नामक जनपदों के साथ-साथ सिंहल का भी उल्लेख किया गया है। 'बाल-रामायण' नाटक (दशम् अंक) में जब राम लंका विजय करके पुष्पक द्वारा लौट रहे है, विभीषण राम से कहता है :—

> 'पश्यस्यग्रे जलधिपरिखं मंडलं सिंहलानाम्'।

अस्तु, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सिंहल लंका से भिन्न कोई स्वतन्त्र द्वीप है, जिसे कहीं लंका और कन्याकुमारी के मध्य में होना चाहिये।[७] 'पद्मावती' के लेखक जायसी ने भी सिंहलद्वीप को लंका से भिन्न माना है। 'पद्मावत' में सिंहलदीप की तुलना में दिया द्वीप,

---

४—'उत्तर दिसि गढ़ गढ़न पति, समुद-शिषर इक दुग्ग।
वहं सुविजय सुरराजपति जादू कुलह अभग्ग ॥

५—कबीर ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, चतुर्थ संस्करण, ४-६६६।

६—सिंहल—एक द्वीप जो भारत के दक्षिण में हैं और जिसे लोग प्राचीन लंका मानते हैं।
(नालन्दा विशाल शब्दसागर)

७—राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा, हिन्दी अनुवाद, हिं० रा० भा० परिषद्, पटना, १९५४, पृ० २९५।

स्वर्णदीप, जम्बूदीप, लंकादीप, कुशस्थलदीप और मरुस्थलदीप नामक अन्य छः द्वीपों को तुच्छ कहा गया है:—

सात दीप बरनहिं सब लोगू। एकौ दीप न जोहि सरि जोगू॥

कतिपय विद्वान इस सिंहलदीप को न तो लंका मानते हैं और न सिंहलदीप ही। इस सम्बन्ध में रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का निम्नलिखित वक्तव्य उल्लेख्य है—'रत्नसेन लगभग एक वर्ष ही चित्तौड़ का राजा रहा, उसमें भी अंतिम छः मास तो अलाउद्दीन से लड़ता ही रहा। ऐसी स्थिति में उसका सिंहलदीप जाना वहाँ एक वर्ष तक रहना और पद्मिनी को लेकर चित्तौड़ लौटना सर्वथा असम्भव है। अतएव जायसी का सिंहलदीप लंका का सूचक नहीं है।...रत्नसिंह के राज्य करने का जो अल्प समय निश्चित है, उसमें यही माना जा सकता है कि उसका विवाह सिंहलदीप या लंका के राजा की पुत्री से नहीं किन्तु सिंगोली के सरदार की कन्या से हुआ होगा।'[८] ओझा जी का यह कथन ऐतिहासिक अनुसन्धान का विषय हो सकता है, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि 'पद्मावत' का सिंहलदीप भारतीय अख्यानकों का वही समुद्र-स्थित सुप्रसिद्ध द्वीप है जिसका उल्लेख 'रत्नावली' और 'कथासरितसागर' आदि ग्रन्थों में सुरक्षित है। रत्नसेन अन्य कथा-नायकों की भाँति देश-यात्रा एवं समुद्र-यात्रा के भीषण संकटों को झेलता हुआ वहाँ पहुँचता है और पद्मावती से विवाह करता है। इस घटना में ऐतिहासिक सत्य हो चाहे न हो, किन्तु इसमें एक कथात्मक-सत्य (Truth of fiction) अवश्य है।

कहीं-कहीं सिंहलदीप को एक नए नाम के साथ उलझा दिया गया है और उसे 'त्रिया-देश' या 'स्त्री-देश' की संज्ञा प्रदान की गई है। नाथपंथी कहानियों के अनुसार एक बार गुरु मछन्दरनाथ अपना महाज्ञान भूल कर किसी त्रियादेश में जा फँसे थे और भोग-विलास में लिप्त हो गए थे। कहते हैं कि गुरु गोरखनाथ ने वहाँ जाकर उनका उद्धार किया। नाथपंथियों का 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' नामक ग्रन्थ के व्याख्याकार ने उक्त 'स्त्रीदेश' या 'त्रिया-देश' को सिंहलदीप या सिंहलदेश कहा है।[९] वस्तुतः त्रियादेश और सिंहलदीप इस देश की काल्पनिक-निजन्धरी कथा-कहानियों में मिलने वाले दो भिन्न स्थान हैं। त्रियादेश एक स्त्री-प्रधान देश माना गया है और इसका प्राचीनतम उल्लेख 'महाभारत' में उपलब्ध होता है। पाण्डवों द्वारा छोड़ा गया दिग्विजय का अश्व पाँचवीं बार एक स्त्री-देश में पहुँच जाता है। यहाँ की रानी 'पारमिता' उस अश्व को पकड़ लेती है। इस रानी को जब कभी भी आगन्तुक पुरुषों के सम्पर्क द्वारा सन्तान पैदा होती है तो पुरुष सन्तानों का वध कर दिया जाता है। अर्जुन अश्व को ढूँढ़ते हुए यहाँ पहुँचते हैं, पारमिता से युद्ध करते हैं और अन्त में उसे जीतकर तथा उससे विवाह करके हस्तिनापुर लौट जाते हैं। संथालों की लोक-वार्ता में इस त्रियादेश का सम्बन्ध 'कामरू' से जुड़ा हुआ मिलता है, किन्तु प्रचलित विश्वासों के अनुसार

८—देखिए, ओझाजी का 'पद्मावत का सिंहलदीप' शीर्षक लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी सं० १९८९ वि०, जिल्द सं० १३। स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल भी ओझाजी के उक्त मत से सहमत जान पड़ते हैं। दे० 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका, काशी, पंचम सं०, संवत् २००८ वि०, पृ० २५।

९—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथसंप्रदाय, इलाहाबाद, १९५० ई०, पृ० ४५-४६।

यहाँ केवल स्त्रियों का ही निवास माना गया है।[१०] अस्तु, सिंहलदीप, लंका और त्रियादेश तीनों ही भिन्न-भिन्न स्थान हैं और इन्हें एक दूसरे के साथ गड्ड-मड्ड नहीं किया जाना चाहिए।

सिंहलदीप 'स्त्री-देश' तो नहीं हैं, किन्तु उसकी परिकल्पना के साथ 'स्त्री-रूप' से सम्बद्ध एक लोक प्रचलित विश्वास अवश्य जुड़ा हुआ है। वहाँ की स्त्रियों का पद्मिनी होना कहा गया है। 'कामशास्त्र' में स्त्रियों के चार प्रकार उल्लिखित हैं : पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। इनमें पद्मिनी सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं। इसके लक्षण निम्नलिखित हैं :—

> भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररंध्रा,
> अविरलकुचयुग्मा दीर्घकेशी कृशांगी।
> मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता,
> सकलतनुसुवेशा पद्मिमी पद्मगंधा ॥[११]

उत्तम लक्षणों में अन्तिम उल्लेख्य है—अर्थात् पद्मिनी स्त्रियाँ पद्मगंधा होती हैं और उनके शरीर से विकसित कमल जैसी सुवासित गंध निकलती रहती है। मलिक मुहम्मद जायसी ने सिंहलदीप के प्रसंग में उक्त प्रकार की पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, देखिये :—

> पानि भरइ आवहिं मनिहारीं। रूप सुरूप पदुमिनीं नारी।
> पदुम गंध तेन्हि अंग बसाहीं। भंवर लागि तेन्ह संग फिराहीं ॥
> लंक सिंघिनी सारंग नैनी। हंस गामिनी कोकिल बैनी।
> अवहिं झुंड सो पातहिं पांती। गवन सोहाइ सो भॉतहि भांती ॥

× × ×

> मानहु मैन मुरति सब, अछरीं बरन अनूप।
> जेन्हिकी ए पनिहारी सो रानी केहि रूप ॥[१२]

विभिन्न कथाओं में सिंहल नामक किसी सुदूरवर्ती समुद्रस्थित द्वीप का वर्णन, वहाँ अत्यन्त सुन्दर पद्मिनी जाति की स्त्रियों का पाया जाना, और उन्हें प्राप्त करने के लिए कथा-नायकों द्वारा समुद्र-यात्रा किया जाना, कुल मिलाकर अपने में एक अत्यन्त प्रचलित कथानक-रूढ़ि (fiction motif) बन गया है। ऐसा क्यों हुआ ? शायद इसलिये कि विभिन्न कलाकारों ने इस अभिप्राय को ग्रहण करके अपनी कथा में विचित्र प्रकार की रूमानी (Romantic) घटनाओं के नियोजन और कथानक के विकास का अवसर ढूँढ़ निकाला है।[१३] 'कल्कि-पुराण' में उपलब्ध कथा के अनुसार 'पद्मावती' सिंहलदेश के राजा बृहद्रथ की पुत्री है, जिसे शिव का वरदान प्राप्त है कि उसका पाणिग्रहण स्वयम् नारायण ही करेंगे। और यदि अन्य पुरुष चाहेंगे तो उसे कामभाव से देखते ही नारी बन जायँगे। कल्कि को ये सारी बातें अपने किसी सर्वज्ञ नामक सुए से ज्ञात होती हैं और वे उसके द्वारा पद्मावती के पास अपना सन्देश भेज देते हैं। संदेश का उत्तर पाकर वे सिंहल-

---

१०—वेरियर एलविन, मिथ्स आव मिडिल इन्डिया, मद्रास १९४९, पृ० ४५८।

११—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, १९५०, पृ० २६२।

१२—पद्मावत, चिरगाँव, झाँसी, वि० सं० २०१२, २।८।

१३—डा० ए० एन० उपाध्ये, लीलावई कहा, बम्बई सं० २००५, भूमिका।

दीप जाते हैं......और बृहद्रथ अपनी कन्या का विवाह उनके साथ कर देता है।[१४] इस पौराणिक उपाख्यान में सुदूरवर्ती सिंहलदीप की राजकन्या तक सन्देश पहुँचवाने के लिए, प्रेम-संबन्ध-घटक के रूप में शुक की अवतारणा की गई है। भारतीय प्रेमाख्यानक साहित्य में शुक या किसी अन्य पक्षी द्वारा प्रेम-सम्बन्ध-संस्थापन के अनेक उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। यह अपने में स्वयम् एक स्वतन्त्र कथानक-रूढ़ि है, किन्तु किसी कहानी में इसका उपयोग किया जाना तब तक सम्भव नहीं प्रतीत होता जब तक कि नायिका या नायक में से कोई एक किसी दुर्गम्य स्थान का वासी न हो।

सिंहलदीप से सम्बद्ध 'करकंडु-चरिउ' वाले कथांश में, सिंहल के समुद्र-स्थित द्वीप होने के कारण, एक अन्य रूमानी घटना-परक रूढ़ि के उपयोग का अवसर उपस्थित कर लिया गया है। करकंडु सिंहल की राजकन्या 'रतिवेगा' से विवाह करके लौट रहे हैं कि बीच समुद्र में ही किसी विशाल मत्स्य के चपेट के कारण उनका जलपोत चूर चूर हो जाता है और वे एक अज्ञात दिशा में बहकर किसी विद्याधरी द्वारा हरण कर लिए जाते हैं। कथानक को अभिलषित दिशा में मोड़ देने और विकसित करने की यह पद्धति विभिन्न कथाकारों को अत्यन्त प्रिय रही है। समुद्र-यात्रा के मध्य जलपोत के टूटने या डूब जाने के अभिप्राय का उल्लेख इस देश की सैकड़ों कथा-कहानियों में उपलब्ध हो जाता है। उदाहरण के लिये 'पार्श्वनाथ चरित' 'कथासरितसागर', 'दशकुमार चरित', 'समरादित्य संक्षेप' आदि कथाकृतियों में इस रूढ़ि का उपयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है।[१५] 'पदमावत' की कथा की रूढ़िगत घटनाओं में यह रूढ़ि अत्यन्त प्रमुख है। रत्नसेन पद्मावती के साथ सिंहलदीप से लौट रहा है कि बीच समुद्र में ही किसी मत्स्य के चपेट के कारण उसका जहाज़ भी टूट जाता है और रत्नसेन तथा पद्मावती काष्ठ-फलक के सहारे बह कर दो विपरीत तटों पर जा लगते हैं। हिंदी की इस अनूठी लौकिक कथा कृति में 'कल्कि-पुराण' वाली उल्लिखित शुक-रूढ़ि की भी आवृत्ति हुई है। 'पद्मावत' की कहानी के संगुंफन और उसके रचनाविधान में शुक के प्रेम-सम्बन्ध-घटक वाले रूप का बहुत बड़ा योग है।

सिंहलदीप, उसके भूगोल, उससे सम्बद्ध भ्रान्तियों, विश्वासों और आख्यानक-अभिप्रायों की यह खोज-पूर्ण कहानी यहीं समाप्त की जाती है। संक्षेप में 'सिंहल' भारतीय कथासाहित्य का एक अत्यन्त प्रिय और परिचित देश है, जिसकी परिकल्पना सुदूरवर्ती दक्षिणापथ के किसी समुद्र-स्थित द्वीप के रूप में की गई है, जहाँ परम सुन्दरी पद्मिनी स्त्रियों का पाया जाना विश्वासानुमोदित है और जिन्हें प्राप्त करने के लिये अनेक कथाकुमार जल-मार्ग की नाना विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए सफल मनोरथ हुए हैं।

१४—भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, राजकमल मूल्यांकन माला, १९५६; पृ० ७२।

१५—इन उल्लेखों के लिये देखिए श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव की पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो में कथानक-रूढ़ियाँ', राजकमल मूल्यांकन माला, १९५५, पृ० २९।

१६—देखिए-प्रस्तुत लेखक का 'पद्मावत की कथा का लोक-रूप, शीर्षक लेख, आलोचना, राजकमल, दिल्ली, पूर्णाङ्क १६, पृ० ४१।

प्रहेलिका-साहित्य का मूल्यांकन

कस्तूर चन्द जैन सतभैया, एम० ए० (रिसर्च-स्कॉलर)

प्रहेलिका-साहित्य भारतीय लोकसाहित्य का एक विशिष्ट अंग है । डा० सत्येन्द्र पहेली को लोकोक्ति का ही एक अंग मानते हैं क्योंकि 'पहेलियाँ भी उतनी ही उक्तियाँ हैं जितनी कहावतें ।'[१] यह कथन भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि लोकोक्तियों में शब्द-संकोच द्वारा अर्थ-विस्तार का जो तत्त्व निहित है, वह पहेली में विद्यमान है ।[२] अर्थ-विस्तार और संकोचन तो कहावत की ही मूल विशेषता है न कि पहेली की । उदाहरणार्थ, 'कायस्थ का बच्चा, कभी न सच्चा' वाली कहावत में न तो अर्थ-विस्तार की प्रवृत्ति है और न 'खाई है पर चक्खी नहीं' वाली पहेली में ही अर्थ-विस्तार अथवा संकोच जैसी कोई प्रवृत्ति है ।

पहेली साहित्यिक लोक-अभिव्यक्ति का वह विशिष्ट प्रकार है जिसमें एक व्यक्ति, कुछ विशिष्ट संकेतों के आधार पर, दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों से उन संकेतों में से अभिप्रेत वस्तु खोज निकालने के लिए चुनौती देता है । सबसे अच्छी पहेली वह है जिसके सुलझाने में सुलझाने वालों को खूब बुद्धि-व्यायाम करना पड़े । परन्तु पहेली के संकेत अभिप्रेतार्थ से किसी न किसी रूप में साम्य अवश्य रखते हों । उनमें दूर की कौड़ी लाई जा सकती है । कौतूहल और रोचकता पहेली की जान है । कौतूहल का यह तत्त्व लोकोक्ति और कहावत में आवश्यक नहीं है । पहेली की श्रेष्ठता इन्हीं कौतूहल-पूर्ण प्रयोगों पर निर्भर है । इन्हीं प्रयोगों के आधार पर पहेलियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जा सकता है । वर्गीकरण की विवेचना यहाँ अभीष्ट नहीं । अपने कथन की पुष्टि के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं—'खाई है पर चक्खी नहीं' में वस्तु को स्वीकार करके भी उसी के एक अंग को अस्वीकृत किया जा रहा है । ठीक जिस प्रकार कि अग्नि की उपस्थिति स्वीकार करने पर भी उसकी आँच से इन्कार किया जाय । यह अनूठी उक्ति सुनने वालों के मन में उस 'असम्भव' वस्तु को जानने के लिए व्याकुलता उत्पन्न कर देती है । किसी ग्रामीण कलाकार ने 'खाई' के श्लेष द्वारा लोगों को भ्रम में डालने का सफल प्रयत्न किया है ।

प्रहेलिका को संस्कृत साहित्य में 'ब्रह्मोदय' कहा गया है । ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में पहेलियों के ढंग के विचित्र प्रयोग मिलते हैं । श्री रामनरेश त्रिपाठी ने तो ऋग्वेद को 'पहेलियों ही का वेद' कह डाला है ।[३] पहेली का जन्म उस समय हुआ होगा जब प्रकृति की

१—सत्येन्द्र : ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ५२०

२—श्याम परमार : भारतीय लोक-साहित्य, पृ० १६३

३—रामनरेश त्रिपाठी : ग्राम साहित्य (३ रा भाग) पृ० २८८

विराटता को मानव ने अपनी सचेतावस्था में कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखा होगा। रहस्य की भावना उस समय पहेलियों का मूल रही होगी। वेदों में सबसे पहले लोकमुख में रहने वाली प्रहेलिका ने साहित्य और धर्म में अपना स्थान बनाया। पर लोकधारा बराबर अक्षुण्ण रही। कोई आश्चर्य नहीं, यदि वेदकर्त्ता ऋषियों ने जन-प्रचलित इस पद्धति को अपने सिद्धान्त-प्रचार का साधन बनाया हो। इसीलिए वेदों में हमें कुछ विचित्र प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तातो अस्य,
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश।

जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगहों से बाँधा हुआ है, वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ वृषभ शब्द करता हुआ महादेव है। विद्वानों ने इसके गूढ़ार्थ को स्पष्ट करते हुए उस वृषभ को यज्ञ, शब्द और सूर्य आदि कहा है।[४] निश्चय ही उक्त मंत्र पहेली ही है जो साहित्य का अंग बनकर लोकमुख से परिमार्जित रूप में ग्रहण किया है। वेदों से ऐसे अनेक उदाहरण एकत्र किए जा सकते हैं।

वेदों द्वारा अपनाई गई इस अभिव्यक्ति पद्धति का प्रयोग बाद में उपनिषदों, पुराणों तथा पहली शती के बाद के लौकिक संस्कृत साहित्य में व्यापक रूप से हुआ। उपनिषदों में नचिकेता और यम तथा महाभारत में लोक-प्रसिद्ध यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर पहेली ही हैं। गीता में संसार की उपमा पीपल के वृक्ष से दी गई है—'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।' पश्चात् इस पद्धति की साहित्यिक अभिव्यक्ति और लोक अभिव्यक्ति में अन्तर होने लगा और धीरे-धीरे हम इनके सम्बन्ध को भूल गए। यहाँ तक कि इस अभिव्यक्ति के साहित्यिक रूप को हम विभिन्न नामों से पुकारने लगे। लोक अभिव्यक्ति के इस रूप का साहित्य में पुनः प्रवेश अपभ्रंश काल (१०वीं शती) से प्ररम्भ होता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ कुछ अप्रासंगिक चर्चा अभीष्ट होगी।

उलटबाँसियों की परम्परा हिन्दी में कुछ नई नहीं थी। ११-१२वीं शती में बौद्धधर्म के लोप होने पर धार्मिक जगत् में जो उथल-पुथल हुई उसने पंडितों को लोकजीवन की ओर झुकने को बाध्य कर दिया। स्मार्त और बौद्ध दोनों ही हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल के समय लोकमत का प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे।[५] 'एक बात लक्ष्य करने की यह है कि हिन्दी-साहित्य के आदि-प्रवर्त्तक तीन महाकवियों चन्द, कबीर और सूर में से सब के सब एक विचित्र प्रकार की पद-रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटबाँसी या विपर्यय कहते हैं।' इस प्रकार की उलटबाँसियाँ उस युग में नाथपंथी योगियों और सहजयानियों में खूब प्रचलित थीं।[६] इनकी तथा रचित 'संध्या भाषा' का जनसधारण पर भी बहुत अधिक प्रभाव था।[७] बात यह है कि उस युग के साधकों ने जनता से अपनी बात जनता के ही माध्यम से कही और उलटबाँसियों की अभिव्यक्ति-पद्धति को जन-प्रचलित पहेली या बुझौअल से ही ग्रहण

४—रामनरेश त्रिपाठी : ग्राम साहित्य (३ रा भाग) पृ० २८८

५—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १३।

६—वही, पृ० ३३-३४।

७—वही, पृ० ३५।

किया। पहेलियों के ही तत्व प्रकारान्तर से उलटबाँसियों के तत्त्व हैं। उदाहरणार्थ ढेण्ढणपाद की एक उलटबाँसी की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

... ...
जो सो बुधी सो धनि बुधी, जो सो चौर सोइ साथी।
निते निते षियाला सिंहे षम जूझअ, ढेण्ढणपायर गीत बिरले बूझअ।

कवि ने अपने गीत को 'बूझना' लिखा है। पहेलियाँ बूझी जाती हैं—इसलिए उन्हें बुझौवल भी कहा जाता है। कबीरदास ने भी अपने ऐसे ही पदों के अर्थ बूझनेवालों को ललकारा है। उदाहरणार्थ उनके एक पद का कुछ अंश लीजिए—

घोरे चरि भैंस चरावन जाई। बाहरि बैलु गोनि घर आई॥
कहति कबीर जु इस पद बूझै। राम रमत तिसु सब किछु सूझै॥[८]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सूझ-बूझ पहेलियों की जान है। विद्यापति और सूरदास ने भी दृष्टिकूट प्रणाली पर कुछ पदों की रचना की थी। सूर ने भी कहीं कहीं पंडितों से अपनी पहेली का भेद बूझा है—

देखि सखी, तीस भानु इक ठौर।
... ...
कोटनि कोट तरंगनि उपजत, जोग जुगति चित लाउ।
सूरदास प्रभु अकथ कथा कौ, पंडित भेद बताउ॥

परन्तु कबीर की उलटबाँसियों की भाँति उनमें लोक रंग कम है। इसका कारण उनका पांडित्य-प्रदर्शन ही है। ये बड़े ही जटिल, लोक-बुद्धि से दूर की चीज बन गए हैं। परन्तु यह अनुमान निराधार नहीं है कि विद्यापति और सूर ने यह अभिव्यक्ति-प्रणाली लोकमुख से ही ग्रहण की थी। संस्कृत-साहित्य की परंपरा ने उसे बल अवश्य दिया। पहेलियों की प्रणाली पर ही दृष्टिकूट की रचना की गई है, न कि दृष्टिकूट-प्रणाली पर पहेलियों की रचना। दृष्टिकूट का शाब्दिक अर्थ होता है—दृष्टि को छलने वाला या दृष्टि के आगे पहाड़ का होना। श्री चुन्नीलाल'शेष' ने दृष्टिकूट की व्याख्या 'तिल की ओट पहाड़' कह कर की है।[१०] पहेली में भी मूल वस्तु को संकेतों में छिपाया जाता है और उनके आधार पर मूल वस्तु को खोज निकालने का आग्रह रहता है। मनुष्य की गोपनीय प्रवृत्ति ही पहेलियों की उत्पत्ति का कारण है।[११] इस प्रकार पहेली और दृष्टिकूट का तात्विक भेद बहुत सूक्ष्म है।

डा० सत्येन्द्र का वक्तव्य यहाँ उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि 'दृष्टिकूट प्रणाली पर रची पहेलियाँ भी कुछ पढ़े लिखे लोगों में प्रचलित मिलती हैं, पर ये पहेलियाँ लोकमानस की अपनी अभिव्यक्ति नहीं। ये संस्कृत-मानस से उधार ली गई हैं, जैसे यह पहेली है—अजापुत्र कौ शब्द लै गज कौ पिछलौ अंक, सौ तरकारी लाय दैं चातुर मेरे कंथ—'मैथी' के

८—संत कबीर, ३०-३७।

९—चुन्नीलाल शेष, सूर के सो कूट, पृ० ११८।

१०—वही, भूमिका, पृ० ४

११—डा० कृष्णदेव उपाध्याय; लोक साहित्य की भूमिका, पृ० १५६।

लिए ये शब्द गाँव में खड़े नहीं हो सकते।[१२] द्रष्टव्य है कि उक्त पहेली में 'तरकारी' के संकेत द्वारा उसकी क्लिष्टता बहुत कम रह गई है और वह लोक-अग्राह्य नहीं है। यदि इसे हम लोक मानस के अनुकूल न मानें तो निम्न पहेलियों को क्या कहा जायगा जो ठेठ ग्रामीण भूमि की उपज हैं :—

गुर उर तेल भटा उर जीरौ, इन चारई कौ एकई पेड़ौ।
(महुआ)

छिकट कना दो पूछरीं दस गोड़े मुख चार।
एक मुख में जिह्वा नइयां पंडित करौ विचार॥[१३]
(गाय दुहना)

फल पर ताल ताल पर तरुवर, वामें फूल लगौरी।
वामें दामिन दमक रही है जामें ज्वान झुको री॥
(चिलम)

रंगू चले रंग पंग, तीन मूड़ दस पंग।
(हल, आदमी और बैल)

बइए कंकर उपजै झार, फरै नीम फूलै कचनार।[१४]
(चना)

इस प्रकार के ढेरों उदाहरण केवल बुंदेलखंडी पहेलियों से ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पौराणिक उपाख्यानों की ओर संकेत करती हुई एक पहेली और देखिए—

श्याम बरन मुख उज्जर कित्ते? रावन सीस मंदोदरि जित्तै।
हनुमान-पिता करि लैहौं, तब राम पिता भरि दैहौं॥

(प्रश्न—उड़द का क्या भाव है? उत्तर—जितना रावण और मन्दोदरी का सिर (१०+१=११ सेर) है। प्रश्न—मैं हवा से फटक कर लूँगा—तब? उत्तर—तब राम पिता (दश+रथ) के बराबर अर्थात् दस सेर दूँगा।)[१५] सूर के पौराणिक कथात्मक कूट इसी ढंग के हैं। निश्चय ही यह अभिव्यक्ति-पद्धति जन-मानस की अपनी देन है—किसी साहित्य की उपज नहीं। सच तो यह है कि दृष्टिकूट की यह प्रणाली साहित्य ने लोकमानस से ही ग्रहण की है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि लोक-प्रचलित इस बुझौअल-परम्परा का वैज्ञानिक

१२—डा० सत्येन्द्र : ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ५२८।

१३—तुलना कीजिए—

ऊधौ जू मन की मनै रही।
पंचमुख दृग आठ जाके द्वादस चरन मही।
आठ नारी द्वै भरतारी जुगल पुरुष इक नारि गही॥
चारि वेद दुहि चलौ साँवरौ, नेनन सेन दही।
परमानन्द दास के प्रभु पै यों पीवत है मही॥
—परमानन्द दास

१४—लेखक के निजी संग्रह से

१५—डा० कृष्णदेव उपाध्याय; लोक साहित्य की भूमिका, पृ० १६७

अध्याय, हिन्दी-साहित्य के इन विवादग्रस्त दृष्टिकूटों और उलटबाँसियों के अर्थ खोलने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

परन्तु साहित्य के क्षेत्र में इन बुझौअलों का महत्त्व केवल यहीं तक सीमित नहीं है। साहित्य में प्रहेलिका अलंकार का एक भेद माना गया है। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार–दोनों दृष्टियों से इसकी महत्ता अलंकार शास्त्र में स्वीकार की जानी चाहिए। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में रूपकालंकार का सहारा लेकर जिन वस्तुओं का वर्णन हुआ है वे सब पहेली की कोटि में आवेंगी।[१६] रस-निष्पत्ति की दृष्टि से भी इनका अध्ययन आवश्यक है। पहेलीकार अपनी दृष्टि के पैनेपन, उक्तिवैचित्र्य तथा मनोविज्ञान की गहरी परतों के अनुभव के बल पर, बुझाने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के मन में एक कौतूहलपूर्ण स्थिति तो बनाता ही है, साथ ही सुनने वालों को उस पहेली से एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति भी होती है। 'कछू घुसी घुसाए सें, कछू हात लगाए सें, वाली जूतों की पहेली में यौन-संकेत स्पष्ट है। यौनवृत्ति की इस अभिव्यक्ति में एक सुख की भावना, एक रसानुभूति निहित है। परन्तु इस शब्दावली में जो 'घुसाने' अथवा 'घुसने' का लौकिक और रूढ़ श्लेषार्थ नहीं जानता, उसको इनमें यौनसंकेत नहीं विदित होगा।[१७] इसी प्रकार 'बैठीं का करतीं, दुआ जौ लो'[१८] में नारी-सम्पर्क से पहेलीकार ने लोगों को भ्रम में डालना चाहा है, यद्यपि 'दुआ जौ लो' का रूढ़ार्थ 'बरी' देने से है। बहुत सी पहेलियाँ ऐसी हैं जिनमें विशिष्ट शाब्दिक योजना द्वारा हास्य रस की उत्पत्ति की गई है। उदाहरणार्थ–

चार पाग की चापड़ चुप्पो, वापै बैठी कुप्पो,
आई सप्पो लै गई लुप्पो रह गई चापड़ चुप्पो।[१९]

× × ×

आकास गइले चिरई पाताल गइले बच्चा,
हुच्चुक मारे चिरई, पियाव मोर बच्चा।[२०]

× × ×

कटोरे के अन्दर कटोरा, बेटा बाप से भी गोरा।[२१]

यहीं पर हमें पहेलियों के भाषा वैज्ञानिक महत्त्व की ओर संकेत कर देना चाहिए। पहेलियों के जनपदीय प्रयोगों में भाषाविज्ञान की खोज के लिए अपार सामग्री बिखरी पड़ी है। भाषागत ऐतिहासिक अध्ययन के लिए भी पहेलियाँ महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनमें जनपदीय प्रयोगों का शब्द गत और अर्थगत वैशिष्ट्य अपने पुरानेपन के साथ निहित है। डा० सुनीति

१६—वही, पृ० १५६
१७—डा० सत्येन्द्र, वही, पृ० ५२६
१८—लेखक के निजी संग्रह से
१९—सत्येन्द्र, वही, पृ० ५२६
२०—डा० कृष्णदेव उपाध्याय, वही, पृ० १६६
२१—लेखक के निजी संग्रह से

कुमार चाटुर्ज्या ने कहावतों का जो भाषाशास्त्रीय महत्त्व माना है[२२] वह पहेलियों के सम्बन्ध में भी उतना ही ठीक है।

अभी तक हमने पहेलियों के साहित्यिक महत्व की चर्चा की। सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए भी इनका कम महत्त्व नहीं। वैदिक युग में ब्रह्मोदय आनुष्ठानिक क्रिया का एक अंग समझा जाता था। प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन के अनेक मांगलिक उत्सवों पर प्रहेलिका को आनुष्ठानिक महत्ता प्राप्त थी। अब भी गोंड़ और बिरहोर आदि जातियों में शादी के उत्सव पर पहेली बुझाना एक आवश्यक अनुष्ठान माना जाता है।[२३] बुंदेलखंड, ब्रज, मालवा आदि जनपदों में शादी के अनेक अवसरों पर 'गालियाँ' 'अटका' 'पारसी' या 'प्याली' आदि के ढँग की चीजें गाई जाती हैं जिनका पहेलियों से निकटतर सम्बन्ध है। व्याह के अवसर पर जब दूल्हे की ओर से बराती दुलहिन को लेने जाते हैं तो पहेलियाँ बुझाना आवश्यक होता है।[२४] भोजपुरी प्रदेश में विवाह के समय जब वर वैवाहिक विधि के पश्चात 'कोहवर' में प्रवेश करता है तब घर की स्त्रियाँ उससे पहेलियाँ पूछती हैं जिन्हें 'छेंवा' कहा जाता है।[२५] पहेलियों के विषय लोक जीवन से सम्बन्धित हुआ करते हैं। पहेलियों में प्रयुक्त वस्तुओं के प्रति लोकमानस का एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है जो पहेली के स्वरूप से ज्ञात होता है। देशकाल का स्पष्ट प्रतिबिंब उनमें होता है। किसी जाति विशेष की विशेषताओं की ओर भी कहीं कहीं इनमें संकेत किया गया है। ब्राह्मणों की भोजन-प्रियता के क्षेत्र में मथुरा के चौबे लोगों ने काफ़ी कीर्ति कमाई है।[२६] ब्रज में गाय, रोटी आदि पर पहेलियाँ नहीं हैं तथा काजल, जाट, लाल रंग आदि पर सर्वाधिक पहेलियाँ हैं। यह विशिष्ट सामाजिक परंपरा का द्योतक है। 'कछू घुसी घुसाए सें, कछू हात लगाए सें' वाली जूतों की बुझौअल में एक विशिष्ट प्रकार के जूतों की ध्वनि है। बाटा या अन्य आधुनिक प्रकार के जूतों के संबंध में उक्त पहेली का प्रयोग नहीं किया जा सकता। बुंदेलखंड और ब्रज की वेशभूषा के एक उपकरण के सम्बंध में हमें उक्त पहेली से बोध होता है। यही नहीं लोक सौन्दर्य-संस्कार की अभिव्यक्ति भी इन पहेलियों में मुखरित हुई है। प्रेम और नीति के अनेक क्षेत्रीय मानदंड हमें इनमें मिल सकते हैं। लोक मानस की सौन्दर्यानुभूति, परंपरागत ज्ञान को सँजोए रखने वाले मस्तिष्क की परिपक्वता, जीवन के मानदंड, लोकरुचि आदि के तत्वों को यह पहेलियाँ अपने में सुरक्षित किए हैं। समाजशास्त्री और संस्कृति का अध्येता इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

परन्तु अशिक्षित और मूढ़ कही जाने वाली जनता की इन पहेलियों के महत्त्व की चर्चा करना अब भी शेष है। पहेलियाँ केवल बुद्धि विलास और वाग्विलास की साधक ही

२२—राजस्थान कहावत, भाग १—भूमिका

२३—मैन इन इंडिया, भाग १३, संख्या ४, पृ० ३१६

२४—श्याम परमार : मालवी लोकगीत, पृ० ४६

२५—डा० कृष्ण देव उपाध्यया: भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन

२६—डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक-साहित्य की भूमिका, पृ० १६७

अध्याय, हिन्दी-साहित्य के इन विवादग्रस्त दृष्टिकूटों और उलटबाँसियों के अर्थ खोलने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

परन्तु साहित्य के क्षेत्र में इन बुझौअलों का महत्त्व केवल यहीं तक सीमित नहीं है। साहित्य में प्रहेलिका अलंकार का एक भेद माना गया है। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार—दोनों दृष्टियों से इसकी महत्ता अलंकार शास्त्र में स्वीकार की जानी चाहिए। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में रूपाकालंकार का सहारा लेकर जिन वस्तुओं का वर्णन हुआ है वे सब पहेली की कोटि में आवेंगी।[१६] रस-निष्पत्ति की दृष्टि से भी इनका अध्ययन आवश्यक है। पहेलीकार अपनी दृष्टि के पैनेपन, उक्तिवैचित्र्य तथा मनोविज्ञान की गहरी परतों के अनुभव के बल पर, बुझाने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के मन में एक कौतूहलपूर्ण स्थिति तो बनाता ही है, साथ ही सुनने वालों को उस पहेली से एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति भी होती है। 'कछू घुसी घुसाए सें, कछू हात लगाए सें, वाली जूतों की पहेली में यौन-संकेत स्पष्ट है। यौनवृत्ति की इस अभिव्यक्ति में एक सुख की भावना, एक रसानुभूति निहित है। परन्तु इस शब्दावली में जो 'घुसाने' अथवा 'घुसने' का लौकिक और रूढ़ श्लेषार्थ नहीं जानता, उसको इनमें यौनसंकेत नहीं विदित होगा।[१७] इसी प्रकार 'बैठीं का करतीं, दुआ जौ लों'[१८] में नारी-सम्पर्क से पहेलीकार ने लोगों को भ्रम में डालना चाहा है, यद्यपि 'दुआ जौ लं' का रूढ़ार्थ 'बरी' देने से है। बहुत सी पहेलियाँ ऐसी हैं जिनमें विशिष्ट शाब्दिक योजना हास्य रस की उत्पत्ति की गई है। उदाहरणार्थ—

चार पाग की चापड़ चुप्पो, वापै बैठी कुप्पो,
आई सप्पो लै गई लुप्पो रह गई चापड़ चुप्पो।[१९]

× × ×

आकास गइले चिरई पाताल गइले बच्चा,
हुच्चुक मारे चिरई, पियाव मोर बच्चा।[२०]

× ×

सदरउल सदर या प्रधान न्यायाधीश था। जो मई १६६७ से जून १६८१ तक सदरउल सद्र (चीफ़जज) रहा। अकलखान[१८] (अकिलखान) दरबार का एक प्रभुत्वशाली अमीर था जिसे १६वीं सदी के उर्दू लेखकों ने अवरंग की पुत्री ज़ेबुनिसा का प्रिय अमार कहा है। सीदी पोलाद (सिद्दीफ़ौलाद) अवरंग का नगर कोतवाल था। अपनी उग्रता, प्रचंडता और प्रभुता के लिए यह बहुत प्रसिद्ध था। अवरंग ने शिवाजी को भी इसी की देखरेख में बन्दी बनाया था। शेख निजाम को बीतककार ने अवरंग का उस्ताद कहा हैं इसे भी ऐतिहासिक ही होना चाहिए। इन पाँचों के पास श्री प्राणनाथ ने अपने पत्र पहुँचाए थे। सेख-इस्माइल से तो अनेक बार उनके शिष्यों का शास्त्रार्थ हुआ था। दिल्ली में धर्म-सत्याग्रह करने वाले बारह शिष्य भी सिद्दी फ़ौलाद और शेख़ इस्लाम की देखरेख में थे। बीतककार ने सेख सलेमान तथा बाद में सेख निजाम के पुत्र अब्दुल्ला को अवरंग का प्रधान वैयक्तिक सहायक बताया है। इनका भी इतिहास में स्थान होना चाहिए। इसी प्रकार बख़्तावर (३८.७), शेखखिदर (५४.७४) पुउदलखान (५.५६) गुलाम मुहम्मद (५६.१२७), जहानमुहम्मद (५१.८८), पठान फतेमुहम्मद (५१.६६), इमराहीम (इब्राहीम) (४६.३१), सफजंग (५६.१८) और अनेक मुसलमान शिष्यों के नाम आए हैं जिनकी ऐतिहासिक परीक्षा होनी चाहिए। अरब के तत्कालीन सुलतान (इमाम सुलतान) तथा उसके दीवान शेखसला का नाम भी आया है। प्राणनाथ के सैकड़ों शिष्यों के नाम दिए गए हैं जिनके नामों तक अभी तक के इतिहास की पहुँच संभव नहीं हुई।

ऐतिहासिक स्थानों में देवचंद जी की जन्मभूमि उमरकोट (अधुनिक अमरकोट) और प्राणनाथ जी की जन्मभूमि जामनगर को ही बीतककार ने नवतन पुरी कहा है—संप्रदाय में इसे नवतन पुरी ही कहते हैं[१६]। कहा जाता है कि वहाँ के चारण उस समय इसे नवतन पुरी ही कहा करते थे। देवचंद तथा प्राणनाथ का आविर्भाव- स्थान होने के कारण भी इनका यह नाम हो सकता है। जन साधारण आज सोराष्ट्र में 'नगर' के नाम से ही पुकारते हैं। सुदामापुरी का नाम ही पोर बन्दर है जो लालदास की जन्मभूमि है। मेड़ता, (प्र० ३१) जूनागढ़ (१६-१५) दीवबंदर (डूयबंदर) (प्र० १६) ठट्ठा (प्र० १६-२०) लाठो बंदर (प्र० २१) मसकत (प्र० २४) आबासी बंदर (प्र० २४-४७) मड़ई बन्दर (२८-२४) सूरत (२८-३१) अटक (३१-६७) गोकुल, मथुरा (३२-६) दिल्ली (३२-१०) और दिल्ली के अंदर उरदू बाजार (३२-२६) साहगंज (३६-६) रोहिलाखान की सराय (३२-१२) चांदनी चौक (४०-४४) आमेर (४७-१) सांगानेर (४७-१) उदेपुर (४७-२) मंदसोर (४६-१) रामपुर (४७-२) सीतामऊ (५०-१) उजेन (५०-१) बुढ़ान पुर (५१-१४१) वडार (बरार) (५४-३०) एलचपुर (५४-४६) रामनगर (५४-५१) विलेहरी (५७-५) परना (आधुनिक पन्ना) (५७-५२) चित्रकोट (५८-१४६) तथा ओड़छा (५८-१६१) आदि नाम बीतक में आए हैं। इन नामों से इन नगरों और मोहल्लों के मध्ययुगीन नामों पर प्रकाश पड़ता है। बीतककार ने अरब को बरारब (५२-२२) कहा है जो संभवतः बर्रअरब का तद्भव है।

१८—वही पृ० ५२

१६—हिस्ट्री ऑव अवरंगजेब, भाग ३० पृ० ४०-४१

नहीं हैं, वे 'बुद्धि पर शान चढ़ाने के यंत्र हैं, स्मरणशक्ति और वस्तु-ज्ञान बढ़ाने की कलें हैं।'[२७] वह ज्ञान-प्रसार का साधन हैं। यही नहीं, कल्पना-शक्ति को उर्वर बनाए रखने के लिए अशिक्षित जनता की वह साहित्य-शास्त्र हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने तो इन्हें ग्रामीणों का वेद कहा है। वेद भी श्रुति ही थे। परंपरा के रूप में भारतीय किसान अपने जो रीति-रिवाज आचार-व्यवहार, इतिहास आदि की स्मृति अपने मस्तिष्क में लिए आ रहा है, उस मस्तिष्क की वहन-शक्ति को उर्वर बनाए रखने के लिए खाद्य का काम ये पहेलियाँ करती हैं। अस्तु, साधारण मनोरंजन से लेकर लोक दर्शन की मूल भित्ति तक इन पहेलियों का अपना महत्त्व है।

पहेलियाँ लगभग सभी भारतीय भाषाओं की जनपदीय बोलियों में प्राप्त होती हैं। प्राचीन काल में इनकी महत्ता भारत में ही नहीं, संसार के अन्य भागों में भी थी। 'अरेबियन नाइट्स' आदि कहानियों में तत्संबंधी अनेक संकेत मिलते हैं। लोकसाहित्य का यह अंग अपने भीतर साहित्य और नवजीवन की अनेकानेक विधियों को छिपाए पड़ा है। इसके संकलन और वैज्ञानिक अध्ययन की महत्ता इतने से ही स्पष्ट है।

२७—रामनरेश त्रिपाठी : ग्राम साहित्य (३ रा भाग) पृ० २८५।

बीतक : ऐतिहासिक समीक्षा

(गतांक से आगे)

माता बदल जायसवाल, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्राणनाथ के जीवनवृत्त वर्णन करने के साथ साथ लालदास ने बीतक में उनकी कृतियों की रचना-तिथि, स्थान आदि का भी उल्लेख किया है। प्राणनाथ की वाणी से सर्वप्रथम हवसा के वंदीगृह (प्रबोधपुरी) में रास[1] के पद सं० १७१२ में प्रस्फुटित हुए जिसे बीतककार ने अंजीर के नाम से भी अभिहित किया है। वहीं प्रकास[2] नामक ग्रन्थ में संग्रहीत बानियाँ भी उतरीं। जैसे-जैसे बानियाँ उतरती थीं, वंदीगृह में उन्ही के साथ उनके छोटे भाई ऊधव जी लिखते जाते थे (लालदास ने ऊधव जी को गोलोक की उत्तमवाई की वासवा कहा है) वाद में उन्हें पुस्तक में चढ़ाया जाता था। इसी समय 'खटरूती'[3] नामक किताव में संग्रहीत बानियां भी उतरीं। दीवमन्दिर में (सं० १७२२) वेहदवानी[4] उतरी। मेड़ते में (सं० १७३१) रास[5] की कुछ बानियाँ और लिखी गईं और पद यात्रा के समय कीरतन[6] के अनेक पद रचे गए। सूरत में (सं० १७२६) कलस[7] नामक ग्रंथ की रचना हुई और अनूप सहर (संवत १७३५-३६) में संनध[8] ग्रंथ समाप्त हुआ। वहीं कलस और प्रकास का मूल गुजराती से हिन्दुस्तानी[9] भाषा में अनुवाद हुआ। इसी प्रकार कुछ बानियाँ रामनगर (१७३८) और पन्ना में उतरीं[10]। खुलासा, खिलवत, मारफत सागर, छोटा तथा वड़ा क्यामत नामा आदि अन्य फिरकों[11] से संवंधित बानियां पन्ना में (सं० १७४०-५१) रची गईं। पन्ना में खिलवत और सागर भी लिखे गए। अंतिम बानी चित्रकोट में लिखी गई थी; किन्तु उसे लालदास

१—दे० ला० वी० प्र० १५· १, ५३
२—वही १५·५६, ५७
३—वही १५·५८
४—वही १५·६०
५—वही ६१
६—वही वही
७—वही १५·६२
८—वही वही
९—वही ,, ६३
१०—वही ,, ६४
११—वही ,, ६५

पन्ना के ही अंतर्गत लिख देते हैं। इस प्रकार बीतक में प्रायः 'कुलजम स्वरूप' या 'तारतम्य सागर' में संग्रहीत समस्त ग्रंथों का रचना काल दे दिया गया है।

बीतक में सहस्त्रों व्यक्तियों, सैकड़ों स्थानों तथा अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है। इनमें से कुछ व्यक्ति, स्थान और घटनायें ऐसी हैं जिनके सत्यासत्य की परीक्षा इतिहास के आधार पर हो सकती है। अतएव बीतक की ऐतिहासिक परीक्षा बीतक की प्रामाणिकता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम ग्रन्थकार ने मंगलाचरण[१२] में सतयुग, त्रेता, द्वापर के राजाओं के नामोल्लेख के बाद कलयुग के बीस नामों का उल्लेख किया है। ये नाम निम्नलिखित हैं: जदुनाथ, अजयपाल, महिपाल, गंधर्वसेन, बीर विक्रमादित्य, विक्रमाचंद्र, भोज, गौरी पातसाह, (मूहम्मद-गोरी) अलाविदीन (अलाउद्दीन), नसीरुद्दीन, लोढ़ा महमूद, बड़ा महमूद, सुरबा (शेर खाँ) तिमिर लंग (तैमूर) बब्बर, हिमांऊँ, अकबर, सलेमसाह (जहाँगीर) साहजहाँ और अवरंग जेब। इनमें से हिन्दू राजाओं के कुछ नाम बहुत स्पष्ट नहीं होते हैं; किन्तु शेष हिन्दू और मुसलमान राजाओं के नाम प्रसिद्ध ऐतिहासिक नामावली के अनुकूल ही हैं। अवरंग के युग में ही बीतक की रचना हुई अतएव यहीं तक नामगणना की गई है। मध्यकालीन जन समुदाय में जिस रूप में ये नाम प्रचलित थे उसी तद्भव उच्चारण के साथ उल्लेख भी हुआ है जिससे बीतक की प्रमाणिकता को और बल मिल जाता है। देवचंद तथा श्री प्राणनाथ के कुटुम्बियों के नामों की ऐतिहासिक परीक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि इतिहास की वहाँ तक पहुँच ही नहीं हुई। हिन्दी साहित्य तथा हिन्दू धर्म से सम्बन्धित कबीर-कमाल, नानक रामानिज (रामानुज) नीमानिज (निम्बार्क) विस्नूस्याम (विष्णुस्वामी) माधवाचारज स्वामी, हरिदास आदि नाम भी इतिहास विरुद्ध नहीं सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त नामों की प्रामाणिकता के आधार पर स्वामी हरिदास के पुत्र वृंदावन का नाम भी ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य ही मानना चाहिए। अवरंगजेब-काल के हिन्दू राजाओं में जसवंत[१३] (जसवंतसिंह राठौर) उदयपुर के राजा राजसिंह[१४] तथा उनके पुत्र राना भीमसिंह,[१५] भगवंतराय (५६१३) बूंदी के भावसिंह (भाऊसिंह) और छत्रसाल के नाम ऐतिहासिक ही हैं। संभवतः अन्य हिन्दू राजाओं के नाम भी ऐतिहासिक ही होंगे। अवरंगजेब दरबार से सम्बन्धित अनेक अमीरों के नाम दिए गए हैं जिनमें से शेख इसलाम (३८-३), रजवीखान (रिजवीखान) शेख़निज़ाम (शेखनिजाम) अकलखान (अकिलखान) (३८-२४, २५) अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। शेख इसलाम (शेखउल इसलाम)[१६] अवरंग का प्रमुख काजी था। धार्मिक समस्यायों में अवरंग इसी से सम्मति लेता था। यदुनाथ सरकार के अनुसार अवरंग के समस्त अमीरों में इनका चरित्र 'श्रेष्ठतम' था, ऐसा सच्चा काजी भारत में फिर नहीं हुआ। रजबीखान[१७] (रिजवीखान)

१२—दे० ला० वी० प्र० चौ० २२, २३, २४; २५, २६

१३—दे० यदुनाथ सरकार; हिस्ट्री आव अवरंगजेब

१४—वही पृ० २४८

१५—वही पृ० २४९

१६—दे० यदुनाथ सरकार; हिस्ट्री आव अवरंगजेब भाग ३, पृ० ७२

१७—वही पृ० ७१

सदरउल सदर या प्रधान न्यायाधीश था। जो मई १६६७ से जून १६८१ तक सदरउल सदर (चीफ़जज) रहा। अकलखान[१८] (अकिलखान) दरबार का एक प्रभुत्वशाली अमीर था जिसे १६वीं सदी के उर्दू लेखकों ने अवरंग की पुत्री ज़ेबुनिसा का प्रिय अमार कहा है। सीदी पोलाद (सिद्दीफ़ौलाद) अवरंग का नगर कोतवाल था। अपनी उग्रता, प्रचंडता और प्रभुता के लिए यह बहुत प्रसिद्ध था। अवरंग ने शिवाजी को भी इसी की देखरेख में बन्दी बनाया था। शेख निजाम को बीतककार ने अवरंग का उस्ताद कहा हैं इसे भी ऐतिहासिक ही होना चाहिए। इन पाँचों के पास श्री प्राणनाथ ने अपने पत्र पहुँचाए थे। सेख-इस्माइल से तो अनेक बार उनके शिष्यों का शास्त्रार्थ हुआ था। दिल्ली में धर्म-सत्याग्रह करने वाले बारह शिष्य भी सिद्दी फ़ौलाद और शेख़ इस्लाम की देखरेख में थे। बीतककार ने सेख सलेमान तथा बाद में सेख निजाम के पुत्र अब्दुल्ला को अवरंग का प्रधान वैयक्तिक सहायक बताया है। इनका भी इतिहास में स्थान होना चाहिए। इसी प्रकार बख़तावर (३८.७), शेखखिदर (५४.७४) पुउदलखान (५.५६) गुलाम मुहम्मद (५६.१२७), जहानमुहम्मद (५१.८८), पठान फतेमुहम्मद (५१.६६), इमराहीम (इब्राहीम) (४६.३१), सफजंग (५६.१८) और अनेक मुसलमान शिष्यों के नाम आए हैं जिनकी ऐतिहासिक परीक्षा होनी चाहिए। अरब के तत्कालीन सुलतान (इमाम सुलतान) तथा उसके दीवान शेखसला का नाम भी आया है। प्राणनाथ के सैकड़ों शिष्यों के नाम दिए गए हैं जिनके नामों तक अभी तक के इतिहास की पहुँच संभव नहीं हुई।

ऐतिहासिक स्थानों में देवचंद जी की जन्मभूमि उमरकोट (अधुनिक अमरकोट) और प्राणनाथ जी को जन्मभूमि जामनगर को ही बीतककार ने नवतन पुरी कहा है—संप्रदाय में इसे नवतन पुरी ही कहते हैं[१९]। कहा जाता है कि वहाँ के चारण उस समय इसे नवतन पुरी ही कहा करते थे। देवचंद तथा प्राणनाथ का आविर्भाव- स्थान होने के कारण भी इनका यह नाम हो सकता है। जन साधारण आज सोराष्ट्र में 'नगर' के नाम से ही पुकारते हैं। सुदामापुरी का नाम ही पोर बन्दर है जो लालदास की जन्मभूमि है। मेड़ता, (प्र० ३१) जूनागढ़ (१६-१५) दीवबंदर (ड्यबंदर) (प्र० १६) ठट्ठा (प्र० १६-२०) लाठो बंदर (प्र० २१) मसकत (प्र० २४) आबासी बंदर (प्र० २४-४७) मड़ई बन्दर (२८-२४) सूरत (२८-३१) अटक (३१-६७) गोकुल, मथुरा (३२-६) दिल्ली (३२-१०) और दिल्ली के अंदर उरदू बाजार (३२-२६) साहगंज (३६-६) रोहिलाखान की सराय (३२-१२) चांदनी चौक (४०-४४) आमेर (४७-१) सांगानेर (४७-१) उदेपुर (४७-२) मंदसोर (४६-१) रामपुर (४७-२) सीतामऊ (५०-१) उजेन (५०-१) बुढ़ान पुर (५१-१४१) वडार (बरार) (५४-३०) एलचपुर (५४-४६) रामनगर (५४-५१) बिलेहरी (५७-५) परना (आधुनिक पन्ना) (५७-५२) चित्रकोट (५८-१४६) तथा ओड़छा (५८-१६१) आदि नाम बीतक में आए हैं। इन नामों से इन नगरों और मोहल्लों के मध्ययुगीन नामों पर प्रकाश पड़ता है। बीतककार ने अरब को बरारब (५२-२२) कहा है जो संभवतः बर्रअरब का तद्भव है।

१८—वही पृ० ५२

१६—हिस्ट्री ऑव अवरंगजेब, भाग ३० पृ० ४०-४१

बीतक में वर्णित अनेक महत्वपूर्ण घटनायें ऐतिहासिक कसौटी पर प्रमाणिक सिद्ध होती हैं। (१) जामनगर पर कुतुबखाँ का आक्रमण—बीतककार के अनुसार कुतुबखाँ ने जामनगर पर दो बार चढ़ाई की : प्रथम बार संवत् १७१२ और दूसरी बार संवत् १७१६ वि० में अवरंगजेब युग के इतिहासकार यदुनाथ सरकार के अनुसार सम्राट की आज्ञा से जूनागढ़ के फौजदार कुतुबुद्दीन खान खेशगी[२०] के सेनापतित्व में १६६२ दिसम्बर में नवा नगर के जाम पर चढ़ाई की जो बीतक के वि० सं० १७१६ से मिलता है। कुतुबुद्दीन को जनसाधारण में कुतुब ही कहा जाता है (यथा कुतुबुद्दीन की मीनार को कुतुब मीनार) इस प्रकार बीतक में वर्णित दूसरी चढ़ाई इतिहास सिद्ध है। (२) जसवंत सिंह राठौर का अटक पार रहना—बीतक के अनुसार श्री प्राणनाथ जी ने मेड़ते से अपने एक शिष्य गोवरधन को एक पत्र देकर जसवंत सिंह को जाग्रत करने के लिए (१७३१ संवत् में) अटक पार भेजा था। इतिहास सिद्ध है कि अवरंग ने इसी समय काबुल[२१] पर चढ़ाई की थी जसवंत सिंह भी उस चढ़ाई में गए थे। ब्रजभूषण कृत वृतान्त मुक्तावली में भी गोवरधन का काबुल से लौट कर प्राणनाथ जी के पास जाकर सारा वृत्तान्त कहने का उल्लेख हुआ है। (३) दिल्ली में प्राणनाथ के धर्म युद्ध के समय अवरंग का दिल्ली-निवास :—बीतक के अनुसार प्राणनाथ जी सं० १७३५-३६ बीच १६ माह तक दिल्ली में रहकर धर्म युद्ध का संचालन करते रहे। बाद को १७३७ में उदयपुर की ओर चले गए। यदुनाथ सरकार के अनुसार अवरंगजेब अफ़रीदी विद्रोह को दबाकर हशन शदल से मार्च १६७६ (संवत् १७३३-३४ वि०) में दिल्ली लौटा और दिल्ली से वह ३० सितम्बर १६७६ (१७३६-३७ वि०) को उदयपुर के लिए प्रस्थान करता है।[२८] इस प्रकार प्राणनाथ के दिल्ली-निवास के समय अवरंग का दिल्ली-निवास इतिहास सिद्ध है। (४) उदयपुर पर अवरंग की चढ़ाई-बीतक के अनुसार जिस समय सं० १७३६-३७ में श्री प्राणनाथ उदयपुर में थे उसी समय अवरंग ने अजमेर होते हुए उदयपुर के राना पर चढ़ाई की। इतिहास सिद्ध है कि अवरंग का यह आक्रमण ५ अक्टूबर १६७६ ई० (सं० १७३६ वि०) को हुआ था। इस प्रकार बीतककार का आक्रमण सम्बन्धी उल्लेख सब प्रकार से इतिहास सम्मत है। इन घटनाओं के अतिरिक्त भी अनेक अति महत्व पूर्ण घटनाओं का बीतक में उल्लेख हैं, किन्तु इतिहास उनकी ओर से मौन है। छत्रसाल-प्राणनाथ-मिलन का वर्णन छत्रसाल के दरबारी कवि गोरेलाल ने किया है। इतिहास में इस मिलन को उचित स्थान देना चाहिए। इस प्रकार बीतक में आए हुए स्थान, व्यक्तिगत रूप तथा प्रमुख घटनाएँ इतिहास के आधार पर प्रामाणिक सिद्ध होती हैं।[२२]

भाषा की दृष्टि से लालदासकृत बीतक में १७वीं सदी की खड़ी बोली का जीता-जागता अर्न्तप्रान्तीय रूप सुरक्षित है। इस बोली के द्योतक हिन्दवी हिन्दवीय[२३] तथा हिन्दुस्तानी[२४] नाम हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम किसी हिन्दू लेखक द्वारा हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त

२०—वही, भाग ३ पृ० ४०-४१
२१—वही भाग ३, पृ०
२२—वही पृ० ७, ८
२३—दे० ला० बी० पृ० ३७-३६, ४६
२४—वही, पृ० १५, ६३

होते हैं। छत्रसाल के सम-सामयिक कवि व्रजभूषण ने इन शब्दों के बदले 'मध्यदेश[२५] भाषा' नाम लिखा है। ध्वनि, रूपरचना, वाक्यरचना सब प्रकार से बीतक १७वीं सदी की खड़ी बोली का प्रतिनिधि ग्रंथ हो सकता है। गौण रूप से व्रजभाषा प्रयोग भी मिश्रित हैं; किन्तु मुख्य ढांचा खड़ी बोली का है। शब्दावली का मुख्य आधार तद्भव रूपों से बना है। गुजराती, सिन्धी, कच्छी के कुछ शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। लालदास श्री प्राणनाथ के उन शिष्यों में थे जो हिंदू धर्म तथा इस्लाम धर्म की एकता के जोश से परिपूर्ण थे। यही प्राणनाथ की धर्म सभा में कुरान का पाठ करते थे। इसी धार्मिक जोश के कारण ही बीतककार कुछ फ़ारसी-अरबी शब्दों का विचित्र रूप से प्रयोग करते हैं। इस्लाम धर्म से सम्बन्धित शब्दों का रूढ़ि अर्थ न लेकर उन्हें अपने नवीन अर्थ में प्रकट करते हैं। धर्म के साथ साथ भाषा सम्बन्धी यह क्रान्ति कभी कभी सामान्य पाठक को उलझन में डाल देती है। अनेक स्थलों में बीतककार अपने धर्म को 'दीन इसलाम' के नाम से पुकारते हैं—

यथा—मोको लेओ साथ में दाखिल करो इसलाम।[२६] तब बिहारी जी ऐ कहा न ए राह नहीं इसलाम[२७]। लेओ सिर तुम अपने एदीन इसलाम का काम[२८]

श्री प्राणनाथ के वेदांती शिष्यों ने इस भाषा प्रणाली का समर्थन नहीं किया। उनकी बीतकों में हिन्दुओं की शास्त्रीय परंपरा के अनुसार संस्कृत शब्दावली का प्रयोग धार्मिक प्रसंगों में हुआ है।

बीतककार अपने अनुयाइयों को 'मोमिन' कह कर पुकारते हैं जब कि अन्य बीतककार उन्हें ब्रह्म सृष्टि आदि नाम देते हैं—

'श्री जी आप जाहेर करी। दिया मोमिनों को ताम।'[२९] इसी प्रकार प्राणनाथ को 'जबराईल',[३०] 'असराफील' का जोश चढ़ता है। लालदास के अनुयायी ख़ुदा के वास्ते लड़ते हैं क्योंकि उन्हें जुल्म दूर करना है।

'राह खुदा के वास्ते लड़े। मेटन को जुलमात।' अपने कुरान के लिए कभी कभी लालदास जी 'किल्ली अलाकलाम' कहते हैं। चौदहों लोक को सर्वत्र 'चौदेतबक'[३१] कहा गया है। अवरंग के कट्टर पंथी अनुयायियों को वह कभी भी 'मोमिन' नहीं कहते हैं। लाल के अनुसार तो सत्य धर्म को न समझने वाले, धार्मिक अत्याचार करने वाले ही वास्तव में 'काफर' हैं। लालदास जी देवचंद जी को हजरत ईसा[३२] और 'इलमलदुंनी'[३३] कहते हैं। भाषा के क्षेत्र में लालदास की यह क्रान्तिकारिता सामान्य पाठक के अर्थ-बोध में बाधा उपस्थित करती है। लालदास के क्रान्तिकारी धार्मिक विचारों की पृष्ठभूमि में इन शब्दों का

२५—व्रज भूषण वृतान्त मुक्तावली पृ०……चौ

२६—वही ला० वी० प्र० २७-२४

२७—वही २८, ३

२८—वही २९-७६

२९—वही ३०

३०—वही ३७०१५

३१—वही २८-७

३२—वही ५२-४६

३३—वही ५२-४८

वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है। सामान्य प्रचलित अर्थ लेने से अनर्थ होने की आशंका है। धार्मिक शब्दों के विचित्र प्रयोग के कारण ही आज का सामान्य प्रणामी इन ग्रन्थों का परिचय दूसरों को झिझक के साथ देता है, यद्यपि इसमें झिझक नहीं बल्कि उसे गर्व का अनुभव करना चाहिए। ग्रन्थ में कुछ कुरान की आयतें भी उद्धृत की गई हैं—जिनका अनुवाद दिया गया है। ग्रन्थ चौपाई छंद में लिखा हुआ है; किन्तु छंद गणना के अनुसार नाम मात्र के लिए ही इन्हें चौपाई छंद कह सकते हैं। चौपाइयों की मात्राओं की संख्या की ओर ध्यान नहीं दिया गया। एक प्रकार से बीतक तुकान्त युक्त गद्य रचना है। संभवतः मध्ययुग का गद्य तुकान्त ही होता था।

बीतक ऐसा जीवनवृत्त समस्त हिन्दी साहित्य में २० वीं शती के पूर्व दुर्लभ और खड़ी बोली में तो अलभ्य है। १७ वीं शती में लिखित यह जीवनवृत्त निस्संदेह खड़ी बोली का प्रथम जीवनवृत्त है। अत्युक्ति नहीं होगी यदि कहा जाए की समस्त हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का यह प्रथम जीवनवृत्त होगा। बीतक ही एक प्रकार से उत्तरी भारत की प्रथम प्रामाणिक खड़ी बोली की रचना होगी, क्योंकि बीतक की रचना उर्दू के प्रथम कवि फायज, जटल, हातिम, से पूर्व ही हो चुकी थी। इस प्रकार खड़ी बोली (हिन्दी उर्दू) की प्रामाणिक रचना होने के कारण भी यह ग्रन्थ अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

बीतक प्रणामी धर्म का प्रामाणित कोष ग्रन्थ सा है। जो देवचंद, प्राणनाथ, तथा प्रणामी धर्म प्रचार का एक जीता जागता इतिहास प्रस्तुत करता है। हिन्दी साहित्य में संभवतः किसी भी साहित्यकार या धर्म सुधार की जीवनी इतनी पूर्णता, यथार्थता, सजीवता से नहीं लिखी गई। यह ग्रंथ प्राणामी धर्म के लिए ही नहीं बल्कि तत्कालीन इतिहास की यथातथ्य-विश्वसनीय सामग्री के कारण इतिहास के लिए भी अपनी कुछ मौलिक देन रखता है।

भाषा में लिङ्ग-भेद

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' एम्० ए०, लखीमपुर-खेरी

अनेक भाषाओं के सीखने में लिङ्ग-भेद की समस्या बाधक रहती है अतः इस विषय पर विचार तो अपेक्षित ही है, यद्यपि विचारमात्र से समस्या का कोई दो-टूक समाधान नहीं मिलता और न ही उसकी जटिलता में कमी आती है। लिङ्गभेद पर विचार का प्रयोजन एकमात्र उसके मूल में स्थित रहस्य का उद्घाटन है जो वैज्ञानिक अवश्य है पर शास्त्रोपयोगी कम। तभी महर्षि पतञ्जलि को कहना पड़ा :—

'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य।'

अर्थात् लिङ्गविषयक शास्त्रीय नियमन नहीं हो सकता क्योंकि उसका आधार लोक है—प्रयोग द्वारा ही उसका ज्ञान होता है। फिर भी यह तो देखना ही है कि लोक-प्रयोग क्यों किसी एक दिशा में एक शब्द को चलाता है तो दूसरी दिशा में दूसरे को! क्या लोक भाषा पर निरङ्कुश शासन करता है या उसका कोई तात्त्विक आधार है?

इस विषय पर नागरी के कुछ ग्रन्थों में विचार भी किया गया है और प्रायः विद्वान् लेखकों ने तीन प्रश्नों की कल्पना की है :—

(क) पुरुष के लिये स्त्रीलिङ्ग शब्द क्यों अथवा स्त्री के लिए पुलिङ्ग शब्द क्यों?
(ख) चेतन के लिए नपुंसक शब्द क्यों? और
(ग) अचेतन के लिए पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग शब्द क्यों?

ऐसे विद्वानों की स्पष्ट मान्यता है कि 'यदि अचेतन पदार्थों के लिए सदा नपुंसकलिङ्ग और चेतन जीवों में पुरुषों के लिए पुंलिङ्ग और स्त्रियों के लिए स्त्रीलिङ्ग होता तो बात युक्तिसंगत होती।'

इस मान्यता पर सीधा प्रश्न हो सकता है कि जो ये गले में ढोल लटकाए तृतीय-प्रकृति के नपुंसक पदाधिकारी जीव घूमा करते हैं क्या वे अचेतन हैं? वे बातचीत में तो इतनी चेतना उगलते हैं कि उच्चतम चेतना वालों की समग्र चेतना मूक हो जाती है।

स्पष्ट है कि यदि लौकिक एवं व्यावहारिक लिङ्गभेद भाषा में लिया गया तो नपुंसकलिङ्ग भी चेतन पदार्थों का ही होगा और अचेतनों के लिए कोई लिङ्ग न बचेगा। कहना न होगा कि उक्त त्रिविध प्रश्नों की कल्पना करते समय लोक-व्यवहार-गत लिंग-भेद ही मस्तिष्क में जमा रहा है और शब्दों में उसी की टोह में पदे पदे प्रश्न उठते गए हैं। कल्पित समाधान भी इसकी पुष्टि करते हैं :—

(क) जब पुरुष में स्त्री के कोई विशिष्ट गुण, विशेष परिस्थिति में देखे गए होंगे और स्त्री में पुरुष के गुण; तभी विपरीत लिङ्ग का प्रयोग हुआ होगा।

(ख) चेतन के लिए नपुंसक शब्द का प्रयोग, संभव है कि, कुछ अचेतनत्व देख कर ही प्रयोग में आया होगा। संस्कृत का स्त्री-वाचक नपुंसक 'कलत्र' शब्द शायद इस बात का द्योतक है कि स्त्री और सामग्री की तरह पिता के घर से पति के घर पहुँचा दी जाती थी।

(ग) अचेतन के लिए पुं० या स्त्री० का प्रयोग अचेतन पदार्थों में जीवन की कल्पना करने से ही संभव हुआ होगा।

हम इन समाधानों में से समाधान-कर्ता की कुछ मान्यताएँ निकाल सकते हैं :—

१—नपुंसक अचेतन होता है।

२—भाषा का लिङ्ग-भेद ठीक वही है जिसे हम बालक-बालिका की परख में सहायक बनाते हैं।

३—पहले शब्द तो था पर निर्लिङ्ग था और जब जैसा चाहा अपनी लौकिक धारणाओं के अनुसार लिङ्ग-स्थापना कर दी और तभी से शब्द-विशेष में लिङ्ग-विशेष पाया जाने लगा।

४—'कलत्र' शब्द का प्रयोग जबसे मिलता है तभी से नपुंसक में प्रयोग देखा जाता है अतः समझना चाहिए कि यह शब्द मध्ययुग में ही बनाया गया होगा।

इन मान्यताओं की संक्षिप्त समीक्षा भी द्रष्टव्य है :—

१—नपुंसक भी चेतनावान् प्राणी ही होता है अतः लिङ्ग-भेद के नाम पर अचेतनों में यदि उसका प्रयोग हो सकता है तो पुं० और स्त्री० को भी बारी बारी से अचेतन पदार्थों के क्षेत्र में जाना ही पड़ेगा और चेतनों में नपुंसक को भी अपेक्षित भाग देना होगा।

२—'स्तन-केशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।' इस प्रकार का लौकिक-लिंग-भेद भाषा में नहीं चलता।

३—प्रातिपदिक (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) में पाँच अर्थ रहते हैं—स्वार्थ, द्रव्य, लिंग संख्या और कारक—ये ही पाँच प्रातिपदिकार्थ या नामार्थ कहे जाते हैं। ऐसी दशा में जिस प्रकार स्वार्थहीन शब्द नहीं होता, उसी प्रकार किसी लिंग-हीन शब्द का भी अस्तित्व नहीं, क्योंकि प्रयोग तो पद का होता है जो बना बनाया रूप है और प्रयोग योग्य रूप निर्लिङ्ग रह भी कैसे सकता है। बाद में लिंग-स्थापना का पक्ष तो निर्मूल ही है।

४—सब से बड़ी बात तो यह है कि अन्य सामग्री के समान भेजी जाने वाली स्त्री वधू कहलाती है, कलत्र नहीं। यदि कलत्र भी कही जाती हो तो अचेतनता का आरोप अव्यवहार्य है, क्योंकि मध्य-युग के पूर्व वर-वधू विवाह-यज्ञ स्वयं सम्पन्न करते थे जिसके होमादि में वर की अपेक्षा वधू का कम सक्रिय भाग नहीं रहता था। वधू अचेतनवत् नहीं भेजी जाती

थी प्रत्युत 'परस्परं समञ्जेथाम्' की जागरूक प्रथा थी और स्त्रियाँ पति-निर्वाचन में प्रायः स्वतन्त्र थीं। क्या 'कलत्र' शब्द मध्य-युग की रचना मान लें ?

× × ×

'यत्नः, इच्छा, सुखम्' इन तीन पदों पर विचार कर देखें। 'सुख' शब्द अचेतन होने के साथ नपुंसकलिंग भी है अतः कोई अपत्ति नहीं, पर 'यत्नः' और 'इच्छा' शब्दों का क्या कोई स्वाभाविक लिंग ही न रहा होगा ? या क्या ये शब्द पहले नपुंसक रहे होंगे कि इनमें पुंसत्व या स्त्रीत्व का आरोप कर दिया गया ? दोनों बातें निर्मूल हैं। लिंग भी अन्य अर्थों के समान शब्द का अर्थ है जिससे रहित कोई पद कभी प्रयोग में आ ही नहीं सकता और न ही प्रयोग-योग्य रूप ले सकता है। 'यत्नः, इच्छा' यही सनातन प्रयोग हैं जिन के आधार पर व्याकरण ने लिंग का नामकरण किया होगा, यही युक्तियुक्त है।

भाषा का अस्तित्व व्याकरण-शास्त्र के रूप ग्रहण से पूर्व सर्व-सम्मत है। व्याकरण-निर्माताओं ने पद-रूपों में भेद लाने वाली तीन विधाएँ पाईं। 'रामः' से 'रामौ' को पृथक् करने वाली एक विधा है जिसे संख्या या वचन कहा गया। 'रामः' और 'रामम्' में अन्तर लाने वाली विधा को 'कारक' नाम दिया गया। परन्तु एक ही कारक और एक ही वचन में भी रूपों का भेद पाया गया—जैसे, प्रथमा एक वचन में ही 'राम' शब्द का रूप है 'रामः' पर 'ज्ञान' शब्द का रूप 'ज्ञानम्' है। यह रूप-भेद-कारिणी तीसरी विधा किस नाम से व्याकरण में व्यवहार-लाभ करे यह प्रश्न सामने था और साथ ही यह विधा तीन प्रकार के रूप-भेद प्रस्तुत करती है जो लौकिक लिङ्गों से संख्या में साम्य रखते हैं। क्योंकि शब्द प्रायः एक प्रकार से तो पुरुषवाचक दूसरे प्रकार से स्त्रीवाचक रूप लेते देखे गए और यह भी देखा गया कि इन दो के अतिरिक्त तीसरा रूप-प्रकार भी है जो न तो पुरुषवाचक शब्दरूप से साम्य रखता है और न स्त्रीवाचक से। फलतः वैयाकरणों ने सांसारिक व्यवहार के अनुकरण पर शास्त्रीय व्यवहार चालू कर दिया और इस तीसरी विधा का नाम 'लिङ्ग' रख दिया तथा उसके तीनों भेदों का लौकिक नामकरण द्वारा शास्त्रीय—अलौकिक—व्यवहार में उपयोग किया। परन्तु लोक व्यवहार के स्त्री, पुरुष, नपुंसक का व्याकरण से नाम-मात्र का ही सम्बन्ध रहा है, तात्विक नहीं।

जिस प्रकार क्षत्रिय वंशों के आदि-पुरुष सूर्य और चन्द्र के नाम पर ग्रह-पिण्डों का नामकरण व्यवहार में लाया गया और अब लोग अज्ञता-वश दोनों में भेद नहीं कर पाते, वही दशा इस लिङ्ग नामक रूप-भेद विधा की भी हो गई है। वैयाकरणों की परम्परा में सदा से इस लिङ्ग-भेद को लौकिकता से पृथक् रख कर समझा-समझाया जाता है। महामुनि पतञ्जलि का वचन है :—

'तटे सर्वलिङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवस्यति--अयं पुमान्, इयं स्त्री, इदं नपुंसकमिति ? तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम् ; अवश्यं कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः ; कोऽसौ स्वकृतान्तः ? संस्त्यान-प्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ।'

तात्पर्य यह कि 'तट' शब्द का सर्व-लिङ्ग-प्रयोग देख कर यही मानना पड़ता है कि वैयाकरणों द्वारा लौकिक लिङ्ग गृहीत नहीं हो सकता। पदार्थ के अवस्था-विशेष ही लिङ्ग कहलाते हैं। वे अवस्थाएँ हैं—संस्त्यान और प्रसव। संस्त्यान का अर्थ है अपचय और

प्रसव का अर्थ है उपचय जो क्रमशः शास्त्र में स्त्री-लिङ्ग और पुंलिङ्ग कहे जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के मध्य में तीसरी साम्यावस्था भी रहती है, वही नपुंसक लिङ्ग कहलाती है।

यहाँ विस्तार अपेक्षित है—प्रतिक्षण परिवर्तमान पदार्थों में जो स्थूल अवस्थाएँ मिलती हैं वे तीन हैं—उपचय, अपचय एवं साम्य। कोई भी शब्द अपने अन्य अर्थों के साथ इन अवस्थाओं का भी बोधक होता है। कोई शब्द इनमें से एक ही अवस्था का बोध कराता है जैसे—यत्नः, इच्छा, सुखम्। कुछ शब्द दो अवस्थाओं के बोधक हैं, जैसे—इषु, पद्म आदि। कुछ में तो तीनों अवस्थाएँ पाई जाती हैं जैसे—तटः, तटी, तटम्। अतएव कैयट ने कहा है—

सत्व-रजस्-तमांसि गुणाः तेषां परिणामरूपा एवं तेभ्योऽभिन्नाः शब्दादयः पञ्चगुणाः। सर्वाः पुनर्मूर्तय एवमात्मिकाः। गुण-समुदायो द्रव्यम्। सर्वस्य जगतः सुख-दुःख-मोहरूपतया तत्कारणत्वेन सत्त्वादिरूपत्त्वं कल्प्यते ततः सर्व-पदार्थ-व्यापित्त्वं पुंस्त्वादीनां दर्शितम्।

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ही शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणों के रूप में परिणत होते हैं। द्रव्य गुणों का समुदाय-मात्र होता है। सभी त्रिगुणात्मक द्रव्यों में इन्हीं गुणों का उपचय, अपचय और साम्य चला करता है, अतः ये तीनों अवस्थाएँ सर्वव्यापी हैं। चेतनाचेतन-विभाग से इन का कोई सम्बन्ध नहीं। इन्हीं का पारिभाषिक नामकरण पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग शब्दों से कर लिया गया है।

आधुनिक विज्ञान के युग में यदि सांख्य का गुण-सम्प्रदाय अमान्य हो तो भी कोई क्षति नहीं। पदार्थों को जिन तत्वों से निर्मित माना जाय उन्हीं के आधार पर उपचयादि दशाएँ कल्पित हो सकती हैं। नागेश भट्ट ने भी कहा है—

अचेतन-खट्वा-वृक्षादि-साधारणं लिङ्गं तु सत्त्वादीनां गुणानामुपचयापचय-स्थितिरूपं क्रमेण पुं-स्त्री-नपुंसकाख्यम्, 'एकार्थे शब्दान्यत्त्वाद्दृष्टं लिंगान्यत्त्वम्' इति भाष्योक्तेरर्थनिष्ठं केवलान्वयि, इयं व्यक्तिः, इदं वस्तु, अयं पदार्थः इति त्रिविध-व्यवहारस्य पदार्थमात्रे सत्वात्।

केनचिच्छब्देन किञ्चिद् वस्तु एकैक-विशिष्टमेव, केनचित् पर्यायेण लिंगद्वय-विशिष्टम, केनचिल्लिङ्गत्रय-विशिष्टम्।

उपचयापचययोः स्थितेरपि सत्त्वेन तन्मात्र-विवक्षायां 'सामान्ये नपुंसकम्' इति प्रवादः।

अब हम लिङ्ग-विषयक जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे इस प्रकार हैं :—

(क) शब्द का लिङ्ग लौकिक लिङ्ग से भिन्न पदार्थ की अवस्थाओं का परिचायक है। उपचय=वृद्धि, दृढ़ता, पौरुष, ओज, प्रभावकत्व इत्यादि। अपचय=ह्रास, कोमलता स्नैण, कान्ति, सुखप्रदता आदि। साम्य=उक्त दोनों दशाओं के मध्य की समरस स्थिति। उपचय एवम् अपचय दशाएँ ही क्रमशः अर्थगत पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग हैं। साम्य ही नपुंसक लिङ्ग है जो न स्त्री लिङ्ग है न पुंलिङ्ग—'न स्त्री पुमान् नपुंसकम्।' नपुंसक का अचेतनत्व से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं।

(ख) संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार से तीनों अवस्थाओं में आते जाते रहते हैं :—

(१) पदार्थ स्वयम् अपने आप में उपचित, अपचित या समस्थित होता हुआ परिवर्त्तनक्रम से तीनों दशाएँ लेता रहता है, अतः प्रत्येक वस्तु अपने आप ही तीनों लिङ्गों से युक्त है। चूँकि लिङ्ग वस्तु की अवस्थामात्र है अतः 'तटः, तटी, तटम्' से यही निष्कर्ष निकला कि तटः = तट + उपचय, तटी = तट + अपचय, तटम् = तट + साम्य। कोई भी शब्द जिस अर्थ का बोध कराता है उसके साथ उस की अवस्था भी अनिवार्य रूप से लगी रहती है और उस अवस्था का बोध भी शब्द द्वारा ही होता है। यह दूसरी बात है कि सभी शब्द सब अवस्थाओं के बोधन की शक्ति न रखते हों।

(२) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की अपेक्षा अवस्था-भेद रहता है। 'मार्ग' की अपेक्षा 'पद्धति' में अपचय है और 'पद्धति' की अपेक्षा 'मार्ग' पदार्थ में उपचय तथा दोनों की अपेक्षा 'वर्त्म' में साम्यस्थिति है। 'पुरुषः' 'स्त्री' 'मिथुनम्' में एक दूसरे की अपेक्षा से ही अवस्थाभेद पाया जाता है। अँगरेज़ी में 'सन्' की अपेक्षा 'मून्' का अपचय ही उसकी स्त्रीलिङ्गता का कारण है।

(ग) यह अवस्था-भेद कभी तो एक ही शब्द से सूचित हो जाता है, जैसे—तटः, तटी, तटम्; कभी एक ही पदार्थ की अवस्था में भेद आते ही शब्द भी बदल देना पड़ता है, क्योंकि सभी शब्दों में सभी अवस्थाओं के बोध कराने की क्षमता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार जैसे सभी शब्द सभी अर्थों के बोधक नहीं हो पाते (अन्ततः लिङ्ग भी तो अर्थ विशेष ही ठहरा)। संस्कृत में एक ही पदार्थ के लिए अवस्थाभेद से 'पदार्थः', 'व्यक्तिः', 'वस्तु' शब्दों का प्रयोग होता है।

कभी-कभी जब किसी पदार्थ की एक ही अवस्था बोधक शब्द मिलता है पर अन्य अवस्था की हो सूचना अपेक्षित होती है और दूसरा कोई शब्द उस अर्थ वाला उपलब्ध नहीं होता, तो किसी शब्द को सहायक रूप में जोड़ कर उस दशा का बोध कराते हैं जैसे—'वनम्' नपुंसकलिङ्ग ही है और उपचय की सूचना अपेक्षित है तो 'वनाभोगः'; अपचय का बोध चाहिए तो 'वनस्थली' कह कर काम चलाएँगे। 'अरण्यानी' आदि शब्द महत्त्वसूचक हैं पर उनकी महत्ता में भी अपचयावस्था अनुस्यूत है।

(घ) स्पष्ट है कि अर्थ में तो क्षण-क्षण पर परिवर्तन आते हैं। परिवर्तन का क्रम उपचय, अपचय और साम्य अवस्थाओं द्वारा ही चलता है। अतः सभी अर्थ (वस्तुएँ) त्रिलिङ्ग हैं परन्तु शब्द की शक्ति सीमित है। कुछ शब्द एक ही दशा के बोधक हो कर एक लिङ्ग होते हैं, जैसे—वृक्षः, लता, तृणम् इत्यादि। 'इषु' आदि शब्द उपचय एवं अपचय दो अवस्थाओं के बोधक होने से पुंलिङ्ग और स्त्री-लिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं; 'पद्म' शब्द उपचय और साम्य के बोधक होने से पुंलिङ्ग या नपुंसक में आते हैं। तीनों अवस्थाओं के बोधक भी हैं—जैसे; तटः, तटी, तटम्। विशेषणवाचक शब्द तीनों दशाओं के बोधक होने से विशेष्यनिघ्न कहलाते हैं।

(ङ) एक ही अर्थतत्त्व को यदि एक ही धातु से निष्पन्न शब्द द्वारा बोध कराना चाहें और यह भी अभीष्ट हो कि मनचाही अवस्था का भी बोध हो जाय तो प्रत्यय बदल

कर वैसा कर सकते हैं। जैसे—वि+अञ्ज् धातु से क्रियातत्त्व को उपचय में लाना चाहें तो 'अ' प्रत्यय लगा कर 'व्यङ्गः' कहेंगे; अपचय दशा में 'ति' प्रत्यय द्वारा 'व्यक्तिः' और साम्य में 'अन' लाकर 'व्यञ्जनम्' कहेंगे। अर्थ की सभी अवस्थाएँ शब्द से नहीं आतीं अतः परिवर्तन करने पड़ते हैं।

(च) उपचय और अपचय सापेक्ष दशाएँ हैं जो कालभेद से भिन्न होती रहती हैं, परन्तु किसी वस्तु का यदि समस्त रूप लिया जाय तो वह समरस ही ठहरेगा। उपचय+अपचय=साम्य। उदाहरण ले सकते हैं—कोई मनुष्य कुछ दिन स्थूल रहता है पर जीवन के कुछ भाग में कृश; तो कुल मिला कर उसके जीवन का साम्य ही निकलेगा। 'गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है' इस का भी यही मर्म है। जगत् वैषम्य से स्पन्दित है। उसमें कहीं सुखाधिक्य, कहीं दुःखाधिक्य तो कहीं मोहाधिक्य है। पर समग्र जगत् कुल मिला कर सम ही है, अतः उसे प्रकृति कहते हैं।

उपचय और अपचय खण्ड-प्रतीतियाँ हैं, पर साम्य एक, अखण्ड, निरपेक्ष प्रतीति है जो सर्वत्र अनुस्यूत रहती है। फलतः साम्यावस्था सामान्य दशा है और नपुंसक लिंग सामान्य लिंग है। 'सामान्ये नपुंसकम्' का यही आशय है। अवस्थाविशेष के अनिर्णीत होने पर विशेषणवाचकों में इसी सामान्यलिंग का व्यवहार होता है।

(छ) चूँकि साम्यावस्था में उपचय और अपचय दोनों उठते-गिरते रहते हैं अतः साम्य उन दोनों के ऊपर की दशा है। इसीलिए संस्कृत में तीन लिंग वाले तीन विशेष्यों के लिए यदि एक ही विशेषण लाया जाय तो उसमें नपुंसकलिंग ही होगा। जैसे—'वृक्ष लता, तृणंच मनोहराणि'। उपचय और अपचय में उपचय की शक्ति अधिक है क्योंकि अपचय को हम उपचय की सीमा में समाविष्ट कर सकते हैं। दुर्बल का अपचित परिमाण स्थूल के उपचित परिमाण में ही समा जाता है। अतएव स्त्रीलिङ्ग की अपेक्षा पुंलिङ्ग बलवत्तर है तभी दोनों लिंगों के एक विशेषण में पुंलिङ्ग ही प्रयुक्त होता है, जैसे—'वृक्षः लताच मनोहरौ।'

(ज) तीनों अवस्थाओं का प्रत्यक्ष-दर्शन भी अपेक्षित है। 'मोकः, मुक्तिः, मोचनम्' ये तीन शब्द एक ही धातु से एक ही अर्थ वाले प्रत्ययों से बने हैं; सामान्यतः एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर भी लेते हैं। फिर भी तीनों में अवस्था या लिंग का अन्तर है। 'मोक' शब्द उसी अर्थ को उपचित रूप में, 'मुक्ति' शब्द अपचित रूप में और 'मोचन' शब्द स्थित रूप में प्रकट करता है। 'तरुणिमा', 'तरुणता' और 'तारुण्य' में भी यही अन्तर द्रष्टव्य है। एक से प्रभावाधिक्य, दृढ़ता आदि, दूसरे से सुकुमारता, स्नेह आदि तो तीसरे से सबकी मिली जुली स्थिति का संकेत मिलता है। भाषामर्मज्ञ इसीलिए इन्हें एकार्थक न मान कर प्रयोग करते समय अन्तर का ध्यान रखते हैं।

होकर भिन्नार्थक हैं, उसी प्रकार मोक, मुक्ति और मोचन लिंग-भेद के कारण भिन्नार्थक ही हैं।

(ञ) यद्यपि लोक में सामान्यतः स्त्री की अपेक्षा पुरुष उपचित, पुरुष की अपेक्षा स्त्री अपचित और दोनों की अपेक्षा नपुंसक समस्थित है तथापि वे तीनों पदार्थ अपने आप में क्षण-क्षण पर परिवर्तित होकर तीनों दशाएँ लिया करते हैं; फलतः तीनों ही अपने आप में (दूसरे की अपेक्षा नहीं) त्रिलिंग हैं। अर्थ की यह त्रिलिंगता कितनी वैज्ञानिक है, द्रष्टव्य है ! परन्तु अर्थ का बोधक शब्द सर्वत्र त्रिलिंग नहीं होता। जिस प्रकार एक शब्द अन्य अर्थों का बोधक नहीं होता उसी प्रकार सब लिंग भी उसके बोध्य नहीं हुआ करते। अतः शब्द-भेद से अवस्थाविशेष का बोध कराते हैं। पुरुषः, व्यक्तिः और दाराः, वधूः कलत्रम् आदि पदों में लिंग रूप अर्थ का ही भेद है। 'नपुंसक' शब्द तो विशेषणवत् प्रयुक्त होकर दशाभेद से 'नपुंसकः, नपुंसकी, नपुंसकम्' हो लेता है।

नपुंसकलिङ्ग सामान्य लिङ्ग है तो शेष विशेष लिङ्ग हैं।

भ्रान्ति-निराकरण

भ्रम का प्रमुख कारण है अँगरेज़ी का 'न्यूटर जेण्डर' जो प्रायः अचेतनों में प्रयुक्त पाया जाता है परन्तु इतने से ही वह अचेतनलिङ्ग नहीं मान लिया जायगा। हो सकता है कि किसी भाषा में अचेतन पदार्थों के लिए न्यूटर या नपुंसक शब्दों का ही प्रयोग होता हो, तो इसका अर्थ इतना ही हुआ कि अचेतनों की साम्यावस्था के ही बोधक शब्द उस भाषा में हैं। देश-वाचक शब्दों की स्त्रीलिंगता अंग्रेजी में भी अपवाद है क्योंकि कोमल-वृत्तियों ने स्वभावतः उन पदार्थों को अपचयावस्था में ग्रहण करने को विवश कर दिया है। मानवीकरण द्वारा अनेक निर्जीव पदार्थों की उपचय-दशा का भी बोध कराया ही जाता है। 'बेबी' का स्त्रीलिंगत्व अपचय ही है। समस्थिति की सूचना अपेक्षित हुई की शब्द बदलकर 'the little thing' कह दिया गया।

उपचय और अपचय गतिशील दशाएँ हैं और साम्य गतिहीनप्राय दशा होकर अचेतनता के अधिक समीप है पर इतने से वैज्ञानिक विश्लेषण की परिसमाप्ति नहीं हो जाती।

अंग्रेजी का 'कामन् जेण्डर' ऐसा साधारण लिंग है कि एक ही शब्द दो अवस्थाओं का बोधक बन जाता है, जैसे एक ही वृक्ष में छोटे-बड़े दो फल लगे हों। विचित्र बात तो यह है कि दोनों दशाएँ पृथक् रहती हैं अन्यथा मिलकर नपुंसक बन बैठतीं। संस्कृत आदि के शब्दों में यह शक्ति नहीं है। यदि कभी आवश्यकता पड़ी तो 'पितरौ' आदि में पुंलिङ्ग से ही काम चला लेते हैं, 'Parents' की तरह common gender का अभाव है। भारतीय आर्य भाषाओं में स्त्रीलिंग भी कहीं-कहीं कामन् जेण्डर का काम देता है जैसे बहुत सी भैंसों में एक-आध भैंसे हुए तो यही कहा जाता है कि 'भैंसें चरती हैं' या 'महिष्यः चरन्ति'। अपचय की अधिकता के कारण अल्प उपचय भी अकिंचित्कर ठहराया गया दीखता है।

'फ्रेञ्च' में नपुंसकलिङ्ग जैसी कोई वस्तु नहीं होती, केवल दो ही लिंग होते हैं तो क्या यह समझा जाय कि जान-बूझ कर सभी अचेतनों पर चेतना लाद दी गई है? इसका आशय तो यह हुआ कि उस भाषा का विकास स्वाभाविक न होकर कुछ लोगों की समझ-बूझ और इच्छा

के आधार पर हुआ है क्योंकि स्वाभाविक आरोप कुछ में भले ही हो जाय पर कोटिशः पदार्थों में नहीं।

अपनी हिन्दी भाषा को भी देखें। अपभ्रंश तक के विकास में नपुंसकलिङ्ग है, पर आज उसका स्थान पुंलिङ्ग ने या कहीं कहीं स्त्रीलिङ्ग ने ले लिया है। तो क्या हम सबने उन पदार्थों पर बलात् चेतना थोप दी है। भाषा का इतिहास कहीं नहीं बतलाता कि सुख-दुःख जैसे शब्दों को पुंलिङ्ग करने में किसी प्रकार की चेतना का आरोप है। वस्तुतः इन भाषाओं में साम्यावस्था के बोध का तारतम्य धीरे धीरे छूट गया है और चूँकि साम्यावस्था उपचय के समीप है, अपचय का अन्तर्भाव करने की शक्ति शेष दोनों दशाओं में वर्तमान है अतः साम्य-दशा उपचय में समाहित हो गई। इसे भी एक प्रकार का अर्थ परिवर्तन ही मानना चाहिए। पदार्थ की अवस्था का परिवर्तन पदार्थ का ही परिवर्तन है। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, यही कहना चाहिए कि, उसमें एक दशा के बोधक शब्द नहीं हैं और उसके लिए हम दूसरी दशा के बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं। अवस्था का भेद इतना सूक्ष्म है कि यत्किञ्चित् अन्तर के आधार पर शब्द-प्रयोग को अशुद्ध नहीं कह सकते—यदि प्रवाह चल पड़ा है। यह अवश्य है कि भाषा की व्यञ्जकता अल्प हो गई।

जिस प्रकार 'मनुष्य' का पर्याय 'आदमी' को मानते समय हम 'मनुवंशज' और 'आदम-वंशज' अर्थों के भेद की उपेक्षा कर देते हैं यद्यपि यह अन्तर जाति भेद का कारण है और निर्महत्त्व नहीं, ठीक उसी प्रकार नपुंसक के स्थान पर पुंलिङ्ग प्रयोग करते समय सूक्ष्म भेद भुला दिया जाता है—भाषा की चाल ही ऐसी है—शब्द-शक्ति के स्वाभाव ही की ऐसी महिमा है।

इन अवस्थाओं की कल्पना व्याकरण में शब्द रूपों के आधार पर करके लिङ्ग नाम दे दिया गया है। भारोपीय परिवार की तथा अन्य कुछ भाषाओं में लिङ्गों का द्वैविध्य या वैविध्य देखकर यह भी न समझ लेना चाहिए कि अन्य प्रकार से अवस्था-भेद की कल्पना नहीं हो सकती। संसार की कुछ भाषाओं में छः तक अवस्था-भेद हैं। उनमें छः लिङ्गों की व्यवस्था लोकाचार से सर्वथा बाहर है, क्योंकि लोक में लिङ्ग-भेद तीन संख्या को पार नहीं करता। अनेक भाषाएँ ऐसी भी मिलेंगी जिनमें एक ही शब्द द्वारा अर्थ और उसकी अवस्था (लिङ्ग) का बोध नहीं होता प्रत्युत उसके लिए अलग से दूसरा शब्द जोड़ना पड़ता है। कुछ अवसरों पर तो सभी भाषाएँ अन्य शब्द जोड़ कर ही लिङ्ग-भेद सूचित करती पाई जाती हैं। संस्कृत के उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। फ़ारसी में 'पीर' = वृद्ध (पुं०) है तो 'पीरेज़न' = वृद्धा (स्त्री०) है। अँग्रेजी में लेडीडाक्टर, लेडीटीचर, शीगोट इत्यादि ऐसे ही प्रयोग हैं।

मुण्डा भाषाओं में अपचयावस्था में ही साम्य दशा का समावेश प्रायः मिलता है, अतः वहाँ निर्जीव पदार्थों के लिए प्रायः स्त्री-लिङ्ग शब्दों का व्यवहार है। ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें अवस्थाओं का विभाजन सजीवता निर्जीवता के आधार पर है—शब्द-शक्ति की स्वाभाविक गति ही ऐसी है। वहाँ लिंग-विभाजन उन्हीं दशाओं के आधार पर होता है तो भी कोई हानि नहीं, परन्तु यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है।

'न्यूटर' का अर्थ भी तटस्थ या उदासीन है। जिसमें उपचय अपचय दशाओं की योग्यता न पाई गई उसे ही 'न्यूटर' कहा गया है। मूलतः यह शब्द निर्जीवता का बोधक है भी फिर उसके आधार पर भ्रान्ति दयनीय भी है और आश्चर्यजनक भी।

कन्नड़ में यक्षगान और उसका स्वरूप

हिरण्मय एम० ए०, पीएच० डी०, मैसूर विश्व-विद्यालय, बेंगलूर

वस्तुतः भारतीय आत्मा निरीह लोक-जीवन में धड़कती है और इस लोक-जीवन के सौन्दर्य की पूरी झाँकी नाना भारतीय भाषाओं तथा बोलियों के माध्यम से प्रकट होनेवाली लोक-कलाओं में ही मिल सकती है। अतः भारतीय जीवन-दर्शन का अध्ययन तब तक अधूरा ही समझा जायेगा जब तक भारत की नाना भाषाओं को बोलियों के माध्यम से प्रकट होने वाली समस्त लोक-कलाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। जिस प्रकार केरल की कथक्कली और हिन्दी-प्रदेश की रामलीला तथा कृष्णलीला अपनी अपनी विशिष्ट लोक-कलाएँ हैं उसी प्रकार कर्नाटक की एक अनूठी लोक-कला है 'यक्षगान'। 'यक्षगान' का अध्ययन रोचक ही नहीं अपितु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है।

'यक्षगान' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में यक्षगान कला के विशेषज्ञों में मतभेद है। श्री शिवराम कारंत जी यों अनुमान करते हैं—'संभवतः जनता में 'गंधर्व-गान' नामक एक मोहक गायन-संप्रदाय प्रचलित था। इसी समय कर्नाटक में इससे भिन्न दूसरा एक गायन-संप्रदाय भी रहा होगा। आगे चलकर 'गंधर्व-गान' के अनुकरण में दूसरे संप्रदाय का नाम 'यक्षगान' पड़ा होगा।' (जनश्रुति के अनुसार) 'यक्षगान' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'यक्षराज कुबेर शिवजी के अनन्य भक्त थे। शिवजी गान और नृत्य के बड़े प्रेमी थे, इसलिए कुबेर अपने आराध्य की पूजा करते समय अन्य यक्षों के साथ गाते हुए नाचा करते थे। पहले कुबेर लंका में अपने भाई रावण के साथ रहा करते थे, बाद में वे अपनी शिव-भक्ति के फल-स्वरूप इंद्र आदि दिक्पालकों में स्थान पाकर अलकापुरी चले गए। जो यक्ष कुबेर के साथ अलकापुरी नहीं जा सके वे लंका में दानव-संस्कृति के उदय के उपरांत दक्षिण भारत चले आए और कर्नाटक में बस गए। इन्हीं यक्षों के द्वारा जो गान-परम्परा चल पड़ी उसी का नाम 'यक्षगान' पड़ा।' कन्नड़ के कुछ प्राचीन काव्यों में 'यक्षगान' का प्रयोग 'एक्कलगाण' के रूप में पाया जाता है। कन्नड़ में 'ऍक्कलगाण' का अर्थ 'अकेला गाया जाने वाला गान' हो सकता है। 'यक्षगान' में एक ही व्यक्ति शुरू से अंत तक गाता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि इसका नाम यक्षगान पड़ा। इसके अतिरिक्त इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता।

यक्षगान का आरम्भ

यह कहना कठिन है कि कर्नाटक में यक्षगान-कला का प्रारंभ कब से हुआ। श्री शिवराम कारंत जी मानते हैं कि कि यक्षगान अति प्राचीन लोग-गीत-शैली का ही विकसित

अथवा उससे प्रभावित रूप है। संभवतः कर्नाटक-संगीत-पद्धति के आरम्भ के पहले ही यक्षगान पद्धति प्रचलित थी और इसी यक्षगान को प्राचीन कन्नड़ के कवियों ने 'ऍक्कलगाण' कहा था। श्री धरार्यकृत 'चंद्रप्रभापुराण' तथा नागचन्द्र अथवा अभिनवपंप कृत 'मल्लिनाथ पुराण' में 'ऍक्कलगाण' का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी के हैं। तदनंतर सोलहवीं शती के कवि रत्नाकरवर्णी के 'भरतेश वैभव' नामक काव्य में नाटक का जो वर्णन किया गया है वह यक्षगान के लक्षणों से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त उसमें 'ताळमद्दळॆ' का उल्लेख भी मिलता है। 'ताळमद्दळॆ' यक्षगान का एक प्रभेद है। कन्नड़ का सर्व-प्रथम नाटक सिंगरार्य कृत 'मित्र-विंदा गोविन्द' है जिसका रचना-काल लगभग १७०० ई० माना जाता है। शिवराम कारंत जी का यह विचार है कि यक्षगान ही कन्नड़ के नाटक-साहित्य का भी आरंभिक रूप है जो अति प्राचीन काल से अविकसित रूप में चला आ रहा था। उनका यह भी अनुमान है कि इसी यक्षगान से प्रेरणा पाकर महाराष्ट्र में आधुनिक नाटक-साहित्य का विकास हुआ है। उन्होंने अपने इस अनुमान का समर्थन करने के लिए ऐसे कुछ रागों के नाम दिए हैं जिनका मराठी नाटकों तथा 'यक्षगान' दोनों में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यद्यपि कन्नड़ के प्राचीन काव्यों में 'यक्षगान' का वर्णन मिलता है तो भी उसका विशेष प्रचार सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त ही हुआ है, क्योंकि इसके पहले लिखा हुआ कोई यक्षगान-काव्य उपलब्ध नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक यक्षगान-कला की विशेष वृद्धि हुई है, क्योंकि इस अवधि में रचे गए सैकड़ों यक्ष-गान-काव्य-नाटक प्राप्त हुए हैं जिनमें बहुत से प्रकाशित भी हुए हैं।

यद्यपि यक्षगान एक आकर्षक कला है तो भी इसका विशेष प्रचार कर्नाटक के कुछ ही जिलों में हुआ है। उनके नाम हैं—दक्षिण कन्नड़, उत्तर कन्नड़ और शिमोगा। हासन, मैसूर तथा कोलार जिलों के कुछ भागों में भी यक्षगान के कुछ प्रभेदों की मंडलियाँ पाई जाती हैं।

यक्षगान के प्रभेद

यक्षगान एक मिश्रित कला है जिसमें संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र इन चारों का समावेश है। यक्षगान के मुख्य चार भेद हैं जो इस प्रकार हैं—(क) यक्षगान प्रसंग अथवा ताळमद्दळॆ, (ख) यक्षगान बयलाट, (ग) यक्षगान बोबेयाट और (घ) यक्षगान तोगल बोबेयाट।

(क) यक्षगान प्रसंग अथवा ताळमद्दळॆ के स्वरूप का परिचय यों है। यक्षगान-काव्य एक ऐसा काव्य है जिसमें भारत, रामायण या भागवत की किसी न किसी घटना का गीतों में वर्णन किया गया हो। इस सारे काव्य को कंठस्थ करके जो राग के साथ गाते हैं वे 'भागवत' कहलाते हैं। काव्य में वर्णित कहानी के पात्रों का अभिनय करने वालों को 'अर्थधारी' कहते हैं। रात के समय भोजनानंतर भागवत, बाजे बजानेवाले तथा अर्थधारी किसी घर में या किसी मन्दिर में इकट्ठे होते हैं। भागवत यक्षगान काव्य के गीत मजीरा बजाते हुए गाते जाते हैं और घंटी तथा मृदंग बजाने वाले उनका साथ देते हैं। अर्थधारी, जो भागवत के दोनों पार्श्वों में बैठे रहते हैं, जैसे-जैसे भागवत एक या दो पद गाते जाते हैं वैसे ही वैसे उन पात्रों का, जिनका गीतों में वर्णन होता है, पक्ष लेकर वार्तालाप इस तरह करते हैं मानों वे

पात्र स्वयं परस्पर संभाषण करते हो। भागवत जो गीत गाते हैं उनमें पात्रों का थोड़ा-बहुत परिचय दिया जाता है। किन्तु पात्रधारी उस कथानक से संबन्ध रखने वाले अन्य विषयों की प्रसंग के अनुसार स्वयं कल्पना करके इस तरह सजीव संभाषण करते है मानों किसी नाटक का ही अभिनय किया जाता हो। यद्यपि पात्रधारी बिना नाटकीय वेशभूषा पहने ही बैठे रहते हैं तो भी वे अपने विषय-ज्ञान तथा वाक्चातुर्य से श्रोताओं पर वैसा ही प्रभाव डालते हैं जैसा नाटक देखने से पड़ता है। भागवत के संगीत-ज्ञान, मृदंग बजाने वाले के कर-कौशल तथा अर्थधारियों के वाक्चातुर्य पर ही यक्षगान-प्रसंग की ख़ूबी तथा सफलता निर्भर रहती है। यह यक्षगान-प्रसंग साधारणतया रात भर चलता है और एक ही कथानक का विस्तार होता है। इस गोष्ठी का आयोजन वर्षाकाल में ही हुआ करता है, क्योंकि इस ऋतु में खुली जगहों में खेले जानेवाले यक्षगान के अन्य रूपों का आयोजन नहीं किया जा सकता।

(ख) **यक्षगान बोंबेयाट**—इसका अर्थ है यक्षगान-कठपुतली का खेल अथवा नाटक। यह नाटक किसी खुली जगह में होता है और यक्षगान-प्रसंग की भाँति रात भर चलता है। इसमें भी भागवत, बाजा बजाने वाले विद्यमान रहते हैं और अर्थधारियों का काम नाटकीय वेशभूषा से सजी हुई कठपुतलियों द्वारा कराया जाता है। मशालों के प्रकाश में एक परदे के सामने ये कठपुतलियाँ कथा के प्रसंग के अनुसार नचाई जाती हैं। कठपुतलियों को नचानेवाले परदे के पीछे खड़े रहते हैं जिनके हाथों में तीन पतली लकड़ियाँ रहती हैं जिनके दूसरे सिरे कठपुतली के दोनों हाथों तथा शरीर से बँधे रहते हैं। जो लोग पर्दे के अन्दर से भागवत द्वारा गाए जाने वाले गीतों के प्रसंग के अनुसार कठपुतलियों को नचाते रहते हैं वे स्वयं अपने पैरों में घुंघुरू पहने रहते हैं और कठपुतलियों के साथ स्वयम् नाचते भी रहते हैं। यद्यपि उनका नाचना परदे के पीछे से दिखाई नहीं देता तो भी उनके गाने और घुंघुरू का नाद कठपुतलियों के नाच में जान भर देते हैं। कठपुतलियों का नाच, लास्य, अभिनय, परस्पर लड़ाई-झगड़े, प्रेम-विरह की लीलाएँ आदि का दृश्य बड़ा ही चित्ताकर्षक हुआ करता है।

(ग) **यक्षगान-तोगल-बोंबेयाट** का अर्थ है 'यक्षगान-छाया-नाटक'। इसका भी आयोजन रात के समय मशालों के प्रकाश में हुआ करता है। उपर्युक्त यक्षगान के दो प्रभेद और इसमें इतना ही अन्तर है कि कठपुतलियों के स्थान पर यहाँ चित्र होते हैं जिनकी छाया पर्दे पर दिखाई देती है। भागवत सस्वर मजीरा बजाते हुए गाते जाते हैं और साथ ही मृदंग भी बजता जाता है। प्रसंग में वर्णित घटनाओं के अनुसार चित्र सूत्रों से नचाए जाते हैं जिनकी छाया पर्दे पर पड़ती है। खेद का विषय है कि यह छाया-नाटक आजकल लोप-सा हो गया है।

(घ) **यक्षगान बयलाट** अथवा 'यक्षगान दशावतार आट' अर्थात् खेल ही यक्षगान-नाटक-कला का समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण स्वरूप है, क्योंकि इसमें यक्षगान के सभी प्रभेदों के सभी तत्त्वों का समावेश होता है। अतः इस बयलाट का कुछ विस्तार के साथ परिचय प्राप्त करना आवश्यक है!

यक्षगान-नाटक के रंगमंच का निरूपण करने वाला एक ग्रन्थ संस्कृत में पाया जाता है जो संभवतः भरतनाट्य-शास्त्र का अनुकरण करके लिखा गया हो। इस ग्रन्थ का

को और उसके बाद रंगमंच को नमस्कार करता है। कुछ देर तक परदे के पीछे नाचता रहता है। जब वह नाचता है तब परदा इस प्रकार धीरे-धीरे सरकाया जाता है कि पहले उसके चेहरे का एक भाग, उसके बाद शरीर का एक अंग, उसके बाद शरीर का सामनेवाला भाग प्रेक्षकों को क्रम से दिखाई पड़े। इसी क्रम से नकुल, अर्जुन, भीम तथा युधिष्ठिर एक एक करके रंगमंच में प्रवेश करते हैं। अब पाँचों पाण्डव एक कतार में खड़े होकर अपने अपने शरीर के एक-एक भाग को दिखाते हुए नाचते हैं जो बड़ा ही कुतुहलवर्धक हुआ करता है। प्रत्येक पात्र अपने नाच द्वारा अपने-अपने बल-पराक्रम का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार यक्षगान के पात्र प्रेक्षकों को आरंभ में ही अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

यदि पाण्डवों का दरबार पहले लगता हो तो भागवत हनुमनायक को बुलाकर उससे कहते हैं—'मुहूर्त की घोषणा करो।' तब हनुमनायक पाण्डवों में से क्रमशः एक-एक की बिरुदावली का वर्णन करता है। पाण्डवों में भीम और अर्जुन की जो प्रशंसा की जाती है वह बेजोड़ ही कही जाएगी। ऐसे दरबारों में हनुमनायक कुछ हास्य-विनोद की बातें भी करता है। और पात्रों की बिरुदावली का गान कोई नहीं करता, किंतु उनसे भागवत स्वयं दो-एक प्रश्न पूछते हैं—जैसे 'तुम्हारे आने का उद्देश्य क्या है? कहाँ के रहने वाले हो?' जब इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है तब प्रेक्षक पात्र का पर्याप्त परिचय पा जाते हैं। यक्षगान में स्वगत तथा आकाशभाषित की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि इसके पात्र अपने सुख-दुःख की बातें भागवत को सुनाते हैं और उनसे संदर्भानुसार सहानुभूति प्राप्त करते हैं।

यक्षगान में राक्षस पात्रों की भूमिका बड़ी ही प्रभावोत्पादक हुआ करती है। राक्षस-पात्रों की वेषभूषा, रंगमंच में प्रवेश करने का ढंग, राक्षस-राजाओं का दरबार आदि प्रेक्षकों में [illegible] उत्पन्न करते हैं। जब राक्षस रंगमंच में प्रवेश करते हैं तब एक अद्भुत वातावरण पैदा होता है। राक्षसों के प्रवेश की सूचना नेपथ्य से ही उनके चीत्कार, हुंकार द्वारा दिखाई जाती है। रंगमंच में मशालों के प्रकाश को तीव्र कराया जाता है जिससे राक्षस-पात्रों की वेश-भूषा की छटा पूर्णरूप से दिखाई पड़े। एक विचित्र बात यह है कि जब परदे के पीछे से राक्षस प्रवेश करते हैं तब वे भयंकर गर्जना करते हुए, दँतुन करते हुए, मुँह धोते हुए आते हैं और तदनंतर शिवजी की पूजा करते हैं। रावण, कर्ण, अर्जुन, भीम जैसे वीर पुरुषों का जिस समय प्रवेश होता है उस समय उन पात्रों की वीरता को प्रदर्शित करने के लिए मृदंग की ताल में अद्भुत चमत्कार दिखाया जाता है। कर्ण जैसे वीर पुरुषों के आगमन पर मृदंग की ताल इस प्रकार सुनाई देती है।

'तैत तैत धिमा कडूतक धिमा धें। धिमा कडुतक दिन।
तैत तैत धिमा कडूतक धिमा धें। धें धें कडुतक।'

रावण के आने पर—

गणपति-पूजा के उपरांत हनुमनायक और उसके साथी भागवत के साथ हास्य-विनोद करते हुए इसलिए समय बिताते हैं कि पात्रधारियों को वेशभूषा करने के लिए पर्याप्त समय मिल सके और प्रेक्षकों को भी आकर जमने का मौका मिल जाय। हनुमनायक तथा उसके साथी विशेष रूप से वेशभूषा से अलंकृत नहीं रहते। वे पैरों में घुँघरू पहने तथा बदन में कुछ पत्तियाँ लगाए रहते हैं। हनुमनायक भागवत तथा पात्रधारियों से बड़ी स्वतंत्रता के साथ बातें करता है। प्रारंभ में हनुमनायक तथा उसके साथी भागवत के साथ हँसी-मजाक की बातें करते हैं, उसका एक नमूना यों है :—

पहला कोडंगि :	अरे, गिर पड़ा रे गिर पड़ा !
भागवत :	अरे, क्या गिर पड़ा रे ?
दूसरा :	रामभट्ट के बगीचे में कटहल गिर पड़ा।
पहला :	अरे, चला गया रे चला गया !
भागवत :	अरे, क्या चला गया रे ?
दूसरा :	गड़रिये का कुत्ता चला गया।
तीसरा :	घुस गया रे घुस गया !
भागवत :	अरे क्या घुस गया रे ?
पहला :	बाव का काला कुत्ता रामराव की भोजन-शाला में घुस गया।

इसी प्रकार कुछ देर तक बात-चीत होती रहती है। बीच-बीच में भागवत कोडंगियों को नचाते भी रहते हैं। नाच का ताल इस प्रकार होता है :—

किड्तक थै तित्ति थै। किड्तक तत्तरि, तत्तरि तत्तरि।
ता हंगित्ता तरितत्तो किड्तक ता हंगित्ता हंगित्ता।

इतने में लगभग दो घण्टे का समय बीत जाता है और पात्रधारी सजधज कर खेल के लिए तैयार रहते हैं, किन्तु इन पात्रधारियों के पहले दो छोटे बालक रंगमंच में प्रवेश करते हैं जो बालगोपाल के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये बालगोपाल कौन हैं ? रंगमंच में क्यों आते हैं इसका कुछ पता नहीं चला है। ऐसा कहा जाता है कि ये बालक गोकुल के बलराम और कृष्ण ही हैं। इन बालकों के उपरांत दो स्त्री पात्र प्रविष्ट हो नाच, लास्य आदि करती हैं। ये स्त्री-पात्र जो गाने गाते हैं उनसे यही जान पड़ता है कि इनका कार्य रंगमंच की पूजा करना है और ये स्त्रियाँ गोपबालिकाएँ ही हैं। तदुपरांत यक्षगान नाटक प्रारंभ होता है। कथा का सम्बन्ध रामायण से है, या भारत से या भागवत से इसकी सूचना देनेवाले कुछ गीत गाए जाते हैं। यदि कथा का सम्बन्ध रामायण से हो तो राम और लक्ष्मण पहले पहल प्रवेश करते हैं और यदि भारत का कथानक हो तो पाण्डवों का दरबार लगता है और यदि भागवत का सम्बन्ध हो तो कृष्ण का प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार रंगमंच में सबसे पहले प्रवेश करनेवाले पात्रों का परिचय कराने का ढंग बड़ा ही रोचक होता है। दो लोग एक लाल परदा हाथों में लिए खड़े रहते हैं और परदे के पीछे से पात्र एक-एक करके प्रवेश करते हैं। अगर आने वाले पाण्डव हों तो परदे के पीछे सभा की ओर पीठ करके सबसे पहले सहदेव आकर खड़ा होता है। उस समय उसका किरीट मात्र सभासदों को दिखाई देता है। प्रथमतः वह ज़मीन छूकर भा—

नाम है 'सभालक्षण' जिसमें रंगमंच की चौड़ाई, लंबाई, ऊँचाई आदि का यों परिचय दिया गया है—

पंच हस्तेन विस्तीर्णं दश हस्तेन उन्नतं।
अर्धचंद्र प्रमाणेन तिष्ठते रंगमण्डपं॥

यक्षगान नाटक का रंगमंच किसी खुली जगह में बनाया जाता है जो लगभग पंद्रह हाथों का चौकोना होता है। चारों कोनों में चार खंभे गाड़े जाते हैं और कभी-कभी इन खंभों पर साधारण-सी चप्पर लगती है और वह तोरण आदि से सजाई भी जाती है। सामने वाले खंभों के पास दो आदमी दो मशालें लिए खड़े होते हैं। आजकल इन मशालों के बदले पेट्रोमाक्स बत्तियाँ लगाई जाती हैं जो पात्र-धारियों की शोभा उतनी नहीं बढ़ा पातीं जितनी मशालें बढ़ाती हैं। इस रंगमंच के पीछे या तो कोई धर्मशाला रहती है या कोई अस्थायी तम्बू लगा रहता है जो सामान्यतया रंगशाला के नेपथ्य (Green Room) का काम देता है। रंगमंच के पीछे एक साधारण चौकी लगी रहती है जिसे भागवत खड़े-खड़े थक जाने पर बैठने के लिए इस्तेमाल करते हैं और वही, जब राजाओं का दरबार लगता है तब सिंहासन भी बन जाती है। इस रंगमंच के सामने वाले विशाल प्रदेश में संध्या होते ही गांव भर के लोग आ आकर अपना-अपना आसन जमाने लगते हैं। यहाँ तो सारी रात बितानी पड़ती है, इसलिए वे बैठने के लिए चटाइयाँ, ओढ़ने के लिए कंबल, दुपट्टा लिए आते हैं। सबसे पहले, भागवत, बाजा बजाने वाले, पात्रधारी नाटक में उपयोग में लाई जाने वाली अपनी-अपनी वस्तुएँ लिए नेपथ्य में इकट्ठे होते हैं और अपनी वस्तुएँ गणपति के सम्मुख रख कर उनकी पूजा करते हैं। इस यक्षगान-नाटक में विदूषक के स्थान पर हनुमनायक नामक व्यक्ति रहता है जो विदूषक ही नहीं नाटक के सूत्रधार का भी कुछ काम करता है। इस हनुमनायक के कुछ साथी भी रहते हैं जो कोडंगि कहलाते हैं। कोडंगि का अर्थ है बन्दर। यही हनुमनायक गणपति की पूजा करता है और भागवत, बाजा बजानेवालों तथा पात्रधारियों को तांबूल प्रदान करके आशीर्वाद देता है। तदनंतर हनुमनायक, उसके साथी, भागवत, बाजा बजाने वाले स्तुति पाठ करते हुए रंगमंच में प्रवेश करते हैं। रंगमंच में प्रविष्ट होने पर वे इस बात का वर्णन करते हैं कि सभासदों के लक्षण क्या हैं? उत्तम गायक कौन है? श्रेष्ठ अभिनेता के क्या-क्या लक्षण हैं—इत्यादि। तदनंतर रंगमंच में फिर से गणपति, विष्णु, शिव, पार्वती की स्तुति पूजा होती है। गणपति की स्तुति का एक पद्य नीचे नमूने के लिए दिया जाता है:—

मुददिदं निन्न कोण्डाडुवेनु अनवरत।
मदपूर विघ्नेश देव जगदीश।
परब्रह्म रूप वेदांत सार प्रिय।
पुरुहूत नमित दिव्यांघ्रि कमल।
गिरि जाते यगुग आदित्य कोटि प्रकाश।
करिवदन करुणा-समुद्र भवछिद्र।

थै तारुदतक धं तारुदतक तरकड तक दिन्ना थै थै याधें—गाते समय मजीरा, मृदंग तथा घंटा बजते हैं।

गणपति-पूजा के उपरांत हनुमनायक और उसके साथी भागवत के साथ हास्य-विनोद करते हुए इसलिए समय बिताते हैं कि पात्रधारियों को वेशभूषा करने के लिए पर्याप्त समय मिल सके और प्रेक्षकों को भी आकर जमने का मौका मिल जाय। हनुमनायक तथा उसके साथी विशेष रूप से वेशभूषा से अलंकृत नहीं रहते। वे पैरों में घुँघुरू पहने तथा बदन में कुछ पत्तियाँ लगाए रहते हैं। हनुमनायक भागवत तथा पात्रधारियों से बड़ी स्वतंत्रता के साथ बातें करता है। प्रारंभ में हनुमनायक तथा उसके साथी भागवत के साथ हँसी-मजाक की बातें करते हैं, उसका एक नमूना यों है :—

पहला कोडंगि :	अरे, गिर पड़ा रे गिर पड़ा !
भागवत :	अरे, क्या गिर पड़ा रे ?
दूसरा :	रामभट्ट के बगीचे में कटहल गिर पड़ा।
पहला :	अरे, चला गया रे चला गया !
भागवत :	अरे, क्या चला गया रे ?
दूसरा :	गड़रिये का कुत्ता चला गया।
तीसरा :	घुस गया रे घुस गया !
भागवत :	अरे क्या घुस गया रे ?
पहला :	याव का काला कुत्ता रामराव की भोजन-शाला में घुस गया।

इसी प्रकार कुछ देर तक बात-चीत होती रहती है। बीच-बीच में भागवत कोडंगियों को नचाते भी रहते हैं। नाच का ताल इस प्रकार होता है :—

किड्तक थै तित्ति थै। किड्तक तत्तरि, तत्तरि तत्तरि।
ता हंगित्ता तरितत्तो किड्तक ता हंगित्ता हंगित्ता।

इतने में लगभग दो घण्टे का समय बीत जाता है और पात्रधारी सजधज कर खेल के लिए तैयार रहते हैं, किन्तु इन पात्रधारियों के पहले दो छोटे बालक रंगमंच में प्रवेश करते हैं जो बालगोपाल के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये बालगोपाल कौन हैं ? रंगमंच में क्यों आते हैं इसका कुछ पता नहीं चला है। ऐसा कहा जाता है कि ये बालक गोकुल के बलराम और कृष्ण ही हैं। इन बालकों के उपरांत दो स्त्री पात्र प्रविष्ट हो नाच, लास्य आदि करती हैं। ये स्त्री-पात्र जो गाने गाते हैं उनसे यही जान पड़ता है कि इनका कार्य रंगमंच की पूजा करना है और ये स्त्रियाँ गोपबालिकाएँ ही हैं। तदुपरांत यक्षगान नाटक प्रारंभ होता है। कथा का सम्बन्ध रामायण से है, या भारत से या भागवत से इसकी सूचना देनेवाले कुछ गीत गाए जाते हैं। यदि कथा का सम्बन्ध रामायण से हो तो राम और लक्ष्मण पहले पहल प्रवेश करते हैं और यदि भारत का कथानक हो तो पाण्डवों का दरबार लगता है और यदि भागवत का सम्बन्ध हो तो कृष्ण का प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार रंगमंच में सबसे पहले प्रवेश करनेवाले पात्रों का परिचय कराने का ढंग बड़ा ही रोचक होता है। दो लोग एक लाल परदा हाथों में लिए खड़े रहते हैं और परदे के पीछे से पात्र एक-एक करके प्रवेश करते हैं। अगर आने वाले पाण्डव हों तो परदे के पीछे सभा की ओर पीठ करके सबसे पहले सहदेव आकर खड़ा होता है। उस समय उसका किरीट मात्र सभासदों को दिखाई देता है। प्रथमतः वह ज़मीन छूकर भागवत

को और उसके बाद रंगमंच को नमस्कार करता है। कुछ देर तक परदे के पीछे नाचता रहता है। जब वह नाचता है तब परदा इस प्रकार धीरे-धीरे सरकाया जाता है कि पहले उसके चेहरे का एक भाग, उसके बाद शरीर का एक अंग, उसके बाद शरीर का सामनेवाला भाग प्रेक्षकों को क्रम से दिखाई पड़े। इसी क्रम से नकुल, अर्जुन, भीम तथा युधिष्ठर एक एक करके रंगमंच में प्रवेश करते हैं। अब पाँचों पाण्डव एक कतार में खड़े होकर अपने अपने शरीर के एक-एक भाग को दिखाते हुए नाचते हैं जो बड़ा ही कुतुहलवर्धक हुआ करता है। प्रत्येक पात्र अपने नाच द्वारा अपने-अपने बल-पराक्रम का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार यक्षगान के पात्र प्रेक्षकों को आरंभ में ही अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

यदि पाण्डवों का दरबार पहले लगता हो तो भागवत हनुमनायक को बुलाकर उससे कहते हैं—'मुहूर्त की घोषणा करो।' तब हनुमनायक पाण्डवों में से क्रमशः एक-एक की विरुदावली का वर्णन करता है। पाण्डवों में भीम और अर्जुन की जो प्रशंसा की जाती है वह बेजोड़ ही कही जाएगी। ऐसे दरबारों में हनुमनायक कुछ हास्य-विनोद की बातें भी करता है। छोटे पात्रों की विरुदावली का गान कोई नहीं करता, किंतु उनसे भागवत स्वयं दो-एक प्रश्न पूछते हैं—जैसे 'तुम्हारे आने का उद्देश्य क्या है? कहाँ के रहने वाले हो?' जब इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है तब प्रेक्षक पात्र का पर्याप्त परिचय पा जाते हैं। यक्षगान में स्वागत तथा आकाशभाषित की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि इसके पात्र अपने सुख-दुःख की बातें भागवत को सुनाते हैं और उनसे संदर्भानुसार सहानुभूति प्राप्त करते हैं।

यक्षगान में राक्षस पात्रों की भूमिका बड़ी ही प्रभावोत्पादक हुआ करती है। राक्षस-पात्रों की वेषभूषा, रंगमंच में प्रवेश करने का ढंग, राक्षस-राजाओं का दरबार आदि प्रेक्षकों में चकाचौंध उत्पन्न करते हैं। जब राक्षस रंगमंच में प्रवेश करते हैं तब एक अद्भुत वातावरण पैदा होता है। राक्षसों के प्रयोग की सूचना नेपथ्य से ही उनके चीत्कार, हुंकार द्वारा दिलाई जाती है। रंगमंच में मशालों के प्रकाश को तीव्र कराया जाता है जिससे राक्षस-पात्रों की वेश-भूषा की छटा पूर्णरूप से दिखाई पड़े। एक विचित्र बात यह है कि जब परदे के पीछे से राक्षस प्रवेश करते हैं तब वे भयंकर गर्जना करते हुए, दँतून करते हुए, मुँह धोते हुए आते हैं और तदनंतर शिवजी की पूजा करते हैं। रावण, कर्ण, अर्जुन, भीम जैसे वीर पुरुषों का जिस समय प्रवेश होता है उस समय उन पात्रों की वीरता को प्रदर्शित करने के लिए मृदंग की गत में अद्भुत चमत्कार दिखाया जाता है। कर्ण जैसे वीर पुरुषों के आगमन पर मृदंग की गति इस प्रकार सुनाई देती है।

'तैत तैत धित्ता कड्तक धिश्रा धें। धित्ता कड्तक दिन।
तैत तैत धित्ता कड्तक धिश्रा धें। धें धें कड्तक।'

रावण के आने पर—

घेत्तां धिकड्तक तक तक धीकड़ धीकड़ धें।

यक्षगान नाटक में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यक्षगान-काव्य गानेवाले का नाम भागवत है। 'भागवत' शब्द का प्रचलन क्यों हुआ है, बताना कठिन है। ये भागवत संगीत के अच्छे ज्ञाता हुआ करते हैं और सारा काव्य कंठस्थ किए रहते हैं। ऐसे बहुत से भागवत मिलते हैं जिन्हें पचीसों काव्य कंठस्थ रहते हैं। मजीरा बजाते हुए, मृदंग तथा घंटे

के वादन के साथ भागवत रंगमंच के पीछे के भाग में खड़े-खड़े यक्षगान-काव्य गाते जाते हैं। जब वे दो-एक पद गा देते हैं तब पात्रधारी अभिनय करते हुए परस्पर वार्तालाप करते हैं। इस वार्तालाप की यह विशेषता है कि भागवत द्वारा गाए गए गीत में जिन बातों का वर्णन होता है उसके आधार पर पात्रधारी अपने अपने पात्र से सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातों की कल्पना कर लेते हैं। प्रत्येक पात्रधारी की सफलता उसकी प्रतिभा, वाक्चातुर्य, कथा-ज्ञान पर निर्भर रहती है। इसलिए पात्रों के बीच के वार्तालाप के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं रहती है। पात्र-धारी जब अपना संभाषण समाप्त करते हैं तभी भागवत अपना गाना आगे बढ़ाते हैं। जिस समय भागवत गाते रहते हैं उस समय पात्रधारी अपनी-अपनी जगह पर बड़ी शान के साथ खड़े रहते हैं और अपने हाव-भाव द्वारा सभासदों में कुतूहल बनाए रखते हैं। दृश्य-परिवर्तन के लिए कुछ समय लगता हो तो हनुमनायक तथा उसके साथी तुरन्त प्रस्तुत हो जाते हैं और अपने नाच, हाव-भाव तथा हास्य-विनोद की बातों से श्रोताओं का मन बहलाते हैं। इस प्रकार रात भर चलनेवाले यक्षगान-बयलाट में वे सब साधन विद्यमान रहते हैं जिनसे प्रेक्षक यक्षगान-काव्य में वर्णित कथा का पूरा-पूरा रसास्वादन कर सकें तथा उनका मन कभी ऊब न उठे।

यक्षगान में संगीत

'यक्षगान' शब्द से ही यह स्पष्ट है कि इस लोक-कला में संगीत का विशिष्ट स्थान है। यक्षगान के विशेषज्ञों का मत है कि यक्षगान का संगीत न कर्नाटक-संगीत पद्धति पर अवलम्बित है न उत्तरी-संगीत पद्धति पर ही। उनका कहना है कि यह एक प्राचीन मौलिक लोक-गीत-परम्परा का विकसित रूप है जिसका जन्म और प्रचार कर्नाटक-संगीत-पद्धति के आरम्भ के पहले ही हो गया था। इसका मतलब यह नहीं है यह गान-कला दूसरी संगीत-पद्धतियों से प्रभावित नहीं है। इसमें सैकड़ों राग-रागिनियों का प्रयोग होता है जिनमें बहुत से कर्नाटक और उत्तरी भारत के राग भी हैं। यक्षगान-पद्धति का निरूपण करने वाला कोई ग्रंथ नहीं मिलता। गुरु-मुख से ही यह गान बड़े परिश्रम से सीखा जाता है। यक्षगान में सभी रसों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल रागरागिनियाँ विद्यमान हैं। विशेषरूप से इसमें वीर रस का परिपाक हुआ है। दूसरी एक विशेषता यह है कि इसमें आलाप और भाव का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। भाव संगीत का और संगीत भाव का सहारा पाकर चलते हैं। यह गान-पद्धति संगीत प्रेमियों के लिए एक अध्ययन का विषय है, इसमें संदेह नहीं है। इस संगीत के सहायक वाद्य प्रधानतया चार हैं—मजीरा, मद्दळे अर्थात् मृदंग, चंडमद्दळे अथवा चंडमृदंग और जागटे अर्थात् घण्टी। यक्षगान नाटक में इन चारों की आवश्यकता पड़ती है। मजीरा तो भागवत के हाथ में सदा रहता है जो उनके संगीत को गति देता है। चंडमद्दळे वीर तथा रौद्र रस की व्यंजना में विशेष सहायक है।

यक्षगान में नृत्य :—यक्षगान-नाटक में नृत्य को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना संगीत तथा साहित्य को दिया गया है। यक्षगान-नाटक का नृत्य अपने ही ढंग का नृत्य है, भरतनाट्य अथवा दूसरे किसी नृत्य-संप्रदाय के आधार पर इसका जन्म नहीं हुआ है। इस नृत्य के उद्गम का मूल स्रोत दक्षिण कन्नड ज़िले में प्रचलित मूल-निवासियों की नाग-पूजा तथा भूत-पूजा में मिलता है। नागर-खण्ड नामक प्रदेश की नाग-पूजा अर्थात् सर्प-पूजा विधि के अन्तर्गत 'नागमण्डल' नामक एक विशेष विधान है। आजकल भी उडुपि,

गोकर्ण, इक्केरी नामक स्थानों में इस नाग-नृत्य को जाननेवाले आठ-दस परिवार बचे हुए हैं। इस परिवार के लोग ब्राह्मण हैं जो वैद्य भी कहलाते हैं। इस नाग-नृत्य में नाचने वाले के अतिरिक्त दूसरे एक व्यक्ति रहते हैं जिनमें नाग का आवाहन किया जाता है। यह दूसरा व्यक्ति 'नागन-पात्री' अर्थात् नाग का पात्र करनेवाला कहलाता है। नाग-नृत्य करनेवाले नाग-पात्र धारी के सम्मुख हाथ में डमरू लिए नख से शिख तक विशेष प्रकार के अंगविन्यासों के साथ नाचा करते हैं जो अत्यन्त आकर्षक होता है। दूसरी नृत्य-पद्धति आदि निवासियों की भूत पिशाचों की पूजा पद्धति से सम्बन्ध रखती है। दक्षिण कन्नड़ ज़िले में मूलनिवासियों द्वारा पूजित होनेवाले पचासों भूत हैं जिनमें से कुछ भूतों के नाम यों हैं—जडुग, उंबलित, बोब्बर्य, कीळु, मलेराय, कल्कुड, पंजुर्लि, दुग्गलायें, धूमावती, लक्केसरि, कोटि, चेन्नय इत्यादि। भूत-पूजा-पद्धति के अनुसार यह समझा जाता है कि नाचनेवाले के शरीर में भूत स्वयं प्रकट होता है। इसका कारण यही है कि इस नृत्य में विशेष भावावेश पाया जाता है। इसमें संदेह नहीं है कि यक्षगान-नृत्य इन्हीं उपर्युक्त नाग-नृत्य तथा भूत-नृत्य-पद्धतियों से विकसित हुआ है। यक्षगान नृत्य में वीर-रस की अधिक पुष्टि हुई है। यक्षगान-नाटक के पात्र-धारी, विशेष रूप से कर्ण, अर्जुन, जैसे वीर-पात्रों के अभिनेता जब रंगमंच पर खड़े होते हैं तब एक ही पैर से खड़े होते हैं। इस खड़े होने की भंगी में पुरुषत्व का भाव प्रकट होता है जो यक्षगान-नृत्य की एक दूसरी विशेषता है। इस नृत्य में विशेष प्रकार की सादगी है जो ग्रामीण जीवन की सरलता का परिचायक है।

यक्षगान नाटक का साहित्य-स्वरूप—यक्षगान-नाटक-साहित्य के दो रूप हैं—एक है कवियों द्वारा रचा हुआ 'यक्षगान-प्रसंग' अर्थात् यक्षगान कहानी का पद्यात्मक वर्णन; दूसरा वह है जिसका निर्माण रंगमंच में स्वयं-स्फूर्ति से पात्रधारियों द्वारा होता है। दूसरे भाग का साहित्य मौखिक तथा गद्यरूप में चला आता है। यद्यपि यह लिखित रूप में नहीं है तो भी इसमें साहित्य का पूरा सौष्ठव एवं सौंदर्य विद्यमान है। लिखित यक्षगान-प्रसंग-काव्य देशी तथा संस्कृत के छन्दों में निर्मित है। देशी छन्दों में भामिनिषट्पदि, वार्धिक षटपदि, सांगत्य, द्विपदि कंद आदि उल्लेखनीय हैं। ये काव्य एक प्रकार से गीत नाटक ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि ये अभिनय के लिए ही लिखे गए हैं। काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कस कर देखने से भले ही ये काव्य उच्चकोटि के साबित न हों, फिर भी ग्रामीण जीवन की सहज कलात्मक-अभिव्यक्ति की छवि अवश्य इन में दिखाई देती है। यक्षगान-काव्यों के कथानक प्रधानतया रामायण, महाभारत तथा भागवत से लिए गए हैं। इन कथानकों में चित्रित व्यक्ति देव, गंधर्व, किन्नर, दानव आदि अतिमानव वर्ग के ही हैं, क्योंकि साधारण जनता के लिए राम, लक्ष्मण, पाण्डव आदि निरे मानव नहीं हैं। इस कारण से पात्र साधारण जनता के लिए विशेष प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए हैं। वस्तुत: नाटक देखने पर ऐसा लगता है कि ये अतिमानव ज़मीन पर उतर कर लोक-जीवन के चिर-साथी बने हैं।

यों तो यक्षगान नाटक में सभी रसों की व्यंजना हुई है। फिर भी वीर-रस की विशेष पुष्टि हुई है। क्योंकि यक्षगान के अधिकांश कथानक लड़ाई-झगड़े के प्रसंगों से लिए गए हैं। वीर रस के बाद शृंगार का स्थान है, पर इस शृंगार में अश्लीलता की गंध तक नहीं है। आजकल सैकड़ों छपे हुए यक्षगान-काव्य मिलते हैं जिनमें से कुछ काव्यों के नाम इस प्रकार

है—भीष्म, प्रताप, सुभद्रा-कल्याण (विवाह), कृष्णार्जुन-युद्ध, समुद्र-मंथन, हिरण्याक्ष-वध, रेवतीकल्याण इत्यादि।

वेशभूषाः—यक्षगान-कला की सौन्दर्य-वृद्धि में पात्रों की वेशभूषा का बड़ा हाथ है। यक्षगान का रंगमंच बिलकुल आडंबर-रहित है, इसलिए रस-परिपाक के लिए वेश भूषा को एक प्रधान साधन बनाया गया है। प्रत्येक पात्र की वेश-भूषा उसके स्थान, स्वभाव, श्रेणी आदि के अनुकूल होती है। कौरव, पाण्डव, राम, लक्ष्मण आदि पात्र मानव-रूपधारी हैं। उनके चेहरे पर कोई कृत्रिम आवरण नहीं रहता और वे रंग लगाकर सुन्दर ढंग से अलंकृत हो रंग-मंच पर प्रकट होते हैं। इन वीर पुरुषों के शिरोभूषण विशेष आकर्षक होते हैं। राजा अपने सिर पर किरीट और कानों में कुण्डल पहनते हैं। अर्जुन, नकुल, सहदेव जैसे पात्र, जो राजा नहीं हैं, सिर पर खास तरह की पगड़ी पहनते हैं और ये पगड़ियाँ भी विविध प्रकार की हुआ करती हैं। वस्तुतः यक्षगान नाटक-पात्रों की सौन्दर्यवृद्धि में इन पगड़ियों का ऊँचा स्थान है। साधारण-तया सभी पुरुष-पात्र काछ पहनते हैं और अकसर उस पर सामने और बगल में ऐसी कुछ जालियाँ लटकती रहती हैं जिनसे नाचते समय अद्भुत रेखा-चित्र खिंच जाते हैं। राक्षस-पात्रों की सजावट में यक्षगान-कला ने अपूर्व सिद्धि पाई है। चेहरे पर बिना किसी प्रकार का आवरण लगाए ही रंगों से ऐसा चमत्कार दिखाया जाता है कि पात्र का राक्षसत्व पूर्ण आभा लिए निखर उठता है। नरसिंह, चण्डी आदि कराल-पात्रो की वेश-भूषा और भी अनूठी है। यद्यपि यक्ष, गंधर्व, किरातों की पोशाक म वीरत्व की झलक रहती है तो भी उनकी पगड़ियाँ अन्य वीरों की पगड़ियों से कुछ भिन्न होती हैं। ये पगड़ियाँ इस तरह टेढ़ी लगाई जाती हैं कि एक कान पगड़ी के अन्दर छिप जाता है। यह सूचित करने के लिए कि ये किरात जंगली हैं उनके वक्ष पर चादर की तरह पत्तियों को सुन्दर मालाएँ पहनाई जाती हैं। यक्षगान-नाटक के पात्रों में किरातों की छटा कुछ कम आकर्षक नहीं है। इस नाटक के पात्रों की एक विशेषता यह भी है कि आकृति, रंग तथा विन्यास में अद्भुत रस के पोषक तत्त्वों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। आश्चर्य का विषय यह है कि यक्षगान नाटक की वेश-भूषा पर देश की किसी शिल्पकला या चित्र-कला का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें जितने गहनों का उपयोग होता है उनके निर्माण में भी अपनापन दिखाई देता है। यक्षगान-नाटक के पात्रों के लिए आवश्यक आभूषण बनानेवालों की एक जाति, जिसे 'गुडिगार' कहते हैं, आजकल भी बनवसे, सोरब, सागर, दक्षिण कन्नड़ के कतिपय स्थानों में पाई जाती है।

यक्षगान-नाटक की संस्थाएँ

नाटक कंपनियों की तरह यक्षगान-नाटक-मण्डलियों का संगठन पाया जाता है। साधारणतया इन मण्डलियों का सम्बन्ध गाँव के किसी न किसी मन्दिर के साथ रहता है और कुछ मण्डलियों के नाम भी मन्दिर के देवता के ही रखे गए हैं। अकसर यक्षगान-नाटक किसी मन्दिर के सामनेवाले मैदान में खेले जाते हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि यक्षगान-कला का पोषण मन्दिरों की ओर से होता है। इन मण्डलियों के ख़र्च का भार या तो गाँव के मुखिया अपने ऊपर लिया करते हैं या कोई न कोई ग्रामवासी अपनी किसी मनौती की पूर्त्ति के हेतु अपने ऊपर लेते हैं। अकसर मनौतियों की पूर्ति के लिए महीनों तक यक्षगान

नाटक किसी एक ही गाँव में खेला जाता है। दक्षिण कन्नड़ जिले की कुछ यक्षगान-मण्डलियों के नाम इस प्रकार हैं: मंदर्ति मेळ, मारण कट्टेमेळ, कोटमेळ, पेरडूर-मेळ, सौकूर-मेळ, कटीलुमेळ, मूल्किमेळ, ईरमेळ, कुडाउमेळ, धर्मस्थळ-मेळ, शास्तार-मेळ।

इन यक्षगान-मण्डलियों में काम करने वालों में अधिकांश लोग खेतिहर हुआ करते हैं और अन्य श्रेणी के भी कुछ लोग इसमें शामिल होते हैं। यह कहा जा सकता है कि इस कला के सेवकों में जात-पाँत, उच्च-नीच का भेद-भाव नहीं है। वस्तुतः उत्तर कर्नाटक में इस कला का पोषण और रक्षा करने वाली जातियों में ब्राह्मण ही मुख्य हैं। दक्षिण कन्नड़ की मण्डलियों में अधिकांश भागवत ब्राह्मण हैं और जिन महीनों में यक्षगान-नाटक खेले नहीं जाते उन दिनों में ये भागवत दूसरों को यक्षगान संगीत सिखाने का काम करते हैं।

उपसंहार

ऊपर की पंक्तियों में कर्नाटक की एक प्राचीन-लोक-कला यक्षगान-नाटक का साधारण परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। वर्त्तमान मैसूर राज्य के पश्चिमी-सीमा-प्रदेश के कुछ स्थानों में आज-कल भी यक्षगान-कला ह्रासोन्मुखी अवस्था में टिमटिमाते हुए दीपक की भाँति अपना आलोक फैलाए हुए है। इस प्रदेश में जाकर देखने पर यह मालूम हो जाएगा कि यक्षगान-कला में लोक-जीवन को सजीव, रसमय तथा सुन्दर बनाए रखने में कितनी शक्ति निहित है। गाँव की विभिन्न श्रेणियों के लोग परस्पर भेद-भाव भूलकर फ़ुरसत के समय यक्षगान कला के विविध अंगों के अभ्यास में तल्लीन रहते हैं। कुछ लोग यक्षगान-काव्य गाना सीखते हैं तो कुछ लोग बाजा बजाने की शिक्षा पाते, नाच की गतविधियों की जानकारी प्राप्त करते तथा अर्थधारी बनने की उमंगें लिए उसकी बारीक बातों पर चर्चा करते पाए जाते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बहुमुखी यक्षगान-कला के माध्यम से रामायण, महाभारत, भागवत जैसे हमारे महाकाव्यों में निरूपित भारतीय-जीवन-दर्शन के ऊँचे आदर्श इस निरीह लोक-जीवन में प्रतिबिंबित पाए जाते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस महान् कला की रक्षा और संवर्धन का कार्य कितना ज़रूरी है।

मध्यदेशीय संस्कृति का सूत्र

वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्य देश हृद्देश है। हृद्देश गुहा की संज्ञा है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*। हृद्देश में ईश्वर तत्त्व का निवास है। मध्य देश की संस्कृति का मूल-सूत्र ब्रह्म तत्त्व है। ब्रह्म ही चिति तत्त्व है। वही निर्गुण और सगुण रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। उसकी अभिव्यक्ति कोई अतीत की विजड़ित घटना नहीं। वह नित्य लीला है। देश और काल में जो अक्षय और सनातन है वही लीला तत्त्व है। मध्यदेश या हृद्देश भागवती लीला की नित्य भूमि है। इसी को ऋषि प्रज्ञा नित्य वेदों के रूप में परिगृहीत करती है। जो वेद की दृष्टि है, वही भारतीय वाङ्मय का मूल आधार है। 'रामायण' और 'महाभारत', 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर', 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' ये इतिहास की घटनाओं को फटकने-पछोरने वाले ग्रन्थ नहीं, ये तो लीला तत्त्व के प्रतीकों की व्याख्या करने वाले वाङ्मय निर्झर हैं। 'हरिवंश' और 'भागवत' के कृष्ण को इतिहास के सांचे में जकड़ना संभव नहीं। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते*—यही कृष्ण तत्त्व है। '*रामाख्यमीशं हरिम्*' की उपासना के लिए रामचरितमानस की प्रवृत्ति हुई। वसिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, सूरदास यहाँ के वाङ्मय की कुंडली लिख गए हैं। उनके अनुसार '*नारायणो नरश्चैव तत्वमेकं द्विधाकृतम्*' यही जन्म-पत्री का फल है। कोई कैसे भी कहे, गुणातीत तत्त्व नारायण का ही सगुण मूर्तरूप नर है। नर के लिए ही सब लीला की सार्थकता है। नर वही है जिसका सखा नारायण है—*नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये* (भागवत); जैसे व्यास ने कहा यही मध्यदेश के ज्ञान की कुंजी है कि इस त्रिलोकी में मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्

(महाभारत)

नारायण और नर दोनों की तपश्चर्या सृष्टि या जीवन के लिए आवश्यक है। देव तत्त्व विराट् अधिदेव सृष्टि है। वही अधिभूत मानव सृष्टि में सर्वत्र अभिव्यक्त हो रहा है। मध्यदेश की गंगा के तट पर प्रज्ञाशील मानव ने देवतत्व को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और यहाँ की विश्व वरणीय प्रथम संस्कृति का शिलान्यास कर दिया। उस आधार पर जो भव्य भवन बना वही भारतवर्ष है। यहाँ जड़ स्थूल के प्रति मोह नहीं देवतात्मा हिमालय के प्रति, देव नदी

नाटक किसी एक ही गाँव में खेला जाता है। दक्षिण कन्नड़ जिले की कुछ यक्षगान-मण्डलियों के नाम इस प्रकार हैं: मंदर्ति मेळ, मारण कट्टेमेळ, कोटमेळ, पेरडूर मेळ, सौकूर-मेळ, कट्टीवलुमेळ, मूल्किमेळ, ईरमेळ, कुडाउमेळ, धर्मस्थळ-मेळ, शास्तार-मेळ।

इन यक्षगान-मण्डलियों में काम करने वालों में अधिकांश लोग खेतिहर हुआ करते हैं और अन्य श्रेणी के भी कुछ लोग इसमें शामिल होते हैं। यह कहा जा सकता है कि इस कला के सेवकों में जात-पाँत, उच्च-नीच का भेद-भाव नहीं है। वस्तुत: उत्तर कर्नाटक में इस कला का पोषण और रक्षा करने वाली जातियों में ब्राह्मण ही मुख्य हैं। दक्षिण कन्नड़ की मण्डलियों में अधिकांश भागवत ब्राह्मण हैं और जिन महीनों में यक्षगान नाटक खेले नहीं जाते उन दिनों में ये भागवत दूसरों को यक्षगान संगीत सिखाने का काम करते हैं।

उपसंहार

ऊपर की पंक्तियों में कर्नाटक की एक प्राचीन-लोक-कला यक्षगान-नाटक का साधारण परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। वर्त्तमान मैसूर राज्य के पश्चिमी-सीमा-प्रदेश के कुछ स्थानों में आज-कल भी यक्षगान-कला ह्रासोन्मुखी अवस्था में टिमटिमाते हुए दीपक की भाँति अपना आलोक फैलाए हुए है। इस प्रदेश में जाकर देखने पर यह मालूम हो जाएगा कि यक्षगान-कला में लोक-जीवन को सजीव, रसमय तथा सुन्दर बनाए रखने में कितनी शक्ति निहित है। गाँव की विभिन्न श्रेणियों के लोग परस्पर भेद-भाव भूलकर फुरसत के समय यक्षगान कला के विविध अंगों के अभ्यास में तल्लीन रहते हैं। कुछ लोग यक्षगान-काव्य गाना सीखते हैं तो कुछ लोग बाजा बजाने की शिक्षा पाते, नाच की गतविधियों की जानकारी प्राप्त करते तथा अर्थधारी बनने की उमंगें लिए उसकी बारीक बातों पर चर्चा करते पाए जाते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बहुमुखी यक्षगान-कला के माध्यम से रामायण, महाभारत, भागवत जैसे हमारे महाकाव्यों में निरूपित भारतीय-जीवन-दर्शन के ऊँचे आदर्श इस निरीह लोक-जीवन में प्रतिबिंबित पाए जाते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस महान् कला की रक्षा और संवर्धन का कार्य कितना ज़रूरी है।

मध्यदेशीय संस्कृति का सूत्र

वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्य देश हृद्देश है। हृद्देश गुहा की संज्ञा है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*। हृद्देश में ईश्वर तत्त्व का निवास है। मध्य देश की संस्कृति का मूल-सूत्र ब्रह्म तत्त्व है। ब्रह्म ही चिति तत्त्व है। वही निर्गुण और सगुण रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। उसकी अभिव्यक्ति कोई अतीत की विजड़ित घटना नहीं। वह नित्य लीला है। देश और काल में जो अक्षय और सनातन है वही लीला तत्त्व है। मध्यदेश या हृद्देश भागवती लीला की नित्य भूमि है। इसी को ऋषि प्रज्ञा नित्य वेदों के रूप में परिगृहीत करती है। जो वेद की दृष्टि है, वही भारतीय वाङ्मय का मूल आधार है। 'रामायण' और 'महाभारत', 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर', 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' ये इतिहास की घटनाओं को फटकने-पछोरने वाले ग्रन्थ नहीं, ये तो लीला तत्त्व के प्रतीकों की व्याख्या करने वाले वाङ्मय निर्झर हैं। 'हरिवंश' और 'भागवत' के कृष्ण को इतिहास के साँचे में जकड़ना संभव नहीं। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते*—यही कृष्ण तत्त्व है। *'रामाख्यमीशं हरिम्'* की उपासना के लिए रामचरितमानस की प्रवृत्ति हुई। वसिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, सूरदास यहाँ के वाङ्मय की कुंडली लिख गए हैं। उसके अनुसार *'नारायणो नरश्चैव तत्वमेकं द्विधाकृतम्'* यही जन्म-पत्री का फल है। कोई कैसे भी कहे, गुणातीत तत्त्व नारायण का ही सगुण मूर्तरूप नर है। नर के लिए ही सब लीला की सार्थकता है। नर वही है जिसका सखा नारायण है—*नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये* (भागवत); जैसे व्यास ने कहा यही मध्यदेश के ज्ञान की कुंजी है कि इस त्रिलोकी में मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्

(महाभारत)

नारयण और नर दोनों की तपश्चर्या सृष्टि या जीवन के लिए आवश्यक है। देव तत्त्व विराट् अधिदेव सृष्टि है। वही अधिभूत मानव सृष्टि में सर्वत्र अभिव्यक्त हो रहा है। मध्यदेश की गंगा के तट पर प्रज्ञाशील मानव ने देवतत्व को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और यहाँ की विश्व वरणीय प्रथम संस्कृति का शिलान्यास कर दिया। उस आधार पर जो भव्य भवन बना वही भारतवर्ष है। यहाँ जड़ स्थूल के प्रति मोह नहीं देवतात्मा हिमालय के प्रति, देव नदी

गंगा के प्रति, एवं कण-कण में पवित्र देवभूमि भारत के प्रति निष्ठा है, जिसका यही सरल अर्थ है कि देव तत्त्व ही प्रणम्य है, वही अमृत है, अक्षर है, नित्य है, वही शाश्वत आनन्द का निधान है। इदं सर्वं या विश्वजगत् ईशवास्य है, यही भारतीय विचारों का मंगल घट है जिसकी स्थापना से प्रत्येक यज्ञ की वेदी धन्य हुई है और भविष्य के नव यज्ञ-मंडप भी प्राग्द्वारों पर इसी पूर्णकुंभ की शोभा से अलंकृत होते रहेंगे। मध्यदेश भौगोलिक संज्ञा से ऊपर संस्कृति के हृद्देश में जन्मे हुए विचारों का प्रतीक है। मध्यदेश को सांस्कृतिक मंगल-कलश ही मानना उसका यथार्थ दर्शन है। विश्वकर्मा ने जिस हवि से इसका निर्माण किया उसमें यूयं वयं के भेद न डालकर सर्वभूतान्तरात्मा देव तत्त्व का ही अस्तित्व रक्खा। जो इस प्रकार जानता है उसी का मध्यदेशीय सांस्कृतिक दर्शन सच्चा है।

प्राचीन पाटलिपुत्र—एक ऐतिहासिक परिचय

अभयनारायण राय एम० ए०, डी० फिल०, प्रयाग विश्वविद्यालय

पाटलिपुत्र भारतवर्ष का एक प्रधान नगर था। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी के पूर्वार्द्ध तक यह नगर विविध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित था। 'दीघनिकाय' के अनुसार इस नगर का आदि रूप एक दुर्ग था, जिसका निर्माण अजातशत्रु ने लिच्छवियों के विनाश के निमित्त अपने कूटनीतिज्ञ सुनीध तथा वस्सकर नामक महामंत्रियों के पर्यवेक्षण में संपन्न कराया था।[१] कालान्तर में इसकी भौगोलिक सुस्थिति से प्रभावित होने के कारण उसके पुत्र उदायी ने अपनी राजधानी राजगृह से यहाँ स्थानांतरित की थीं। तदुपरांत चिरकाल तक यह मगध-साम्राज्य की राजधानी के रूप में विद्यमान था। इस नरेश ने नगर के लिए अपेक्षित उद्यान एवं सरोवर के सन्निवेश तथा अन्य निर्माणों के द्वारा इसे पुर का वास्तविक स्वरूप प्रदान किया। यही कारण है कि 'युग पुराण' में अजातशत्रु के स्थान पर उदायी को ही इस नगर की स्थापना का श्रेय प्रदान किया गया है।[२]

इस नगर के अधिरोहण की क्रिया स्थापना के काल से ही विभिन्न दिशाओं में प्रारंभ हुई। दीघनिकाय में कहा गया है कि इसकी समृद्धि को देखकर गौतम बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि यह शीघ्र ही भारत का प्रधान नगर होगा।[३] इस ग्रन्थ के अनुसार पाटलिपुत्र से होकर कई व्यापरिक मार्ग जाते थे तथा यह वाणिज्य का एक विख्यात केन्द्र था। यहाँ पर देश के सुदूर भागों से थोक विक्रेता मुहरबन्द माल की गाँठें लाते थे। वे फुटकर विक्रेताओं के सामने मुहर को तोड़कर उन्हीं के हाथ माल बेंच देते थे। मुहरों के इस प्रकार तोड़ी जाने के कारण यह व्यापारिक नगर पुटभेदन कहलाने लगा।[४] क्षीरस्वामी ने 'अमरकोष' की टीका में 'पुटभेदन' शब्द की व्याख्या लगभग इसी प्रकार की है। उनका कहना है कि पुटभेदन में पुट का भेदन किया जाता था अर्थात् मुहरें तोड़ी जाती थीं।[५]

१—सुनीध-वस्सकारा मगधमहामत्ता पाटलिगामेनगरे मापेन्ति वज्जीनम् पटिवाहाय
दीघनिकाय— २, १६, १, २६

२—उदायी नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैः।
गंगातीरे स राजर्षिः दक्षिणे स महानदे॥
स्थापयेन्नगरं रम्यं पुण्यारामजनाकुलम्॥—युगपुराण, पृष्ठ ३१

३—इदं अग्गनगरं भविस्सति—दीघनिकाय, २. १६, १, २६

४—पाटलिपुत्तं पुटभेदनम्—वही, २, १६, १, २६

५—पुटा...भिद्यन्तेऽस्मिन्पुटभेदनम्—अमरकोष (हरदत्तशर्मा), पृष्ठ ७४

गंगा के प्रति, एवं कण-कण में पवित्र देवभूमि भारत के प्रति निष्ठा है, जिसका यही सरल अर्थ है कि देव तत्त्व ही प्रणम्य है, वही अमृत है, अक्षर है, नित्य है, वही शाश्वत आनन्द का निधान है। इदं सर्व या विश्वजगत् ईशावास्य है, यही भारतीय विचारों का मंगल घट है जिसकी स्थापना से प्रत्येक यज्ञ की वेदी धन्य हुई है और भविष्य के नव यज्ञ-मंडप भी प्राग्द्वारों पर इसी पूर्णकुंभ की शोभा से अलंकृत होते रहेंगे। मध्यदेश भौगोलिक संज्ञा से ऊपर संस्कृति के हृद्देश में जन्मे हुए विचारों का प्रतीक है। मध्यदेश को सांस्कृतिक मंगल-कलश ही मानना उसका यथार्थ दर्शन है। विश्वकर्मा ने जिस हवि से इसका निर्माण किया उसमें यूयं वयं के भेद न डालकर सर्वभूतान्तरात्मा देव तत्त्व का ही अस्तित्व रक्खा। जो इस प्रकार जानता है उसी का मध्यदेशीय सांस्कृतिक दर्शन सच्चा है।

प्राचीन पाटलिपुत्र—एक ऐतिहासिक परिचय

अभयनारायण राय एम० ए०, डी० फिल०, प्रयाग विश्वविद्यालय

पाटलिपुत्र भारतवर्ष का एक प्रधान नगर था। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी के पूर्वार्द्ध तक यह नगर विविध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित था। 'दीघनिकाय' के अनुसार इस नगर का आदि रूप एक दुर्ग था, जिसका निर्माण अजातशत्रु ने लिच्छवियों के विनाश के निमित्त अपने कूटनीतिज्ञ सुनीध तथा वस्सकर नामक महामंत्रियों के पर्यवेक्षण में संपन्न कराया था।[1] कालान्तर में इसकी भौगोलिक सुस्थिति से प्रभावित होने के कारण उसके पुत्र उदायी ने अपनी राजधानी राजगृह से यहाँ स्थानांतरित की थीं। तदुपरांत चिरकाल तक यह मगध-साम्राज्य की राजधानी के रूप में विद्यमान था। इस नरेश ने नगर के लिए अपेक्षित उद्यान एवं सरोवर के सन्निवेश तथा अन्य निर्माणों के द्वारा इसे पुर का वास्तविक स्वरूप प्रदान किया। यही कारण है कि 'युग पुराण' में अजातशत्रु के स्थान पर उदायी को ही इस नगर की स्थापना का श्रेय प्रदान किया गया है।[2]

इस नगर के अधिरोहण की क्रिया स्थापना के काल से ही विभिन्न दिशाओं में प्रारंभ हुई। दीघनिकाय में कहा गया है कि इसकी समृद्धि को देखकर गौतम बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि यह शीघ्र ही भारत का प्रधान नगर होगा।[3] इस ग्रन्थ के अनुसार पाटलिपुत्र से होकर कई व्यापरिक मार्ग जाते थे तथा यह वाणिज्य का एक विख्यात केन्द्र था। यहाँ पर देश के सुदूर भागों से थोक विक्रेता मुहरबन्द माल की गाँठें लाते थे। वे फुटकर विक्रेताओं के सामने मुहर को तोड़कर उन्हीं के हाथ माल वेंच देते थे। मुहरों के इस प्रकार तोड़ी जाने के कारण यह व्यापारिक नगर पुटभेदन कहलाने लगा।[4] क्षीरस्वामी ने 'अमरकोष' की टीका में 'पुटभेदन' शब्द की व्याख्या लगभग इसी प्रकार की है। उनका कहना है कि पुटभेदन में पुट का भेदन किया जाता था अर्थात् मुहरें तोड़ी जाती थीं।[5]

१—सुनीध-वस्सकारा मगधमहामत्ता पाटलिगामेनगरे मापेन्ति वज्जीनम् पटिवाहाय
दीघनिकाय— २, १६, १, २६

२—उदायी नाम धर्मात्मा पृथिव्यां पृथितो गुणैः।
गंगातीरे स राजर्षिः दक्षिणे स महानदे॥
स्थापयेन्नगरं रम्यं पुण्यारामजनाकुलम्॥—युगपुराण, पृष्ठ ३१

३—इदं अग्गनगरं भविस्सति—दीघनिकाय, २. १६, १, २६

४—पाटलिपुत्तं पुटभेदनम्—वही, २, १६, १, २६

५—पुटा...भिद्यन्तेऽस्मिन्पुटभेदनम्—अमरकोष (हरदत्तशर्मा), पृष्ठ ७४

मौर्यों के काल में इस नगर की समृद्धि अपने अभ्युदय की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। इसका ज्वलंत रूप हमें यूनानी लेखक मेगस्थनीज की पंक्तियों में उपलब्ध होता है। इसके वैभव पर प्रकाश डालता हुआ वह लिखता है कि पाटलिपुत्र भारत का प्रधान नगर है। उसने गंगा एवं सोन के संगम पर इसके सन्निवेश को स्वीकार किया है तथा इसे साढ़े नौ मील लम्बा एवं पौने दो मील चौड़ा बताया है। उसके अनुसार नगर के चतुर्दिक ६०० फीट चौड़ी तथा ४५ फीट गहरी खाई तथा एक ऊँची दीवार थी, जिसमें ६४ द्वारों एवं ५७० शिखरों का निर्माण किया गया था। दीवार में छिद्र बने हुए थे, जिनके द्वारा किले के भीतर से ही बाहर की शत्रुसेना पर बाण छोड़े जाते थे। पुर के मध्य में राजप्रासाद की स्थिति का निर्देश करते हुए यवनयात्री ने लिखा है कि यह भवन सूसा तथा एकबतना में निर्मित पारसीक सम्राटों के राजप्रासादों से भी अधिक सुन्दर था। इसके स्तंभ स्वर्ण-जटित थे तथा इसके भीतर बहुमूल्य धातुओं से निर्मित पर्यंक तथा भाण्ड बहुसंख्या में सुसज्जित किए गए थे। प्रासाद के चारों ओर देशीय वृक्ष से युक्त अनेक उद्यान थे, जिनका दृश्य नितांत अनुपम था। प्रांगण में अनेक सुन्दर मछलियों से युक्त रमणीय सरोवर बने हुए थे।[६]

मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के शासन के लिये एक नगर-सभा थी, जिसमें छः समितियाँ थीं तथा प्रत्येक सीमति में पाँच सदस्य थे। पहली समिति औद्योगिक कला के विकास के लिये यत्न करती थी तथा दूसरी विदेशियों की सुविधा की देखरेख करती थी। तीसरी प्रजा के जन्म एवं मरण का विवरण रखती तथा चौथी व्यापार एवं वाणिज्य का संचालन करती थी। पाँचवीं व्यावसायिक उन्नति का पर्यवेक्षण करती थी तथा छठीं बाजार में नापतोल की जाँच करती थी।[७] अर्थशास्त्र में नगर-शासन से सम्बन्धित एक परिच्छेद मिलता है। इसके रचयिता कौटिल्य पाटलिपुत्र में चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहते थे अतएव उनका नगरशासन सम्बन्धी विशद विवरण पाटलिपुत्र में प्राप्त उनके अनुभवों पर आधारित ज्ञात होता है। जिन नगर पदाधिकारियों का उल्लेख उन्होंने इस परिच्छेद में किया है, उनसे उन पदाधिकारियों का बोध होता है जिन्हें मौर्यों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र के शासन के लिए नियुक्त किया था। इन पदाधिकारियों में (१) नागरक, (२) पण्याध्यक्ष, (३) सुराध्यक्ष, (४) गणिकाध्यक्ष (५) द्यूताध्यक्ष, (६) गोप, (७) स्थानिक तथा (८) शुल्काध्यक्ष आदि उल्लेखनीय हैं।

नागरक नगर का प्रधान अधिकारी था। इसका कार्य नगर में होने वाले कार्यों का पर्यवेक्षण था।[८] उसे सरोवरों, राजमार्गों, गुप्तरास्तों, वप्र, प्राकार तथा परिखा आदि का प्रतिदिन निरीक्षण करना पड़ता था।[९] पण्याध्यक्ष का प्रधान कर्त्तव्य नगर में बेंची जाने वाली वस्तुओं का मूल्यनिर्धारण था। वह देखता था कि कहीं नगर के व्यापारी अनुचित प्रकार से अधिक लाभ उठाकर ग्राहक को ठग तो नहीं रहे हैं।[१०] उसको [illegible]

६—एरियन, इंडिका, १०

७—मैक्रिण्डल, मेगस्थनीज ऐंड एरियन, खंड २६, पृ० ६८

८—नागरको नगरं चिन्तयेत्'—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६

९—नित्यमुदकस्थानमार्गभूमिच्छन्नपथवप्रप्राकाररक्षावेक्षणम्
वही; प्रकरण ५६

१०—'स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत'
वही, प्रकरण ५६

जो वस्तु बेची जाय, वह शुद्ध हो तथा उसमें किसी प्रकार की मिलावट न हो।[११] सुराध्यक्ष का प्रधान कर्त्तव्य राजकीय नियमों के अनुसार मदिरा के क्रयविक्रय तथा प्रयोग का संचालन था। वह देखता था कि सुरालय (पानागार) में किसी प्रकार का झगड़ा तथा बेईमानी न होने पाए।[१२] गणिकाध्यक्ष का कर्त्तव्य गणिकाओं की आय का निर्धारण करना तथा उस पर कर लगाना था।[१३] अनुचित व्यवहार के दोषी पाने पर वह गणिका तथा उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले को दण्ड देता था। गणिका की इच्छा के विरुद्ध उसके साथ व्यवहार की इच्छा रखने वाले कामुक व्यक्ति को गणिकाध्यक्ष कठिन दण्ड देता था।[१४] गोप तथा स्थानिक जनसंख्या की गणना करते थे। गोप नगर के दस, बीस अथवा चालीस कुलों के सदस्यों की गणना करता था। वह उनकी जाति, गोत्र तथा नाम का पूरा ब्यौरा तैयार करता था।[१५] स्थानिक गोप से बड़ा था। उसके खाने में नगर के चारों भागों के निवासियों के नाम दर्ज रहते थे।[१६] द्यूताध्यक्ष द्यूतसम्बन्धी राजकीय नियमों का संचालन करता था। शुल्काध्यक्ष बाहर से आने वाले व्यापारियों से चुंगी वसूल करता था। इसका कार्यालय नगर के प्रवेश-द्वार पर स्थित होता था। वह सौदागरों से नाम, पता, बेचने वाली वस्तुओं की संख्या तथा तौल आदि पूछ लेने के उपरांत ही उन्हें नगर के अन्दर आने की आज्ञा प्रदान करता था।[१७]

मौर्यों के अधःपतन के उपरान्त शुंगों ने पाटलिपुत्र में अपनी राजधानी की स्थापना की थी। शुंगकाल के सुप्रसिद्ध महाभाष्य लेखक पतंजलि ने पाटलिपुत्र के प्रासादों एवं प्राकारों का उल्लेख किया है।[१८] पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल में यह नगर यवन आक्रमणों का शिकार बना[१९] पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसे किसी प्रकार की क्षति नहीं उठानी पड़ी; क्योंकि घोर एवं परमदारुण गृहयुद्ध के कारण आक्रमणकारियों को शीघ्र ही स्वदेश लौट जाना पड़ा।[२०]

शुंगों के पतन के उपरान्त गुप्तनरेशों के आविर्भाव-काल तक इसे राजधानी बनने का श्रेय नहीं प्राप्त हुआ। यवनों के शासनकाल में शाकल, शकों के शासनकाल में तक्षशिला, मथुरा,

---

११—अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४

१२—वही, प्रकरण ४२

१३—भोगं दायमायव्ययमायतिं च गणिकायाः वही, प्रकरण ४४

१४—अकामायाः कुमार्याः वा साहसो उत्तमो दंडः वही, प्रकरण ४४

१५—दशकुलीं गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा। स तस्यां स्त्रीपुरुषाणां जातिगोत्रनामकर्मभिः जंघाग्रमायव्ययौ विद्यात् वही, प्रकरण ५६

१६—एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत् वही, प्रकरण ५६

१७—वही, प्रकरण ३९

१८—'पाटलिपुत्रकाः प्रासादाः। पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः।'

—महाभाष्य, भाग २, पृ० ३२१ (कीलहार्न)

१९—ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हि ते।
आकुलाः विषयाः सर्वे भविष्यंति न संशयः॥

—युगपुराण, पृष्ठ ३३

२०—तेषामन्योन्यसंभावद्भविष्यन्ति न संशयः।
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम्

—वही, पृ० ३५

अनुसार इस नगर में काव्यकारों की एक मंडली थी, जो लेखकों की कृतियों की परीक्षा लेती थी। जब यह विद्वन्मंडली किसी कृति को प्रामाणिक मान लेती थी, तो लोग उसे एक विशिष्ट ग्रन्थ स्वीकार कर लेते थे। इस मंडली ने पाणिनि, पतंजलि, वररुचि, पिंगल, व्याडि, वर्ष तथा उपवर्ष की कृतियों की परीक्षा ली थी।[२६]

गुप्तों के काल में पाटलिपुत्र वाणिज्य का भी एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। इसका कारण सुप्रसिद्ध व्यापार-मार्ग 'उत्तर-पथ' पर इसकी स्थिति मानी जाती है, जो पूर्व में ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से पश्चिम में पुष्कलावती तक फैला हुआ था। इस नगर के व्यापारियों ने देश के सुदूर भागों के साथ वाणिज्य-संबंध स्थापित किया था। 'बोधिसत्त्वावदान कल्पलता' का लेखक इस नगर के अतीत का वर्णन करता हुआ लिखता है कि यहाँ के व्यापारी जलमार्ग के द्वारा विविध द्वीपों में भारतीय वस्तुओं के विक्रय के निमित्त निकल जाया करते थे।[२७] इसी प्रकार 'दशकुमारचरित' में भी दण्डी ने नगर के पूर्वकालीन व्यापारिक वातावरण एवं गौरव पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि पाटलिपुत्र की बाजारों में बहुमूल्य वस्तुएँ विक्रय के निमित्त संग्रहित रहती थीं तथा वह भारत का एक प्रधान एवं आदर्श नगर था।[२८]

गुप्तों के अधःपतन के उपरान्त अर्थात् छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पाटलिपुत्र का अधःपतन बड़ी शीघ्रता के साथ प्रारंभ हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी में ही यह नगर पर्याप्त अंशों में श्रीविहीन हो चुका था। यही कारण है कि इस काल के चीनी यात्री ह्वान्-च्वांग ने अपने यात्राविवरण में इसका वर्णन एक पतनोन्मुख नगर के रूप में किया है।[२८] इस नगर की महत्ता के विलय का एक प्रधान कारण यह है कि गुप्तों के उपरांत अनेक आनुक्रमिक राजवंशों—उदाहरणार्थ वर्द्धनों, प्रतिहारों तथा गहड़वाड़ों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र के स्थान पर कान्यकुब्ज में स्थापित की थी। इसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र की राजनीतिक महत्ता सर्वदा के लिये समाप्त हो गई। इस नगर के विनाश की क्रिया में दैवी एवं आकस्मिक कारणों ने भी योग दिया। चीनी साधनों से स्पष्ट है कि इसके विनाश का सबसे महान् कारण जलप्लावन था। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि 'महा-परिनिब्बान-सुत्त' में भी पाटलिपुत्र के विनाश के दैवी कारणों में जलप्लावन को भी एक कारण माना गया है।[२९] सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता कनिंघम महोदय ने इसे वास्तविक मानते हुए कहा है कि गंगा के तट पर स्थित नगर का भाग आधे मील की गहराई तक इसकी बाढ़ के द्वारा काटकर बहा दिया गया।[३०]

२६—श्रूयते च पाटलिपुत्रे काव्यकारपरीक्षा।
अत्रोपवर्षवर्षौ इह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः॥
वररुचि पतंजलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥
काव्य मीमांसा, पृ० ५५।

२७—अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वदगण्यपण्यविस्तारितमणिमणादिवस्तुजातव्याख्यात-रत्नाकरमाहात्म्या मगधदेशशेखरी भूता पुष्पपुरी नाम नगरी—दशकुमारचरित, पृ० १

२८—वाटर्स, २, ८७।

२९—पाटलिपुत्तस...तमो अंतराया भविस्संति, अग्गितो वा उदकतो वा मिथुभेदा वा
—दीघनिकाय, १६, १, २८

३०—ज० वि० ओ० रि० सो०, १९२०, पृ० ३२

उज्जयिनी एवं गिरिनगर तथा कुषाणकाल में पुरुषपुर एवं कनिष्कपुर प्रसिद्ध राजनीतिक केन्द्र थे। इस परिवर्तन के कारण पाटलिपुत्र की महत्ता पर अवश्य कुठाराघात हुआ पर प्रतिभाशाली गुप्तनरेशों के चिरस्मरणीय राज्यकाल में इस नगर के उत्कर्ष का पुनरुत्थान हुआ। इस समय भी अशोक का राजप्रासाद पूर्ववत विद्यमान था। उस भवन को देखकर चीनी यात्री फ़ाहियान आश्चर्यचकित हो गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस विशाल भवन का निर्माण देवों ने किया था, मानव ने नहीं। उसके अनुसार सभा-भवन के द्वार तथा भीतों में पत्थर चुन कर लगाए गए। उसने पाटलिपुत्र को मध्यदेश का सबसे बड़ा नगर बताया है। चीनी यात्री के साक्ष्य से यह भी स्पष्ट है कि अधिवासी धनधान्य से संपन्न तथा समृद्धिशाली थे। नगर में श्रमणों के निवास के लिए बिहारों का निर्माण किया गया था। सार्वजनिक लाभ के लिए औषधालय बने हुए थे।[२१] वैश्यों ने पुर के विभिन्न भागों में दानालयों का निर्माण किया था, जिनमें दरिद्र, असहाय, विधवा, निस्संतान, लूले, लँगड़े तथा रोगी व्यक्तियों को भोजन एवं वस्त्र दान में मिलता था।[२२]

फ़ाहियान के वर्णन से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र के नागरिक उत्सवों के अत्यंत प्रेमी थे। वैशाख की अष्टमी को ये लोग देवताओं के सम्मान में नगर के भीतर बड़े समारोह के साथ रथयात्रा निकालते थे। इस समय चार पहिये वाले सुन्दर तथा भड़कीले रथ, जिनकी ऊँचाई २० हाथ के लगभग होती थी तथा जिनमें भाँति-भाँति की रँगाई की जाती थी, निकलते थे। रथ के ऊपर देवताओं की भव्य मूर्तियाँ रखी रहती थी। रथों के साथ ही एक लम्बा जलूस भी होता था, जिनमें प्रायः सभी वर्गों के लोग सम्मिलित होते थे। वे लोग विभिन्न प्रकार के आनन्द मनाते हुए नगर के नाना भागों में भ्रमण करते थे।[२३] उस उत्सव को हम पाटलिपुत्र के नागरिकों के सामूहिक जीवन का परिचायक मान सकते हैं।

गुप्तों के काल में यह नगर एक विशिष्ट शिक्षा-केन्द्र भी था। इस राजवंश के नरेशों ने नगर के भीतर एक बौद्धिक वातावरण उत्पन्न कर रखा था। गुप्तनरेश समुद्रगुप्त काव्य-प्रेमी था तथा इस कारण उसने काव्यकारों का संरक्षण किया था। यही कारण है कि उसे कविराज की उपाधि मिली थी।[२४] उसके परम स्नेहभाजन कुमारामात्य तथा संधिविग्रहिक हरिषेण का आविर्भाव पाटलिपुत्र में ही हुआ था, जिसकी काव्यकुशलता का गुणगान करने वाली पंक्तियाँ आज भी प्रयाग की प्रशस्ति में देखने को मिलती हैं। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के संधिविग्रहिक वीरसेन का आविर्भाव पाटलिपुत्र में ही हुआ था, जो कि व्याकरण, ज्योतिष, मीमांसा एवं राजनीति का विशारद तथा एक प्रवीण कवि था।[२५] ज्योतिषशास्त्र के सुप्रसिद्ध मर्मज्ञ आर्यभट इसी नगरी की विभूति थे। उन्होंने यहीं पर शिक्षा प्राप्त की थी (आर्यभट्टस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्)। राजशेखर की काव्यमीमांसा से ज्ञात होता है कि बौद्धिक-क्षेत्र में नगर की ख्याति गुप्तकाल के बहुत पहले से ही चली आ रही थी। इस लेखक के

२१—गाइल्स, फाहियान, पृ० ५८-५९।

२२—वही, पृ० ५९-६०।

२३—वही, पृ० ६०।

२४—विद्वज्जनोपजीव्यानेक-काव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठित-कविराज-शब्दस्य—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २५६।

२५—शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ; वही, पृ० २५७

अनुसार इस नगर में काव्यकारों की एक मंडली थी, जो लेखकों की कृतियों की परीक्षा लेती थी। जब यह विद्वन्मंडली किसी कृति को प्रामाणिक मान लेती थी, तो लोग उसे एक विशिष्ट ग्रन्थ स्वीकार कर लेते थे। इस मंडली ने पाणिनि, पतंजलि, वररुचि, पिंगल, व्याडि, वर्ष तथा उपवर्ष की कृतियों की परीक्षा ली थी।[२६]

गुप्तों के काल में पाटलिपुत्र वाणिज्य का भी एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। इसका कारण सुप्रसिद्ध व्यापार-मार्ग 'उत्तर-पथ' पर इसकी स्थिति मानी जाती है, जो पूर्व में ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से पश्चिम में पुष्कलावती तक फैला हुआ था। इस नगर के व्यापारियों ने देश के सुदूर भागों के साथ वाणिज्य-संबंध स्थापित किया था। 'बोधिसत्वावदान कल्पलता' का लेखक इस नगर के अतीत का वर्णन करता हुआ लिखता है कि यहाँ के व्यापारी जलमार्ग के द्वारा विविध द्वीपों में भारतीय वस्तुओं के विक्रय के निमित्त निकल जाया करते थे।[२७] इसी प्रकार 'दशकुमारचरित' में भी दण्डी ने नगर के पूर्वकालीन व्यापारिक वातावरण एवं गौरव पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि पाटलिपुत्र की बाजारों में बहुमूल्य वस्तुएँ विक्रय के निमित्त संग्रहित रहती थीं तथा वह भारत का एक प्रधान एवं आदर्श नगर था।[२७]

गुप्तों के अधःपतन के उपरान्त अर्थात् छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पाटलिपुत्र का अधःपतन बड़ी शीघ्रता के साथ प्रारंभ हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी में ही यह नगर पर्याप्त अंशों में श्रीविहीन हो चुका था। यही कारण है कि इस काल के चीनी यात्री ह्वान्-च्वांग ने अपने यात्राविवरण में इसका वर्णन एक पतनोन्मुख नगर के रूप में किया है।[२८] इस नगर की महत्ता के विलय का एक प्रधान कारण यह है कि गुप्तों के उपरांत अनेक आनुक्रमिक राजवंशों—उदाहरणार्थ वर्द्धनों, प्रतिहारों तथा गहड़वाड़ों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र के स्थान पर कान्यकुब्ज में स्थापित की थी। इसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र की राजनीतिक महत्ता सर्वदा के लिये समाप्त हो गई। इस नगर के विनाश की क्रिया में दैवी एवं आकस्मिक कारणों ने भी योग दिया। चीनी साधनों से स्पष्ट है कि इसके विनाश का सबसे महान् कारण जलप्लावन था। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि 'महा-परिनिब्बान-सुत्त' में भी पाटलिपुत्र के विनाश के दैवी कारणों में जलप्लावन को भी एक कारण माना गया है।[२९] सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता कनिंघम महोदय ने इसे वास्तविक मानते हुए कहा है कि गंगा के तट पर स्थित नगर का भाग आधे मील की गहराई तक इसकी बाढ़ के द्वारा काटकर बहा दिया गया।[३०]

२६—श्रूयते च पाटलिपुत्रे काव्यकारपरीक्षा।
अत्रोपवर्षवर्षौ इह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः॥
वररुचि पतंजलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥
काव्य मीमांसा, पृ० ५५।

२७—अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वदगण्यपण्यविस्तारितमणिमणादिवस्तुजातव्याख्यात-रत्नाकरमाहात्म्या मगधदेशशेखरी भूता पुष्पपुरी नाम नगरी—दशकुमारचरित, पृ० १

२८—वाटर्स, २, ८७।

२९—पाटलिपुत्तस...तमो अंतराया भविस्संति, अग्गितो वा उदकतो वा मिथुभेदा वा
—दीघनिकाय, १६, १, २८

३०—ज० बि० ओ० रि० सो०, १९२०, पृ० ३२

कवि परिचय :—

गोविन्द गिल्लाभाई

जयेन्द्र त्रिवेदी एम० ए०, भावनगर

आचार्य शुक्ल जी के इतिहास के आठवें संस्करण में आधुनिक काल के 'पुरानी धारा' विभाग में पृ० ५८० पर गोविन्द गिल्लाभाई के बारे में इस प्रकार छपा है:—

"कोई समय था जब गुजरात में व्रजभाषा की कविता का बहुत प्रसार था। अब भी इसका चलन वैष्णवों में बहुत कुछ है। गोविन्द गिल्लाभाई का जन्म संवत् १९०५ में भावनगर रियासत के अन्तर्गत सिहोर नामक स्थान में हुआ था। इनके पास व्रजभाषा के काव्यों का बड़ा अच्छा संग्रह था। 'भूषण' का एक बहुत शुद्ध संस्करण इन्होंने निकाला। व्रजभाषा की कविता इनकी बहुत ही सुन्दर और पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। इन्होंने बहुत सी काव्य की पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—'नीति-विनोद', 'शृंगार-सरोजिनी', 'षट्ऋतु', 'पावस-पयोनिधि' 'समस्या पूर्ति-प्रदीप', 'वक्रोक्ति-विनोद', 'श्लेषचंद्रिका', 'प्रारब्ध पचासा', 'प्रवीन सागर'।"

गुजरात में व्रजभाषा का महत्त्व पहले से रहा है। पुराने जमाने के गुजराती कवियों ने व्रजभाषा में बहुत-सी रचनाएँ लिखी भी हैं। उस विषय में संशोधन-कार्य भी कुछ हो चुका है। (प्रयाग के डा० जगदीश गुप्त ने इसी सम्बन्ध में अपना शोध-प्रबन्ध लिखा है।) अब भी इस क्षेत्र में कुछ और कार्य हो सकता है। व्रजभाषा का ही नहीं, खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार भी गुजरात में सविशेष है। गुजराती के कई नए कवि कभी-कभी हिन्दी में भी लिखते हैं। लेकिन गुजरात के राष्ट्रभाषा-प्रचार का इतिहास जब शुरू नहीं हुआ था, एक महान् देश की महत्तर राष्ट्रभाषा के रूप में उसे जब मान्यता नहीं मिली थी तब मेरे अपने नगर से पंन्द्रह मील दूर के गाँव में एक राजपूत जाति के गरीब किशोर को व्रजभाषा से ममत्व कैसे हुआ, इसका इतिहास जानने की मुझे प्रबल जिज्ञासा हुई। इस व्यक्ति के पहले भी व्रजभाषा में सुन्दर रचनाएँ करनेवाले कई कवि गुजरात में हुए हैं परन्तु उन्होंने साथ में गुजराती में भी बहुत लिखा है और वे अपनी गुजराती रचनाओं के कारण अपने प्रदेश में बहुत विख्यात भी हैं, कवि गोविन्द गिल्लाभाई ने गुजराती में विशेष नहीं लिखा है। उस समय गुजराती की साहित्यिक प्रतिष्ठा हो चुकी थी और कई सुन्दर ग्रन्थ निकल भी चुके थे। कवियश-प्रार्थी व्यक्ति के लिए वातावरण बहुत अनुकूल था, फिर भी यह व्यक्ति गुजराती में न लिखकर व्रजभाषा में क्यों लिखने लगा? और वह भी तब जब कि खड़ीबोली ने व्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता करना शुरू कर दिया था। भारतेन्दुजी की

रचनाएँ विख्यात होने लगी थीं। कवि गोविन्द के बसे हुए संग्रह में से शिवनन्दन सहाय विरचित 'भारतेन्दु का जीवनचरित' मुझे मिला भी है। अर्थात् कवि गोविन्द उस युग के हिन्दी-साहित्यिकों से परिचित रहते थे। आज यातायात के साधन इतने सुलभ हैं, पुस्तकों के प्रकाशनों में इतनी क्रांति हो गई है कि घर बैठे-बैठे भी दुनिया भर से परिचित रहा जा सकता है; ऐसे युग में भी हिन्दी-संसार की प्रत्येक गतिविधि से जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें खास श्रम करना पड़ता है, तो उस समय इस व्यक्ति ने किस आंतरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर कविताएँ लिखी होंगी।

उनका जीवनप्रवाह सरल गति से बहा है। व्यक्ति के जीवन में कभी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि वह अपने युग और अपने प्रदेश के वातावरण से कटकर दूसरे युग और दूसरे प्रदेश के वातावरण से सम्बद्ध हो जाता है। कवि गोविन्द गिलाभाई भी सौराष्ट्र के एक छोटे-से कस्बे में रहकर भी ब्रजभाषा के और रीति युग के संस्कार वाले हो गए। बालक गोविन्द को स्कूली शिक्षा ज्यादा नहीं मिल पाई। नवें वर्ष में उनका ब्याह हुआ और एक शादी शुदा व्यक्ति पढ़ने लिखने ऐसे तुच्छ काम में लगा रहे यह कैसे ठीक माना जायगा? स्कूल छूटा पर भाट-चारणों का संग न छूटा। गोविन्द के पूर्वज जोधपुर के पीपलाद गाँव के थे। कलह के कारण कुटुम्ब में से दो भाई काठियावाड़ की ओर आए। काठियावाड़ वीर-भूमि है और वीरों को वहाँ सदा आश्रय मिलता रहता है। जूनागढ़ के एक ठाकुर के यहाँ उनको आश्रय मिल गया। दो भाइयों में से एक की वीर-गति हुई और दूसरे रजपुत हिराजी की शादी कारडिया राजपूत की कन्या के साथ हुई उसकी वंशपरम्परा में गोविन्द कवि आते हैं।

बचपन से ही भाट-चारणों के सत्संग के कारण गोविन्द में वीररस और शृंगार रस की कविताओं के संस्कार पड़े। इन सब भाट-चारणों की भाषा में ब्रजभाषा का प्रमाण भी डिंगल की तरह प्रचुर मात्रा में था ही। इतिहास, पुराण, उपन्यास, नाटक, चरित्र कथा की ओर भी इन दिनों रुचि हुई, ऐसा श्री गोविन्द कवि लिखते हैं। मित्रों को पत्र लिखते समय काम आये उस दृष्टि से फुटकर द्रष्टान्तिक और गूढ़ कूट तथा समस्या पहेली आदि कविताओं का संग्रह करना शुरू किया। दैवयोग से उसी समय जैन साधु पानाचंद जी से परिचय हुआ। प्राचीन गुजराती और हिन्दी साहित्यों पर इन जैन साधुओं का कैसा बड़ा उपकार है, यह सर्वविदित है। पानाचंद जी से पिंगल शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। स्वयं कविता करने की वृत्ति हुई। गुजराती में 'विश्वदर्पण' 'कुधारा पर सुधारा की चढ़ाई' और 'कविसार निषेध बावनी' ऐसे तीन ग्रन्थों की रचना की। मित्रों ने काव्यशास्त्र के लक्षणग्रन्थ पढ़ने की सलाह दी। गुजराती भाषा के इस प्रकार के ग्रन्थों से संतोष नहीं होने से बम्बई, बनारस, लखनऊ, बांकीपुर, कलकत्ता आदि नगरों से ग्रन्थ मँगाना शुरू किया। ज्यों ज्यों ब्रजभाषा में प्रवेश होता गया त्यों त्यों रस बढ़ता गया। और कुछ काम धाम तो था ही नहीं, बस विद्या की यह एक प्रवृत्ति हाथ लग गई थी। चारों ओर से विख्यात ग्रन्थ, छपे हुए और हस्तलिखित, मँगाने शुरू किए। ग्रन्थों को प्राप्त करने में उनको जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ी होंगी इसकी कल्पना हम कर सकते हैं। फिर भी उन्होंने दरिद्रावस्था में भी ब्रजभाषा के काव्यों का इतना बड़ा संग्रह किया कि शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में इसका उल्लेख किया है।

उनके इस संग्रह का क्या हुआ ? मुझे यह कबूल करते हुए लज्जा आती है पर मुझे भी शुक्ल जी के इतिहास को पढ़ने के पूर्व इस कवि का पता न था। मैंने सिहोर जाकर इस कवि के बारे में पूछताछ करनी शुरू की। कुछ बूढ़े मिले जिन्होंने कहा कि एक 'पागल गोविन्द' यहाँ रहता था, और कुछ कविता करता था। मुझे संतोष हुआ। कम से कम पागल कह कर भी जनता इन्हें याद तो रखती है। दो चार बार इस तरह सिहोर आने जाने से उनके मकान का भी पता चला।

पता चला कि उनके वंशज बम्बई रहते हैं, कभी कभी भावनगर आते हैं, सिहोर तो शायद ही आते हैं। खोजते खोजते यह भी पता चला कि कवि गोविन्द का एक प्रपौत्र मेरे ही कालेज में अर्थशास्त्र का विषय लेकर बी० ए० कर रहा है। फिर तो उस लड़के के पिता जब बम्बई से आए तब उनके साथ फिर सिहोर गया। उन्होंने बताया कि "दादाजी के पास बहुत ग्रन्थ थे, हम तो कविता सविता में कुछ समझते नहीं हैं, धन्धे में आज सुखी हैं पर दादा ने गरीब होते हुए भी इतने जो ग्रन्थ बनाये उनमें से कोई हमें ज़रूरी नहीं लगता था और धीरे धीरे ग्रन्थ दीमकों के द्वारा खाए जाने लगे। मुझे इतना मालूम है कि दादाजी का काशी नागरी सभा के साथ पत्र-व्यवहार होता रहता था इसलिए मैंने इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक कार्ड उस सभा को लिखा परन्तु जवाब नहीं आया। कुछ वर्ष यों ही चले गए। हर दो-तीन वर्ष पर हम सिहोर आकर मकान को साफ़ करते थे और खाए गए ग्रन्थों को फेंक देते थे। इतने में सोनगढ़ (सिहोर से पाँच मील दूर का एक गाँव) के कल्याणचंद्र जी मुनि को इन ग्रन्थों का पता चला, वे लेने आए और मैंने दो मोटरें भर के ग्रन्थ इन्हें दे दिये।"

मैं सुनता रहता था और दुःख का अनुभव कर रहा था कि मैं कुछ देरी से इस काम में पड़ा। दूसरे ही सप्ताह मैं इन सज्जन को साथ लेकर सोनगढ़ के उस जैन मुनि के पास गया। जैनियों के साहित्य-प्रेम के बारे में मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ। भारत जैसा देश छोड़ देने वाले अंग्रेज विद्या की संस्था पर से अपना अधिकार छोड़ने जैसी उदारता नहीं बरत सकते हैं। ये जैन मुनि भी बिल्कुल मुकर गए। कहने लगे—"हाँ, कुछ ग्रन्थ मिले अवश्य थे, पर वे बहुत काम के नहीं थे, कुछ को तो दीमक खा गए और कुछ ये पड़े हैं। कभी फ़ुरसत लेकर आइए और यहाँ बैठे-बैठे देख लीजिए।" उस अमूल्य ग्रन्थागार की यह दशा हुई है। अब तक तो मैं इन ग्रन्थों के दर्शन करने में असमर्थ रहा हूँ पर कोशिश जारी है। कदाचित् कुछ दिनों में यह प्रयत्न सफल हो जाय।

मुझे यहाँ से जो किताबें मिलीं उनमें 'गोविन्द ग्रन्थमाला' (भाग १), तथा 'शिवराज शतक' छपी हुई हैं। उनकी दो एक डायरियाँ तथा एक 'सोरठा-संग्रह' हस्तलिखित हैं। भारतेन्दु बाबू के जीवनचरित वाले ग्रन्थ का उल्लेख ऊपर कर चुका हूँ। मुन्शी देवीप्रसाद जी कृत 'जहाँगीरनामा' की एक पुरानी प्रति भी छपी हुई मिली। ये तो कदाचित् सर्वसुलभ हैं। 'शिवराज शतक' का उल्लेख या उपयोग काशी के विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने अपने 'भूषण' नामक ग्रन्थ में किया है। भूषण कवि गोविंद गिल्लाभाई के प्रिय कवि थे। उन्होंने भूषण के चरित के बारे में भी 'शिवराज शतक' में लिखा है। काशी नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला में मिश्रबन्धुओं द्वारा 'भूषण ग्रन्थावली' का संपादन हुआ है। उसके संपादन में मिश्रबन्धुओं ने भयंकर गलतियाँ की हैं, ऐसा गोविंद गिल्लाभाई

लिखते हैं ! कहाँ मिश्रबन्धु जैसे विद्वद्वर्य और कहाँ हिन्दी प्रदेश से दूर एक छोटे गाँव में रहने वाला एक सामान्य कवि ? परन्तु उसने बहुत स्पष्टतः से ग़लतियों का निर्णय किया है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'भूषण' ग्रन्थ के आरंभ-वचन में लिखा है कि हिन्दी के ऐतिहासिकों को 'शिवसिंह सरोज' से बहुत धोखा हुआ है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उसमें कवियों का कविताकाल दिया गया है, जन्मकाल नहीं। स्वयं शिवसिंह जी ने अपनी भूमिका में स्पष्ट लिखा है, "फिर कवियों का एक सूचीपत्र बनाकर उनके ग्रन्थ, उनके विद्यमान होने के सन्-संवत् और उनके जीवन-चरित जहाँ तक प्रकट हुए लिखे।" इस बात की ओर कवि गोविन्द गिलाभाई ने अपने 'शिवराज शतक' में ध्यान आकर्षित किया है। जो वाक्य यहाँ मिश्र जी ने दिया है वही वाक्य गोविन्द कवि ने अपने 'शिवराज शतक' की गुजराती भूमिका में दिया है। (शिवराज शतक २ जून १६१६ में प्रकाशित हुआ।) अर्थात् मिश्र जी 'भूषण' के बारे में जिन निर्णयों पर पहुँचे हैं, उन पर पहुँचने में कवि गोविन्द ने उनकी बहुत मदद की है यह मिश्र जी को भी मान्य हैं। 'शिवराज भूषण' की जो प्रति कवि गोविन्द के पास थी उसका सदुपयोग पूने के पंडितों ने भी किया है। मिश्र जी ने काशी के वैद्य स्वर्गीय मुन्नीलाल जी के संग्रह की एक प्रति का उल्लेख करके कहा है कि इसके द्वारा भूषण के सम्बन्ध में कुछ नई बातें ज्ञात हुई हैं। आगे वे कहते हैं, "पर जब तक श्री गोविंद गिल्लाभाई वाली प्रति सामने न हो तब तक दृढ़तापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।" शुक्ल जी ने भूषण के तीन प्राप्य ग्रन्थां का उल्लेख किया है और तीन अप्राप्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। उनके अतिरिक्त 'छन्दकौस्तुभ पिंगल' नाम से एक ग्रन्थ भूषण का था ऐसी कवि गोविन्द गिल्लाभाई की मान्यता है। इस मान्यता की पुष्टि उनके द्वारा भी नहीं हुई है।

उनके प्राप्य ग्रन्थों में से भी 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' बहुत आधुनिक हैं यह कवि गोविन्द गिल्लाभाई ने अपने 'शिवराज शतक' में सिद्ध किया है। सं० १६४६ (सन् १८६० ई०) से पहले 'शिवाबावनी' का अस्तित्व ही नहीं था। अपनी 'भूषण ग्रन्थावली' में 'शिवाबावनी' को परिवर्तित स्वरूप में शामिल करने की धृष्टता मिश्रबन्धुओं ने की है ऐसा स्पष्ट आक्षेप कवि गोविन्द ने किया है और इसके लिए जो प्रमाण दिए हैं उन्हें विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने माना है। संक्षेप में इस निर्णय पर हम पहुँचे हैं कि भूषण के कुछ सरस और सर्वोत्तम कवित्तों का वह बाद में हुआ संग्रह मात्र है। बम्बई के गुजराती प्रकाशक भाटिया गोवर्धनदास की अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ के बारे में गड़बड़ हुई है।

ऐसा ही उक्त प्रकाशक ने 'छत्रसालदशक' के बारे में किया है। उसे भी पहले पहल उसने ही छापा और फिर मिश्रबन्धुओं का आधार पाकर यह ग्रन्थ भी हिन्दी-संसार में चलता रहा। कवि गोविन्द ने बम्बई जाकर प्रकाशक को समझाया कि उसके द्वारा संपादित ग्रन्थ में बूंदी के महाराज छत्रसाल और पन्ना नरेश छत्रसाल दोनों के कवित्त शामिल हो गए हैं। हिन्दी-संसार में मिश्रबन्धुओं के कारण बहुत वर्ष तक यह मान्यता रही कि ये सभी कवित्त पन्ना नरेश के मान में ही हैं। तदुपरांत उक्त प्रकाशक ने 'लाल' कवि कृत बूँदी-नरेश छत्रपाल की तलवार की प्रशंसा का कवित्त भी अपने 'छत्रसाल दशक' में भूषण के नाम पर चढ़ा दिया है। यहाँ के इस छठवें नंबर के कवित्त को अपनी आदत के

अनुसार, ग्रन्थावली में तीसरा स्थान देकर मिश्रबन्धुओं ने 'लाल' शब्द को छत्रपाल का विशेषण मानने की भी ग़लती की है। कवि गोविन्द उस सम्बन्ध में लिखते हैं कि गुजराती-भाषा के प्रकाशक गोवर्धनदास हिन्दी कविता को जितना समझते हैं उतना ही हिन्दी भाषा के प्रवीण पंडित भी अगर समझते हों तो उसमें दोष किसको दिया जाय? कवि गोविन्द ने यह भी बताया है कि यह लालकवि उस लालकवि से भिन्न है जिसने बुन्देल छत्रसाल की प्रशंसा में 'छत्रसाल प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा है और जिसे काशी ना० प्र० सभा ने छपाया है। ('छत्रसाल दशक' के छः कवित्त ही भूषण के बनाए हुए हैं) इस संबंध में भी मिश्र जी ने गोविन्द कवि का मत मान्य रखा है कि हिन्दी के इतिहास-ग्रन्थों में से भूषण के साथ अब 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' का उल्लेख नहीं होना चाहिए।

गोविन्द कवि वाली प्रति नष्ट हो गई या जैन मुनि के पास रह गई इसे कौन जाने। पर अभी कुछ दिन पहले ही एक महाशय से मुलाकात हुई। गोविंद कवि के अंतिम वर्षों में ये महाशय सिहोर में थानेदार थे। उन्होंने कवि के कुछ रोचक संस्मरणों को बताया। उनके पास कवि के संग्रहालय की कुछ पुस्तकें हैं जो उन्होंने अपने गाँव गढ़हे में संदूकों में बंद रखा है। मेरी जिज्ञासा का उन्होंने संतोष-प्रद जवाब दिया है और पुस्तकें लाकर दिखाने का वचन दिया है। संभवतः वह प्रति उसमें मिल जाय।

गोविंद गिल्लाभाई के २४ छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं। उनमें से चौदह गोविंद-ग्रन्थमाला भाग १ में छपे हैं और बाकी दस गोविंद-ग्रन्थ-माला भाग २ में छपेंगे, ऐसी सूचना भाग १ में छपी है। शुक्ल जी ने जिन दस नामों का उल्लेख किया है वे भाग २ के नाम हैं। भाग १ में ये ग्रन्थ हैं: विष्णु विनय पचीशी, परब्रह्म पचीशी, विवेक विलास, लछन बत्तीशी, शिखनख चंद्रिका, राधारूप मंजरी, भूषण मंजरी, सिंगार षोड़शी, राधामुख षोड़शी, पयोधर पचीशी, नैन मंजरी, छबि सरोजिनी, प्रेम पचीशी, प्रबोध पचीशी। 'प्रधान-सागर' की गुजराती टीका भी उन्होंने की थी। दलपतराम कवि की टीका की उन्होंने ग़लतियाँ बताई थीं।

शुक्ल जी ने जिन दस ग्रन्थों का उल्लेख किया हैं उनमें अंतिम 'प्रवीन सागर' है। यह ग्रन्थ अपने शृंगार रस के कारण काठियावाड़ में विशेष प्रख्यात रहा है। उसके रचयिता राजकोट के ठाकुर साहब श्री महिरामन जी थे, ऐसी बात प्रचलित है। कुछ चारण कहते हैं कि इसकी रचना एक जैन मुनि ने की है पर वे साधु होने से शृंगार रस की रचना अपने नाम से नहीं करना चाहते थे। मुख्य बात यही है कि यह ग्रन्थ सामूहिक श्रम का परिणाम है। महिरामन जी और उनके मित्रों ने मिलकर यह ग्रन्थ बनाया था। संवत् १८३८ में यह ग्रन्थ बनना शुरू हुआ और ७२ लहरी बनाने के बाद महिरामन जी की मृत्यु के कारण अपूर्ण रह गया। उस ग्रन्थ को संवत् १९४५ में अंत की बारह लहरी जोड़कर गोविन्द गिल्लाभाई ने पूरा किया। इसलिए ८४ लहरी में से केवल बारह गोविन्द कवि की हैं (और यह उन्होंने स्वयं गोविन्द ग्रन्थ माला भा० १ में लिखा) इसलिए शुक्ल जी के इतिहास में पूरा 'प्रवीन सागर' ग्रन्थ गोविन्द कवि के नाम पर मढ़ा है, यह ग़लत है।

गोविन्द कवि ने अपनी पुस्तकों में और अन्य जगह अपनी तमाम पुस्तकों के विज्ञापन

दिए हैं और क़ीमत भी दी है इसलिए शायद ये छपी भी होंगी। मैंने पुस्तकें देखी नहीं हैं। इन विज्ञापनों में गोविन्द ग्रन्थमाला भा० १, २ के उपरान्त साहित्य-चिन्तामणि, गोविन्द हजारा, नवरस हजारा, प्रेम प्रभाकर, किशन बावली, गोविन्द ज्ञान बावली, शिवराज शतक, और अमृतधारा वगैरह का उल्लेख है। उनमें से पहली चार में ब्रजभाषा की उत्तम कविताओं का संग्रह है, बाद की तीन रचनों-में गुजराती टीका भी है और अंतिम 'अमृतधारा' भगवानदास निरंजनीकृत है जिनका उन्होंने संपादन मात्र किया है। कहा जाता है कि 'साहित्य चिन्तामणि' ग्रन्थ उनके द्वारा तैयार कराके राजकोट के एक प्रकाशक ने उनका नाम बिना बताए ही छाप दिया था और मुनाफ़ा स्वयं खा गया था। इस बात में कितना सत्य है उसका पता मैं अब तक नहीं लगा सका हूँ। हाँ, उस प्रकाशक के सन् २५, २६ के कुछ पत्र कवि गोविन्द के नाम मिले हैं जिनमें उसने पुस्तक तैयार कर देने की प्रार्थना की है। भावनगर वाले प्रकाशक के पास न छपवा कर अपने पास क्यों छपवानी चाहिए यह भी उसने लिखा है। उसका अंतिम पत्र १-७-२६ का है जिसमें उसने कुछ ग्रन्थ छापने की तैयारी बताई है और साथ में स्वास्थ्य का ध्यान रखने को लिखा है। और उनकी डायरी में उनके पौत्र ने लिखा है 'जुलाई २६ को कवि की मौत हुई है'।

उनकी मृत्यु तक उनके पौत्रों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी इसलिए कवि ने तो अपनी ज़िन्दगी ग़रीबी में ही बिताई। उनकी ग़रीबी के कुछ करुण संस्मरण पिछले सप्ताह ही थानेदार तोगुला ने बताए जिनको यहाँ लिखना अनावश्यक है।

× × ×

कवि की कविता के सम्बन्ध में तो शुक्ल जी लिख गए हैं कि इनकी कविता बहुत सुन्दर और पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। अलबत्ता ये कवि आधुनिक काल में भी प्राचीन ही बने रहे पर इतने दूर बैठे बैठे एक दूर की भाषा में प्रतिकूल परिस्थितियों में भी काव्य रचना जैसे उत्तम कार्य ये करते रहे, इसलिए हमारे धन्यवाद के और साथ ही प्रेरणा के पात्र हैं।

शोध सूचना (१९५६-१९५७)

आगरा विश्वविद्यालय से

डी० लिट्० के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१—वैदिक भक्ति तथा हिन्दी भक्तिकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति—श्री मुंशीलाल (१९५६)

२—मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के भक्ति-काव्य और प्रेम-गाथाओं में लोकगीत—श्री गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' (१९५७)

३—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—श्री जी० एस० त्रिगुणायत (१९५७)

४—सम्मानित डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित—बाबू गुलाबराय (१९५७)

पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१९५५

१—रामानन्द सम्प्रदाय तथा उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—बदरीनारायण श्रीवास्तव

२—'रामचरित मानस' के साहित्यिक स्रोत : एक अध्ययन—सीताराम कपूर

३—१९ वीं शती का रामभक्ति साहित्य; विशेषतः महात्मा बनदास का अध्ययन—भगवती प्रसाद सिंह

१९५६

४—हिन्दी काव्य में करुण रस (१४००-१७०० ई०)—बी० बी० एल० श्रीवास्तव

५—आदि श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त—जयराम मिश्र

६—हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन (१८७५-१९२५ ई०)—श्री रामचन्द्र

७—मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में चित्रित सामाजिक जीवन—श्री गणेशदत्त

८—संत सुन्दरदास—महेशचन्द्र सिंहल

१९५७

बालमुकुंद गुप्त : उनके जीवन और साहित्य का अध्यन—नत्थन सिंह

पं० बालकृष्ण भट्ट : उनका जीवन और साहित्य—राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

इस प्रकार की सूचनाएँ खोज कार्य के नियोजन तथा निर्देशन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, इस विषय में सम्भवतः किसी का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु सभी विश्वविद्यालयों का सहयोग न मिल सकने के कारण हम इस प्रकार की सूचियाँ समय पर प्रकाशित नहीं कर पाते हैं। हमारा निवेदन है कि इस विषय में सभी विश्वविद्यालय अपना सहयोग दे कर हमारी सहायता करें।—संपादक

११—भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य – गोपीनाथ तिवारी
१२—अपभ्रंश साहित्य—डी० के० जैन
१३—मालव लोक साहित्य—एक अध्ययन – बद्री प्रसाद प्रमार
१४—आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८ ई०—१९४३ ई०)—आर० के० कक्कड़
१५—शिवसिंह सरोज की जीवनी और साहित्य सम्बन्धी सामग्री की विवेचनात्मक परीक्षा—किशोरी लाल गुप्त
१६—कामयनी में काव्य संस्कृति और दर्शन – द्वारका प्रसाद

डी० लिट्० के लिए स्वीकृत विषय

१९५६

१—बुन्देली का निकास और विकास—डॉ० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित
२—जयशंकर प्रसाद के विचार और कला—डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल
३—हिन्दी रामकाव्य में शृंगारिक परम्परा : विशेष रूप से भुशुण्डी रामायण का अध्ययन—डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
४—हिन्दी गद्य विधाओं का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक निरूपण—डॉ० पद्मसिंह शर्मा

१९५७

५—मेरठ ज़िले की बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन—डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा
६—रामचरित मानस तथा भावार्थ रामायण—डॉ० आनन्द प्रकाश
७—अपभ्रंश काव्य शैली की परम्पराओं का मध्यकालीन काव्य पर प्रभाव : आदिकाल से रीतिकाल तक—डॉ० विजयेन्द्र

पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत विषय

१९५५

१—रामचरित मानस और रामचन्द्रिका : तुलनात्मक अध्ययन—जगदीशनारायण
२—हिन्दी में राम विषयक जैन साहित्य—कल्याणचन्द्र जैन
३—प्रेमचन्द के पूर्व के हिन्दी उपन्यासों का वस्तुगत एवं रूपगत विवेचन—कृष्णा नाग
४—संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव : १७०० ई० से पूर्व—विश्वंभरनाथ
५—हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक नाटक—बालगोविंद मिश्र
६—चचा हित वृन्दावनदास और उनका साहित्य—गोपाल व्यास
७—कृत्तिवशी रामायण (बंगला) और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—रामनाथ त्रिपाठी
८—जौनसरी भाषा और हिन्दी—विजयकुमार शर्मा
९—शिवसिंह सरोज की जीवनी और साहित्य सम्बन्धी सामग्री की विवेचनात्मक परीक्षा—किशोरीलाल गुप्त

१०—हिन्दी का उपदेशात्मक काव्य : भारतेन्दु तक—देवीशरण रस्तोगी
११—रीतिकाव्य में रूप चित्रण—राजेन्द्रप्रसाद मीतल
१२—रीतिकाव्य पर विद्यापति का प्रभाव—वीरेन्द्रकुमार

१६५६

१३—भोजपुरी संत कवि—शिवनाथ चौबे
१४—शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना—कृष्णवल्लभ जोशी
१५—तुलसी का काव्य शास्त्र : कृतियों के अध्ययन के आधार पर अगमनात्मक निरूपण—महेन्द्र प्रताप
१६—द्विजदेव और उनका काव्य—अम्बिका प्रसाद बाजपेयी
१७—अयोध्या-दरबार के कवि (१८००-१६५०)—भुवनेश्वर प्रसाद पाण्डेय
१८—आधुनिक हिन्दी काल में यथार्थवाद—परशुराम शुक्ल 'बिरही'
१६—हिन्दी काव्य में शृंगार रस का विकास (१४००-१६००)—रमाशंकर तिवारी
२०—बाबा धरनीदास और उनके सम्प्रदाय का अध्ययन—विश्वनाथ तिवारी
२१—हिन्दी मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव—सरला देवी
२२—हिन्दी साहित्य में आत्मकथात्मक संकेत—गनपतप्रसाद वर्मा
२३—हिन्दी महाकाव्यों के नाट्यतत्व—शंकरलाल मेहरोत्रा
२४—हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार ग्रंथों पर संस्कृत का प्रभाव (वि० सं० १७००-१६००)—कुन्दनलाल जैन
२५—हिन्दी में अन्योक्ति काव्य—माताप्रसाद मिश्र
२६—हिन्दी उपन्यास में कथानक-तत्व—कीर्तिबाला सिनहा
२७—वर्तमान हिन्दी काव्य में मानवतावाद—कृष्णा अग्रवाल
२८—हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण वार्ता—अमरनाथ जैन
२६—रीतिकाव्य पर अष्टछाप का प्रभाव—विजयलता
३०—गुरु गोविंदसिंह और उनका काव्य—मलिकसिंह
३१—आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान (१८७५-१६३५)—नित्यानन्द शर्मा
३२—मेरठ जनपद के लोकगीत—कृष्णचन्द्र शर्मा
३३—राजस्थानी वीरकाव्य—चन्द्रदान
३४—महाकवि स्वयंभू—शंकठाप्रसाद उपाध्याय
३५—हिन्दी कृष्णकाव्य में माधुर्योपासना—श्यामनारायण पाण्डेय
३६—हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत मूलक गणतीय शब्दावली का एक अध्ययन—बांकेलाल उपाध्याय
३७—कुमायुनी जन साहित्य का अध्ययन-(नैनीताल-अलमोड़ा क्षेत्र)—त्रिलोचन पाण्डेय
३८—महाकवि भानुभक्त की नैपाली रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—कमलमाया सांकृत्यायन
३६—बुंदेलखण्ड के नरेश कवि—सुशीला देवी
४०—वृंदावन की हिन्दी साहित्य को देन—गोविन्दप्रसाद शर्मा
४१—हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी भाव—शरणबिहारी गोस्वामी

४२—हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१६००-१६५०)
—शांतिस्वरूप गुप्त
४३—बुन्देलखण्डी पद साहित्य—श्री गनेशीलाल बुधौलिया
४४—हिन्दी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन
(सं० १७००-१६०० रीतिकाल)—मायाशंकरलाल श्रीवास्तव
४५—संत कवि पलटूदास और निर्गुण सम्प्रदाय—प्रयागदत्त तिवारी
४६—कन्नौजी बोली का अनुशीलन और ठेठ ब्रज से उसकी तुलना—शंकरलाल शर्मा
४७—आधुनिक काल में ब्रजभाषा काव्य का विकास (सं० १६००-२०००)—
जगदीशप्रसाद बाजपेयी

१६५७

४८—आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१८५७-१६२०) रामबाबू शर्मा
४६—हिन्दी में रंगमंच का विकास—महावीरसिंह
५०—हिन्दी काव्य में राधा—राजाराम पाण्डेय
५१—हिन्दी निर्गुण भक्ति-काव्य में उपनिषदिक विचारधारा (भारतेन्दु पर्यन्त)—जी० पी० शर्मा
५२—ध्वनि-सिद्धान्त तथा हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन आचार्य—गयाप्रसाद उपाध्याय
५३—सूर साहित्य का सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन—स्नेह कपूर
५४—स्वतंत्र भारत में हिन्दी की गतिविधि और उसका इतिहास—रामगोपालसिंह चौहान
५५—सूर-काव्य में प्रतीक-विधान—ताराचन्द शर्मा
५६—मानस के क्षेपक—स्वामीनाथ शर्मा
५७—कूट-काव्य : प्रवृत्ति और हिन्दी साहित्य में उसका विकास—रामेश्वरदास शर्मा
५८—आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१६२०-१६४७)—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
५६—छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि—श्रीपालसिंह 'क्षेम'
६०—ब्रजभाषा काव्य (१६००-१६४०)—कमला भटनागर
६१—किशोरीलाल गोस्वामी (१८४५-१६३२) और उनका साहित्य—संतोषकुमार श्रीवास्तव
६२—ध्रुवपद और हिन्दी साहित्य—के० सी० डी० यजुर्वेदी
६३—आधुनिक खड़ी बोली काव्य में धार्मिक चेतना—निशानाथ दीक्षित
६४—आधुनिक हिन्दी काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव—आर० डी० मिश्र
६५—तुर्रा कलंगी सम्प्रदाय द्वारा हिन्दी साहित्य-सेवा—लीलाधरसिंह यादव
६६—हिन्दी काव्य में कृष्ण का चारित्रिक विकास—दयाशंकर मिश्र

इंस्टीट्यूट आफ हिन्दी स्टडीज़ के अन्तर्गत पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत विषय

१६५५

१—१७ वीं और १८ वीं शताब्दियों के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में काव्यात्मक विधाएँ—
आर० बी० शर्मा
२—बनारसी दास जैन की जीवनी और कृतियाँ—आर० के० जैन

१०—हिन्दी का उपदेशात्मक काव्य : भारतेन्दु तक—देवीशरण रस्तोगी
११—रीतिकाव्य में रूप चित्रण—राजेन्द्रप्रसाद मीतल
१२—रीतिकाव्य पर विद्यापति का प्रभाव—वीरेन्द्रकुमार

१९५६

१३—भोजपुरी संत कवि—शिवनाथ चौबे
१४—शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना—कृष्णवल्लभ जोशी
१५—तुलसी का काव्य शास्त्र : कृतियों के अध्ययन के आधार पर अगमनात्मक निरूपण—महेन्द्र प्रताप
१६—द्विजदेव और उनका काव्य—अम्बिका प्रसाद बाजपेयी
१७—अयोध्या-दरबार के कवि (१८००-१९५०)—भुवनेश्वर प्रसाद पाण्डेय
१८—आधुनिक हिन्दी काल में यथार्थवाद—परशुराम शुक्ल 'विरही'
१९—हिन्दी काव्य में शृंगार रस का विकास (१४००-१६००)—रमाशंकर तिवारी
२०—बाबा धरनीदास और उनके सम्प्रदाय का अध्ययन—विश्वनाथ तिवारी
२१—हिन्दी मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव—सरला देवी
२२—हिन्दी साहित्य में आत्मकथात्मक संकेत—गनपतप्रसाद वर्मा
२३—हिन्दी महाकाव्यों के नाट्यतत्व—शंकरलाल मेहरोत्रा
२४—हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार ग्रंथों पर संस्कृत का प्रभाव (वि० सं० १७००-१९००)—कुन्दनलाल जैन
२५—हिन्दी में अन्योक्ति काव्य—माताप्रसाद मिश्र
२६—हिन्दी उपन्यास में कथानक-तत्व—कीर्तिबाला सिनहा
२७—वर्त्तमान हिन्दी काव्य में मानवतावाद—कृष्णा अग्रवाल
२८—हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण वार्ता—अमरनाथ जैन
२९—रीतिकाव्य पर अष्टछाप का प्रभाव—विजयलता
३०—गुरु गोविंदसिंह और उनका काव्य—मलिकसिंह
३१—आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान (१८७५-१९३५)—नित्यानन्द शर्मा
३२—मेरठ जनपद के लोकगीत—कृष्णचन्द्र शर्मा
३३—राजस्थानी वीरकाव्य—चन्द्रदान
३४—महाकवि स्वयंभू—शंकठाप्रसाद उपाध्याय
३५—हिन्दी कृष्णकाव्य में माधुर्योपासना—श्यामनारायण पाण्डेय
३६—हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत मूलक गणतीय शब्दावली का एक अध्ययन—बांकेला
३७—कुमायुनी जन साहित्य का अध्ययन-(नैनीताल-अल्मोड़ा क्षेत्र)—त्रिलोचन प
३८—महाकवि भानुभक्त की नेपाली रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—कमलमाया सांकृत्यायन
३९—बुंदेलखण्ड के नरेश कवि—सुशीला देवी
४०—वृंदावन की हिन्दी साहित्य को देन—गोविन्दप्रसाद शर्मा
४१—हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी भाव—शरणबिहारी गोस्वामी

४२—हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१६००-१६५०)
—शांतिस्वरूप गुप्त

४३—बुन्देलखण्डी पद साहित्य—श्री गनेशीलाल बुधौलिया

४४—हिन्दी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन (सं० १७००-१६०० रीतिकाल)—मायाशंकरलाल श्रीवास्तव

४५—संत कवि पलटूदास और निर्गुण सम्प्रदाय—प्रयागदत्त तिवारी

४६—कन्नौजी बोली का अनुशीलन और ठेठ ब्रज से उसकी तुलना—शंकरलाल शर्मा

४७—आधुनिक काल में ब्रजभाषा काव्य का विकास (सं० १६००-२०००)—जगदीशप्रसाद बाजपेयी

१६५७

४८—आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१८५७-१६२०) रामबाबू शर्मा

४६—हिन्दी में रंगमंच का विकास—महावीरसिंह

५०—हिन्दी काव्य में राधा—राजाराम पाण्डेय

५१—हिन्दी निर्गुण भक्ति-काव्य में उपनिषदिक विचारधारा (भारतेन्दु पर्यन्त)—जी० पी० शर्मा

५२—ध्वनि-सिद्धान्त तथा हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन आचार्य—गयाप्रसाद उपाध्याय

५३—सूर साहित्य का सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन—स्नेह कपूर

५४—स्वतंत्र भारत में हिन्दी की गतिविधि और उसका इतिहास—रामगोपालसिंह चौहान

५५—सूर-काव्य में प्रतीक-विधान—ताराचन्द शर्मा

५६—मानस के क्षेपक—स्वामीनाथ शर्मा

५७—कूट-काव्य : प्रवृत्ति और हिन्दी साहित्य में उसका विकास—रामेश्वरदास शर्मा

५८—आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१६२०-१६४७)—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

५६—छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि—श्रीपालसिंह 'क्षेम'

६०—ब्रजभाषा काव्य (१६००-१६४०)—कमला भटनागर

६१—किशोरीलाल गोस्वामी (१८४५-१६३२) और उनका साहित्य—संतोषकुमार श्रीवास्तव

६२—ध्रुवपद और हिन्दी साहित्य—के० सी० डी० यजुर्वेदी

६३—आधुनिक खड़ी बोली काव्य में धार्मिक चेतना—निशानाथ दीक्षित

६४—आधुनिक हिंन्दी काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव—आर० डी० मिश्र

६५—तुर्रा कलंगी सम्प्रदाय द्वारा हिन्दी साहित्य-सेवा—लीलाधरसिंह यादव

६६—हिन्दी काव्य में कृष्ण का चारित्रिक विकास—दयाशंकर मिश्र

इंस्टीट्यूट आफ हिन्दी स्टडीज़ के अन्तर्गत पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत विषय

१६५५

१—१७ वीं और १८ वीं शताब्दियों के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में काव्यात्मक विधाएँ—आर० वी० शर्मा

२—बनारसी दास जैन की जीवनी और कृतियाँ—आर० के० जैन

३—१० वीं शती से १४ वीं शती ईसवी तक के हिन्दी साहित्य में साहित्यिक विधाएँ—आर० पी० दीक्षित

४—अंग्रेजी से हिंदी में लिए गए शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—कैलाशचन्द्र भाटिया

१९५६

५—मीरा के साहित्य के मूल स्रोतों का अनुसन्धान—विमला गौड़

६—मथुरा ज़िले में ब्रज-भाषा की स्थानीय बोलियों का अध्ययन—सी० बी० रावत

७—हिन्दी का बारहमासा साहित्य : इतिहास तथा अध्ययन—महेन्द्रसागर प्रचंडिया

८—हिन्दी नाटकों का शास्त्र—आदित्यस्वरूप कौशिक

९—हिन्दी और मलयालम के ऐतिहासिक उपन्यास : विशेषकर वृन्दावनलाल वर्मा और सी० वी० रमन पिल्लइ का तुलनात्मक अध्ययन—के० सी० सुकुमारन् नायर

१९५७ :

१०—ब्रज के १६ वीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण—शत्रुघ्न भार्गव

११—हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन—नारायणसिंह दुबे

१२—हिन्दी नाममाला साहित्य : १६ वीं से १८ वीं शताब्दी तक—उमापतिराज चंदेल

१३—हिन्दी साहित्य में काव्यरूप : १० वीं से १४ वीं शती तक—ओइम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ

१४—ब्रज के देवी देवताओं से सम्बद्ध लोक-साहित्य का अध्ययन—रामसिंह यादव

दिल्ली विश्वविद्यालय

पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१९५६

१—सूरदास की काव्य कला—मनमोहन गौतम

२—रीतिकाल के प्रमुख आचार्य—सत्यदेव चौधरी

३—राधावल्लभ सम्प्रदाय (विशेष कर हितहरिवंश का अध्ययन)—विजयेन्द्र स्नातक

४—मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—उमाकान्त गोयल

पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत विषय

१९५६

१—कवि और आचार्य के रूप में मतिराम का अध्ययन

१९५७

२—हिन्दी काव्य में नखशिख वर्णन

३—हिन्दी उपन्यास : प्रेमचन्द के पूर्व

४—हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्णभक्ति साहित्य में रीतिकाव्य परम्परा

५—हिन्दी काव्यशास्त्र में दोष-विवेचन

६—हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन

७—हिन्दी और अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी का अध्ययन

८—रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव

९—आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ

१०—ध्रुवदास और उनका काव्य
११—आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्त्रियों का योगदान

१९५८

१२—प्रेमचन्द-उत्तर हिन्दी उपन्यास
१३—हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास

पंजाब विश्वविद्यालय

पी-एच० डी० के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध

१९५७

१—हिन्दी उपन्यास में नायक का स्वरूप—भीषम साहनी
२—प्रेमचन्द तथा उत्तर-प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ तथा प्रभाव—सुषमा धवन
३—आधुनिक हिन्दी साहित्य में महाकाव्य का स्वरूप—गोविन्दराम शर्मा
४—पृथ्वीराज रासो के लघुतम संस्करण का विश्लेषणात्मक संपादन—बेनीप्रसाद शर्मा
५—केशवदास तथा रीतिकाव्य—किरणचन्द्र शर्मा

पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत विषय

१९५७

१—हिन्दी काव्य में विरह भावना—द्विजराज
२—मध्यकालीन हिन्दी खण्ड-काव्य—ज्ञानवती चतुर्वेदी
३—विद्यापति और उनका मध्यकालीन हिन्दी काव्य पर प्रभाव—जयनाथसिंहतोमर
४—कृष्णकाव्य में सौन्दर्य भावना—मदनमोहन राकेश
५—हिन्दी काव्य में रूप तथा शिल्प विधान—धर्मचन्द सन्त
६—बाँगरू बोली के रूप विधान—जगदेवसिंह
७—प्रेमचन्द तथा उत्तर प्रेमचन्द कालीन उपन्यास में नारी का स्वरूप—उषा शर्मा
८—राजनीतिक आन्दोलनों का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—धर्मपाल सरीन
९—रीतिकालीन शृंगार-मुक्त काव्य—विजयकुमार

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

डी० फिल० के लिए स्वीकृत विषय

१९५६-१९५७

१—हिन्दी तथा असामी वैष्णव काव्य का तुलनात्मक अध्ययन : शंकरदेव तथा माधवदेव के विशेष संदर्भ में—लालजी शुक्ल
२—चरणदास : जीवनी और रचनाएँ—योगेन्द्रसिंह सक्सेना
३—काव्य-शिल्प की दृष्टि से तुलसीदास के शब्द-समूह का अध्ययन—निलिमारानी वर्मा
४—सुन्दरदास का जीवन और उनके ग्रंथ—श्रीहरि
५—आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य—हरिशंकर शर्मा
६—हिन्दी के आदिकाल के लौकिक काव्य का अध्ययन—प्रेम श्रीवास्तव
७—इलाहाबाद ज़िला की कृषि सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन—शालिगराम शर्मा

८—अवधी लोक साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा सामाजिक अध्ययन—योगेन्द्र नाथ तिवारी

९—हिन्दी भक्ति साहित्य में वात्सल्य तथा सख्य का विवेचन—करुणा वर्मा

१०—अवधी साहित्य का अध्ययन (तुलसी और जायसी को छोड़कर)—राधे माधव शर्मा

११—अवधी और भोजपुरी सीमांत की बोली का अध्ययन—अमर बहादुरसिंह

१२—आधुनिक काव्य का काव्य-शिल्प—मोहनलाल अवस्थी

१३—आधुनिक काव्य में व्यक्तिवादी दर्शनों का प्रभाव—कुमारी निर्मल तलवार

१४—खड़ी बोली (बोली), परिनिष्ठित हिन्दी तथा पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन—सुरेन्द्रपाल सिंह

१५—हिन्दी नाटक के शिल्प का विकास—स्वरूपरानी वर्मा

१६—हिन्दी भक्ति साहित्य के संदर्भ में भक्ति आन्दोलन का अध्ययन—रतनभान सिंह

१७—इलाहाबाद तथा प्रतापगढ़ ज़िलों के लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन—श्री बेनीमाधव वैश्य

१८—हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास—वीरेन्द्रसिंह

१९—नामदेव तथा कबीरदास का तुलनात्मक अध्ययन—योगेन्द्र पाण्डेय

२०—अलीगढ़ तथा मथुरा जिलों के लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन—श्री रामचन्द्र शर्मा

२१—हिन्दी वैष्णव साहित्य में निहित काव्य-शास्त्रीय आदर्श और सिद्धान्त—विजयबहादुर सिंह राठौर

२२—सूफ़ी तथा लौकिक प्रेमाख्यानक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—श्याम मनोहर पांडेय

२३—प्रेमचन्द के विशेष संदर्भ में हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का विकास—ओंकार नाथ कचूरे

२४—आधुनिक उपन्यास तथा नाटक पर गाँधीवाद का प्रभाव—कृष्णनरायन लाल

२५—मध्ययुग के काव्य में शांत रस का प्रयोग—सावित्री शर्मा

२६—हिन्दी संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि—ओइम्प्रकाश शर्मा

१९५७-१९५८

१—हिन्दी और बंगाली नाटक का तुलनात्मक अध्ययन—जगदम्बाप्रसाद मिश्र

२—हिन्दी शब्द समूह का अध्ययन—सुभाषिनी सक्सेना

३—मध्ययुग में सगुण तथा निर्गुण साहित्य का अध्ययन १४००-१७०९ ई० तक—आशा गुप्त

४—हिन्दी संत साहित्य के तत्कालीन तथा परम्परागत तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन—प्रेम मनोहर ललोरिया

५—हिन्दी के विशेष संदर्भ में रासो-साहित्य का अध्ययन—दूधनाथ सिंह

६—महाकवि देव की कृतियों की पाठ-समस्या—लक्ष्मीधर मालवीय

७—पूर्वी हिन्दी की बैसवाड़ी बोली का विवरणात्मक अध्ययन—प्यारेलाल वर्मा
८—१८वीं तथा १६ वीं शती के निर्गुण काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन—रामचन्द्र शुक्ल
६—हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक विषय-वस्तु—कुसुम जायसवाल
१०—हिन्दी भाषा में पर्याय तथा अनेकार्थ वाचक शब्द—बद्रीनाथ कपूर
११—प्रेमचन्द के विशेष संदर्भ में आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का विकास—हरीशंकर शुक्ल
१२—हिन्दी तथा गुजराती पुष्टिमार्गी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन—पुर्णेन्दु त्रिवेदी
१३—अवध की जातियों के नामों का अध्ययन—उमाशंकर त्रिपाठी
१४—ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों में इतिहास का उपयोग—गोविन्द जी प्रसाद
१५—हिन्दी उपन्यासों के चरित्रों के प्रकार और उनका विकास—ज्ञान रंजन
१६—सूरदास पर वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों का प्रभाव—मीरा श्रीवास्तव
१७—प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के स्रोत तथा उपकरण—सरोज श्रीवास्तव
१८—निर्गुण काव्य का मूल तथा उसका प्रारंभिक विकास—गणेशप्रसाद गुप्त
१६—१६ वीं शताब्दी के कृष्णकाव्य का परवर्ती हिन्दी काव्य पर प्रभाव—सरोज टण्डन
२०—हिन्दी नाटक के स्रोत (भारतेन्दु से १६५० तक)—शशिप्रभा श्रीवास्तव
२१—नागरीदास का जीवन तथा उनके ग्रन्थों का विवेचनात्मक अध्ययन—श्यामनारायण लाल
२२—हिन्दी की मौलिक शब्दावली—आशारानी अग्रवाल
२३—हिन्दी पत्रकारिता और उसके शिल्प के विकास का अध्ययन—श्रीप्रकाश
२४—बुन्देली बोली का विकास—उमादत्त त्रिपाठी

लखनऊ विश्वविद्यालय

पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत विषय

१६५६

१—खड़ीबोली के खण्ड काव्य—अविनाश चन्द्र
२—तुलसी की भक्ति-पद्धति—दाताराम वर्मा
३—हिन्दी उपन्यासों का प्रारम्भिक युग—ज्ञानचन्द जैन
४—हिन्दी साहित्य में देशभक्ति—जगमोहन सिंह
५—आधुनिक हिन्दी काव्य (१६१० से) की शिल्प विधि का अध्ययन—कैलाशचन्द्र वाजपेयी
६—हिन्दी साहित्य में प्रथम महायुद्ध के बाद का मध्य वर्ग—मंजुलता सेनानी
७—अष्टछाप-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन—मायारानी
८—छायावाद और आधुनिक हिन्दी काव्य—लक्ष्मीनारायण तिवारी
६—हिन्दी में गद्य काव्य का विकास—मैत्रेय गुप्ता
१०—जायसी की भाषा—प्रभाकरदेव शुक्ल
११—हिन्दी रीति युगीन भक्तिकाव्य—राजकुमारी श्रीवास्तव
१२—हिन्दी उपन्यास के कथा-शिल्प का विकास—श्री प्रतापनारायण टण्डन
१३—बुन्देली बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण—रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल

१४—प्रतापसाही और उनकी कृतियाँ—रामनिवास शुक्ल
१५—नेपाल के हिन्दी कवि और लेखक—रुद्रेन्द्रनारायण शर्मा
१६—हिन्दी के रीतिकालीन कवियों पर संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रभाव—सन्तराम अनिल
१७—आधुनिक ब्रजभाषा काव्य का अध्ययन—सत्यनारायण त्रिपाठी
१८—हिन्दी काव्य के निर्गुण सम्प्रदाय का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन—सावित्री शुक्ल
१९—पिछले १०० वर्षों में कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिन्दी तथा मराठी की मुख्य प्रवृत्तियाँ—शान्ति वर्मा
२०—आधुनिक अवधी काव्य : एक अध्ययन—श्यामसुन्दर
२१—१६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी में अयोध्या के रामभक्त कवियों की कृतियों में प्रतिबिम्बित समाज और संस्कृति—सुशीला गोविल
२२—पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त स्थानवाची नामों की ऐतिहासिकता—सुबोधचन्द्र

१९५७

२३—हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक युग (१८५०-१९००)—ज्ञानचन्द्र जैन
२४—राधाचरण गोस्वामी—गायत्री नागर
२५—तुलसी साहित्य का अध्ययन : कृति और संस्कृति—हरस्वरूप माथुर
२६—हिन्दी रामकाव्य की प्रवृत्तियाँ : तुलसी के पश्चात्—जगमोहनसिंह
२७—हिन्दी उपन्यास में ग्राम्य जीवन—मैत्रेयीदेवी गुप्ता
२८—हिन्दी और काश्मीरी काव्य के राष्ट्रीय तथा प्रगतिशील तत्त्वों का अध्ययन—ओंकार नाथ कचरू
२९—हरिऔध और उनका काव्य—ओमप्रकाश त्रिवेदी

१९५८

३०—हिन्दी काव्य में राजनीति—आनन्दकुमार ओझा
३१—गढ़वाली भाषा—अनूपचन्द चन्दोला
३२—आधुनिक हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीय भावना—बाबूराम द्विवेदी
३३—हिन्दी में प्रशस्ति और संस्मरण साहित्य—चन्द्रा सक्सेना
३४—स्वतंत्रता के पश्चात् का हिन्दी उपन्यास साहित्य—हरीकृष्ण बाजपेयी
३५—प्रेमचन्द के समवर्ती कथा-साहित्य में ग्राम्यजीवन और लोक संस्कृति—प्रभा शर्मा
३६—जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह और उनके आश्रित कवियों की हिन्दी साहित्य-सेवा—राजमणि पाठक
३७—कबीर-दर्शन—रामजी सहायक
३८—अवध के कृष्णोपासक कवि—श्याममुरारी जायसवाल
३९—गत दो दशकों का (१९३
४०—हिन्दी उपन्यासों में
४१—प्रेमचन्द की कृ

हिन्दी अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष ११] अप्रैल–जून, १९५८ ई० [अंक २

सन्तों की कर्म भावना

त्रिलोकी नारायण दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,

लखनऊ विश्वविद्यालय

'कर्म' शब्द 'कृ' धातु (करना) से बना है। अतः स्पष्ट है कि इसका अर्थ होता है करनी, क्रिया, कार्य या व्यापार। कोश के अनुसार इस शब्द का अर्थ होता है क्रिया, भाग्य, प्रारब्ध आदि। दर्शन-शास्त्र केवल इन अर्थों या 'कर्म' शब्द द्वारा ग्रहीत इस अर्थ से ही नहीं सन्तुष्ट होता है। 'कर्म' मानव के साथ इसी जन्म से नहीं सम्बन्धित है, वरन् अन्य पूर्वभूत जन्मों से भी उसका अपना निकट और अविभाज्य सम्बन्ध है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत मानव के साथ अनादि काल से सम्बद्ध हैं। जन्मजन्मान्तर तक कर्म और संस्कार मानव के साथ संयुक्त रहते हैं। हिन्दू-दर्शन-शास्त्र का मत है कि कर्म के साथ सत्-असत् फल एवं कर्ता के साथ ही उसके कर्मों का भोग एवं बन्धन अनिवार्यतः संयुक्त रहता है। प्रत्येक कर्म करने के साथ ही उसके उपभोग की भावना भी लगी रहती है। यथा मानव को उसके प्रतिबिम्ब से पृथक् करना संभव नहीं है, तथैव कर्म के साथ उपभोग की भावना भी पृथक् नहीं है। 'मानस' में गोस्वामी जी ने सुमंत के मुख से सच ही कहलाया है कि "जनम मरन सब सुख दुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥ काल कर्म बस होहिं गुसांई। बरबस राति दिवस की नाईं।" अतः कर्म का अर्थ सामान्यतया करनी, क्रिया, कार्य एवं व्यापार की दृष्टि से होता है और दर्शन के क्षेत्र में यह शब्द प्रारब्ध एवं भाग्य के अर्थ में होता है। परन्तु फिर भी कह देना असंगत न होगा कि ये दोनों ही अर्थ संत-साहित्य में कभी-कभी एक ही शब्द में प्रयुक्त हुए हैं। अतः हम दोनों ही दृष्टियों से यहाँ संत-साहित्य पर विचार करेंगे।

'कर्म' बड़ा व्यापक है। मनसा, वाचा, कर्मणा जो कुछ भी क्रिया की जाती है, वह सब 'कर्म' के अन्तर्गत ही गिनी जाती है। ज्ञान, भक्ति, योग आदि की साधना के लिए भी मनुष्य को कर्म के आश्रित ही रहना पड़ता है। भर्तृहरि के शब्दों में हम देवताओं को नमस्कार करते हैं पर वे विधाता के पक्ष में हैं। अतः विधाता ही वन्दनीय है। पर विधाता हमारे पूर्व कर्मों का निरीक्षण करता है और तदनुसार फल प्रदान करता है। जब फल और विधाता दोनों ही कर्म के अधीन हैं तब उनसे कोई लाभ नहीं है। अतः जिस कर्म पर विधाता का भी कोई अधिकार नहीं है हम उसी को नमस्कार करते हैं।

'कर्म' का सम्बन्ध स्थूल शरीर ही से नहीं, वरन् इसका निकट और दृढ़ सम्बन्ध वासना-शरीर की वासनाओं और मानसिक शरीर के विकारों से है। स्थूल शरीर कृत कार्यों का फल मानव स्थूल शरीर द्वारा उपभोग करता है और वासना शरीर कृत या मानसिक शरीर द्वारा सम्पन्न कार्यों का उपभोग मानसिक शरीर द्वारा पूर्ण होता है। प्रायः ऐसा भी होता है कि एक ही कर्म या कृत्य के द्वारा विभिन्न प्रकार के उपभोग मानव करता है। कर्म तो एक ही होता है पर (प्रायः) प्रभाव प्रतिक्रिया और भावनाएँ विविध हुआ करती हैं। विभिन्न शरीरों द्वारा सम्पादित कार्यों के सम्बन्ध में कतिपय सामान्य नियम विचारणीय हैं। धर्म-शास्त्र का कथन है कि इस जन्म में शरीर द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कार्यों के फलस्वरूप दूसरे जन्म में मनुष्य को तदनुसार सुख या दुःख उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में उसके अनुकूल परिस्थिति में जन्म होता है। दूसरे, इस जन्म में वासनाओं के माध्यम से मानव दूसरों के प्रति जिस प्रकार की धारणाएँ रखता है, दया, द्वेष आदि का संचार करता है तदनुकूल दूसरे जन्म में उसकी वृत्ति का स्वरूप होता है। तीसरे, मानव उस जन्म में जिस परिणाम में दूसरों की विचारधारा को पचा लिया करता है, उसी के अनुसार दूसरे जन्म में उसकी अभिलाषाएँ जन्म ग्रहण करती हैं। भविष्य में जो भी अवसर उसे प्राप्त होते हैं, वे सभी संस्कारजनित, या कर्मजनित भावों के अनुकूल ही होते हैं।

मानवीय कर्म दो प्रकार के होते हैं—प्रथम उचित कर्म और द्वितीय अनुचित कर्म। समस्त पुण्य कर्म उचित कर्म की संज्ञा में आ जाते हैं और अनुचित कर्म पापकर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। मानव के समस्त कर्मों का एक मात्र लक्ष्य होता है दुःख की निवृति और सुख की उपलब्धि। वह शांति, सुख, कल्याण की खोज में ही समस्त कर्मों का सम्पादन करता है। कर्म का परिणाम यदि कल्याणकारी है, तो वह उचित कर्म है, अन्यथा अनुचित। मानवीय सत्ता के परे ब्रह्म की सत्ता है, जो हमारे कर्मों का सदैव मूल्यांकन किया करती है। मानव की दृष्टि से हम अपने कर्मों को भले ही गुप्त रखें पर यह सत्य नहीं है, उनका पारखी ब्रह्म है, जो संसार के कण-कण में परिव्याप्त है। साधन की दृष्टि से कर्म के तीन भेद किए जा सकते हैं। ये हैं मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म। धर्म-शास्त्र ने तीन प्रकार के कर्म माने हैं: सात्विक कर्म; राजस कर्म तथा तामस कर्म। जन्मों को ध्यान में रखकर वेदांत में कर्म तीन प्रकार से विभाजित किए गए हैं: प्रारब्ध कर्म, संचित कर्म तथा क्रियमाण कर्म। इस भेद का अध्ययन हम सविस्तर करेंगे। वेदांत द्वारा निर्धारित प्रथम कर्म है संचित कर्म जिसे अदृष्ट कर्म भी कहा गया है। मीमांसकों ने इसे अपूर्व कर्म की उपाधि दी है। मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक जो भी कर्म किए गए हैं, चाहे इस जन्म के हों या पूर्व जन्म के, सब

संचित कर्म कहे जाते हैं। संचित कर्मों के परिणाम का एक साथ भोगना असम्भव है। मनुष्य इनका भोग क्रमशः करता है। द्वितीय है प्रारब्ध कर्म। संचित कर्मों में से जितने कर्मों के फलों का भोग मानव पहले प्रारम्भ करता है वे सब प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं। संचित के अर्थ में 'प्रारब्ध' शब्द का प्रयोग प्रायः होता है, पर यह अशुद्ध है। पूर्व कर्मों के संग्रह के छोटे भेद को प्रारब्ध कर्म माना गया है। क्रियमाण कर्म का तृतीय भेद है। जो कर्म वर्तमान काल में होता है अर्थात् जो कर्म सकर्म या सकाम भाव से सम्पादित हो रहा है वही क्रियमाण कर्म है। इस शब्द का प्रयोग वर्तमानकालिक कर्म के सम्बन्ध में होता है। ये क्रियमाण कर्म अंततोगत्वा संचित कर्म बन जाते हैं।

भारतीय दर्शन कर्मवाद के सिद्धांत का पोषक है। जीव जिस प्रकार के कर्म करता है तदनुकूल फल का वह उपभोग भी करता है। शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का अवसान दुखद होता है। सामान्यतया यह धारणा प्रचलित है कि भारतीय दर्शन अकर्मण्यता का पोषक तथा संसार से दूर भागने की भावना का प्रतिपादक है। इस विषय में हम यहाँ पर प्रसिद्ध विद्वान आचार्य बलदेव उपाध्याय के मत का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। उपाध्याय जी के शब्दों में "साधारण जनता की कौन कहे, शिक्षित समाज में भी यह धारणा बद्धमूल सी हो गई है कि मायावादी वेदांत इस जगत् को मायिक तथा असत्य बतलाता है तथा इससे भाग खड़े होने में ही जीवन का अंतिम लक्ष्य समझता है। परन्तु यह धारणा नितांत भ्रांतिमूलक है। श्री शंकराचार्य ने जब उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण उपदेशों को 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस श्लोकांश में निर्दिष्ट कर जगत् के मिथ्यात्व की शिक्षा दी तब उनका ध्यान इस सुशिक्षा की कुत्सित व्याख्या की ओर शायद ही गया होगा। ब्रह्म के साथ तुलना करने पर ही जगत् की पारमार्थिक सत्यता में विरोध प्रतीत होता है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानने पर भी व्यावहारिक दशा में उसकी सत्यता प्रमाण-प्रतिपन्न है। जिस जगत् में प्राणी जनमते हैं, प्रकृति के अनुसार भिन्न प्रकार के कर्मों को करते हैं और अंत में मरते हैं, व्यवहार के लिए नितांत सत्यभूत उस ठोस संसार की सत्यता को कौन दार्शनिक स्वीकार नहीं करता ? मायावादी शंकराचार्य का जीवन-चरित ही इस आरोप के निराकरण करने के लिए पर्याप्त साधन है।.........अतः श्री शंकराचार्य की यह कर्मठता, यह अलौकिक कार्य-कुशलता उनकी शिक्षा के ऊपर भाष्य रूप है।" (भारतीय दर्शन: पृष्ठ २४)

प्रत्येक दर्शन शास्त्र में कर्म सिद्धांत को संसार की नैतिक सुव्यवस्था का आधार माना गया है। प्रत्येक दर्शन कृत कर्मों के परिणामोपभोग पर विश्वास रखता है। बिना कारण हम किसी फल का उपभोग नहीं करते हैं। मनुष्य यदि कर्म सिद्धांत को अंगीकार कर लेता है तो उसे अपनी आंतरिक शक्तियों के विकास के लिए सदैव अवसर प्राप्त होता है। वह अपने कर्मानुसार भाग्य, भविष्य और उपभोग को उन्नत बनाने में समर्थ हो सकता है। कर्म सिद्धांत का विकास सर्वप्रथम उपनिषदों में हुआ था।

वेदमूलक दर्शनों के समान ही बौद्ध एवं जैन दर्शनों ने भी कर्म सम्बन्धी विचारधारा को इन्हीं उपनिषदों से ही ग्रहण किया है। उपनिषद् स्पष्टरूपेण इस बात पर ज़ोर देते हैं

के कर्म करने के लिए मानव या उसकी आत्मा स्वतंत्र है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि पुरुष काममय है। वह स्वेच्छानुकूल संकल्प किया करता है और संकल्प के अनुसार ही उसके काम हुआ करते हैं।

'छान्दोग्योपनिषद्' में भी कर्म स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन हुआ है। आत्मज्ञान हो जाने पर मानव सर्वलोकों में विचरण कर सकता है।[१] उसकी अपेक्षित वस्तु संकल्प मात्र से उत्पन्न हो जाती है।[२] 'मुक्तिकोपनिषद्' में भी पुरुषार्थ पर ज़ोर दिया गया है—"वासना सरित शुभा-शुभ मार्गों से प्रवाहित है। मानव को यह चाहिए कि अशुभ में लगी हुई वासना को शुभ नियोजित करे।[३] 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के सदृश्य गीता का भी मत है कि सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और स्वभाव के परवश होकर कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी स्वेच्छानुसार या अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फलाकांक्षा की दृष्टि से नहीं।[४] कृत कर्म कभी बन्धन उत्पन्न करते हैं। कर्म चक्र से कोई बच सकता है? जीवन-यात्रा का मुख्य लक्ष्य कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी मानव बिना कर्म नहीं ठहर सकता है। प्रकृति के सभी गुण उससे कर्म करा लेते हैं।[५] यथा संसार में माया समस्त कुकर्मों की मूल है तथैव कर्म में वासना का स्थान है। इसे आसक्ति या फलाकांक्षा भी कहा गया है। कर्म के उपभोग से मानव को कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता है। परन्तु फल-बन्धन से उसे उन्मुक्ति मिल जाती है। यह कर्मयोग है। कर्मवाद से कर्मयोग तक जाने में साधक को तीन स्तरों का उल्लंघन करना पड़ता है, (१) फलाकांक्षा वर्जन, (२) कर्तृत्वाभिमान परित्याग, (३) ईश्वरार्पण। गीता में आसक्ति-विहीन कर्म पर ज़ोर दिया गया है। प्राणी के लिए कर्म का परित्याग करना आवश्यक नहीं है, आवश्यक है आसक्ति का परित्याग। कर्ता को कर्म में कर्तृत्वाभिमान का परित्याग कर देना चाहिए। कारण कि समस्त जीव त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों का दास है, वह प्राणियों से बलात् कार्य करा लेता है।

द्रव्य कर्म का आश्रय है और हो सकता है। कर्म की मूर्त द्रव्यों में ही वृत्ति रहती है। क्षिति, जल, तेज, वायु और मन इन्हीं मूर्त द्रव्य पंचक में कर्म की वृत्ति रहती है। विभु, द्रव्य या आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा—ये कर्म की सम्भावना नहीं रखते हैं। वैशेषिक दर्शन में कर्म पाँच प्रकार का माना गया है: उत्क्षेपण, अपेक्षपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन। निष्काम कर्म तत्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायक मात्र है।

वेदांत में मोक्ष को परमार्थ का स्वरूप प्रदान किया गया है। आत्मा नित्य है तथा मोक्ष आत्मानुभव है। अज्ञान जीव को नाना क्लेशों में भरमाया करता है। माया के प्रबल प्रभाव से जीव अपने शुद्ध रूप को भूल गया है। वह वास्तव में ब्रह्म का ही अंश या स्वरूप है। दोनों एक ही हैं। दोनों की अभिन्नता के ज्ञान से मुक्ति है और भेद ज्ञान से अज्ञान और माया का प्रभाव अधिक व्यापक होता है। ज्ञान सत्य का ज्ञापक है। कर्म आरम्भ और अंतवान् वस्तु है, अतः क्षयवान् भी। जो कर्म श्रेष्ठ है उसका फल योग भी अनित्य और सापेक्ष है। कर्म-भोग स्थायी नहीं है। "श्री शंकराचार्य ने कर्म को नितांत निरुपादेय माना है। वे मोक्ष-प्राप्ति कर्म का योग या सहयोग बिलकुल नहीं मानते हैं। किन्तु यह चरम कारणता वेदान्त में किसी भी साधन को प्राप्त नहीं। आत्मानुभव स्वयं आत्मा द्वारा ही प्राप्य है। मोक्ष किन्हीं वाह्य साधनों द्वारा साध्य नहीं है, किन्तु आत्मानुभव के अनुकूल मनःस्थिति की सृष्टि कर सभी साधन उसके चरम पर्यवसान में सहायक हो सकते हैं। कर्म और ज्ञान का विरोध श्री शंकराचार्य में वहुत स्पष्ट है... मोक्ष एक सनातन सत्य का अनुभव है, कर्म एक कालावच्छिन्न प्रक्रिया। कर्म द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की कठिनाई काल, कर्म की नित्यता से सामंजस्य स्थापित करने की कठिनाई है... कर्म का कारण अविद्या है जिसका मूल फलाकांक्षा है। कर्म का स्वरूप कालावच्छिन्न प्रक्रिया है तथा कर्म का फल आत्मा का संसार-बन्धन है। कर्म और ज्ञान के लक्षण, कर्तृत्व और अकर्तृत्व, भेद और एकत्व की बुद्धियाँ समान पुरुष में असम्भव हैं।"[१]

वादरायण के मतानुसार संसार में विद्या (ब्रह्मज्ञान) की प्रधानता है फिर भी यज्ञ आदि कर्म-कांड तुच्छ नहीं हैं। वरन् कर्म वाले गृहस्थ आदि अग्निहोत्र को विद्या, (ब्रह्मज्ञान) की साधना में आवश्यक मानते हैं। ज्ञानी को शम दम से संयुक्त होना चाहिए। कर्म ठीक है परन्तु साथ ही वह ब्रह्म विद्या के साथ बलवत्तर हो जाता है। वादरायण यज्ञ योग आदि कर्मों को जीवन और साधन के लिए आवश्यक मानते हैं।

बौद्धदर्शन के अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत सत्कार्य के हेतु ज्ञान की भित्ति अत्यन्तावश्यक है। आचार एवं विचार का सम्बन्ध अनिवार्य होता है। बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म के सदृश ही कर्म-सिद्धांत को समधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। मानव की दुर्गति या सद्गति का कारण केवल उसका कर्म ही है। स्वर्ग-नरक, दुःख-सुख सब उसी कर्म का फलभोग हैं। निन्दनीय कर्मों का सदैव परित्याग करना चाहिए। पंच कर्म—जिन्हें पंचशील भी कहा गया है—का अनुष्ठान न केवल साधक सदाचारी के लिए वरन् प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक माने गए हैं। ये पंचशील हैं, अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य, सुरा मैरेय आदि

१— डा० रामानन्द तिवारी; श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन; पृ० १३७, १३६।

मादक पदार्थों का परित्याग। मानव के लिए अनन्त शांति प्राप्त करना परमावश्यक है और यह तभी सम्भव है जब वह आत्म-विजय प्राप्त कर ले। आत्म-विजय के लिए आत्म-दमन आवश्यक है। आत्म-दमन इन कर्मों के विधान की अपेक्षा करता है। आत्मा ही अपना नाथ या स्वामी है। अपने को छोड़ कर अपना दूसरा स्वामी नहीं है। अपना दमन कर लेने से दुर्लभ निर्वाण की प्राप्ति होती है। धम्म पद में उल्लेख हुआ है कि :

अत्ता हि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परो सिया।
अत्तनो व सुदत्तेन नाथ लभहि दुल्लभं॥

—धम्मपद १२।४

उपर्युक्त कर्मों के अतिरिक्त भिक्षुओं के लिए पांच कर्म और भी कर्तव्य है। ये कर्म हैं—अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण तथा अमूल्य शय्या का परित्याग। इन्हें दश-शील भी कहा गया है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ विनयपिटक में अन्य कर्तव्यकर्मों का भी विस्तार के साथ उल्लेख मिलता है।

हिन्दी के कवियों ने कर्म-समस्या पर अपने विचारों को सविस्तर प्रकट किया है। कर्मजाल में जब तक जीव फँसा रहेगा तब तक उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। विश्व में कर्म ही सब से अधिक प्रधान है। जो जैसा करता है या करेगा तदनुसार ही उसे फल भोगना होगा। सुख-दुःख बाहर की वस्तु नहीं है हमारे ही कृत्यों का परिणाम है।[१] मानव अपने कर्मों को अच्छा मानकर उसी में फँसता चला जा रहा है।[२] मनुष्य का पुनर्जन्म भी कर्म के फलस्वरूप होता है।[३] वह कठपुतली के सदृश कर्म के हाथों में नाचता है।[४] कर्म तो हमारे ही हाथ में है पर उसके फल पर हमारा अधिकार नहीं है।[५] सुख दुःख का अनुभव काया करती है, आत्मा नहीं।[६] अज्ञान निवारण होते ही कर्म विनष्ट हो जाते हैं। जीव शुद्ध आनन्द स्वरूप विचरने लगता है। यही मुक्ति है। यही परमावस्था है। स्वरूप-ज्ञान होते ही कर्म स्वरूप नहीं ग्रहण करते हैं।[७]

हिन्दी के संत कवियों के अनुसार मानव के जीवन की क्षणभंगुर स्थिति है। वर्षाकाल

१—क—जैसे कर्म लहो फल तैसे। सूरसागर; पृ० २६, २७।

(ख) काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥ मानस, अयोध्या०।

(ग) कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ मान; अयोध्याकांड०।

(घ) जल भरि नयन कहत रघुराई। तात करम निजते गति पाई॥ मानस; अरण्य०।

२—(क) अपन करम वर मानिकै, आपु बँधेउ सब कोइ। ५८२।

(ख) जन्म जन्म बहु कर्म किये हैं, तिनमैं आपन आप बँधायो। सूरसागर।

३—जियकरि कर्म जन्म बहु पावै फिरत फिरत बहुते श्रम आवै। सूरसागर।

४—ज्यो नाचत कठपूतरी, करम नचावत गात। रहीम।

५—सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फल हृदय विदारी। मानस।

६—हर्ष शोक तनु को व्यवहारा।
जैसो करै सो तैसौ लहै।
सदा आत्मा न्यारोइ रहै। सूरसागर।

७—कर्म कि होहि स्वरूपहि चीन्हे। मानस।

में बालू की भीत्ति की जो स्थिति है वही मानव जीवन की स्थिति है। मनुष्य जीवन के आधार स्तम्भ ही स्वयं क्षणिक है। इसीलिए संत नानक ने कहा—

साधो यह तन मिथ्या जानो।
या भीतर जो राम वसत है, साँचो ताहि पिछानो॥
यह जग है संपति सुपने की देख कहा ऐ जानो।
संग तिहारे कछू न चालै, ताहि कहा लपटानो॥
अस्तुति निंदा दोऊ परिहरि, हरि कीरत उर आनो।
जन नानक सबही में पूरन एक पुरुष भगवानो॥[1]

यह विचारधारा नानक से पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी कवियों में समान रूप से लहरें ले रही है। सभी जीवन की निःसारता, अस्थायित्व का उपदेश देते हैं। भाँति-भाँति के रूपकों, उपमाओं और अप्रस्तुत विधान के द्वारा इन्होंने जगत् को असार और अविश्वसनीय बताने का प्रयत्न किया है। इस संसार में यदि कुछ भी कर्म करने योग्य है तो वह है ब्रह्म से भक्ति, दया, परोपकार तथा अन्य उदात्त वृत्तियाँ जो मानवता को विकसित और उन्नत कर सकें, जो संकीर्णता की हद को छोड़कर औदार्य के बेहद वातावरण में पदार्पण कर सकें। यहाँ, इस संसार में बड़ी बड़ी महत्त्वाकांक्षाएँ दौड़ते हुए मृग की परछाँही की भाँति अस्थिर हैं। कामनाओं, लालसाओं और अभिलाषाओं का स्रोत तथा आगार यह शरीर ही नष्ट हो जाता है तो उसके द्वारा कृत या सम्पादित कर्मों की महत्ता ही क्या? संत चरनदास उस दिन के लिए मनुष्य को सचेत कर देना चाहते हैं जिस दिन हंसा इस पिंजड़े से उड़ जायगा और रह जायगा केवल मांस और अस्थि का यह ढाँचा—

कछु मन तुम सुधि राखौ वा दिन की।
जा दिन तेरी देह छुटैगी, ठौर बसौगे बन की॥
जिनके संग बहुत सुख कीन्हे, मुख ढकि ह्वै हैं न्यारे।
जम का त्रास होय बहु भाँतिन, कौन छुटावनहारे॥
देहरी लौं तेरी नारी चलैगी, बड़ी पौरि लौं माई।
मरघट लौं सब बीर भतीजे, हंस अकेलो जाई॥
द्रव्य गड़ै अरु महल खड़े ही, पूत रहैं घर मांहीं।
जिनके काज करौ दिन राती, सो संग चालत नांहीं॥
देव पितर तेरे काम न आवै, जिनकी सेवा लावै।
चरनदास सुखदेव कहत है, हरि बिन मुक्ति न पावै॥[2]

स्पष्ट है कि देव-पितर तेरे काम न आवै, जिनकी सेवा लावै। चरनदास के अनुसार हंसा के उड़ जाने पर फिर यह साधना ये देव पितर कुछ भी साथ नहीं देते हैं। फिर प्रश्न होता है कि यदि देव पितर भी साथ तथा सहयोग नहीं देते हैं तो कौन सहायता करता है? यही सहायता मनुष्य को स्वकर्मों से मिलती है। जन्म, पुनर्जन्म और परिणाम को बनाने

१—संतबानी संग्रह; भाग २; ४७
२—संतबानी संग्रह; भाग २; १८२

वाली कोई शक्ति बाहर से नहीं आती है, वरन् अपने पराक्रम, पुरुषार्थ और परिश्रम के माध्यम से ही यह बनता, बिगड़ता है। जीवन और परिणाम का कल्याण वशीरूप प्रदान करने वाला तत्व है, कर्म और केवल कर्म—कर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। कबीर के शब्दों में—

बिना पवन की राह है, बिन बस्ती का देस।
बिना पिंड का पुरुष है, कहै कबीर संदेस।

ऐसे प्रदेश में कर्म से भी अधिक सूक्ष्म वस्तु का ही प्रवेश हो सकता है। निश्चय ही ऐसे प्रदेश में कर्म ही भाग्य और भविष्य का विधाता है।

कबीर दास वेद कतेब के निन्दक थे, आलोचक थे परन्तु फिर भी उनके हृदय में इन वेद कतेब के द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों ने घर कर लिया था। गीता के 'कर्मण्येयवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के कबीर भी समर्थक और प्रतिवादक थे। कबीर निष्काम भक्ति और कर्म के पक्षपाती थे। कारण कि जहाँ वासना है, जहाँ इच्छा प्रबल है वहाँ एकात्मकता नहीं है, एकाग्रता नहीं है। निष्काम भक्ति तथा साधना जीवन की निधि है, तापों से संतप्त के लिए शीतलता प्रदायिनी छाया है। कबीर कहते हैं कि—

जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निरफल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिलै, निहकामी निज देव॥[१]
निरबन्धन बंधा रहै, बंधा निरबंध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय॥[२]

प्रस्तुत साखियों के 'निःकामी निजदेव' तथा 'करम करै करता नहीं' में गीता की विचारधारा लहरें ले रही है। लेकिन यह भी नहीं कि मानव कर्म से विरक्त हो जाय। कर्म उसे करना ही है—चाहे वह मनसा कर्म हो, या वाचा अथवा सक्रिय कर्म हो। कबीर के मत से मानव को दास्य भाव से कर्म तत्परता के साथ करना चाहिए।[३] बिना कर्म कोई जीवित नहीं रह सकता है। सच तो यह है कि संसार में जो भी दुःख है, कठिन है, असम्भव है वह केवल कर्म के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।[४] कर्म करने के लिए न किसी सुदिन की आवश्यकता है न किसी सुघड़ी की। कर्म सदैव कर्तव्य है अतः उसके लिए किसी विशेष क्षण की भी आवश्यकता या प्रतीक्षा नहीं है।[५] कर्म सभी करते हैं पर सुचारु रूप से कर्म करने वाले कोई विरले ही होते हैं अतः वे और उनका चरित्र अनुकरणीय है।[६] मनुष्य के कर्म ही उसके

१—संतवानी संग्रह; भाग १; पृ० १४, १०। २—वही, पृ० ३६, ४।

३—दासातन हिरदे नहीं, नाम धरावे दास।
पानी के पीये बिना, कैसे मिटै पियास॥ वही; पृ० ३६, ८

४—वही; पृ० २६, ८

५—काल्ह करै सो आज करु, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगा कब्ब॥ वही, पृ० ६, १०।

६—वही; पृ० ३८, १५

करम या भाग्य को बनाने वाले हैं। इसलिए कर्म के प्रति मानव को सदैव डरना, सचेत और सतर्क रहना अपेक्षित है। उससे डरना और सावधान रहना चाहिए अन्यथा मनुष्य अपने कर्म को स्वतः विकृत और विरूप कर लेता है। कबीर के शब्दों में सुनिए कर्मों की क्या महत्ता है—

डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार।
डरत रहै सो ऊबरै, गाफिल खावै मारि॥[१]

दुष्कृत्य करने वाला मानव सुफलों की आशा क्यों कर सकता है—

करता था तो क्यों किया, अब करि क्यों पछिताय।
बौवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय॥[२]

कबीर का कर्म में अखंड विश्वास है, उनके अनुसार मानव अपनी करनी भोग करता है। इसीलिए चाहे वह सदाचार हो या धर्म का क्षेत्र अथवा सामाजिक जीवन—सर्वत्र वे कर्म की प्रधानता और सुकृत पर ज़ोर देते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

अपना सुकृत भरि भरि लीजै।

इस सबका एक मात्र यही ध्येय है कि मानव को अपनी करणी के सिद्धांत को हर प्रकार से समझ लेना आवश्यक है। करणी के सिद्धांत को ध्यान में रखने से मानव कभी दुष्कृत्यों में लीन हो ही नहीं सकता। कबीर के शब्दों में—

जो जस करिहै सो तस पइहै।

यही कर्म ही करम का बनाने वाला है। यही भाग्य को सुधारने वाला है। अगर हमारे कर्म ही दूषित और निम्न हैं तो फिर करम कौन बनवा सकता है। कबीर इस तथ्य को जानते थे। इसीलिए वे कुकर्म के परिणाम भोग पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं—

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ट से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में विपति परी॥
कहं वह फंद कहां वह परिधा, कहं वह मिरग चरी।
सीता को हरि ले गयो रावन, सोने की लंक जरी॥
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग, गिरगिट जोनि परी॥
पांडव जिनके आपु सारथी, तिन पर विपति परी।
दुरजोधन को गर्व मिटायो, जदु कुल नास करी॥
राहु केतु और भानु चन्द्रमा, विधि संयोग परी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, होनी होके रही।

—संतबानी-संग्रह भाग २,६

१—संतबानी संग्रह; भाग १; पृ० ४६, २४। २—वही, पृ० ४६, २२।

वाली कोई शक्ति बाहर से नहीं आती है, वरन् अपने पराक्रम, पुरुषार्थ और परिश्रम के माध्यम से ही यह बनता, बिगड़ता है। जीवन और परिणाम का कल्याण वशीरूप प्रदान करने वाला तत्व है, कर्म और केवल कर्म—कर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। कबीर के शब्दों में—

बिना पवन की राह है, बिन बस्ती का देस।
बिना पिंड का पुरुष है, कहै कबीर संदेस।

ऐसे प्रदेश में कर्म से भी अधिक सूक्ष्म वस्तु का ही प्रवेश हो सकता है। निश्चय ही ऐसे प्रदेश में कर्म ही भाग्य और भविष्य का विधाता है।

कबीर दास वेद कतेब के निन्दक थे, आलोचक थे परन्तु फिर भी उनके हृदय में इन वेद कतेब के द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों ने घर कर लिया था। गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के कबीर भी समर्थक और प्रतिवादक थे। कबीर निष्काम भक्ति और कर्म के पक्षपाती थे। कारण कि जहाँ वासना है, जहाँ इच्छा प्रबल है वहाँ एकात्मकता नहीं है, एकाग्रता नहीं है। निष्काम भक्ति तथा साधना जीवन की निधि है, तापों से संतप्त के लिए शीतलता प्रदायिनी छाया है। कबीर कहते हैं कि—

जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निरफल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिलै, निहकामी निज देव॥[१]
निरबन्धन बंधा रहै, बंधा निरबंध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय॥[२]

प्रस्तुत साखियों के 'निःकामी निजदेव' तथा 'करम करै करता नहीं' में गीता की विचारधारा लहरें ले रही है। लेकिन यह भी नहीं कि मानव कर्म से विरक्त हो जाय। कर्म उसे करना ही है—चाहे वह मनसा कर्म हो, या वाचा अथवा सक्रिय कर्म हो। कबीर के मत से मानव को दास्य भाव से कर्म तत्परता के साथ करना चाहिए।[३] बिना कर्म कोई जीवित नहीं रह सकता है। सच तो यह है कि संसार में जो भी दुःख है, कठिन है, असम्भव है वह केवल कर्म के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।[४] कर्म करने के लिए न किसी सुदिन की आवश्यकता है न किसी सुघड़ी की। कर्म सदैव कर्तव्य है अतः उसके लिए किसी विशेष क्षण की भी आवश्यकता या प्रतीक्षा नहीं है।[५] कर्म सभी करते हैं पर सुचारु रूप से कर्म करने वाले कोई बिरले ही होते हैं अतः वे और उनका चरित्र अनुकरणीय है।[६] मनुष्य के कर्म ही उसके

१—संतबानी संग्रह; भाग १; पृ० १४, १०। २—वहीं, पृ० ३६, ४।

३—दासातन हिरदे नहीं, नांम धरावै दास।
पानी के पीये बिना, कैसे मिटै पियास॥ वही; पृ० ३६, ८

४—वहीं; पृ० २६, ८

५—काल्ह करै सो आज करु, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगा कब्ब॥ वही, पृ० ६, १०।

६—वहीं; पृ० ३८, १५

करम या भाग्य को बनाने वाले हैं। इसलिए कर्म के प्रति मानव को सदैव डरना, सचेत और सतर्क रहना अपेक्षित है। उससे डरना और सावधान रहना चाहिए अन्यथा मनुष्य अपने कर्म को स्वतः विकृत और विरूप कर लेता है। कबीर के शब्दों में सुनिए कर्मों की क्या महत्ता है—

डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार।
डरत रहै सो ऊबरै, गाफिल खावै मारि॥[१]

दुष्कृत्य करने वाला मानव सुफलों की आशा क्यों कर सकता है—

करता था तो क्यों किया, अब करि क्यों पछिताय।
बोवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय॥[२]

कबीर का कर्म में अखंड विश्वास है, उनके अनुसार मानव अपनी करनी भोग करता है। इसीलिए चाहे वह सदाचार हो या धर्म का क्षेत्र अथवा सामाजिक जीवन—सर्वत्र वे कर्म की प्रधानता और सुकृत पर ज़ोर देते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

अपना सुकृत भरि भरि लीजै।

इस सबका एक मात्र यही ध्येय है कि मानव को अपनी करणी के सिद्धांत को हर प्रकार से समझ लेना आवश्यक है। करणी के सिद्धांत को ध्यान में रखने से मानव कभी दुष्कृत्यों में लीन हो ही नहीं सकता। कबीर के शब्दों में—

जो जस करिहै सो तस पइहै।

यही कर्म ही करम का बनाने वाला है। यही भाग्य को सुधारने वाला है। अगर हमारे कर्म ही दूषित और निम्न हैं तो फिर करम कौन बनवा सकता है। कबीर इस तथ्य को जानते थे। इसीलिए वे कुकर्म के परिणाम भोग पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं—

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ट से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में विपति परी॥
कहं वह फंद कहां वह परिधा, कहं वह मिरग चरी।
सीता को हरि ले गयो रावन, सोने की लंक जरी॥
नीच हाथ हरिचन्द विकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग, गिरगिट जोनि परी॥
पांडव जिनके आपु सारथी, तिन पर विपति परी।
दुरजोधन को गर्व मिटायो, जदु कुल नास करी॥
राहु केतु और भानु चन्द्रमा, विधि संयोग परी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, होनी होके रही।

—संतबानी-संग्रह भाग २,६

१—संतबानी संग्रह; भाग १; पृ० ४६, २०। २—वही, पृ० ४६, २२।

यह कोरा भाग्यवाद नहीं वरन् पूर्वजन्म के फल-भोग का प्रतिपादन है। कबीर प्रकृति के विधान का भी समर्थन करते हैं। पर कर्म की अवहेलना कबीर किसी भी दशा में नहीं करना चाहते हैं। कर्म प्रबल है और वही मानव की भाग्यरेखा का बनाने और मिटाने वाला है। कबीर का कथन है कि—

> देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
> जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख॥
>
> ग्र० सा० १२ पृष्ठ १३

सच बात तो यह है कि मानव स्वयं कर्ता नहीं है। कर्मों में उसकी आसक्ति भी वांच्छनीय नहीं है। मानव का प्रत्येक कर्म उसी ब्रह्म की इच्छा से प्रेरित होता है। वही इस संसार के संचालन में अज्ञात रूप से सर्वत्र इङ्गित होता है। कबीर की निम्नलिखित साखियाँ इस भाव को स्पष्ट करती हैं—

> १—कबीर करणीं क्या करै, जे राम न करै सहाइ।
> जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ।
>
> ग्र० सा० १० पृष्ठ ६२
>
> २—कबीर कूती राम की, मुतिया मेरा नाउं।
> गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तिति जाउं॥
>
> ग्र० सा० १४ पृष्ठ २०

संत कवि गुरु नानक करम को सार वस्तु मानते हैं। जहाँ करनी नहीं है वहाँ कल्पना द्वारा भले ही अन्य वस्तुओं का संग्रह कर लिया जाय पर उनमें यथार्थ, सत्य और इसी कारण स्थिरता कभी नहीं आ सकती है।[१] संत कबीर के समान ही संत दादू का मत है कि कर्मों के फेर या बन्धन में पड़ कर सब जीव विनष्ट हो जाते हैं। ये कर्म अधिकांश माया के सहायक के रूप में आते जाते हैं। मानव इन्हीं की भँवर में पड़कर अपने को मिटा लेता है।[२] कर्म का कर्ता मानव स्वयं ही है। उसका दोष या श्रेय किसी को नहीं वरन् उसी कर्ता को है। यह कहना नितांत असंगत है कि किसी व्यक्ति विशेष के कारण कोई कार्य विशेष सम्पन्न या निष्फल हो गया है। मानव की सामर्थ्य और विवेक ही कार्य को सफल बनाने में सहायक होते हैं।[३] कर्म मानव के भाग्य निर्माण और विकृत करने में समर्थ होता है। जो

१—सांचा नामु अराधिया, जग लै जन्मा जाहि।
नानक करनी सार है, गुरमुख धड़िया राहि॥
संतवानी-संग्रह; भाग १; पृ० ६७, १।

२—कर्म फिरावै जीवकों, कर्मों की करतार।
करतार कौं कोई नहीं, दादू फेरनहार॥
वहीं; वहीं; पृ० ८५, ४

३—आप अकेला सब करै, औरन के सिर देइ।
दादू सोभा दास कूं, अपना नाम न लेई।
वहीं; वहीं; ८५, [illegible]

व्यक्ति सत्यकृत्यों से संलग्न है वह अपने जन्म को सार्थक बनाता है अन्यथा तो वही होता है जो कुछ संसार में सर्वत्र घटित हो रहा है। दादू के शब्दों में सुनिए—

कर्म कुल्हाड़ा अंग सब काटत बारम्बार।
अपने हाथौं आप ही काटत है संसार॥[१]

संत मलूकदास के मत से 'करम करम' तो सब कोई कहता फिरता है पर कर्म का वास्तविक रूप बिरला ही जानता है। यदि यही रूप कोई जान ले तो फिर वह समस्त विकारों, माया के से ऊपर उठकर सत् चित आनन्द में संलग्न हो जाय। कवि के शब्दों में—

करम करम सब कहत हैं, करम जानहीं थोर।
एक करम को जानसी नासै सबही खोर॥

तथा

करम दया का रूखड़ा, सत सों सींचौ जाइ।
संतोष सौ फूलै फलै, करता अमर फल खाइ॥

—शब्द-संग्रह।

संत कवि धरनीदास के अनुसार इस भवसागर और तीनों तापों से मुक्त संसार में मानव का उद्धार करने वाली प्रवृत्ति है करनी। यदि करनी न हो तो मानव का उद्धार होना दुर्लभ है। करनी का सुकृत से सम्बन्ध होना चाहिए। सुकरनी के कारण ही तो शाक्त ब्राह्मण की तुलना में भक्त चमार को प्रश्रय दिया जाता है। कवि के शब्दों में—

करनी पार उतारि है, धरनी कियो पुकार।
साकत बाह्मन नहिं भला, भक्त भला चमार॥
धरनी भरमी बाह्मने बसहिं भरम के देस।
करम चढ़ावहिं आपु सिर, अवर जे ले उपदेस॥[२]

संत जगजीवन साहब कर्म का आधार या पोषक तत्व सत्य को मानते हैं,[३] और दरिया साहब (बिहारवाले) सुकृत को अनिवार्य मानते हैं। कारण कि सुकृत नौका पर बैठ कर ही जीव दुर्गम सागर का उल्लंघन कर सकता है।[४] दरिया साहब (मारवाड़वाले) के मत से कर्म एक ऐसा पदार्थ है जो राव-रंक दोनों को ही इस संसार से तार सकता है।[५] दूलनदास के

१—वही; ६७, ५

२—संतबानी-संग्रह; भाग १;११६

३—संत समरथ तें राखि मन, करिय जगत को काम।
जगजीवन यह मंत्र है, सदा सुक्ख बिसराम॥
—वही; ११८।२

४—सुकृत पिरेमहिं हितु करहु, सत बोहित पतवार।
खेवट सतगुरु ज्ञान हैं उतरि जाव भौ पार॥
—वही; १२१।५

५—दरिया नर तन पाय करि, कीया चाहै काज।
राव रंक दोनों तरै जो बैठे नाम जहाज॥
—वही, १२७।२

पर सम्पादनीय है।[१] संत तुलसीसाहब कबीर की भाँति जैसी करनी वैसी भरनी में विश्वास रखते हैं।[२] कर्म के सम्बन्ध में कवि की विचारधारा निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

ज्ञान ध्यान जोगी कुछी, नहिं कोइ पावै भेद।
खेद कर्म सुभ असुभ के, फल करनी कहे वेद॥
की अपनी करनी करै, की गुरु सरन उबार।
दोनों में कोइ एक नहीं, नाहक फिरत लबार।
कर्म करै बरियार से, तत्त छीन होइ जाय।
तत्त घटे घटि खानि में, दुख सुख मांहिं बिलाय॥
हिरदे करम कराय के, देत पलीता बारि।
अंदर आगि लगाय ज्यों, दगन करै तन झारि॥
जुगन जुगन बंधन पड़ै, कर्म काल के द्वार।
नर्क स्वर्ग की सुधि नहीं, दुख सुख बारम्बार।
कर्म सारनी बुधि बसी सूरत रही अधीन।
आसा के बस में पड़ी बासा विपति मलीन॥[३]

संत कवि और कवियित्रियों ने मन, वचन और कर्म की एकता और सत्यता पर बहुत ज़ोर दिया है। मन के दृढ़ विचार या अनुमति को करनी में परिवर्तित करना सामर्थ्य का ही सूचक है। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' हैं परन्तु 'जे आचरहिं ते नर न घनेरे'। मानव का जीवन के दोनों पक्षों—करनी और कथनी में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है। अन्यथा वह कोरा आदर्शवादी या गप्पी व्यक्ति माना जायगा। जीवन के एक भाग में प्रकाश और दूसरे में अंधकार बिलकुल शोभनीय नहीं है। जो कुछ धारणा है, विचार है, या अपना संकल्प है उसे कार्यान्वित करना प्रत्येक का धर्म है। कबीर इसी पर बल देते हुए उपदेश करते हैं कि—

करनी बिन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यो भूंकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥

दादू उसी को विश्वसनीय मानते हैं जिसकी करनी और कथनी एक है—

दादू कथनी और कुछ, करणी करै कुछ और।
तिन थैं मेरा जिव डरै, जिनके ठीक न ठौर॥[४]

करनी से विहीन कथनी को संत धरनी गीदड़ का ज्ञान मानते हैं—

१—करै विचारे समझ करि, खोज बूझ का खेल।
विन माथे निकसै नहीं, है तिल अन्दर तेल।
—संतबानी-संग्रह; भाग १; २०६।३

२—कर्म आप की वास में, जोनी जोनि समाय।
जो जैसी करनी करै सो तैसे फल खाय॥
—वही; २३५।१३

३—वही पृष्ठ २३४

४—संतबानी-संग्रह; भाग १; पृष्ठ ३

करनी कथनी लोक की, ज्यों गीदड़ को ज्ञान।
आगम भाखै और के, आप परै मुख स्वान ॥[१]

मारवाड़ वाले दरिया साहब ने निम्नलिखित रूपक के द्वारा कथनी और करनी में भेद रखने वालों का चित्र अंकित कर दिया है। देखिए यह साखी कितनी स्पष्ट और रोचक है—

सीखत ज्ञानी ज्ञान गम, करै ब्रह्म की बात।
दरिया बाहर चांदना, भीतर काली रात ॥[२]

और गरीबदास तो जैसे समस्त संतों की बात का सार इन पंक्तियों में व्यक्त कर देते हैं—

कथनी में कुछ है नहीं, करनी में रंग लाग।
करनी कर जरना जरै, सो जोगी बड़ भाग ॥[३]

इसीलिए कबीर का उपदेश है कि—

कथनी मीठी खांड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, तौ विष से अमृत होय ॥
कथनी के सूरे घने थोथे बांधे तीर।
विरह बान जिन के लगा, तिन के बिकल सरीर ॥[४]

संतों की कर्म भावना उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गई होगी। लेकिन यह विवेचन पलटू साहब की निम्नलिखित पंक्तियों के अभाव में अपूर्ण ही रह जायगा। इन पंक्तियों के उद्धरण के पश्चात् निबन्ध स्वतः समाप्त हो जाता है क्योंकि पलटू के इन शब्दों के पश्चात् लेखक के पास संतों की कर्म भावना पर कहने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता है।

ना मैं किया न करि सकौं, साहिब करता मोर।
करत करावत आपु है, पलटू पलटू सोर ॥[५]

———

१—वही; ११६।२
२—वही; १३२।५
३—वही; २०५।१६
४—वही; ४७।१२
५—संत बानी-संग्रह; भाग १; पृष्ठ २१७।२

नन्ददास पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव

शशि अग्रवाल, एम० ए०, डी० फिल०, इलाहाबाद

हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य के अन्तर्गत नन्ददास के काव्य पर सबसे अधिक श्रीमद्-भागवत के काव्य सम्बन्धी अंशों का प्रभाव पड़ा है। यों तो 'सूरदास' के सूरसागर का मूल आधार भी श्रीमद्भागवत पुराण ही है, किन्तु काव्य सम्बन्धी अंशों का जितना अधिक प्रभाव नन्ददास पर पड़ा है उतना सूरदास पर नहीं। नन्ददास ने श्रीमद्भागवत पुराण से अनेक स्थानों पर ज्यों के त्यों भाव ले लिये हैं। भाव ही नहीं, कहीं कहीं तो शब्दावली तक ले ली गई है।

नन्ददास के विरह-वर्णन का आधार पूर्ण रूप से भागवत पुराण का विरह-वर्णन ही है। 'रास पंचाध्यायी' के तीसरे अध्याय का गोपी विरह-वर्णन-भागवत पुराण के दशम स्कंध के ३१ वें अध्याय के 'गोपिकागीत' पर ही आधारित है। नन्ददास ने 'गोपिकागीत' से केवल भाव ही नहीं वरन् शब्द भी ले लिए हैं। नन्ददास की गोपी कहती है—

नैन मूदिवो महाशस्त्र लै हाँसी हाँसी।
मारत हौ कित सुहथ नाथ बिनु मोल की दासी॥

यहाँ 'बिन मोल की दासी' वाला पद भागवत पुराण के एक श्लोक[१] के 'तेऽशुल्कदासिका' पद से ही लिया गया है। नन्ददास ने यहाँ भाव के साथ ही साथ 'तेऽशुल्कदासिका' का 'बिनु मोल की दासी' अनुवाद ही करके रख दिया है।

एक अन्य स्थान पर गोपियाँ विरहावस्था में श्रीकृष्ण द्वारा किए गए उपकारों का स्मरण करती हुई कहती हैं—

विष तैं, जल तैं, व्याल अनल तैं, चपला झर तैं।
क्यों राखी, नहिं मरन दई नागर, नगधर तैं॥[२]

भागवत पुराण की गोपियाँ भी दशम स्कंध, इकतीसवें अध्याय के तीसरे श्लोक में ठीक यही भाव व्यक्त करती हैं।

कुछ समय पश्चात् श्रीकृष्ण उन गोपियों के बीच ही प्रकट हो गए। इसका वर्णन नन्ददास ने इस प्रकार किया है—

तब तिनही में ते निकसे नन्दनन्दन पिय यौं।
दृष्टि बंध कै दुरै बहुरि प्रगटै नटवर ज्यौं॥

१—भागवत पुराण; १०; ३१; २।

२—नं० ग्रं०; रासपंचाध्यायी; अ० ३ छं० ३।

पीत वसन बनमाल बनी मंजुल मुरली हथ ।
मन्द मधुरतर हँसत निपट मनमथ के मनमथ ॥[१]

कवि इस वर्णन के लिए भागवत पुराण के दशम स्कंध, बत्तीसवें अध्याय के दूसरे श्लोक का ऋणी है।

कृष्ण के पुनः प्रकट हो जाने पर श्रीमद्भागवत की गोपियाँ उनसे पूछती हैं कि 'नटनागर ! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो प्रेम करने वाले से ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं। परन्तु कोई दोनों से ही प्रेम नहीं करते। इन तीनों में से तुम्हें कौन सा अच्छा लगता है ?[२]' नन्ददास की गोपियाँ भी ठीक इसी प्रकार श्रीकृष्ण से कहती हैं—

इक भजते को भजैं एक अनभजतनि भजहीं।
कहो कान्ह ते कवन आहिं जे दुंदुअनि तजहीं।[३]

नन्ददास के भ्रमरगीत के विरह-वर्णन में भी कुछ स्थल इस प्रकार के हैं जिनपर श्रीमद्भागवत का पूर्ण प्रभाव पड़ा दिखाई पड़ता है। जब गोपियाँ यह सुनती हैं कि उद्धव श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर आए हैं, तब उनकी जो अवस्था होती है, उसका जो चित्रण नन्ददास ने किया है वह पूर्णतः श्रीमद्भागवत के एक श्लोक पर आधारित है। इस श्लोक का भाव इस प्रकार है—'जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो रमा-रमण भगवान श्रीकृष्ण का संदेश लेकर आए हैं, तब उन्होंने विनय से झुक कर सलज्ज हास्य, चितवन और मधुर वाणी आदि से उद्धव का अत्यंत सत्कार किया और एकांत में आसन पर बैठ कर वे उनसे इस प्रकार कहने लगीं।'

भ्रमरगीत के प्रकरण में भागवत पुराण की गोपियाँ उद्धव को 'मधुप कितवबन्धो' अर्थात् 'मधुप तू कपटी का सखा है' कहती हैं। यही बात नन्ददास भी अपनी गोपी से कहलाते हैं—

तुमहीं सो कपटी हुतो नागर नन्द किसोर।

यहाँ कवि ने 'कितव' का 'कपटी' अनुवाद करके रख लिया है।

रास के प्रकरण में भी नन्ददास ने भागवत पुराण के अनेक भाव और छंद ज्यों के त्यों ले लिए हैं। 'सिद्धांत पंचाध्यायी' में कृष्ण जब गोपियों का आह्वान करने के लिए वंशी बजाते हैं तो गोपियाँ अपने सब कार्यों को छोड़ कर श्रीकृष्ण के पास चल देती हैं। नन्ददास के इस वर्णन के आधार श्रीमद्भागवत के कतिपय श्लोक हैं। एक श्लोक का भाव इस प्रकार है—

'जो भोजन परस रहीं थीं वे परसना छोड़कर, जो छोटे-छोटे बच्चों को दूध पिला रहीं थीं वे दूध पिलाना छोड़ कर, जो पतियों की सेवा कर रहीं थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर

१—नं० ग्रं०; रास पंचाध्यायी; ४।२, ३।

२—भागवत पु०; १०।३२।१६।

३—नं० ग्रं०; रासपंचाध्यायी; ४।१४।

और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर अपने प्रियतम कृष्ण के पास चल पड़ीं।'[१] नन्ददास ने निम्नलिखित पंक्तियों में लगभग यही भाव व्यक्त किए हैं—

कोइ गमनी तजि सौंहन, दौंहन, भोजन सेवा।
अंजन, मंजन, चंदन, द्विज मति देव निषेवा।
धर्म अर्थ अरु काम कर्म इह निगम निदेसा।
सब परिहरि हरि भजति भई करि बड़ उपदेसा।[२]

श्रीकृष्ण-मिलन की आतुरता में गोपियाँ आभूषण-वस्त्र आदि भी उलटे-पुलटे धारण कर लेती हैं। भागवतकार ने लिखा है—

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥[३]

अर्थात् उलटे-पुलटे वस्त्र और आभूषण धारण कर वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचने के लिए चल पड़ीं। नन्ददास ने भी 'कहुँ के कहुँ आभरन' पहनने का वर्णन किया है—

जदपि कहुँ के कहूँ अभरन आनि बनाए।
हरि पिय पै अनुसरन जहाँ क तहाँ चलि आए।[४]

भागवतकार ने एक स्थल पर[५] लिखा है कि श्रीकृष्ण के पास जाने से, उनके माता-पिता, भाई, पति आदि ने उन्हें रोका किंतु वे न रुकीं। नन्ददास ने भी निम्नलिखित पंक्तियों में यही बात कही है—

मातु पिता पति कुलपति सुत पति रोक रहै सब।
नहिन रुकी रस धुकी जाय सो मिली तहाँ सब।

मुरली की ध्वनि सुनकर जब गोपियाँ शरद रात्रि में श्रीकृष्ण के पास पहुँच गईं तब श्रीकृष्ण ने उन्हें लोकमर्यादा का उपदेश देते हुए लौट जाने के लिए कहा। उस समय गोपियाँ श्रीकृष्ण के भागवत पुराण के दशम स्कंध, उनतीसवें अध्याय के बत्तीसवें श्लोक में जो उत्तर देती हैं वही नन्ददास की गोपियाँ भी कहती हैं—

तिन कहुँ हो तुम प्राननाथ फिर धर्म सिखावहु।
समुझि कहौ पिय बात चतुर सिर मौर कहावहु।
दार गार सुत पति इनकरि कहो कवन आहि सुख।
बढ़े रोग सम दिन दिन छिन छिन देहि महादुख।[६]

रास के समय एकाएक श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं फिर कुछ समय पश्चात् प्रकट हो जाते हैं। उस समय गोपियाँ विरहजन्य शोक, क्रोध आदि को छोड़ देती हैं। भागवत पुराण में यह वर्णन इस प्रकार है—गोपियाँ भगवान की इस प्रकार प्रेमभरी सुमधुर वाणी सुन कर

१—भागवत पु०; १०। २६। ६।
२—नं० ग्रं०; सिद्धांत पंचाध्यायी; छं० ३०, ३२।
३—भागवत पु० १०। २६। ७।
४—नं०; ग्रं० सिद्धांत पंचाध्यायी; छं० ३३।
५—भागवत; १०।२६।८।
६—नं० ग्रं०; सिद्धांत पंचाध्यायी; छं० ५७, ५६।

जो कुछ विरहजन्य ताप शेष था, उससे भी मुक्त हो गईं और सौन्दर्य माधुर्यनिधि प्राण प्यारे के अंगसंग से सफल मनोरथ हो गईं ।"[१]

नन्ददास ने भी इस भाव को ज्यों का त्यों लिया है। वे कहते हैं—

सुनि पिय के रस वचन सबनि गंसि छाँड़ि दयौ है।
बिहँसि आपने उर सों लाल लगाय लयौ है ॥[२]

तत्पश्चात् रास का आरंभ हुआ। रास में रत गोपियों के आभूषणों की झंकार का वर्णन भागवतकार ने दशम स्कंध तैंतीसवें अध्याय के छठवें श्लोक में जिस प्रकार किया है, लगभग वैसा ही नन्ददास ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल, मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली ॥[३]

भागवत पुराण में रास के अन्त में रास की निर्दोषिता दिखाई गई है। उसके एक श्लोक में लिखा है—'चेदिराज शिशुपाल भगवान् के प्रति द्वेषभाव रखने पर भी अपने प्राकृत शरीर को छोड़ कर अप्राकृत शरीर से उनका पार्षद हो गया। ऐसी स्थिति में जो समस्त प्रकृति और उसके गुणों से अतीत भगवान् कृष्ण की प्रिय हैं और उनसे अनन्य प्रेम करती हैं वे गोपियाँ उन्हें प्राप्त हो जायँ तो इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है ?'

नन्ददास ने भी सिद्धांतपंचाध्यायी में ठीक इसी प्रकार शिशुपाल का दृष्टांत देकर रास की गोपियों की निर्दोषिता दिखाई है। इस प्रकार रास के प्रकरण में नन्ददास ने भागवत के काव्य सम्बन्धी अंशों का पूर्ण आधार लिया है।

भागवत पुराण के प्रकृति-वर्णन का प्रभाव नन्ददास के काव्य पर कहीं कहीं बहुत अधिक पड़ा है। 'सिद्धांतपंचाध्यायी' में रासलीला के आरंभ में चंद्रदेव की मनोहर छटा का वर्णन कवि भागवत पुराण के दशमस्कंध, उनतीसवें अध्याय के तीसरे श्लोक से प्रभावित होकर इस प्रकार करता है—

तिहि छिन सोइ उडुराज उदित सुरराज सहायक।
कुंकुम मंडित प्रिया बदन जनो रंजित नायक।
कमल नैन प्रिय को हिय सुंदर प्रेम समुद जस।
पूरन ससि तनु निरषि हरषि बाढ़ी तरंग रस।[४]

नन्ददास के 'रासपंचाध्यायी' में श्री शुकदेव जी के नखशिख का वर्णन भागवत पुराण से लिया गया है जिसमें यह वर्णन प्रथम स्कंध के १९वें अध्याय में आया है। इस सौन्दर्य-वर्णन में भी श्रीमद्भागवत के सौन्दर्य-वर्णन का बहुत अधिक प्रभाव है। नन्ददास ने लिखा है—

१—भागवत पु०; १०।३३।१।
२—नं० ग्रं; रासपंचाध्यायी; ५।१।
३—नं० ग्रं०; रासपंचाध्यायी; ५।६।
४—नं० ग्रं०; सिद्धांतपंचाध्यायी; छं० २३, २४।

माधवानल-कामकंदला कथा का उद्गम

श्याममनोहर पाण्डेय, रिसर्च स्कालर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

माधवानल कामकंदला मध्ययुग की एक प्रख्यात प्रेम कहानी है। हिन्दी में सबसे पहले गणपति ने इस कथा के आधार पर संवत् १५८४ वि० में 'माधवानल-कामकंदला' प्रबन्ध लिखा।[१] इसकी भाषा पुरानी राजस्थानी है। इसके पश्चात् माधव शर्मा ने सम्वत् १६०० वि० में 'माधवानलकामकंदला-रस विलास' ब्रजभाषा में लिखा[२] जिसकी खंडित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसी कथा को आधार बनाकर संवत् १६१६ में कुशल लाभ ने 'माधवानल कामकंदला चउपई' राजस्थानी में लिखी।[३] फिर मुसलमान कवि आलम ने ६६१ हि० अर्थात् संवत् १६४० वि० में इस कहानी को अवधी में 'माधवानल कथा' के नाम से लिखा।[४] कवि दामोदर ने भी इस कथा के आधार पर काव्य रचना की है। उसकी 'माधवानल कथा' की एक प्रति में प्रतिलिपि का संवत् १७३७ दिया गया है।[५] अतः रचना १८ वीं शताब्दी के पूर्व की ही होगी। एक अन्य कवि राजकेस लिखित 'माधवानल काव्य' सं० १७१७वि में रचा हुआ कहा गया है।[६] इस कथा को आधार बनाकर १६ वीं शताब्दी में बोधा ने 'विरह वारीश'[७] की रचना की। लल्लू जी लाल ने भी 'माधवविलास' नाम से यह कथा लिखी है जो अंशतः गद्य तथा अंशत: पद्य में है।[८] सं० १८५७ वि० में मोतीराम कवीश्वर

१—वेद भुअंगम बाण शशि विक्रम वरस विचार।
श्रावणि शुदि सप्तमी, स्वाती मंगलवार॥
माधवानल कामकंदला प्रबंध; गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज; पृष्ठ ३३६।

२—संवत सोला सै वरसि, जेसलमेर मंझारि।
फागुन मास सुहावनै, करी बात विसतारि॥
हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग की 'माधवानल रसविलास' की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत।

३—संवत सोल सोलोत्तरइ, जेसलमेरु मंझारि।
फागुन सुदि तेरसि दिवसि, विरची आदितवारि॥
माधवानल कामकंदला प्रबन्ध—गा० ओ० सि०; परिशिष्ट २; पृष्ठ ४४१।

४—सन नौ सै इक्यानुवै आहि, करौं कथा अब बौलौ गाहि॥
हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह; द्वि० सं०; हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग; पृष्ठ १८५।

५—माधवानल कामकंदला प्रबंध; गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज; पृष्ठ ५०१।

६—भारतीय प्रेमाख्यान काव्य; डा० हरिकान्त श्रीवास्तव; पृष्ठ २७७।

७—विरह वारीश; नवलकिशोर प्रेस लखनऊ; रचनाकाल, संवत् १८०६-१५।

८—आगरा से सन् १८४६ में प्रकाशित एक संस्करण, इंडिया आफिस पुस्तकालय, लंदन में है और कलकत्ता से सन् १८६८ में प्रकाशित एक संस्करण ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी, लंदन में है।

की किसी रचना का तर्जुमा उर्दू शैली में मजहर अली खां ने 'माधोनल और काम कुन्डला' नाम से किया।[१]

इस संक्षिप्त विवरण से 'माधवानल कामकंदला कथा' की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस कहानी का प्रचार गुजरात और महाराष्ट्र में भी था। आलम कवि की रचना के आधार पर हकीरिया नामक एक कवि ने फारसी में भी काव्य-रचना की है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति डा० योगध्यान आहूजा के पास सुरक्षित है।

कथा का संगठन

माधवानल कामकंदला की कथा का संगठन निम्नलिखित संदर्भों में हुआ है।

१—पुष्पावती नगरी में 'जहाँ का राजा गोविंदचन्द्र है' माधव नामक एक सुन्दर और कलाविद् ब्राह्मण का रहना।

२—उसके सौंदर्य पर नगर की रमणियों का मुग्ध होना, फलस्वरूप राजा द्वारा उसका नगर से निर्वासन।

३—नगर छोड़कर माधव का कामसेन के राज्य कामवती में पहुँचना जहाँ राजनर्तकी कामकंदला के नृत्य का आयोजन है।

४—राजद्वार पर प्रहरियों द्वारा माधव का रोका जाना। माधव का राजा के यहाँ ख़बर कराना कि बारह मृदंग बजाने वालों में से एक का दाहिना अँगूठा कटा है। वह बेसुर बजा रहा है। राजा द्वारा माधव को सम्मान और पुरस्कार देना। कामदंकला के वक्षस्थल पर एक भ्रमर के आ बैठने से नृत्य में विक्षेप होना, जिसे केवल माधव समझ पाता है। नृत्य समाप्त होने पर कामकंदला की कला पर रीझकर माधव द्वारा राजा से प्राप्त पुरस्कार कामकंदला को दिया जाना। दोनों में प्रगाढ़ प्रेम होना।

५—कामसेन का क्रुद्ध होना और माधव का नगर से वहिष्कृत होना। विरही माधव का परदुखभंजन विक्रमादित्य के राज्य उज्जयिनी में जाना। राजमन्दिर में शरण लेना और दीवार पर अपनी विरह गाथा अंकित कर देना। विक्रमादित्य द्वारा विरही माधव की खोज। उसकी परीक्षा लेना।

६—कामकंदला की प्राप्ति के लिए कामसेन पर विक्रमादित्य की चढ़ाई। कामकंदला की परीक्षा।

७—विक्रमादित्य द्वारा प्रेमी युगल का संयोग कराना।

कामकंदला-काव्य का कोई भी रचयिता इन प्रसंगों को छोड़ कर नहीं चला है। हाँ, गणपति, वाचक कुशल लाभ और बोधा ने माधव और कामकंदला के जीवन के साथ पूर्व जन्म की कथाएँ भी जोड़ी हैं। आलम कवि की माधवानल कथा की एक ऐसी प्रति[२] का पता चला है जिसमें पूर्वजन्म की कथा दी गई है किन्तु कथा का यह अंश प्रक्षिप्त जान पड़ता है; क्यों कि एक प्रति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रति में यह कथा नहीं है और जन्मान्तर-वाद मुसलमानी विचारधारा के अनुकूल भी नहीं है।

१—उर्दू साहित्य का इतिहास; डा० एजाजहुसेन; (हिन्दी संस्करण) पृष्ठ २२८।

२—भारतीय प्रेमाख्यान; डा० हरिकांत श्रीवास्तव; पृष्ठ २२१

माधवानल-कामकंदला कथा का उद्गम

श्याममनोहर पाण्डेय, रिसर्च स्कालर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

माधवानल कामकंदला मध्ययुग की एक प्रख्यात प्रेम कहानी है। हिन्दी में सबसे पहले गणपति ने इस कथा के आधार पर संवत् १५८४ वि० में 'माधवानल-कामकंदला' प्रबन्ध लिखा।[1] इसकी भाषा पुरानी राजस्थानी है। इसके पश्चात् माधव शर्मा ने सम्वत् १६०० वि० में 'माधवानलकामकंदला-रस विलास' ब्रजभाषा में लिखा[2] जिसकी खंडित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसी कथा को आधार बनाकर संवत् १६१६ में कुशल लाभ ने 'माधवानल कामकंदला चउपई' राजस्थानी में लिखी।[3] फिर मुसलमान कवि आलम ने ६६१ हि० अर्थात् संवत् १६४० वि० में इस कहानी को अवधी में 'माधवानल कथा' के नाम से लिखा।[4] कवि दामोदर ने भी इस कथा के आधार पर काव्य रचना की है। उसकी 'माधवानल कथा' की एक प्रति में प्रतिलिपि का संवत् १७३७ दिया गया है।[5] अतः रचना १८ वीं शताब्दी के पूर्व की ही होगी। एक अन्य कवि राजकेस लिखित 'माधवानल काव्य' सं० १७१७वि में रचा हुआ कहा गया है।[6] इस कथा को आधार बनाकर १६ वीं शताब्दी में बोधा ने 'विरह वारीश'[7] की रचना की। लल्लू जी लाल ने भी 'माधवविलास' नाम से यह कथा लिखी है जो अंशतः गद्य तथा अंशतः पद्य में है।[8] सं० १८५७ वि० में मोतीराम कवीश्वर

१—वेद भुअंगम बाण शशि विक्रम वरस विचार।
श्रावणी शुदि सप्तमी, स्वाती मंगलवार॥
माधवानल कामकंदला प्रबंध; गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज; पृष्ठ ३३६।

२—संवत सोला सै बरसि, जेसलमेर मंझारि।
फागुन मास सुहावनै, करी बात विसतारि॥
हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग की 'माधवानल रसविलास' की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत।

३—संवत सोल सोलोत्तरइ, जेसलमेरु मंझारि।
फागुन सुदि तेरसि दिवसि, विरची आदितवारि॥
माधवानल कामकंदला प्रबन्ध—गा० ओ० सि०; परिशिष्ट २; पृष्ठ ४४१।

४—सन नौ सै इक्यानुवै आहि, करौं कथा अब बोलौं गाहि॥
हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह; द्वि० सं०; हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग; पृष्ठ १८५।

५—माधवानल कामकंदला प्रबंध; गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज; पृष्ठ ५०६।

६—भारतीय प्रेमाख्यान काव्य; डा० हरिकान्त श्रीवास्तव; पृष्ठ २७७।

७—विरह वारीश; नवलकिशोर प्रेस लखनऊ; रचनाकाल, संवत् १८०६-१५।

८—आगरा से सन् १८४६ में प्रकाशित एक संस्करण, इंडिया आफिस पुस्तकालय, लंदन में है और कलकत्ता से सन् १८६८ में प्रकाशित एक संस्करण ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी, लंदन में है।

की किसी रचना का तर्जुमा उर्दू शैली में मजहर अली खां ने 'माधोनल और काम कुन्डला' नाम से किया।[1]

इस संक्षिप्त विवरण से 'माधवानल कामकंदला कथा' की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस कहानी का प्रचार गुजरात और महाराष्ट्र में भी था। आलम कवि की रचना के आधार पर हकीरिया नामक एक कवि ने फारसी में भी काव्य-रचना की है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति डा० योगध्यान आहूजा के पास सुरक्षित है।

कथा का संगठन

माधवानल कामकंदला की कथा का संगठन निम्नलिखित संदर्भों में हुआ है।

१—पुष्पावती नगरी में 'जहाँ का राजा गोविंदचन्द्र है' माधव नामक एक सुन्दर और कलाविद् ब्राह्मण का रहना।

२—उसके सौंदर्य पर नगर की रमणियों का मुग्ध होना, फलस्वरूप राजा द्वारा उसका नगर से निर्वासन।

३—नगर छोड़कर माधव का कामसेन के राज्य कामवती में पहुँचना जहाँ राजनर्तकी कामकंदला के नृत्य का आयोजन है।

४—राजद्वार पर प्रहरियों द्वारा माधव का रोका जाना। माधव का राजा के यहाँ ख़बर कराना कि बारह मृदंग बजाने वालों में से एक का दाहिना अँगूठा कटा है। वह बेसुर बजा रहा है। राजा द्वारा माधव को सम्मान और पुरस्कार देना। कामदंकला के वक्षस्थल पर एक भ्रमर के आ बैठने से नृत्य में विक्षेप होना, जिसे केवल माधव समझ पाता है। नृत्य समाप्त होने पर कामकंदला की कला पर रीझकर माधव द्वारा राजा से प्राप्त पुरस्कार कामकंदला को दिया जाना। दोनों में प्रगाढ़ प्रेम होना।

५—कामसेन का क्रुद्ध होना और माधव का नगर से वहिष्कृत होना। विरही माधव का परदुखभंजन विक्रमादित्य के राज्य उज्जयिनी में जाना। राजमन्दिर में शरण लेना और दीवार पर अपनी विरह गाथा अंकित कर देना। विक्रमादित्य द्वारा विरही माधव की खोज। उसकी परीक्षा लेना।

६—कामकंदला की प्राप्ति के लिए कामसेन पर विक्रमादित्य की चढ़ाई। कामकंदला की परीक्षा।

७—विक्रमादित्य द्वारा प्रेमी युगल का संयोग कराना।

कामकंदला-काव्य का कोई भी रचयिता इन प्रसंगों को छोड़ कर नहीं चला है। हाँ, गणपति, वाचक कुशल लाभ और बोधा ने माधव और कामकंदला के जीवन के साथ पूर्व जन्म की कथाएँ भी जोड़ी हैं। आलम कवि की माधवानल कथा की एक ऐसी प्रति[2] का पता चला है जिसमें पूर्वजन्म की कथा दी गई है किन्तु कथा का यह अंश प्रक्षिप्त जान पड़ता है; क्यों कि एक प्रति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रति में यह कथा नहीं है और जन्मान्तर-वाद मुसलमानी विचारधारा के अनुकूल भी नहीं है।

१—उर्दू साहित्य का इतिहास; डा० एजाजहुसेन; (हिन्दी संस्करण) पृष्ठ २२८।

२—भारतीय प्रेमाख्यान; डा० हरिकांत श्रीवास्तव; पृष्ठ २२१

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय में सुरक्षित माधवशर्मा के कामकंदला रसविलास की खंडित प्रति में पूर्वांश नहीं है किन्तु उत्तरांश के अध्ययन से पता चलता है कि इसमें भी रचयिता ने पूर्वजन्म की कथा सम्बद्ध की है।[१] पूर्व जन्म की कथाएँ प्रेम को अमरत्व प्रदान करने के लिए ही जोड़ी गई हैं। इनसे माधव और कामकंदला का लोकोत्तर व्यक्तित्व प्रकट होता है।

कथा का मूल स्रोत

माधवानल कामकंदला के मूल स्रोतों का उद्घाटन करने में अन्तर्साक्ष्यों से बड़ी कम सहायता मिलती है। आलम कवि ने एक स्थान पर लिखा है[२]—

सन नौ सौ इक्यानुवै आई। करौं कथा अब बोलौं ताई॥
करौं बात सुनौं अब लोग। करौं कथा सिंगार वियोग॥
कुछ अपनी कुछ पर कृति चौरौं। जथा सकति कर अच्छर जौरौं।
सकल सिंगार बिरह की रीति। माधव कामकंदला प्रीति॥
कथा संसकृत सुनि कुछ थोरी। भाषा बाँधि चौपई जोरी॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि आलम कवि ने कुछ परकृति और कुछ अपनी कृति मिला कर अपने काव्य का ठाठ तैयार किया है। आलम इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि यह कथा संस्कृत में है जिसको उन्होंने चौपाई में भाषाबद्ध किया। किन्तु संस्कृत की कौन सी रचना उनके सामने थी, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना आज संभव नहीं है।

श्री कन्हैया लाल माणिकलाल मुन्शी ने अपने गुजराती साहित्य के इतिहास में कहा है कि गुजराती में यह कथा आनन्दधर कवि के माधवानल नाटक से ली गयी है। आनन्दधर का समय उन्होंने तेरहवीं शताब्दी बताया है।[३] श्री सुकुमार सेन ने भी 'इस्लामी बंगला साहित्य' में आनन्दधर की रचना को इस विषय की प्राचीनतम कृति कहा है।[४]

संस्कृत साहित्य के इतिहासों में आनन्दधर की बहुत कम चर्चा आई है। मैकडॉनल, विंटरनित्ज़, तथा एस० एन० दास गुप्ता और डे के इतिहासों में आनन्दधर कवि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में आनन्द कवि के 'माधवानल नाटक' की चर्चा की है।[५] किन्तु उन्होंने रचना की तिथि अथवा नाटककार का कोई परिचय नहीं दिया है।

श्री बरदाचारी ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में केवल इतना ही कहा है कि आनन्दधर की 'माधवानल कथा', जिसका समय अज्ञात है, लोक जीवन से ग्रहण की गई है।[६]

१—हम माधव पूरिव नेहा। तू नाहिंन जानत है तेहा॥
पहल जनम अपछरा देह। करता कीवौ जोरी नेह॥ चौपई २३८

२—हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह; हिन्दुस्तानी एकेडमी; द्वि० सं०; पृष्ठ १८५

३—गुजरात एंड इट्स लिटरेचर; द्वितीय संस्करण; पृष्ठ २०५

४—इस्लामी बांगला साहित्य; पृष्ठ १२

५—ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर; पृष्ठ ३९३

६—ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर; बरदाचारी; पृष्ठ १२५

केवल कृष्णमाचारियर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास (हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर) में माधवानल कथा की कुछ विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने आनन्द की इस रचना का समय १० वीं शताब्दी ठहराया है।[1]

श्री मुन्शी आनन्दधर की रचना को १३ वीं शताब्दी का मानते हैं। अभी तक यही दो तिथियाँ हमारे सामने हैं। इससे इतना तो पता लग ही जाता है कि हिन्दी की जितनी रचनाएँ एतद्विषयक मिलती हैं उनसे आनन्दधर की रचना पुरानी है।

गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज के 'माधवानल कामकंदला प्रबन्ध' के परिशिष्ट में सम्पादक श्री मजूमदार ने आनन्दधर कवि के एक 'माधवानल आख्यानम्' का भी सम्पादन किया है। कुछ प्रतियों में इसको कथा या नाटक भी कहा गया है। कुशललाभ की 'माधवानल कामकंदला चउपई' पर आनन्दधर कवि की रचना का प्रभाव परिलक्षित होता है। हाँ, कुशललाभ ने पूर्वजन्म की कथा अवश्य कहीं अन्यत्र से ग्रहण की है। किन्तु कुशललाभ ने अपनी रचना में केवल इतना ही संकेत किया है कि यह सरस चरित अत्यन्त प्रसिद्ध था जिसे वाचक कुशललाभ ने कहा है।[2] आलम की 'माधवानल' कथा से भी आनन्दधर की कृति का साम्य दीख पड़ता है।

आनन्दधर कवि ने कथा कहाँ से ली है? माधवानल कथा का मूल उत्स क्या है? इस पर अभी कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य है कि आनन्दधर की रचना के मूल में 'कथासरित्सागर' में आने वाली 'वैताल पंचविंशतिका' तथा बाद की एक रचना 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' की प्रेरणा है। इन समस्त कहानियों में विक्रमादित्य के पौरुष, परोपकार तथा लोकप्रियता का वर्णन आता है।

बोधा कवि ने अपने 'विरहवारीश' में एक स्थल पर उल्लेख किया है कि उन्होंने यह कहानी 'सिंहासनबत्तीसी' से ली है—

> सुन सुभान अब कथा सुहाई। कालिदास बहु रुचि सह गाई।
> सिंहासन बत्तीसी माहीं। पुतरीन कही भोज नृप पाहीं॥[3]

लल्लू लाल जी ने संवत् १८६२ में सुन्दरदास उपनाम सुन्दर की व्रजभाषा की 'सिंहासन बत्तीसी' का खड़ी बोली में रूपान्तर किया। उनकी 'सिंहासन बत्तीसी' में २१ वीं कहानी माधवानल कामकंदला की है।[4] सुन्दर कवि संवत् १६८८ के लगभग वर्तमान थे और बादशाह शाहजहाँ और औरंगजेब के आश्रित थे।[5] उन्होने संस्कृत के 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' के किसी रूप का व्रजभाषा में अनुवाद किया था। किन्तु सुन्दर की रचना की कोई प्रति प्राप्त नहीं है। गुजराती कवि शामलभट्ट ने संवत् १७८५ में संस्कृत के 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' के आधार पर 'सिंहासनबत्तीसी'

१—ए हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर; कृष्णमाचारियर; पृष्ठ ४७३, ४७४

२—कुशललाभ वाचक कहइ सरसचरित प्रसिद्ध।
जो वाचइ जे संभलइ त्रियो मिलइ नवनिद्ध॥

३—विरहवारीश; नवल किशोर प्रेस लखनऊ; पृ० ६

४—भारतीय प्रेमाख्यान की परम्पर; पंडित परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ८०।

५—हिन्दी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण; ना० प्रा० सभा; भाग १

७—हेमचन्द ने अपने 'काव्यानुशासन' में रासक के सम्बन्ध में कहा है कि—'गेयं डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिङ्गक-रामाक्रीड-हल्लीसक-रासक-गोष्ठी-श्रीगदित राग काव्यादि।'[१]

८—अभिनव गुप्त ने हल्लीशक की एक सीधी सी परिभाषा यह दी है कि मंडल में जो नृत्य किया जाय वह हल्लीशक है।[२]

९—रासक को उपरूपक बताते हुए वाग्भट्ट ने लिखा है कि—'डोम्बिका-भाण-प्रस्थान भाणिका-प्रेरण-शिङ्गक-रामाक्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित-रासक-गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि।'[३]

इस परिभाषा से ये तथ्य स्पष्ट होते हैं कि—

१—सामान्यत: ये रूपक गेय हैं।

२—इन रूपकों में से रासक भी एक रूपक है।

३—इनमें संगीत तत्व का पूर्ण समावेश है।

४—इनमें नृत्य व अभिनय भी सन्निहित होता है।

१०—यशोधर-कृत 'कामशास्त्र' की 'जयमंगला' टीका में हमें इस सम्बन्ध की ओर संकेत मिलता है। हल्लीशक की वह परिभाषा इस प्रकार देता है—'मंडल में स्त्रियों द्वारा, जहाँ नृत्य होता है और नायक केवल एक होता है, उसे हल्लीशक कहते हैं। प्रमाण में वह उदाहरण भी गोपियों व हरि का देता है।[४]

११—'उपदेश रसायन रास' के टीकाकार श्री जिनपाल उपाध्याय ने अपनी टीका के प्रारंभ में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

चर्चरी रासक प्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।
वृत्ति प्रवृति नाधत्ते प्राय: कोऽपि विचक्षण: ॥[५]

(टीकाकार का तात्पर्य स्पष्ट है कि चर्चरी और रासक ये प्राकृत प्रबंध इतने सहज व सरल हैं कि इन पर कोई भी विद्वान् पुरुष टीका नहीं लिखना चाहता।)

रास, रासय, नाट्य रासक, ताला रासक, लकुटा रासक आदि अनेक संज्ञाओं द्वारा रास-परम्परा पुष्ट हुई है। अनेक विद्वानों ने इन विभिन्न रूपों की विस्तृत व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ की हैं।

१२—श्री मद्भागवत के तो पाँच अध्यायों का नाम ही 'रासपंचाध्यायी' है।[६]

१—हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन; पृ० ४४५-४४६।
२—मण्डलेन तु यन्नृत्यं हल्लीशकमिति स्मृतम्।
३—वाग्भट्ट कृत काव्यानुशासन; पृ० १८०।
४—मण्डलेन च यत्स्त्रीणां नृत्तं हल्लीशकं तु तत्।
नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरि: ॥
५—अपभ्रंश काव्य त्रयी; श्री लालचंद भगवान गांधी; भूमिका पृ० २९।
६—श्री मद्भागवत; दशम स्कन्ध।

१३—अब्दुल रहमान रचित 'संदेश रासक' में रास की जगह 'रासय' या 'रासउ' मिलता है। यह 'रासय' शब्द संस्कृत 'रासक' का अपभ्रंश रूप है।

१४—उपदेशों के गेय संग्रहों को भी रास की संज्ञा दी जाती थी यथा—जैनमुनि श्री जिनदत्त सूरि रचित 'उपदेश रसायन रास' जो अपभ्रंश की रासकृति है।

१५—शुभंकर ने तो गोप क्रीड़ाओं को ही रास कहा है—'केचिद्वदन्ति गोपानां क्रीडा रासकमित्यपि।'

१६—जयदेव तो रास की परिभाषा—'रासे हरिहर सरस वसंते' करते हैं।

१७—जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री अगरचंद नाहटा ने लिखा है कि—'उपदेश रसायन रास' के छत्तीसवें पद्य में 'ताला रास' और 'लकुटा' या 'लडड़ा रासु' नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख किया गया है।'[1]

यथा—

ताला रासु वि दिंति रयणिहिं। दिवसिवि लड़ड़ा रसु सहुँ पुरिसिहि।

१८—हेमचंद्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में गेय रासक के विकसित स्वरूप को 'राग-काव्य' की संज्ञा दी है—

लयान्तर प्रयोगेण रागैश्चापि विचित्रतम्।
नाना रसं सुनिर्वाह्यं कथं काव्यं इति स्मृतम्॥[2]

अर्थात् विभिन्न लयों के प्रयोगों तथा रागों से विचित्र रूप से निर्मित हुए विभिन्न कथाओं को 'काव्य' कहते हैं। वर्तमान युग में भी यह रूप बैलेड अथवा नृत्य रूपक में मिलता है जिसमें एक निश्चित कथा का ताना बाना होता है। अतः इससे 'रासक' की कथात्मकता तथा गीतिमयता की ओर संकेत स्पष्ट होता है।

१९—'उपदेश रसायन रास' के टीकाकार ने राग या गीतों की भाँति गाए जाने वाले तत्व की भी सूचना दी है तथा रास में अनेक छंदों का होना भी बताया है—

अत्र पद्धटिकाबन्धे मात्राषोडशपादगाः।
अयं सर्वेषु रागेषु गीयते गीत कोविदैः॥[3]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि प्राकृत भाषाओं में चर्चरी और रासक नामों से प्रबंधों का सर्जन होता था जिनकी कविता पर्याप्त सरल या देशी संगीत से ओत-प्रोत होती थी और इन प्रबंधों में से 'गीत कोविद' नामक प्रबन्ध को अनेक रागों में गाया जा सकता था।

२०—प्रसिद्ध विद्वान् वाग्भट्ट ने 'रासक' शब्द के लक्षणों को और भी अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया है :—

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका; वर्ष ५८ अंक ४: 'प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएँ', लेखक श्री अगरचंद नाहटा; पृ० ४२०।

२—हेमचंद्र कृत काव्यानुशासनः पृ० ४४९।

३—अपभ्रंश काव्यत्रयी; श्री गांधी; भूमिका; पृ० २९।

का एक गुजराती रूप प्रस्तुत किया था जिसकी २६ वीं कहानी माधवानल कामकंदला की है।[1] किन्तु 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका सिंहासनम्' के किसी संस्करण में यह कथा हमें नहीं मिली।

हारवर्ड ओरियंटल सिरीज के २६-२७ ग्रन्थ में 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का संपादन श्री एजर्टन ने 'विक्रम एडवेंचर्स' के नाम से किया है। उन्होंने उसमें 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' के चार विभिन्न पाठों का उपयोग किया है, किन्तु उनमें माधवानल कामकंदला की कहानी नहीं है। कलकत्ता से 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका सिंहासनम्' का एक संस्करण श्री जीवनानन्द सागर ने प्रकाशित कराया था। उसका द्वितीय संस्करण सन् १६१६ ई० में छपा था। इस प्रति में माधवानल कामकंदला की कथा नहीं है।

अतः यह कहना बड़ा कठिन है कि साहित्य के सिंहासन पर यह कथा सबसे पहले कब सुशोभित हुई। संभव है 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' की बाद की किसी प्रति में माधवानल कामकंदला की कथा उसका अधिक प्रचार देखकर जोड़ दी गई हो। हिन्दी, गुजराती तथा मराठी कवियों ने यह कथा आनन्दधर से ली अथवा 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' से ली इस पर अभी और खोज करने की आवश्यकता है।

१—गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज (माधवानल कामकंदला प्रबन्ध; भूमिका, पृ० ६; १०)

रास-परंपरा और भरतेश्वर बाहुबली रास

हरिशंकर शर्मा, एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

रास-परम्परा बहुत ही प्राचीन परम्परा है। इस परम्परा का निर्वाह करने वाली अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, जो 'रास' संज्ञक हैं। रास-परम्परा का प्रारंभिक काल अपभ्रंश काल कहा जा सकता है। यों संस्कृत काव्यों में भी रास की परम्परा सुरक्षित थी, पर अधिकतर रचनाएँ अपभ्रंश से ही प्रारंभ हुई हैं।

हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक रास रचनाएँ उपलब्ध होने का श्रेय आदि काल को है और आदि काल में अनेक रास संज्ञक रचनाओं की रक्षा का श्रेय जैन साहित्य को है। ये सभी रास आदि कालीन हिन्दी जैन रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में प्राचीन राजस्थानी और पुरानी या जूनी गुजराती की अनेक रचनाएँ सम्मिलित हैं। तत्कालीन उपलब्ध रचनओं में रास रचनाओं की संख्या ही सबसे अधिक है, और यों सरलता से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश परम्परा के बाद रास-परम्परा की रक्षा इसी हिन्दी जैन साहित्य ने की है।

रास-परम्परा के अनेक रूपों का अध्ययन, तथा रास की विभिन्न परिभाषाओं का परिशीलन हम अनेक स्रोतों से कर सकते हैं। वे अग्राङ्कित हैं—

१—भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में 'रास' शब्द का उल्लेख किया है। रास का सम्बन्ध क्रीड़ा नृत्य से स्पष्ट करते हुए उन्होंने इसे 'क्रीडनीयक' कहा है।[1]

२—धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में रास पर प्रकाश डाला है।[2]

३—महाराज भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' और 'शृंगार प्रकाश' में भी 'रास' संज्ञा का उल्लेख मिलता है।

४—वाग्भट्ट ने ७ वीं शताब्दी में रास को एक उपरूपक विशेष कहा है।

५—काम सूत्र के प्रणेता वात्स्यायन ने लिखा है कि–'हल्लीशक क्रीडनकैर्गायनैः'। संभवतः इस समय तक हल्लीशक अथवा रासक नृत्य के साथ गायन का भी आयोजन होने लगा था।

६—भाव प्रकाशनकार शारदातनय ने रासक में नायिकाओं की संख्या सोलह, बारह तथा आठ होना लिखा है—पिण्डी बंध के साथ उपर्युक्त संख्या में जिस नृत्य में नायिका नाचती है उसे 'रासक' कहते हैं।[3]

१—देखिए नाट्यशास्त्र; भरतमुनि—'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत'—प्रथम अध्याय

२—दे० धनंजयकृत दशरूपक

३—षोडशो द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबंधादि विन्यासैः रासके तदुदाहृतम्॥

२८—प्रो० विजयराय वैद्य ने रासो के अनुप्रास युक्त दोहा चौपाई छंदों तथा विविध रासों में रचे कथात्मक या चरित प्रधान लम्बे काव्य को रास कहा है।[१]

२९—डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने 'संदेश रासक' की भूमिका में रासक की विशेष चर्चा की है और उसे अनेक छंदों से युक्त एक छन्द विशेष कहा है।[२]

३०—श्री अगरचंद नाहटा ने रासक शब्द के विविध प्रयोगों पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

(१) पीछे रास, रासु, अथवा रासउ शब्द प्रधानतया कथा काव्यों के लिए रूढ़ सा हो गया, और रस प्रधान रचना रास मानी जाने लगी।

(२) रास एक छंद विशेष भी है।

(३) राजस्थानी में जो परवर्ती रासो मिलते हैं वे युद्ध वर्णनात्मक काव्य के भी सूचक हैं। इसी कारण राजस्थानी में रासो शब्द का प्रयोग लड़ाई झगड़े या गड़बड़ घोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है, परन्तु प्राचीन रचनाओं के नामों में तो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है।

(४) सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १८ वीं शती की कुछ विनोदात्मक रचनाओं में 'रासौ' और 'रासो' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। 'उंदर रासो' और 'मांकड रासो' आदि ऐसे ही रास हैं।[३]

३१—श्री श्याम बिहारी गोस्वामी के शब्दों में 'रास एक नृत्य विशेष था और एक प्रकार का काव्य और उपरूपक भी।'[४]

३२—रत्नावली नाटिका में 'रास' को गीत नाट्य की संज्ञा दी गई है।

३३—गुजराती के 'गरबा' और राजस्थानी के 'घूमर' नृत्य को भी रास संज्ञा ही दी जाती है।

उक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि (१) रास, रासउ, रासक या रासो अनेक नामों तथा रूपों वाली विविध रचनाएँ हैं।

(२) इसके भेद इस प्रकार हो सकते हैं :—

१—रास, २—तालरास, ३—लकुटारास, ४—राजक या उपरूपक, ५—नृत्यरूपक, ६—गेय नाट्य

(१) रास की विविध परिभाषाएँ ऊपर दी हैं। यह एक छन्द विशेष हैं।

(२) तालरास—तालियों के आधार पर किया जाता है।

१—गुजराती साहित्य की रूपरेखा; प्रो० विजयराय कृत; पृ० २०।

२—संदेशरासक; प्रस्तावना; डा० भायाणी लिखित

३—नागरी प्रचारिणी पत्रिका; सं० २०११, अंक ४; पृ० ४२० पर नाहटा लिखित प्रा० भा० का० वि० सं० लेख।

४—त्रिपथगा; अक्टूबर सन् १९५७; पृ० ५३ पर श्री शरण बिहारी गोस्वामी लिखित 'स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण' लेख।

अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
आचतु:षष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धते ॥[१]

इससे यह परिणाम निकाले जा सकते हैं कि:—

(१) रासक मसृण रचनाएँ हैं ।
(२) इसमें अनेक नर्त्तकियाँ होती हैं ।
(३) यह उद्धत गेय रूपक हैं ।
(४) अनेक तालों से सुशोभित हैं ।
(५) इसमें एक निश्चित लय होती है ।
(६) क्रीड़ा करने वाले युगलों (जोड़ियों) की संख्या ६४ तक होती है ।[२]

२१—श्री अगरचंद नाहटा ने लिखा है कि—'जैनमन्दिरों में श्रावक आदि लोग रात्रि के समय तालियों के साथ (ताल देकर) रासो को गाया करते थे, उसमें जीव हिंसा की संभावना के कारण रात्रि में ताला रास का निषेध किया गया है। इसी प्रकार दिन में पुरुषों के स्त्रियों के साथ लगुड़ा रास करने (डंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी अनुचित बताया गया है। जैन मन्दिरों में ये रास १४वीं शती तक खेले जाते थे।'

२२—शौरसेनी प्राकृत में भी रास साहित्य का उल्लेख मिलता है ।[३] पर श्री मुन्शी इस तथ्य को असंगत और आधारहीन मानते हैं ।

२३—श्री नाहटा तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए यह प्रमाण देते हुए लिखते हैं कि सं० १३०० वि० के लगभग जिनेश्वर सूरि के श्रावक जगडू रचित 'सम्यकत्व माई चउपई' में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

ताला रासु रयणि नहिं देइ, लगुडा रसु मूलह वारेइ ।[४]

२४—कई विद्वान् 'रसानां समूहो रास' मानते हैं ।

२५—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि रासक वस्तुत: एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है ।[५]

२६—शार्ङ्गधर १२०० ई० के आसपास सौराष्ट्र की नारियों में रास नृत्य का उल्लेख करते हैं ।[६]

२७—प्रसिद्ध विद्वान् लक्ष्मणमणि ने रास क्रीड़ा के लक्षणों का उल्लेख करते हुए रास को 'केऽपि उत्तालताकुलं रासकम्'[७] परिभाषा दी है ।

१—वाग्भट्ट का काव्यानुशासन; पृ० १८० ।
२—ना० प्र० प०; वर्ष ५८ अं० ४ में श्री अगरचंद नाहटा का लेख; पृ० ४२० ।
३—Gujarati and its literature by K. M. Munshi; page 87.
४—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह-मुनि जिनविजय; पृ० ८० ।
५—हिन्दी साहित्य का आदि काल; श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० १००
६—संगीत रत्नाकर; शार्ङ्गधर ।
७—Gujarati and its literature by K. M. Munshi; page 88.

२८—प्रो० विजयराय वैद्य ने रासो के अनुप्रास युक्त दोहा चौपाई छंदों तथा विविध रासों में रचे कथात्मक या चरित प्रधान लम्बे काव्य को रास कहा है।[१]

२९—डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने 'संदेश रासक' की भूमिका में रासक की विशेष चर्चा की है और उसे अनेक छंदों से युक्त एक छन्द विशेष कहा है।[२]

३०—श्री अगरचंद नाहटा ने रासक शब्द के विविध प्रयोगों पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

(१) पीछे रास, रासु, अथवा रासउ शब्द प्रधानतया कथा काव्यों के लिए रूढ़ सा हो गया, और रस प्रधान रचना रास मानी जाने लगी।

(२) रास एक छंद विशेष भी है।

(३) राजस्थानी में जो परवर्ती रासो मिलते हैं वे युद्ध वर्णनात्मक काव्य के भी सूचक हैं। इसी कारण राजस्थानी में रासो शब्द का प्रयोग लड़ाई झगड़े या गड़बड़ घोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है, परन्तु प्राचीन रचनाओं के नामों में तो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है।

(४) सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १८ वीं शती की कुछ विनोदात्मक रचनाओं में 'रासौ' और 'रासो' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। 'उंदर रासो' और 'मांकड रासो' आदि ऐसे ही रास हैं।[३]

३१—श्री श्याम बिहारी गोस्वामी के शब्दों में 'रास एक नृत्य विशेष था और एक प्रकार का काव्य और उपरूपक भी।'[४]

३२—रत्नावली नाटिका में 'रास' को गीत नाट्य की संज्ञा दी गई है।

३३—गुजराती के 'गरबा' और राजस्थानी के 'घूमर' नृत्य को भी रास संज्ञा ही दी जाती है।

उक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि (१) रास, रासउ, रासक या रासो अनेक नामों तथा रूपों वाली विविध रचनाएँ हैं।

(२) इसके भेद इस प्रकार हो सकते हैं :—

१—रास, २—तालरास, ३—लकुटारास, ४—राजक या उपरूपक, ५—नृत्यरूपक, ६—गेय नाट्य

(१) रास की विविध परिभाषाएँ ऊपर दी हैं। यह एक छन्द विशेष हैं।

(२) तालरास—तालियों के आधार पर किया जाता है।

१—गुजराती साहित्य की रूपरेखा; प्रो० विजयराय कृत; पृ० २०।

२—संदेशरासक; प्रस्तावना; डा० भायाणी लिखित

३—नागरी प्रचारिणी पत्रिका; सं० २०११, अंक ४; पृ० ४२० पर नाहटा लिखित प्रा० भा० का० वि० सं० लेख।

४—त्रिपथगा; अक्टूबर सन् १९५७; पृ० ५३ पर श्री शरण बिहारी गोस्वामी लिखित 'स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण' लेख।

(३) लकुटा रास—डंडियों या लकड़ियों की ध्वनि से ।

(४) रासक या उपरूपक—अभिनय प्रधान रास को कहा जाता है ।

(५) नृत्यरूपक—में कथा होती है और नृत्य के आधार पर रास किया जाता है।

(६) गेयनाट्य—उल्लसित संगीत प्रधान नृत्य होता है जिसमें कथा गाई जाती है।

ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है कि आगे चलकर यही रासक अधिक उद्धत होता गया और उसकी क्रीड़ा में दर्प या वीरत्व समाविष्ट हुआ होगा और जब उसकी रण प्रधान प्रवृत्तियाँ बढ़ती गईं तब ये रासक वीरत्व प्रधान काव्य बनते गए और दूसरी ओर कोमल प्रवृत्तियों वाले ये रासक 'रास' रूप में चलते रहे और यह परंपरा आज भी हमें 'फागु' के रूप में सुरक्षित मिलती है। इस प्रकार रास में छन्द, अभिनय, संगीत, नृत्य और भाव आदि तत्वों का समन्वय रहता है।

रास के इन प्रकारों का मूल्यांकन विविध दृष्टियों से किया जा सकता है जिससे उसकी परंपरा के विकास पर प्रकाश डाला जा सके।

यों रास-परंपरा संस्कृत में सफलता से चलती रही है। डॉ० दशरथ शर्मा ने राजस्थान का एक प्राचीनतम रास वि० सं० ६६२ का बताया है जो संस्कृत में है तथा जिसका नाम 'रिपुदारण रास' है।[१] 'रास'[२] का विवेचन करते हुए डॉ० दशरथ शर्मा लिखते हैं कि—अब तक हमें रास की पुरानी परिभाषाओं से ही सन्तोष करना पड़ा है, असली रास और उसके अभिनय का प्राचीन नमूना हमें सर्वप्रथम यही मिला है। 'रिपुदारण रास' संस्कृत में है, किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि इसी तरह के रास अपभ्रंश और प्राकृत में भी वर्तमान रहे होंगे और उनके नर्तन, गान और अभिनय की शैली भी यही होगी।'[३]

अस्तु भागवत आदि ग्रन्थों के आधार पर संस्कृत की रास-परंपरा सरलता से समझी जा सकती है। प्रमुखरूप में अपभ्रंश काल से ही इसका क्रमशः विकास मिलता जाता है। आदि काल में आकर तो यह परंपरा जैन कवियों की निधि ही हो गई। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि रास-परंपरा का विकास जैन मुनियों व विद्वानों का पूर्ण आभारी है तथा रहेगा।

रास-परम्परा के विकास और उद्देश्य का अध्ययन निम्नांकित दृष्टियों से सरलता से किया जा सकता है।

(१) कला की दृष्टि से

(२) छंदों की दृष्टि से

(३) साहित्यिक रूपों की दृष्टि से

(४) विषय की दृष्टि से तथा

(५) धार्मिक दृष्टि से

१—कला की दृष्टि से:—

१—मरुभारती; वर्ष ८ अंक २; में 'रिपुदारण रास' शीर्षक डॉ० दशरथ शर्मा का निबंध; पृ० ५६-५७।

२—साहित्य संदेश; जुलाई, सन् १९५१ में डॉ० दशरथ शर्मा का लेख।

३—मरुभारती; अंक २ वर्ष ८; पृ० ५७, वही लेख।

'रास', जिसे प्राचीन समय में 'रासक' या 'हल्लीशक' कहते थे, नाट्य का एक अंग था। अतः यह रासक नृत्य का एक भेद बताया गया है। कलात्मक दृष्टि से नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत मुनि ने रासक के तीन भेद[1] किए हैं:—

१—तालरासक

२—मण्डल रासक

३—दण्ड रासक

अत: इस परम्परा ने कला के सर्वांगीण रूपों की रक्षा की है।

२—छन्दों की दृष्टि से—रास-परम्परा में कई रास छंदों की दृष्टि से भी लिखे जाते थे। यहाँ तक कि 'रासा' या 'रास' नामक एक छंद ही हो गया, उदाहरणार्थ—'संदेशरासक' में प्रयुक्त 'रास' छंद। और इस प्रकार छंद की दृष्टि से रास या रासक कहलाने वाली रचनाओं के लिए 'छंद' एक विचार-सरणि या कसौटी ही बन गई, उदाहरणार्थ—यदि घत्ता, अडिल्ला, दुल्हस, मात्रा, रड्डा आदि हो तो वह रासक होगा।

१—स्वयंभू ने रासा में घत्ता, ईडुणिया, पद्धडिया, दोहा, चौपाई आदि छन्द बताए हैं।[2]

२—डा० भायाणी के मत से दोहा, ईडुणिया, पद्धडिया, घत्ता, चौपाई, रड्डा, ओढ़सा, अड्डिलादि अनेक छंदों का बहुतायत से प्रयोग करने वाली रचनाओं को रासक नाम दिया जा सकता है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि कालान्तर में रास एक छंद विशेष ही हो गया।

३—साहित्यिक रूपों की दृष्टि से—

साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर रास या रासक एक नृत्यमूलक गेय रूपक लगता है। रासक, नाट्य रासक आदि सूचनाएँ संस्कृत नाट्य शास्त्रों में उपलब्ध होती हैं। इनमें कितने ही रासों का नाम उपरूपक है। ये उपरूपक नृत्य काव्य कहे जाते हैं। हेमचंद्र ने तो इन्हें 'गेयरूपक' संज्ञा दी है। अतः साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर हम अन्त में रास की प्रवृत्तियों के लिए निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) रासक गेय उपरूपक है जिसकी कथा गद्य में कम पद्य में अधिक अर्थात् अधिकांश पद्य में होनी चाहिए।

२—इसमें अनेक नर्तकियाँ हों।

३—विभिन्न रागों का समावेश हो।

४—अनेक छंद हों।

५—लय, ताल और संगीत का सुन्दर समन्वय हो।

६—अनेक प्रकार के अभिनय हों।

७—मण्डलों में विभक्त हों।

८—अनेक युगल हों जो साथ क्रीड़ा करें।

९—पुरुष अलग, स्त्रियाँ अलग अथवा समवेत नृत्य हो।

१—भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र; पृ० ४४५।

२—स्वयंभू कृत छन्दस; अध्याय ८; पृ० ४९-५२।

(३) लकुटा रास—डंडियों या लकड़ियों की ध्वनि से।

(४) रासक या उपरूपक—अभिनय प्रधान रास को कहा जाता है।

(५) नृत्यरूपक—में कथा होती है और नृत्य के आधार पर रास किया जाता है।

(६) गेयनाट्य—उल्लसित संगीत प्रधान नृत्य होता है जिसमें कथा गाई जाती है।

ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है कि आगे चलकर यही रासक अधिक उद्धत होता गया और उसकी क्रीड़ा में दर्प या वीरत्व समाविष्ट हुआ होगा और जब उसकी रण प्रधान प्रवृत्तियाँ बढ़ती गईं तब ये रासक वीरत्व प्रधान काव्य बनते गए और दूसरी ओर कोमल प्रवृत्तियों वाले ये रासक 'रास' रूप में चलते रहे और यह परंपरा आज भी हमें 'फागु' के रूप में सुरक्षित मिलती है। इस प्रकार रास में छन्द, अभिनय, संगीत, नृत्य और भाव आदि तत्वों का समन्वय रहता है।

रास के इन प्रकारों का मूल्यांकन विविध दृष्टियों से किया जा सकता है जिससे उसकी परंपरा के विकास पर प्रकाश डाला जा सके।

यों रास-परंपरा संस्कृत में सफलता से चलती रही है। डॉ० दशरथ शर्मा ने राजस्थान का एक प्राचीनतम रास वि० सं० ९६२ का बताया है जो संस्कृत में है तथा जिसका नाम 'रिपुदारण रास' है।[१] 'रास'[२] का विवेचन करते हुए डॉ० दशरथ शर्मा लिखते हैं कि—अब तक हमें रास की पुरानी परिभाषाओं से ही सन्तोष करना पड़ा है, असली रास और उसके अभिनय का प्राचीन नमूना हमें सर्वप्रथम यही मिला है। 'रिपुदारण रास' संस्कृत में है, किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि इसी तरह के रास अपभ्रंश और प्राकृत में भी वर्तमान रहे होंगे और उनके नर्तन, गान और अभिनय की शैली भी यही होगी।'[३]

अस्तु भागवत आदि ग्रन्थों के आधार पर संस्कृत की रास-परंपरा सरलता से समझी जा सकती है। प्रमुखरूप में अपभ्रंश काल से ही इसका क्रमशः विकास मिलता जाता है। आदि काल में आकर तो यह परंपरा जैन कवियों की निधि ही हो गई। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि रास-परंपरा का विकास जैन मुनियों व विद्वानों का पूर्ण आभारी है तथा रहेगा।

रास-परम्परा के विकास और उद्देश्य का अध्ययन निम्नांकित दृष्टियों से सरलता से किया जा सकता है।

(१) कला की दृष्टि से

(२) छंदों की दृष्टि से

(३) साहित्यिक रूपों की दृष्टि से

(४) विषय की दृष्टि से तथा

(५) धार्मिक दृष्टि से

१—कला की दृष्टि से:—

१—मरुभारती; वर्ष ४ अंक २; में 'रिपुदारण रास' शीर्षक डॉ० दशरथ शर्मा का निबंध; पृ० ५६-५७।

२—साहित्य संदेश; जुलाई, सन् १९५१ में डॉ० दशरथ शर्मा का लेख।

३—मरुभारती; अंक २ वर्ष ४; पृ० ५७, वही लेख।

मोटे रूप में रास की परिभाषाएँ, उसकी परंपरा-विकास के तत्व तथा रचना-उद्देश्य की यही मूलप्रवृत्तियाँ हैं।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो आदि रास-ग्रन्थ मिलते हैं, पर क्योंकि उनकी प्रवृत्ति मूलक प्रामाणिकता ही संदिग्ध है अतः इस धारा में जैन रास ही खरे उतरते हैं।

हमारा आलोच्य ग्रन्थ सं० १२४१ में रचित शालिभद्रसूरि कृत 'भरतेश्वर बाहु बली रास' है। अध्ययन करने पर यह अनुमानित होता है कि यह रास-ग्रंथ अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी (प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती) के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

यह भी कहा जा सकता है कि आदि-कालीन हिन्दी जैन साहित्य की रास-परंपरा का शालिभद्रसूरि कृत यह 'भरतेश्वर बाहु बली रास' सर्वप्रथम रास है।[१]

आदि कालीन हिन्दी जैन साहित्य की यह परंपरा अत्यन्त विशाल है। अब तक इन रासों पर शोध नहीं के बराबर हुई है। कालान्तर में इसी प्रकार के अनेक नूतन ज्ञातव्य जैन काव्यों के स्पष्ट होने की आशा और भी दृढ़ होती जाती है। उक्त रास-परंपरा में यह प्रस्तुत रास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे रास-काव्य का शीर्ष ग्रन्थ कहा जा सकता है।

सम्पादन

इस रास का संपादन श्री मुनि जिनविजय जी ने किया था और सर्वप्रथम 'भारतीय विद्या' में इसका प्रकाशन हुआ।[२] कृति का नाम 'भरतेश्वर बाहु बली रास' है। कर्त्ता जैन श्वेताम्बर के राजगच्छ सम्प्रदाय में हुआ श्री शालिभद्र सूरि है। रचना-काल वि० सं० १२४१, मास फाल्गुन; तिथि पंचमी है।

मुनि जी ने यह संपादन एक ही प्रति के आधार पर किया है। यह प्रति बड़ौदरा के एक प्रवर्त्तक श्री कान्तिविजय के शास्त्र-संग्रह की है। प्रति कागज की। लं० ११$\frac{1}{8}$ इंच × चौड़ाई ४$\frac{1}{2}$"। अनुमानतः ४०० या ५०० वर्ष पुरानी।[३]

अब तक पाटण जैन भंडारों में रासों ग्रन्थों में सबसे पुराना रास 'जम्बू स्वामी रास'[४] ही माना जाता था पर प्रस्तुत रास के प्रकाशन के पश्चात् यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई।

१—अद्यावधि श्री जिनविजय जी तथा गुजराती के विद्वान् भी अभी रचना को सर्वप्रथम रचना मानते हैं पर श्री अगरचंद जी नाहटा ने मुझे यह बताया कि रासों में इससे भी एक प्राचीन रास श्री वज्रसेन सूरि रचित 'भरतेश्वर बाहुबली घोर' है जिसे उन्होंने 'शोधपत्रिका' (उदयपुर) में प्रकाशित किया है। पर क्योंकि यह रचना छोटी है, अतः प्रवृत्तियों का प्रमुखतः प्रतिनिधित्व न कर पाने से 'भरतेश्वर बाहु बली रास' आदि-कालीन हिन्दी जैन साहित्य का सर्वप्रथम रास माना जा सकता है'।

२—भारतीय विद्या; मुनि जिनविजय; भाग २; अंक १; सं० १९९७, पृ० १-१९।

३—वही; प्रस्तावना; पृ० ५।

४—प्राचीन गु० का० संग्रह; मुनि जी द्वारा सम्पादित।

१०—वस्तु में रस का सम्मिश्रण अनिवार्य रूप से हो।

११—अनेक प्रकार के विभिन्न नृत्यों का समावेश हो।

४—विषय की दृष्टि से—आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य के इन रासों के विषय अनेक होते थे। उनके भेद इस प्रकार हैं—

(१) उपदेश मूलक—उपदेश रसायन रास।
(२) चरित प्रधान—पेथड रास।
(३) प्रव्रज्या या दीक्षा मूलक—जम्बू स्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलिभद्र रास।
(४) उत्सव मूलक—
(५) वैभव वीरता मूलक—भरतेश्वर बाहुवली रास।
(६) छन्द प्रधान— „ „ „।
(७) कथा प्रधान—रामायण, महाभारत आदि।
(८) संकीर्तन जन्य—
(९) तीर्थयात्रा मूलक—आबू रास।
(१०) संघवर्णन—समरा रास।
(११) ऐतिहासिक—

प्रसिद्ध गुजराती विद्वान श्री देसाई[1] ने लिखा है कि इन चरित्रों को आधार बनाकर रास रचनाकारों का मूल उद्देश्य धर्म-प्रचार ही रहता था।

५—धर्म की दृष्टि से—रास-परम्परा के विकास में जैन धर्म ने अत्यधिक योग दिया है। अनेक वीतरागी राजपुत्रों तथा जैन मुनियों के दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर भी रासों की क्रीड़ाएँ होती थीं। स्त्री और पुरुष बड़ी श्रद्धा से इन रासों को खेलते थे और अपनी प्रकृति प्रदत्त अनुभूति को संगीत और अभिनय में डुबो कर साकार करते थे।

मुनिवर संन्यास ग्रहण ही नहीं करते थे, उनका संयम श्री के साथ विधिवत् विवाह होता था। रास रचना का मुख्य उद्देश्य आचार्य श्री का **'संजम सिरि'** से वरण कराना ही होता था—उदाहरणार्थ, 'जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह वर्णन रास' इसी प्रकार का रास है। इस शुभ अवसर अथवा पर्व पर उनके अनुयायी श्रावक भला कब मानते, अतः वे उत्फुल्ल होकर नृत्य, लय, ताल, गीत आदि द्वारा आचार्य श्री को श्रद्धाञ्जलि देते थे अतः रास स्वाभाविक रूप से होता था। इस प्रकार जैन धर्म ने इस रास-साहित्य की रचना में अभूत पूर्व योग दिया है।

रास रचना के उद्देश्य को श्री मोहनलाल देसाई ने इस प्रकार अपने ग्रंथ 'गुजराती साहित्य के इतिहास' में स्पष्ट किया है—"चरित्रों के गुणों का वर्णन करने, उनके दोषों को हटाने, यात्रावर्णन करने, कथा-निर्माण करने, मंदिरों का जीर्णोद्धार करने, दीक्षा उत्सव हेतु जय घोषणार्थ आदि के लिए ही इन रास ग्रंथों की रचना की जाती थी। इसके अतिरिक्त वे भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक और चरितमूलक आदि होते थे। जैन रासो-साहित्य जितना ही चरित्रमूलक होता था, उतना ही ऐतिहासिक होता था।"

१—मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत-गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—प्रस्तावना; पृ० ७२-७४।

जो हो, इस विवाद में न पड़कर हमें 'भरतेश्वर बाहुबली' का मूल्यांकन करना है जिससे अनेक शंकाएँ स्पष्ट हो सकेंगीं। प्रस्तुत रास के कर्त्ता श्री शालिभद्र सूरि हैं जो अपने समय के विख्यात जैनाचार्य एवं कवि थे।[१]

कथा रूढ़ि और भरतेश्वर बाहुबली पर रचित साहित्य

भरतेश्वर और बाहुबली पर अनेक प्रकार का साहित्य मिलता है। कथा-रूढ़ि की दृष्टि से भरतेश्वर व बाहुबली दोनों चरितनायक राजपुत्रों ने अनेक लेखकों के काव्य की शोभा बढ़ाई है। अतः यह परम्परा आगे तक सुरक्षित मिलती है। अब तक भरत बाहुबली पर आधारित साहित्य पर श्री गांधी ने विस्तार से विचार किया है। संक्षेप में यह साहित्य इस प्रकार है।[२]

(१) 'जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति' नामक जैन उपाङ्ग सूत्र में भरतवर्ष क्षेत्र नाम के साथ भरत चक्रवर्ती के छः खंडों की विजय का विस्तार में विवेचन है पर उसमें बाहुबली युद्ध का वर्णन नहीं है।

(२) विमल सूरि कृत 'पउम चरित' के चौथे उद्देश्य में ऋषभ जिन चरित के साथ-साथ भरत और बाहुबली के अधिकार की संक्षेप में सूचना मिलती है।

(३) वि० की ५ वीं शताब्दी में श्री संघदास गणि रचित 'वसुदेव हिंडी'[३] नामक प्राकृत मनोहर बृहत्कथा में ऋषभ स्वामी के साथ दोनों वर्णित हैं।

(४) धनेश्वर सूरि के ग्रंथ 'शत्रुञ्जय महावलभी' के तृतीय सर्ग में दोनों के युद्ध का वर्णन है।

(५) वि० सं० ७३३ में जिनदास गणि की प्राकृत भाषा में चूर्णि नामक व्याख्या में दोनों का चरित वर्णित है।

(६) रविषेणाचार्य रचित 'पद्मचरित' (पुराण) में दोनों का युद्ध-वर्णन है।

(७) सं० ११६१ में जयसूरिकृत 'धर्मोपदेशमाला' में, १३ वि० में रचित मुनिदेव सूरि की व्याख्या में भी भरत चरित्र वर्णित हुआ है।

(८) दिगंबर कवि जिनसेन के 'आदि पुराण'[४], महाकवि पुष्पदंत के 'त्रिसट्ठि महा-पुरिस-गुणालंकार' तथा हेमचंद्र के 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र'[५] के प्रथम पर्व भी इस संबंध में उल्लेखनीय हैं।

(९) वि० सं० १२४१ में सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपाल प्रतिबोध'[६] (पृ० २११-२१८) तथा विनय-चंद्र सूरि कृत 'आदिनाथ चरित' में दोनों का वर्णन है।

१—भरतेश्वर बाहुबली रास; श्री गांधी पृ० ६०-६१।

२—वहीं; पृ० ४९-५०।

३—आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला ८०; सम्पादक श्री मुनि चतुर विजय, पुष्पविजय; सं० १९८९; भावनगर जैन आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित।

४—माणिक्य चन्द्र दिगंबर जैन ग्रंथ भाषा समिति द्वारा प्रकाशित ग्रंथ, खंड १ पर्व ४, पृ० ६१-६२।

५—आत्मानन्द जन्म शताब्दी ग्रंथमाला; श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर द्वारा प्रकाशित।

६—गायकवाड़ प्राच्य ग्रंथमाला नं० १४ में प्रकाशित।

श्री मुनि जी का यह पाठ पूर्ण प्रामाणिक है, क्योंकि राहुल सांकृत्यायन ने भी इसी पाठ के उद्धरण दिए हैं।[१] स्वयं मुनि जी एक सफल संपादक तथा अपभ्रंश एवं प्राकृत के विदग्ध विद्वान् हैं।

दूसरी कृति 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' के सम्पादक श्री लालचंद भगवान गाँधी द्वारा सम्पादित है।[२] इन्होंने भी बड़ोदरा के प्राच्य विद्या मन्दिर वाली प्रति तथा जैनाचार्य विजयधर्म सूरि जी (आगरा) के संग्रह की प्रति, जिनको उन्होंने क्रमशः 'क' और 'ख' प्रति कहा है, से सम्पादित किया है।[३]

प्राकृत अपभ्रंश के विद्वान् श्री गाँधी का पाठ भी पूर्ण तथा प्रामाणिक है जिसे उन्होंने विभिन्न पाठान्तरों द्वारा गद्यरूप में प्रकाशित किया है।[४]

अद्यावधि, इस रास के ये दो ही पाठ प्राप्त हैं। दोनों में कहीं कहीं छंद-क्रम में अंतर अवश्य है पर दोनों की प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

'भरतेश्वर बाहु बली रास' का पर्यालोचन प्रस्तुत करने से पूर्व यहाँ दो बातों का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक लगता है—

१—इस रास को गुजराती के विद्वान जूनी या प्राचीन गुजराती का मानते हैं, परन्तु क्योंकि तत्कालीन जूनी गुजराती और प्राचीन राजस्थानी में अंतर नहीं था, पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व इन दोनों प्रदेशों की भाषा एक ही थी, अतः यह कृति प्राचीन राजस्थानी की ही अधिक लगती है। इसके अतिरिक्त भाषा का रूप भी राजस्थानी है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और जूनी गुजराती की तत्कालीन एकरूपता पर विद्वानों के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।[५] और क्योंकि हमारा आलोच्य ग्रन्थ वि० सं० १२४१ का है अतः राजस्थानी गुजराती की पृथकता के विवाद का विषय नहीं ही रह जाता और यह ग्रन्थ सरलता से आदि-कालीन हिन्दी जैन साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है।

२—दूसरी बात देशी भाषाओं की है। निस्संदेह अपभ्रंश की उत्तरकालीन परम्परा में तत्कालीन प्रचलित देशी भाषाओं में अथवा विभाषाओं में यह काव्य लिखा गया है। देशी भाषाएँ अपभ्रंश की उत्तरकालीन विभाषाएँ ही थीं और इसीलिए यह रास पुरानी हिन्दी का ग्रंथ है। स्वर्गीय गुलेरी जी ने अपभ्रंश के उत्तरकालीन स्वरूप को पुरानी हिन्दी ही कहा है।[६] यों इस रास के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट ही नहीं पूर्ण सिद्ध भी हो जाता है कि भाषा में किस प्रकार परवर्ती हिन्दी या पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती की ओर बढ़ने का सहज आग्रह है।

१—हिन्दी काव्यधारा; राहुल सांकृत्यायन; पृ० ३९८-४०८।

२—भरतेश्वर बाहु बली रास; संपादक श्री लालचंद भगवान गाँधी; प्राच्यविद्या मन्दिर बड़ोदरा, वि० सं० ११९७।

३—वही; पृ० ११-१२।

४—वही; पाठ पृ० २ से ८८।

५—पुरानी राजस्थानी; अनुवादक नामवरसिंह; मूललेखक डॉ० एल० पी० टेसीटोरी। राजस्थानी भाषा; श्री सुनीतिकुमार चटर्जी।

६—पुरानी हिन्दी; श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

लोक-साहित्य और संस्कृतिः—

ऊर्मिला की नींद

चा० सूर्यनारायण मूर्ति, एम० ए०, लयोला कालेज, मद्रास

कुछ समय पूर्व तक यह कहा जाता था कि भारतीय इतिहास में कुछ ऐसी अज्ञात नायिकाएँ थीं जिनकी साहित्य-क्षेत्र में उपेक्षा की गई थी और उसका कारण बताया जाता था कि कवियों की दृष्टि उनकी ओर नहीं गई थी। ऊर्मिला और यशोधरा ये दोनों ऐसी ही नायिकाएँ थीं। कवियों के ऊपर यह जो लांछन लगा है उसे मिटाने और साहित्य में उनको समुचित स्थान देकर उनके प्रति न्याय करने के लिए हिन्दी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि श्री मैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' और 'यशोधरा' काव्यों की रचना की थी और सफलतापूर्वक कवि-कर्म को निभाया जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

इधर कुछ समय से लोकगीतों को भी साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा और उसका अध्ययन भी यथेष्ट रूप से हो रहा है। लोकगीतों का आधार प्रायः पौराणिक घटनाएँ ही हुआ करती हैं जिनमें साहित्यिक सौंदर्य बिखरा पड़ा मिलता है। उनका अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि लोकगीतकार कवि और उसका रसास्वादन करके आनन्द मग्न होने वाले लोग इतने कल्पनाशील और सहृदय होते हैं कि महाकवियों और पंडितों से उनका स्तर किसी प्रकार नीचा नहीं रहता। इस प्रकार साधारण जनता को साहित्यिक रसा-स्वादन कराने वाले लोकगीत सब भाषाओं में पाए जाते हैं। तेलुगु भाषा में 'ऊर्मिला की नींद' ऐसा ही एक लोकगीत है जिसमें सती ऊर्मिला का ऐसा मनोरम चरित्र अंकित किया गया है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

रावण वध के बाद राम के अयोध्या लौटने पर उनका राज्याभिषेक होता है और उनका दरबार लगा हुआ रहता है। उस समय सीता बड़ी विनम्रता के साथ श्रीराम से निवेदन करती है कि 'जब हम वनवास के लिए निकल रहे थे तब मेरी बहिन ऊर्मिला भी हमारे साथ आने को तैयार हुई थी। किन्तु लक्ष्मण ने उसे रोका। तब से लेकर आजतक वह सो रही है। अतः लक्ष्मण को कृपापूर्वक उसके पास भेजिए।' यह सुनते ही श्रीराम बहुत आश्चर्यचकित और व्याकुल होते हैं और तुरन्त लक्ष्मण को ऊर्मिला के पास भेज देते हैं। लक्ष्मण बड़े उत्साह और उमंग के साथ ऊर्मिला के शयन-कक्ष में जाते हैं और उसे जगाने का प्रयत्न करते हैं। ऊर्मिला जाग तो जाती है किन्तु आँखें नहीं खोलती क्योंकि उसे भ्रम हो जाता है कि कोई अन्य पुरुष उसे छेड़ने के लिए आया है। अतः वह उसे फटकारती है और आज्ञा

(१०) १४ वीं शती में जिनेंद्र 'रचित पद्मनन्द महाकाव्य'[१], (सर्ग १६-१७), १४०१ में मेरु तुंग रचित 'स्तंभनेन्द्र प्रबंध' में १४३६ में जयशेखर सूरि कृत 'उपदेश चिंतामणि' की टीका में तथा १५३० में गुणरत्न सूरि के 'ऋषभ चरित्र' तथा 'भरतेश्वर बाहु बली पवाडो' में, १६७८ में श्रावक ऋषभदास के 'भरतेश्वर रास' में तथा सं० १७५५ में जिन हर्षमणि के गुजराती 'शत्रुंजय रास' में भरत बाहुबली चरित वर्णित हैं।[२]

वस्तुतः इन दोनों चरितनायकों पर ख्यातवृत्त लिखने की परंपरा क्रमशः १८ वीं शताब्दी तक सुरक्षित मिलती है। उक्त साहित्य की सूचनाओं का तात्पर्य केवल यह है कि इनके आधार पर कथा-रूढ़ियों का अन्तर जाना जा सकता है। तथा आलोच्य ग्रन्थों की सहायता से इनकी कथाओं तथा प्रवृत्तियों का एक तुलनात्मक अध्ययन सरलता से प्रस्तुत किया सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतेश्वर बाहुबली वृत्त प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती आदि में विस्तृत रूप में मिलता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शिल्पकला, चित्रकला तथा अनेक स्मारकों में भी इन दोनों ऐतिहासिक नायकों का चरित्र वर्णित हुआ है—उदाहरणार्थ मैसूर के श्रवण वेलगुल में ५६ फुट के लगभग अद्भुत शिल्प कलामय बाहुबली की ध्यानस्थ खड़ी हुई प्रतिमा है तथा आबू की सं० १०८८ की विमलवसही की शिल्प कला में भरत बाहुबली युद्ध के दृश्य शिल्प-चित्रों में दिखाए गए हैं और भी इसी तरह अनेक स्थानों के उदाहरण दिए जा सकते हैं।[३]

प्रस्तुत रास की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यह एक वीररस पूर्ण प्रबन्ध है। यों शांति और अहिंसा प्रेमी जैनाचार्य वीर और शृंगार का वर्णन नहीं करते हैं पर परंपरा के कारण उन्हें यह भी करना ही पड़ा है। प्रबन्ध काव्य की परंपरा पर हम आगे विचार करेंगे। रास में वीरता का वातावरण है। दर्प और स्वाभिमानपूर्ण उक्तियाँ भरी पड़ी हैं और वीर रस का स्रोत उमड़ा चला आता है। आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी से पुष्ट होकर स्थायी उत्साह की सृष्टि करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सबसे बड़ी मौलिकता और विचित्रता तो यह है कि यह प्रबन्ध काव्य युद्धप्रधान वीर रस पूर्ण होते हुए भी 'निर्वेदांत' है। जैन काव्यों की रास-परंपरा में यह बहुत ही आश्चर्यजनक तथ्य है कि रास या फागु जैसी कई शृंगार प्रधान रचनाओं का अंत भी निर्वेद या शम से परिपूर्ण है।

'भ० बा० रास' का रचना-स्थान कवि ने नहीं दिया है। पर एतदर्थ गुजरात या राजस्थान के किसी भी युद्ध-वीरों के युद्ध-प्रेमी नगर की कल्पना की जा सकती है। राजस्थान सदैव ही युद्ध-वीरों का जन्मदाता और युद्धप्रधान रहा है।

१—वही ग्रंथमाला; नं० ५८ में प्रकाशित।

२—विशेष विस्तार के लिए देखिए श्री ला० भगवान गाँधी द्वारा सम्पादित भरतेश्वर बाहु० रास की प्रस्तावना; पृ० ५३-५६।

३—वही ग्रंथ; पृ० ५७-५८।

लोक-साहित्य और संस्कृतिः—

ऊर्मिला की नींद

चा० सूर्यनारायण मूर्ति, एम० ए०, लयोला कालेज, मद्रास

कुछ समय पूर्व तक यह कहा जाता था कि भारतीय इतिहास में कुछ ऐसी अज्ञात नायिकाएँ थीं जिनकी साहित्य-क्षेत्र में उपेक्षा की गई थी और उसका कारण बताया जाता था कि कवियों की दृष्टि उनकी ओर नहीं गई थी। ऊर्मिला और यशोधरा ये दोनों ऐसी ही नायिकाएँ थीं। कवियों के ऊपर यह जो लांछन लगा है उसे मिटाने और साहित्य में उनको समुचित स्थान देकर उनके प्रति न्याय करने के लिए हिन्दी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि श्री मैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' और 'यशोधरा' काव्यों की रचना की थी और सफलतापूर्वक कवि-कर्म को निभाया जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

इधर कुछ समय से लोकगीतों को भी साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा और उसका अध्ययन भी यथेष्ट रूप से हो रहा है। लोकगीतों का आधार प्रायः पौराणिक घटनाएँ ही हुआ करती हैं जिनमें साहित्यिक सौंदर्य बिखरा पड़ा मिलता है। उनका अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि लोकगीतकार कवि और उसका रसास्वादन करके आनन्द मग्न होने वाले लोग इतने कल्पनाशील और सहृदय होते हैं कि महाकवियों और पंडितों से उनका स्तर किसी प्रकार नीचा नहीं रहता। इस प्रकार साधारण जनता को साहित्यिक रसास्वादन कराने वाले लोकगीत सब भाषाओं में पाए जाते हैं। तेलुगु भाषा में 'ऊर्मिला की नींद' ऐसा ही एक लोकगीत है जिसमें सती ऊर्मिला का ऐसा मनोरम चरित्र अंकित किया गया है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

रावण वध के बाद राम के अयोध्या लौटने पर उनका राज्याभिषेक होता है और उनका दरबार लगा हुआ रहता है। उस समय सीता बड़ी विनम्रता के साथ श्रीराम से निवेदन करती है कि 'जब हम वनवास के लिए निकल रहे थे तब मेरी बहिन ऊर्मिला भी हमारे साथ आने को तैयार हुई थी। किन्तु लक्ष्मण ने उसे रोका। तब से लेकर आजतक वह सो रही है। अतः लक्ष्मण को कृपापूर्वक उसके पास भेजिए।' यह सुनते ही श्रीराम बहुत आश्चर्यचकित और व्याकुल होते हैं और तुरन्त लक्ष्मण को ऊर्मिला के पास भेज देते हैं। लक्ष्मण बड़े उत्साह और उमंग के साथ ऊर्मिला के शयन-कक्ष में जाते हैं और उसे जगाने का प्रयत्न करते हैं। ऊर्मिला जाग तो जाती है किन्तु आँखें नहीं खोलती क्योंकि उसे भ्रम हो जाता है कि कोई अन्य पुरुष उसे छेड़ने के लिए आया है। अतः वह उसे फटकारती है और आज्ञा

देती है कि वह अपने इस दुष्प्रयत्न से विरत होकर चला जाय; अन्यथा उसकी जान पर आ बनेगी। तब लक्ष्मण प्रमाण देकर अपने को लक्ष्मण सिद्ध करते हैं और आँसू बहाते हुए कहते हैं कि तुम्हारे वियोग में मैंने इन चौदह वर्षों में निद्रा और आहार छोड़ दिया है और अब जब मैं तुम्हारे पास आता हूँ तो तुम मुझे कोई अन्य पुरुष समझ रही हो। तब अपने जीवन को व्यर्थ समझकर वे अपना अंत करने के लिए तलवार निकालते हैं। तुरन्त ऊर्मिला उठ बैठती है और अपने पति के चरणों पर गिर पड़ती है। लक्ष्मण प्रेम के साथ उसे उठाकर गले लगाते हैं। उसके बाद ऊर्मिला का उलाहना, लक्ष्मण का उत्तर, दोनों का अभ्यंग स्नान, अलंकार, भोजन, शांता और सीता का हास-परिहास या नोक-झोक, लक्ष्मण और ऊर्मिला का शयनकक्ष में प्रवेश आदि का सुन्दर वर्णन होता है जिसके अन्त में यह फल बताया गया है कि इस गीत को गाने वालों और सुनने वालों को लक्ष्मण विष्णु लोक प्रदान करते हैं। यह है इस लोकगीत का संक्षिप्त सारांश।

अब देखा जाय कि इसमें ऊर्मिला का चरित्र कैसा है? उसका जो चित्र इसमें झलकता है वह उस चित्र से सर्वथा भिन्न है जो उसको लेकर लिखे गए काव्य साहित्य में पाया जाता है। उसके चरित्र की पहली झलक हमें तब मिलती है जब सीता राम से कहती हैं कि 'जब हम वनवास के लिए जा रहे थे तब प्यारे देवर के साथ मेरी बहन ऊर्मिला भी चलने को तैयार हुई थी, किन्तु लक्ष्मण ने उसे मना किया और तब से वह बेचारी शय्या पर सोई पड़ी है।' ऊर्मिला की पति-भक्ति और प्रेम असाधारण हैं। यहाँ ऊर्मिला पति-वियोग में न रोती-कलपती है और न किसी पारिवारिक या सामाजिक कार्य में सम्मिलित होती है, ज्योंही उसके पति वन चले जाते हैं त्योंही वह मूर्च्छित हो जाती है और फिर तब जागती है जब चौदह लम्बे वर्षों के बाद स्वयं पति आकर उसे जगाते हैं। उसका शरीर भले ही अयोध्या में पड़ा रहा हो किन्तु उसके प्राण मानों लक्ष्मण के साथ ही वन में गए थे और उन्हीं के साथ लौट आए थे जिससे उसके अतुलनीय पति-प्रेम के विषय में यही सिद्ध होता है कि ऊर्मिला का जीना और मरना लक्ष्मण के साथ ही लगा हुआ है। उसने सशरीर अयोध्या में रह कर पति की आज्ञा का पालन किया और अपने प्राणों को लक्ष्मण के साथ भेजकर अपने उच्चतम प्रेम का परिचय दिया। उसके लिए इस संसार में और कोई वांछनीय वस्तु नहीं थी। पति की अनुपस्थिति में उसका जीना व्यर्थ था। साहित्यिक रीतिपरक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ऊर्मिला की यह नींद विरहातुरा नायिका की वह मूर्च्छावस्था है जो ऊर्मिला को पति-वियोग के श्रवण मात्र से ही धर दबोचती है और उसे चौदह वर्षों तक जड़ी भूत बनाए रखती है। जहाँ तक पति-वियोग के प्रभाव का संबंध है, ऊर्मिला सीता से भी एक कदम आगे बढ़ी हुई है। रावण से हरी जाकर अपने पति से पुनर्मिलन के समय तक सीता सचेतन तो थी, यद्यपि वियोग-व्यथा से वह भी सूखकर काँटा हो गई थी। अब ऊर्मिला के इस चित्र के साथ गुप्तजी की यशोधरा की तुलना करके देखा जाय। काव्य दृष्टि से देखा जाय तो ऊर्मिला और यशोधरा दोनों की परिस्थिति में बड़ा अन्तर है। ऊर्मिला को कुछ समय के बाद पति-मिलन की आशा थी लेकिन यशोधरा को ऐसी कोई आशा नहीं थी। फिर भी वह पति से पुनर्मिलन तक मान किए बैठी रहती हैं। इन दोनों में समानता है पति के पुनर्दर्शन की प्राप्ति में। लक्ष्मण ऊर्मिला को वहीं जाकर जगाते हैं जहाँ वे उसे छोड़ जाते हैं और भगवान् तथागत भी यशोधरा को उसी कक्ष में जाकर आशीर्वाद देते हैं जहाँ

वे उसे बच्चे के साथ छोड़ जाते हैं। यह तो उस स्त्री की पुरुष पर विजय है जिसके प्रति अन्याय किया गया है।

देखिए, लक्ष्मण ऊर्मिला को किन शब्दों में जगाते हैं। वे कहते हैं 'हे सुन्दरी, चंद्रमा तुम्हारी सेवा करने आया है और कहता है कि पान की लालिमा से रहित अपने होंठों और दाँतों की कांति दिखाकर अमृत बरसाती हुई और मेरे मन को जुड़ाती हुई बोलो। मैं तुम्हारे चरणों की सेवा करूँगा। तुम जागो।' इन शब्दों से ध्वनित होता है कि चौदह वर्षों तक निद्रावस्था में बिना कुछ खाए पिए रहने पर भी ऊर्मिला का सौंदर्य वैसा ही बना रहा जैसा पहले था और चंद्रमा इस सौंदर्याधिक्य के कारण विजित होकर ऊर्मिला की सेवा करने को प्रस्तुत है। यहाँ निद्रित ऊर्मिला के सौंदर्य का सरस वर्णन करते हुए उसकी सेवा करने की अपनी इच्छा भी निवेदन के रूप में लक्ष्मण प्रकट करते हैं मानों उसके प्रति किए गए अन्याय का बदला चुकाना चाहते हों। ऐसी अलंकार-योजना और वाग्विदग्धता तेलुगु के लोकगीतों में बिखरी पाई जाती है जो इस बात का प्रमाण है कि अपढ़ जनता की कल्पना भी सरस और साहित्यिक होती है, यद्यपि उनमें साहित्य का आज का सा ढिंढोरा नहीं पीटा जाता।

अब देखिए, ऊर्मिला पर-पुरुष के भ्रम में पड़कर किन शब्दों में लक्ष्मण को फटकारती है। वह कहती है कि 'आप कौन हैं जो इस समय एकांत में मुझे छेड़ने यहाँ तक आए हैं? मेरे पिता जी महाराज जनक यदि यह बात जान जायँ तो आपको दंड दिए बिना नहीं रहेंगे। मेरे जीजा जी यदि यह बात सुनें तो आपकी जान की ख़ैर नहीं। मेरी जीजी के देवर के कानों में यदि यह बात पड़ी तो समझिए, आपको इस संसार में रहने नहीं देंगे। अब मैं क्या करूँ? प्रतिष्ठित कुल में कलंक लग गया है। पराई स्त्री की इच्छा करके ही तो इंद्र का शारीरिक सौंदर्य नष्ट हो गया है। यह सब जानते हुए भी आप यहाँ तक आए हैं? क्या आपके मेरे समान बहनें नहीं हैं?'

यह फटकार इस बात का सूचक है कि ऊर्मिला को पति-वियोग-जनित निद्रावस्था में भी अपनी कुल-मर्यादा का कितना ख्याल था। यहाँ अपने पति का नाम न लेकर जिस विदग्धतापूर्ण ढंग से ऊर्मिला उसका बोध कराती है—मेरी जीजी के देवर कहकर—उससे यह कहा जा सकता है कि ऊर्मिला का चरित्र भारतीय स्त्री-जनोचित नैसर्गिक अलंकार रूपी लज्जा से उसी प्रकार विभूषित है जिस प्रकार हिन्दी के अमर कवि महात्मा तुलसीदास जी द्वारा राम वनगमन के समय चित्रित भगवती सीता का लज्जावनत मनोरम चित्र शोभित है जब ग्राम वधूटियाँ सीता से राम का परिचय पूछती हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में पाई जाने वाली ऐसी साहित्यिक और चरित्र संबंधी समान विशेषताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि समग्र भारत की संस्कृति एक है, यद्यपि बाहरी आचारों में थोड़ा बहुत अंतर भले ही पाया जाता हो।

अब ऊर्मिला की फटकार का उत्तर देते हुए लक्ष्मण कहते हैं कि 'मैं ही तो राजा जनक का दामाद और कमलजा सीता का देवर हूँ। क्या मैं सती सीता और तुम ऊर्मिला को नहीं जानता? जब से मैं तुमको यहाँ छोड़ गया तब से मेरा भी खाना-पीना और सोना छूट गया है। तुम कृपा करके अब जाग उठो, नहीं तो मैं अपयश का भाजन बन जाऊँगा।

यदि तुम नहीं जागोगी तो मैं जीवित नहीं रह सकता।' यों कहकर आँखों से आँसू बहाते हुए वे अपनी तलवार निकालते हैं और अपनी गरदन पर फेरने को तैयार हो जाते हैं। झट ऊर्मिला उठ बैठती है और पति के चरणों में गिर पड़ती है। यहाँ ऊर्मिला के पति लक्ष्मण का अनन्य प्रेम द्रष्टव्य है। उनका कोमल प्रेमी हृदय पत्नी का तिरस्कार नहीं सह सका और वे स्वयं आत्महत्या के लिए तैयार हो गए।

इसके बाद हम मानिनी ऊर्मिला के चित्र की एक हल्की सी झलक देखते हैं। जब वह पति के आलिंगन से छूटकर कहती है–'हटिए भी बड़े आये हैं मनाने वाले! मेरे पिताजी की यह भूल थी कि उन्होंने आपको मानी समझकर अपना दामाद बना लिया। वे नहीं जानते थे कि आप अपना चित्त दूसरी ओर लगाकर समय पड़ने पर पत्नी का निरादर करेंगे।' यहाँ ऊर्मिला इस बात की ओर संकेत करती है कि राम ने सीता को अपने साथ चलने की अनुमति देकर अपने पत्नी-प्रेम और सरस हृदय का परिचय दिया है और लक्ष्मण ने ऊर्मिला को मना करके अपने शुष्क हृदय को प्रकट किया है। लेकिन यह लक्ष्य करने की बात है कि उसके हृदय में सीता के प्रति उसके पति-सान्निध्य-सौभाग्य को देखकर, जो उसको नहीं मिला है, ईर्ष्या का कोई भाव नहीं है। वह मानों मान के द्वारा अपने स्त्रीत्व को पूर्ण बनाना चाहती है। उसका मान तब छूटता है जब लक्ष्मण कहते हैं कि मैं भी चौदह वर्षों तक पत्नी-वियोग सहकर जीवित रहा और भोजन और निद्रा को छोड़ दिया तथा अपने अन्याय का दंड भोग लिया। इससे यह ध्वनित होता है कि जड़ावस्था में रहकर ऊर्मिला ने सहज ही शारीरिक सुखों का जो त्याग किया है वही लक्ष्मण ने चेतनावस्था में रहकर किया है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि लक्ष्मण को पत्नी-वियोग का दुःख कम हुआ। किन्तु वे यह कहकर अपने मन को और ऊर्मिला को सान्त्वना देते हैं कि हमने पिछले जन्मों में किसी पुण्य-दंपति का वियोग कराया होगा जिसका फल हम भोग रहे हैं।

इस मान-मनावन के अनंतर दोनों के अभ्यंग स्नान, वस्त्रालंकार और भोजनादि का जो वर्णन होता है उससे तेलुगु भाषा-भाषी जनता की रहन-सहन पर कुछ प्रकाश पड़ता है जिसके बारे में विचार करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। भोजनोपरांत शांता और सीता का, ननद भाभी का, जो नोक-झोंक, हास परिहास चल पड़ता है वह देखने योग्य है। शांता सीता से कहती है 'हे भाभी, सुनो, एक युवती चौदह वर्षों से सुनहली सेज पर सोई पड़ी है। उस स्वर्ण प्रतिमा की ये सब सुन्दर कलाएँ जाने कहाँ छिपी पड़ी हैं। उसकी आरती उतारो जिससे उसे किसी की नज़र न लगे।' इस पर सीता विनय के साथ कहती हैं कि 'राम-लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न सारी सृष्टि का शासन करने वाले हैं और अभी-अभी उनका राज्याभिषेक भी हुआ है। आपके भाई इतने सुन्दर हैं कि इंद्रलोक की अप्सराएँ भी उनको देखकर मोहित हो जाती हैं। अतः उन भाइयों की आरती उतारी जाय जिससे नज़र न लगे।' सीता की यह बातें सुनकर शांता हँसती हुई उत्तर देती है कि आप चारों बहनें तो बड़ी चतुर और सौंदर्य की पुतलियाँ हैं जिन्होंने हमारे भाइयों को वशीभूत कर लिया। इसलिए आप बहनों की आरती उतारी जानी चाहिए। इस पर जानकी मुस्करा कर शांता से कहती है कि आपसे बढ़कर सुन्दरी कौन हो सकती है जिन्होंने हमारे भाई ऋष्यशृंग को भी, जिसने कभी किसी स्त्री को देखा तक नहीं, अपनी मोहिनी चलाकर अपने हाथ का खिलौना बना लिया है।' इस

पर शांता का उत्तर है कि 'आपकी महिमा की कौन कहे जिन्होंने कमल में जन्म लिया, और फिर पृथ्वी पर न रह कर विष्णु लोक में चली गईं और अब महाराज जनक के यहाँ पैदा होकर हमारे घर को पवित्र करने आ गईं।'

यह ननद-भाभी का कैसा निर्मल हास-परिहास है जो हृदय में मधुरानुभूति पैदाकर आनन्दमग्न कर देता है। ये व्यंग बाण भी ऐसे चलाए जाते हैं कि कहीं दिल को चोट नहीं लगती और हृदय को हल्का कर जीवन सरस बना देते हैं। चिर वियोग पीड़ित लोगों के आनन्दमय पुनर्मिलन के अवसर पर, विशेष कर वहाँ जहाँ ननद-भाभी इकट्ठी होती हैं, ऐसा रसमय वातावरण बन जाता है जिसकी मधुर स्मृतियाँ सारे जीवन को आप्लावित कर उसे नई प्रेरणा प्रदान करती हैं।

इस प्रकार कुछ समय तक हास-परिहास होने के बाद सुहागरात का सा वातावरण वर्णित होता है और लक्ष्मण और ऊर्मिला को शयन कक्ष में भेजा जाता है जहाँ हमें लक्ष्मण का वह रूप मिलता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। लक्ष्मण केवल वीर और अच्छे योद्धा ही नहीं सरस प्रेमी भी हैं। वे उर्मिला का जूड़ा बाँधते हैं और फूलों से सजाते हैं। तब उर्मिला पूछती है कि आप जैसे सिंह पराक्रमी भाइयों के होते हुए भी बहन सीता का अपहरण कैसे हुआ? इसके उत्तर में लक्ष्मण संक्षेप में सीताहरण से लेकर अग्नि-परीक्षा तक की घटनाओं का उल्लेख करते हैं और उर्मिला की शंकाओं का समाधान करते हैं।

इस प्रकार इस लोक गीत में यह देखा जाता है कि यद्यपि पंडितों और शास्त्रीय महाकवियों के लिखित काव्य-साहित्य में उर्मिला को भुला दिया गया है किंतु भारतीय जनता ने मौखिक लोक साहित्य में उसे समुचित स्थान दिया है और उसके प्रति अपनी सहानुभूति दिखाई है।

सांस्कृतिक अध्ययन :—

मध्यदेश-शिष्टदेश से ब्राह्मणों का देशान्तर गमन

वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०, पटना विश्वविद्यालय

पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास सामान्यतया कम प्रकाश में आया है और अभी तक पूर्ण रूप से विश्व के लिए अज्ञात सा है। उस युग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ, उसके उत्थान तथा पतन का रहस्य और उसकी सांस्कृतिक देन इतिहास के पृष्ठों में यथावत् लिखा नहीं जा सका है। मध्यदेशीय संस्कृति के अनेक पहलुओं पर प्रकाश नहीं पड़ सका है। उस युग की चेतना के वास्तविक स्वरूप का बोध हमें तत्कालीन प्रशस्तियों के अध्ययन से होता है। इतिहासकार साधारणतः यह विश्वास स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि हर्षवर्धन के पश्चात् उत्तर भारत की सांस्कृतिक प्रतिभा दीप्तिहीन हो गई थी, परन्तु मध्यदेश की प्रशस्तियों के विश्लेषण से उस युग की संस्कृति सम्यक् रूप में प्रकाशित हो जाती है।

मध्यदेश की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के कारण ही बौधायन तथा वशिष्ठ ने इस भूभाग को आर्यभूमि या शिष्ट मनुष्यों की भूमि कह कर उल्लिखित किया है। यह भाग आध्यात्मिक चेतना के कारण जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। आर्य संस्कृति के प्रसार होने से ही मध्यदेश के आचरण का समादर किया जाता था।

प्रागिदर्शनात्प्रत्यक्कालकवनद्दक्षिणेन हिमवन्तमुदकपरियालमेतदार्यावर्तं तस्मिन् या आचरस्स प्रमाणम् [बौ० ध० सू० १, १, २५ तथा वशिष्ठ १, ८, ६]

मध्यदेश की प्रतिष्ठा के कारण ही बौद्ध-ग्रन्थों में इस मज्झिमदेश की सीमा को मगध से भी पूर्व तक विस्तृत बतलाया गया है। 'महावग्ग' तथा 'सुमंगलविलासिनी' (२,४२६) में इस का विस्तार पूरब में मगध व कजंगल (चम्पा से पूर्व) तक माना जाता है। 'दिव्यावदान' में मज्झिमदेश उत्तरी बंगाल में स्थित पुण्ड्रवर्धन तक विस्तीर्ण कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों के तथा बौद्ध साहित्य के मध्यदेश सम्बन्धी क्षेत्र में असमानता दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि बौद्ध साहित्य में मध्यदेश ब्राह्मण संस्कृति का गढ़ कहा गया है (मज्झिमनिकाय १, पृ० २८५: अं० निकाय १, पृ० १८०) और भगवान् बुद्ध ने अनाथपीडिक के निमंत्रण पर श्रावस्ती में बीस वर्षावास व्यतीत किया था (ई० पू० ५०८-४८४)। परन्तु ब्राह्मण संस्कृति का दुर्ग गिराया नहीं जा सका और इस भूभाग की श्रेष्ठता के कारण ही अथवा पवित्र भूमि समझ कर बौद्धों ने मगध को मज्झिमदेश में [illegible] लिया। साधारणतया मध्यदेश को आर्यावर्त की

संज्ञा दी जाती है। सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृतियों में मगध से पश्चिम तथा सरस्वती के पूर्वी भाग को मध्यदेश के नाम से पुकारा गया है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥
(मनुस्मृति २, २१)

मध्यदेश में आर्य संस्कृति का प्रसार हो चुका था। ब्राह्मण धर्म-सम्बन्धी धार्मिक कृत्य तथा सामाजिक संस्कृति की उन्नति के लिए यह देश प्रसिद्ध था। इन सभी कारणों से मध्य-देश के ब्राह्मणों को भारत में सर्वत्र समादर दिया गया। विभिन्न प्रदेशों के शासकों ने उन्हें निमंत्रित किया था। पूर्वमध्यकालीन लेखों से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है और मध्यदेश से ब्राह्मणों के देशान्तर गमन का प्रवाह समझ में आ जाता है।

पूर्वमध्यकालीन उत्तरी भारत में ब्राह्मणों का देशान्तर गमन एक अपूर्व घटना है। मध्यदेश की उत्कीर्ण प्रशस्तियों का अध्ययन इसको प्रमाणित करता है। उन ब्राह्मणों का समादर बंगाल, मालवा, कालिंजर, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों में उचित रीति से हुआ था। वहाँ जाने पर ब्राह्मणों को अग्रहार दान में दिए गए और योग्यता के अनुसार सरकारी पद भी मिले। बंगाल के पालवंशी नरेश बौद्ध थे परन्तु धार्मिक सहिष्णुता की भावना से भरे थे। पाल लेखों में मध्यदेश से वहाँ जाने वाले ब्राह्मणों का विवरण पाया जाता है। आमगाछी तथा बदल-स्तम्भ प्रशस्तियों में देशान्तर गमन करने वाले ब्राह्मणों के सम्मान का वर्णन मिलता है और विद्वत्ता के कारण दान में भूमि देने का लेख भी उत्कीर्ण है। उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि मध्यदेश से आने वाले गर्ग नामक ब्राह्मण को धर्मपाल ने अपना मन्त्री चुना था और उसी का पुत्र दर्भपाणि देवपाल का मन्त्री था। गर्ग का निवासस्थान पंचाल देश था जहाँ से वह गौड़ देश गया। विग्रहपाल की आमगाछी प्रशस्ति तथा वनगाँव ताम्र-पत्र में कन्नौज से ब्राह्मणों के देशान्तर गमन का वर्णन पाया जाता है [छांदोग्य-शाखाध्यायिने मीमांसाव्याकरणतर्कविद्याविदे कोलाञ्चविनिर्गताय श्री घाट्रक शर्मने—ए० इ० भा० १५, पृ० २९८] दूसरे लेख में 'हस्तिपाद ग्राम विनिर्गताय' का उल्लेख पाया जाता है। यह स्थान गोरखपुर जिले में स्थित था। इसी ग्राम का नाम दीघनिकाय में भी आया है कि भगवान् बुद्ध ने कुशीनगर जाते समय इसी स्थान (हत्थिगम=हस्तिग्राम या हस्तिपाद) से होकर यात्रा की थी। यद्यपि कोलाञ्च तथा हस्तिपाद के सम्बन्ध में गहरा विवाद है परन्तु लेखों के आधार पर यह मानना उचित है कि दोनों मध्यदेश में स्थित थे। उड़ीसा के एक लेख में हस्तिपाद को मध्यदेश में स्थित बतलाया गया है (कुडपुली ताम्रपत्र, महाभवगुप्त, ए० इ० भा० ४, पृ० २५४)। इस प्रकार के कई प्रमाण उपलब्ध हैं। एक स्थान पर शंखपाणि नामक ब्राह्मण के लिए 'मध्यदेश विनिर्गताय' कहा गया है (वेलवा ताम्रपत्र, ए० इ० भा० १२, पृ० ४३) इस प्रकार कन्नौज, श्रावस्ती, गोरखपुर आदि भागों से ब्राह्मणों का देशान्तर गमन प्रमाणित हो जाता है। बंगाल में इनका विशेष समादर था। सेन वंशी शासक लक्ष्मण सेन ने मध्यदेश से बंगाल में जाने वाले (विनिर्गताय) ब्राह्मणों को पर्याप्त दान में भूमि दी जिसका उल्लेख उसके बैरकपुर, नइहटी, गोविन्दपुर, तरपंडिही, अनूलिया, मघाई नगर, सुन्दरवन

के लेखों में पाया जाता है। प्रशस्तियों के अतिरिक्त कुलपञ्जिका के आधार पर कहा जाता है कि आदिसूर नामक राजा ने कन्नौज से ब्राह्मणों को बंगाल में निमंत्रित किया था जिससे बंगाल में कुलीन प्रथा का आरम्भ हुआ। बंगाल के कुलीन ब्राह्मण मध्यदेश से वहाँ गए थे। उनके लिए बंगाल तथा उड़ीसा के लेखों में 'मध्यदेश विनिर्गताय' वाक्य का प्रयोग मिलता है।

परमार राजाओं के लेखों में भी इसी प्रकार का विवरण पाया जाता है। वाक्पति राज द्वितीय के ताम्रपत्र में (इ० ए० भा० ६, पृ० ४८-५४) छब्बीस ब्राह्मणों के नाम उल्लिखित हैं जो मालवा में आकर बसे थे। देशान्तर गमन के कारण उन्हें विशेष सुविधा प्रदान की गई थी। उनमें अधिकतर मध्यदेश से आकर मालवा में बस गए थे [मध्यदेशान्तपातित्यकभट्टग्रामविनिर्गत वशिष्ठगोत्रछांदोग्यशाखिने ब्राह्मण]। उस सूची में तीन ऐसे ब्राह्मणों के नाम उल्लिखित हैं जो कन्नौज तथा उत्तर प्रदेश के देवरिया जिला अन्तर्गत मझौली स्थान से आए थे। उज्जैन के एक लेख से उसी प्रकार के मध्यदेश से मालवा में निवास करने की सूचना मिलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि बङ्गाल के अतिरिक्त मालवा में भी मध्यदेश से ब्राह्मण बसने लग गए थे। परमार दरबार से उन्हें भूमि भी दान में दी गई थी।

चन्देल लेखों का विवेचन भी इसी देशान्तर गमन की पुष्टि करता है कि मध्यदेश के विद्वान् ब्राह्मणों को कालिञ्जर में सम्मानित किया गया और दान में भूमि सहायता के रूप में दी गई थी। उस वंश में त्रैलोक्यवर्मन ने मुसलमानों से राज्य छीनकर अपनी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया था। उसके एक लेख में कालिञ्जर में बसने वाले ब्राह्मणों को दान देने का विवरण मिलता है। वहाँ पर अधिकतर ब्राह्मण मध्यदेश से आए थे। सम्भवतः महमूद के कन्नौज तथा आगरा विजय करने पर मध्यदेश से ब्राह्मणों का देशान्तर गमन हुआ और कालिञ्जर के सुरक्षित भाग में जाकर बस गए। मध्यदेश के शासक यशः कर्णदेव के ताम्रपत्र में ब्राह्मणों के ऐसे निवास को 'ब्रह्मस्तम्ब' की संज्ञा दी गई है (का० इ० इ०, भा० ४, पृ० १६) मध्यप्रदेश में कई 'ब्रह्मस्तम्ब' का उल्लेख पाया जाता है।

मध्यदेश ब्राह्मण-संस्कृति का गढ़ सदा से रहा है और अन्य स्थानों के शासक गण मध्यदेश के ब्राह्मणों को आदरपूर्वक दान देकर प्रतिष्ठा करते थे। अथवा यों कहा जाय कि राजाओं का निमंत्रण पाकर ही मध्यदेश से ब्राह्मण देशान्तर जाने लगे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि जीविका के निमित्त ब्राह्मण देशान्तर गमन करते रहे तथा विभिन्न सम्राटों द्वारा आदर पाकर वहीं रह जाते और योग्यतानुसार ऊँचे पद प्राप्त कर कार्य करते रहे।

देशान्तर गमन का एक और प्रधान कारण था। मुसलमान विजेता मध्यदेश में प्रवेश करते जा रहे थे, इस कारण संस्कृति के संरक्षक ब्राह्मणों को इस्लाम के सम्पर्क से बचने के लिए अन्यत्र जाना आवश्यक था। मध्ययुग में प्रतिहार तथा पाल नरेशों का पारस्परिक युद्ध डेढ़ सौ वर्षों तक चलता रहा। सम्भवतः पाल विजेता धर्मपाल के निमंत्रण पर मध्यदेश से (कन्नौज से) ब्राह्मण बंगाल तक पहुँच गए। राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय तथा बाद में सुल्तान महमूद के आक्रमण से मध्यदेश की स्थिति अस्थिर हो चली थी। कन्नौज ब्राह्मणों

कवि परिचय:—

मराठी कवि मोरोपन्त पराडकर और उनकी १०८ रामायणें

इन्दुप्रकाश पाण्डेय एम० ए०, बम्बई

मराठी-साहित्य की 'पण्डिती' परम्परा के अन्तिम कवि मोरोपन्त भगवद्भक्त, 'पुराणिक' (कथावाचक और कीर्तनकार) काव्यालंकार-विचक्षण, धर्मनिष्ठ, कर्तव्यदक्ष, कुटुम्बवत्सल तथा व्यवहार-कुशल गृहस्थ थे। इन्होंने मराठी में विपुल साहित्य की रचना की। अन्य अनेक महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त इन्होंने १०८ छोटी बड़ी रामायणों की रचना की जिनमें से कुछ रामायणें काव्यकला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

मोरोपन्त का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में १७२१ ई० में हुआ था। बचपन में ही पाध्ये बन्धुओं से संस्कृत भाषा और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। वे बहुत ही कुशाग्र बुद्धि के थे और बहुत छोटी आयु में ही रामायण तथा महाभारत सम्बन्धी आख्यानों पर सुन्दर प्रवचन देने लगे थे। इनकी ख्याति जागीरदार, बाबू जी नाइक, के कानों में पड़ी और उन्होंने मोरोपन्त को उनके जन्म-स्थान, कोल्हापुर के पास पन्हाला, से बारामती बुलवा लिया। बाबूजी नाइक ने उन्हें ५०० रु० वार्षिक वेतन पर पुराणिक व्यवसाय के लिये नियुक्त किया था। बारामती में रह कर मोरोपन्त ने ४०-४२ वर्ष तक यही व्यवसाय किया और इस काल में सैकड़ों काव्य-ग्रन्थों की रचना की। बारामती से दो वर्षों के लिए मोरोपन्त तीर्थयात्रा के लिए उत्तर भारत आए थे। उन्होंने सारा जीवन, पुराणिक व्यवसाय करते हुए बाबू जी नाइक के आश्रय में व्यतीत कर दिया और १७९४ ई० में स्वर्गवासी हुए। उनका जीवन शान्त, संघर्षविहीन और नियमित था।

ज्ञानेश्वर, एकनाथ और नामदेव इत्यादि सन्तों के प्रभाव-स्वरूप भगवतयशोगान के प्रति भक्ति, श्रीधर की भाँति पुराणिक होने के नाते उद्बोधक तथा मनोरंजक शैली, संस्कृत के काव्यशास्त्र और पिंगलशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के कारण अलंकार और रीतिप्रियता, और नाट्यशास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप संभाषणों में चोखापन तथा विन्यास में नाटकीयता मोरोपन्त के काव्य की सामान्य विशेषताएँ हैं। परन्तु भक्त होते हुए भी वे सन्त नहीं थे। प्रतिभा-सम्पन्न पण्डित तथा कवि होते हुए भी उनके काव्य में भावशबलता तथा रसतल्लीनता का कुछ अभाव है। परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ की गई विपुल काव्य-रचना तथा विशिष्ट कलात्मक शैली के कारण मराठी में मोरोपन्त की विशिष्टता तथा प्रमुखता प्राप्त है।

इस दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख आचार्य कवि तथा रीति काव्य के प्रवर्तक महाकवि केशव के साथ मोरोपन्त की तुलना की जा सकती है। मोरोपन्त ने महाकवि केशव की 'रामचन्द्रिका' की भाँति एक 'छन्दो रामायण' की रचना की थी जिसके ५४८ पदों में लगभग ५० प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनेक प्रकार के अलंकारों से सज्जित यह ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' के बहुत निकट आ जाता है। जिस प्रकार केशव ने 'सुखसारु' पाने के लिये 'रामचन्द्रिका' की रचना की थी उसी प्रकार मोरोपन्त ने आत्मोन्नति के लिये भगवच्चरित्र गायन किया था: ("वाटे चरित्र त्यांचे कां हीं आपण तरावया गावे" आदि पर्व, अ० १-८)। परन्तु उनकी काव्य रचना का एक और आनुषंगिक हेतु था लोकरंजन तथा पुराणों का मराठी में भाषान्तर ('स्वल्पांतचि आणतो कथा सारी' आदि पर्व, १-६)। इनकी विपुल काव्य-रचना से कुछ अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए रचनाकाल को चार दशकों में विभाजित कर दिया गया है।

प्रथम दशक—(१७५२ से १७६१ ई०) इस काल में मोरोपन्त ने 'ब्रह्मोत्तरखण्ड', 'श्रीकृष्णविजय' (पूर्वार्ध) 'छन्दोरामायण' अथवा 'साररामायण' तथा कुछ फुटकर रचनाएँ कीं। मोरोपन्त के इस काल के काव्य में संस्कृत महाकाव्य रचना, पाण्डित्य प्रदर्शन तथा चमत्कार की वृत्ति विशेष दिखाई देती है। मोरोपन्त के रचना-काल से लगभग १५० वर्ष पूर्व हिन्दी में रीति-परम्परा के अन्तर्गत इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का उद्भव हुआ था। हिन्दी में पद्माकर का जो रचनाकाल था लगभग वही काल मोरोपन्त का मराठी में था। और जिस प्रकार पद्माकर रीतिकालीन काव्य के अन्तिम श्रेष्ठ कवि थे उसी प्रकार मराठी में मोरोपन्त पण्डिती परम्परा के अन्तिम श्रेष्ठ कवि थे।

द्वितीय दशक—(१७६२ से १७७२ ई०) इस काल में मोरोपन्त ने अपने श्रेष्ठतम काव्य ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें 'संशय रत्नमाला' और 'आर्याकेकावली' सर्वोत्कृष्ट हैं। इसी काल में इन्होंने कुछ और श्लोकबद्ध रचनाएँ, स्तोत्र तथा गीतार्याओं की रचना की। इसी काल में मोरोपन्त ने 'सीता गीत', 'सावित्री गीत', 'रुक्मिणी गीत' जैसी मधुरतम रचनाएँ ओवी छन्द में कीं। मराठी में ओवी छन्द के सुन्दर प्रयोग के लिये ज्ञानेश्वर प्रख्यात हैं, परन्तु मोरोपन्त ने ओवी छन्द के प्रयोग में कम सफलता नहीं प्राप्त की है। जहाँ उन्होंने एक ओर 'संशयरत्नमाला' और 'आर्याकेकावली' जैसी आत्मनिष्ठ सुन्दर काव्य की रचना की, वहीं दूसरी ओर इसी काल में 'निरोष्ठरामायण', 'मन्त्ररामायण' जैसे ग्रन्थों में रचना वैचित्र्य, शब्दालंकार, यमकानुप्रास का बहुलता के साथ प्रयोग किया है। परन्तु इस काल के स्त्री गीति-काव्य सरल, सुगम तथा अकृत्रिम हैं।

तृतीय दशक—(१७७३ से १७८२ ई०) इस काल में मोरोपन्त ने 'आर्याभारत', 'मन्त्र भागवत', 'दशमस्कंध', 'अमृत-मंथन' और 'वामनचरित्र' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। मराठी के कुछ विद्वान आलोचक मोरोपन्त के काव्योत्कर्ष का यही काल मानते है, क्योंकि मोरोपन्त ने इसी काल में अपने श्रेष्ठ ग्रन्थ 'आर्याभारत' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में १७ हज़ार पंक्तियाँ हैं। मोरोपन्त की काव्य-साधना का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यह विविध रसों का सागर है। कवि के समस्त काव्य-गुणों का इस ग्रन्थ में एक स्थान पर दर्शन हो जाता है। परन्तु इसका मूलरस वीर है और इस ग्रंथ का सबसे सुन्दर स्थल युद्धपर्व है जिसमें कर्णपर्व तो मोरोपन्त के समस्त गुणों का समाहार है। कर्ण उनका मानस-पुत्र है। युद्धपर्व में मोरोपन्त

कवि परिचयः—

मराठी कवि मोरोपन्त पराडकर और उनकी १०८ रामायणें

इन्दुप्रकाश पाण्डेय एम० ए०, बम्बई

मराठी-साहित्य की 'पण्डिती' परम्परा के अन्तिम कवि मोरोपन्त भगवद्भक्त, 'पुराणिक' (कथावाचक और कीर्तनकार) काव्यालंकार-विचक्षण, धर्मनिष्ठ, कर्तव्यदक्ष, कुटुम्बवत्सल तथा व्यवहार-कुशल गृहस्थ थे। इन्होंने मराठी में विपुल साहित्य की रचना की। अन्य अनेक महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त इन्होंने १०८ छोटी बड़ी रामायणों की रचना की जिनमें से कुछ रामायणें काव्यकला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

मोरोपन्त का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में १७२१ ई० में हुआ था। बचपन में ही पाध्ये बन्धुओं से संस्कृत भाषा और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। वे बहुत ही कुशाग्र बुद्धि के थे और बहुत छोटी आयु में ही रामायण तथा महाभारत सम्बन्धी आख्यानों पर सुन्दर प्रवचन देने लगे थे। इनकी ख्याति जागीरदार, बाबू जी नाइक, के कानों में पड़ी और उन्होंने मोरोपन्त को उनके जन्म-स्थान, कोल्हापुर के पास पन्हाला, से बारामती बुलवा लिया। बाबूजी नाइक ने उन्हें ५०० रु० वार्षिक वेतन पर पुराणिक व्यवसाय के लिये नियुक्त किया था। बारामती में रह कर मोरोपन्त ने ४०-४२ वर्ष तक यही व्यवसाय किया और इस काल में सैकड़ों काव्य-ग्रन्थों की रचना की। बारामती से दो वर्षों के लिए मोरोपन्त तीर्थयात्रा के लिए उत्तर भारत आए थे। उन्होंने सारा जीवन, पुराणिक व्यवसाय करते हुए बाबू जी नाइक के आश्रय में व्यतीत कर दिया और १७९४ ई० में स्वर्गवासी हुए। उनका जीवन शान्त, संघर्षविहीन और नियमित था।

ज्ञानेश्वर, एकनाथ और नामदेव इत्यादि सन्तों के प्रभाव-स्वरूप भगवतयशोगान के प्रति भक्ति, श्रीधर की भाँति पुराणिक होने के नाते उद्‌बोधक तथा मनोरंजक शैली, संस्कृत के काव्यशास्त्र और पिंगलशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के कारण अलंकार और रीतिप्रियता, और नाट्यशास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप संभाषणों में चोखापन तथा विन्यास में नाटकीयता मोरोपन्त के काव्य की सामान्य विशेषताएँ हैं। परन्तु भक्त होते हुए भी वे सन्त नहीं थे। प्रतिभा-सम्पन्न पण्डित तथा कवि होते हुए भी उनके काव्य में भावशबलता तथा रसतल्लीनता का कुछ अभाव है। परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ की गई विपुल काव्य-रचना तथा विशिष्ट कलात्मक शैली के कारण मराठी में मोरोपन्त को विशिष्टता तथा प्रमुखता प्राप्त है।

इस दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख आचार्य कवि तथा रीति काव्य के प्रवर्तक महाकवि केशव के साथ मोरोपन्त की तुलना की जा सकती है। मोरोपन्त ने महाकवि केशव की 'रामचन्द्रिका' की भाँति एक 'छन्दो रामायण' की रचना की थी जिसके ५४८ पदों में लगभग ५० प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनेक प्रकार के अंलकारों से सज्जित यह ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' के बहुत निकट आ जाता है। जिस प्रकार केशव ने 'सुखसारु' पाने के लिये 'रामचन्द्रिका' की रचना की थी उसी प्रकार मोरोपन्त ने आत्मोन्नति के लिये भगवच्चरित्र गायन किया था: ("वाटे चरित्र त्यांचे कां हीं आपण तरावया गावे" आदि पर्व, अ० १-८)। परन्तु उनकी काव्य रचना का एक और आनुषंगिक हेतु था लोकरंजन तथा पुराणों का मराठी में भाषान्तर ('स्वल्पांतचि आणतो कथा सारी' आदि पर्व, १-६)। इनकी विपुल काव्य-रचना से कुछ अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए रचनाकाल को चार दशकों में विभाजित कर दिया गया है।

प्रथम दशक—(१७५२ से १७६१ ई०) इस काल में मोरोपन्त ने 'ब्रह्मोत्तरखण्ड', 'श्रीकृष्णविजय' (पूर्वार्ध) 'छन्दोरामायण' अथवा 'साररामायण' तथा कुछ फुटकर रचनाएँ कीं। मोरोपन्त के इस काल के काव्य में संस्कृत महाकाव्य रचना, पाण्डित्य प्रदर्शन तथा चमत्कार की वृत्ति विशेष दिखाई देती है। मोरोपन्त के रचना-काल से लगभग १५० वर्ष पूर्व हिन्दी में रीति-परम्परा के अन्तर्गत इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का उद्भव हुआ था। हिन्दी में पद्माकर का जो रचनाकाल था लगभग वही काल मोरोपन्त का मराठी में था। और जिस प्रकार पद्माकर रीतिकालीन काव्य के अन्तिम श्रेष्ठ कवि थे उसी प्रकार मराठी में मोरोपन्त पण्डिती परम्परा के अन्तिम श्रेष्ठ कवि थे।

द्वितीय दशक—(१७६२ से १७७२ ई०) इस काल में मोरोपन्त ने अपने श्रेष्ठतम काव्य ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें 'संशय रत्नमाला' और 'आर्याकेकावली' सर्वोत्कृष्ट हैं। इसी काल में इन्होंने कुछ और श्लोकबद्ध रचनाएँ, स्तोत्र तथा गीतार्याओं की रचना की। इसी काल में मोरोपन्त ने 'सीता गीत', 'सावित्री गीत', 'रुक्मिणी गीत' जैसी मधुरतम रचनाएँ ओवी छन्द में कीं। मराठी में ओवी छन्द के सुन्दर प्रयोग के लिये ज्ञानेश्वर प्रख्यात हैं, परन्तु मोरोपन्त ने ओवी छन्द के प्रयोग में कम सफलता नहीं प्राप्त की है। जहाँ उन्होंने एक ओर 'संशयरत्नमाला' और 'आर्याकेकावली' जैसी आत्मनिष्ठ सुन्दर काव्य की रचना की, वहीं दूसरी ओर इसी काल में 'निरोष्ठरामायण', 'मन्त्ररामायण' जैसे ग्रन्थों में रचना वैचित्र्य, शब्दालंकार, यमकानुप्रास का बहुलता के साथ प्रयोग किया है। परन्तु इस काल के स्त्री गीति-काव्य सरल, सुगम तथा अकृत्रिम हैं।

तृतीय दशक—(१७७३ से १७८२ ई०) इस काल में मोरोपन्त ने 'आर्याभारत', 'मन्त्र भागवत', 'दशमस्कंध', 'अमृत-मंथन' और 'वामनचरित्र' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। मराठी के कुछ विद्वान आलोचक मोरोपन्त के काव्योत्कर्ष का यही काल मानते है, क्योंकि मोरोपन्त ने इसी काल में अपने श्रेष्ठ ग्रन्थ 'आर्याभारत' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में १७ हज़ार पंक्तियाँ हैं। मोरोपन्त की काव्य-साधना का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यह विविध रसों का सागर है। कवि के समस्त काव्य-गुणों का इस ग्रन्थ में एक स्थान पर दर्शन हो जाता है। परन्तु इसका मूलरस वीर है और इस ग्रंथ का सबसे सुन्दर स्थल युद्धपर्व है जिसमें कर्णपर्व तो मोरोपन्त के समस्त गुणों का समाहार है। कर्ण उनका मानस-पुत्र है। युद्धपर्व में मोरोपन्त

कवि परिचयः—

मराठी कवि मोरोपन्त पराडकर और उनकी १०८ रामायणें

इन्दुप्रकाश पाण्डेय एम० ए०, बम्बई

मराठी-साहित्य की 'पण्डिती' परम्परा के अन्तिम कवि मोरोपन्त भगवद्भक्त, 'पुराणिक' (कथावाचक और कीर्तनकार) काव्यालंकार-विचक्षण, धर्मनिष्ठ, कर्तव्यदक्ष, कुटुम्बवत्सल तथा व्यवहार-कुशल गृहस्थ थे। इन्होंने मराठी में विपुल साहित्य की रचना की। अन्य अनेक महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त इन्होंने १०८ छोटी बड़ी रामायणों की रचना की जिनमें से कुछ रामायणें काव्यकला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

मोरोपन्त का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में १७२१ ई० में हुआ था। बचपन में ही पाध्ये बन्धुओं से संस्कृत भाषा और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। वे बहुत ही कुशाग्र बुद्धि के थे और बहुत छोटी आयु में ही रामायण तथा महाभारत सम्बन्धी आख्यानों पर सुन्दर प्रवचन देने लगे थे। इनकी ख्याति जागीरदार, बाबू जी नाइक, के कानों में पड़ी और उन्होंने मोरोपन्त को उनके जन्म-स्थान, कोल्हापुर के पास पन्हाला, से बारामती बुलवा लिया। बाबूजी नाइक ने उन्हें ५०० रु० वार्षिक वेतन पर पुराणिक व्यवसाय के लिये नियुक्त किया था। बारामती में रह कर मोरोपन्त ने ४०-४२ वर्ष तक यही व्यवसाय किया और इस काल में सैकड़ों काव्य-ग्रन्थों की रचना की। बारामती से दो वर्षों के लिए मोरोपन्त तीर्थयात्रा के लिए उत्तर भारत आए थे। उन्होंने सारा जीवन, पुराणिक व्यवसाय करते हुए बाबू जी नाइक के आश्रय में व्यतीत कर दिया और १७९४ ई० में स्वर्गवासी हुए। उनका जीवन शान्त, संघर्षविहीन और नियमित था।

ज्ञानेश्वर, एकनाथ और नामदेव इत्यादि सन्तों के प्रभाव-स्वरूप भगवतयशोगान के प्रति भक्ति, श्रीधर की भाँति पुराणिक होने के नाते उद्बोधक तथा मनोरंजक शैली, संस्कृत के काव्यशास्त्र और पिंगलशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के कारण अलंकार और रीतिप्रियता, और नाट्यशास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप संभाषणों में चोखापन तथा विन्यास में नाटकीयता मोरोपन्त के काव्य की सामान्य विशेषताएँ हैं। परन्तु भक्त होते हुए भी वे सन्त नहीं थे। प्रतिभा-सम्पन्न पण्डित तथा कवि होते हुए भी उनके काव्य में भावशबलता तथा रसतल्लीनता का कुछ अभाव है। परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ की गई विपुल काव्य-रचना तथा विशिष्ट कलात्मक शैली के कारण मराठी में मोरोपन्त को विशिष्टता तथा प्रमुखता प्राप्त है।

ने वीर रस को मूर्धन्य उत्कर्ष प्रदान किया है। और जहाँ कहीं सम्भाषण प्रस्तुत किए हैं वहाँ नाटक का सा आनन्द आता है। सम्भाषण के इस नाटकीय तत्व के कारण मोरोपन्त की तुलना केशव से हो सकती है। इन सभी कारणों से मोरोपन्त हरिदास मण्डल के पुराणिकों के लिए अनिवार्य हैं और मोरोपन्त की कुछ आर्याओं के गाए बिना कोई कीर्तन पूरा नहीं हो सकता।

चौथा दशक—(१७८३ से १७९४ ई०) इस काल में 'हरिवंश', संकीर्ण रामायणें, 'काशीयात्रा प्रकरण', 'श्लोक केकावली', स्तोत्र, संतस्तवने इत्यादि ग्रन्थों की रचना की। 'केकावली' और 'काशीयात्रा प्रकरण' को तीव्र व्यक्तिगत अनुभूतियों के अभिव्यंजन के कारण मराठी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

मोरोपन्त की अष्टोत्तरशत रामायणें:—संक्षेप में मोरोपन्त की १०८ रामायणों के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथा रोचक सूचनाएँ इस प्रकार हैं। मोरोपन्त की लिखी हुई १०८ रामायणें हैं, ऐसा मोरोपन्त के समय से ही समझा जाता रहा है। मोरोपन्त ने स्वयं मैराळबुवा को एक पत्र में लिखा था कि, '**भारतांतील सुद्धां लहान मोठी याद पाठवनी। अष्टोत्तरशत संख्या जाहली पाहिजे।**' मोरोपन्त के इस इरादे या अनुमान से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्होंने बहुत-सी रामायणों की रचना की जिनकी संख्या १०८ होनी चाहिए। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि मोरोपन्त ने १०८ रामायणों की रचना की थी या नहीं। निबन्धमाला के ६२ वें अंक में मोरोपन्त द्वारा रचित ९४ रामायणों की सूची प्रकाशित की गई थी। परन्तु इस सूची में संस्कृत की 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'आनन्द रामायण' को भी सम्मिलित कर लिया गया था। परन्तु मोरोपन्त के पास आए गए पत्र, मैराळ बाबा की सूची, मोरोपन्त के घर के बटवारे के कागज-पत्रों, काव्येतिहास-संग्रह, मयूर कवि, काव्य-संग्रह इत्यादि मासिक पत्रों में प्रकाशित सूचनाओं इत्यादि के आधार पर विचार करने तथा ध्यान देने पर ज्ञात हुआ है कि आजतक मोरोपन्त की प्रकाशित रामायणों की संख्या ७४ है। 'आर्यागीति मुक्तमाला', 'राम-प्रार्थना' और 'मुक्तामाला' भी रामायणें ही हैं जिन्हें मिलाकर संख्या ७७ तक पहुँचती है। परन्तु मराठी की चातुर्मासिक निकलने वाली सूची के अनुसार १० रामायणों का और पता चला है जिन्हें अभी प्रकाशित नहीं किया गया है। इनमें एक और रामायण है जिसका नाम नहीं दिया गया है जिसे मिला कर रामायणों की कुल संख्या ७८ तक पहुँचती है। अन्य रामायणों के सम्बन्ध में चिट्ठियों में निश्चित उल्लेख प्राप्त होते हैं परन्तु दुर्भाग्य से जो अब उपलब्ध नहीं हैं। मैराळ बाबा मोरोपन्त के ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने के लिए बारामती जाया करते थे परन्तु एक बार अजिंठा के किनारे डाकुओं ने उन्हें लूट लिया और उनके कागज-पत्रों को पानी में डाल दिया। मैराळ बाबा ने उन्हें निकालने के लिए बहुत प्रयत्न किया परन्तु थोड़े से कागजों के अतिरिक्त सभी डूब गए जिसका उन्हें आजीवन दुःख रहा और मोरोपन्त भी बहुत दुःखी हुए।

मोरोपन्त सगुणोपासक और रामभक्त थे। उन्होंने प्रारम्भ में अपने कुलदेव शंकर पर काव्य रचना की थी परन्तु एक ब्राह्मण से राम की मूर्ति पाकर, उसे ईश्वर की देन मानकर, राम पर काव्य रचना करने लगे। इस प्रकार अपने इष्टदेव राम के प्रति अनेक छन्दों में अपनी भावनाओं के पुष्पों को समर्पित किया। अब यहाँ संक्षेप में मोरोपन्त की ७८ रामायणों पर दृष्टिनिक्षेप करेंगे। इस छोटे से निबन्ध में सूचनाएँ केवल संकेत मात्र ही हो सकती हैं।

ने वीर रस को मूर्धन्य उत्कर्ष प्रदान किया है। और जहाँ कहीं सम्भाषण प्रस्तुत किए हैं वहाँ नाटक का सा आनन्द आता है। सम्भाषण के इस नाटकीय तत्व के कारण मोरोपन्त की तुलना केशव से हो सकती है। इन सभी कारणों से मोरोपन्त हरिदास मण्डल के पुराणिकों के लिए अनिवार्य हैं और मोरोपन्त की कुछ आर्याओं के गाए बिना कोई कीर्तन पूरा नहीं हो सकता।

चौथा दशक—(१७८३ से १७९४ ई०) इस काल में 'हरिवंश', संकीर्ण रामायणें, 'काशीयात्रा प्रकरण', 'श्लोक केकावली', स्तोत्र, संतस्तवने इत्यादि ग्रन्थों की रचना की। 'केकावली' और 'काशीयात्रा प्रकरण' को तीव्र व्यक्तिगत अनुभूतियों के अभिव्यंजन के कारण मराठी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

मोरोपन्त की अष्टोत्तरशत रामायणें:—संक्षेप में मोरोपन्त की १०८ रामायणों के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथा रोचक सूचनाएँ इस प्रकार हैं। मोरोपन्त की लिखी हुई १०८ रायायणें हैं, ऐसा मोरोपन्त के समय से ही समझा जाता रहा है। मोरोपन्त ने स्वयं मैराळबुवा को एक पत्र में लिखा था कि, '**भारतांतील सुद्धां लहान मीठी याद पाठवनी। अष्टोत्तरशत संख्या जाहली पाहिजे।**' मोरोपन्त के इस इरादे या अनुमान से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्होंने बहुत-सी रामायणों की रचना की जिनकी संख्या १०८ होनी चाहिए। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि मोरोपन्त ने १०८ रामायणों की रचना की थी या नहीं। निबन्धमाला के ६२ वें अंक में मोरोपन्त द्वारा रचित ९४ रामायणों की सूची प्रकाशित की गई थी। परन्तु इस सूची में संस्कृत की 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'आनन्द रामायण' को भी सम्मिलित कर लिया गया था। परन्तु मोरोपन्त के पास आए गए पत्र, मैराळ बाबा की सूची, मोरोपन्त के घर के बटवारे के कागज-पत्रों, काव्येतिहास-संग्रह, मयूर कवि, काव्य-संग्रह इत्यादि मासिक पत्रों में प्रकाशित सूचनाओं इत्यादि के आधार पर विचार करने तथा ध्यान देने पर ज्ञात हुआ है कि आजतक मोरोपन्त की प्रकाशित रामायणों की संख्या ७४ है। 'आर्यागीति मुक्तमाला', 'राम-प्रार्थना' और 'मुक्तामाला' भी रामायणें ही हैं जिन्हें मिलाकर संख्या ७७ तक पहुँचती है। परन्तु मराठी की चातुर्मासिक निकलने वाली सूची के अनुसार १० रामायणों का और पता चला है जिन्हें अभी प्रकाशित नहीं किया गया है। इनमें एक और रामायण है जिसका नाम नहीं दिया गया है जिसे मिला कर रामायणों की कुल संख्या ७८ तक पहुँचती है। अन्य रामायणों के सम्बन्ध में चिट्ठियों में निश्चित उल्लेख प्राप्त होते हैं परन्तु दुर्भाग्य से जो अब उपलब्ध नहीं हैं। मैराळ बाबा मोरोपन्त के ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने के लिए बारामती जाया करते थे परन्तु एक बार अजिंठा के किनारे डाकुओं ने उन्हें लूट लिया और उनके कागज-पत्रों को पानी में डाल दिया। मैराळ बाबा ने उन्हें निकालने के लिए बहुत प्रयत्न किया परन्तु थोड़े से कागजों के अतिरिक्त सभी डूब गए जिसका उन्हें आजीवन दुःख रहा और मोरोपन्त भी बहुत दुःखी हुए।

मोरोपन्त सगुणोपासक और रामभक्त थे। उन्होंने प्रारम्भ में अपने कुलदेव शंकर पर काव्य रचना की थी परन्तु एक ब्राह्मण से राम की मूर्ति पाकर, उसे ईश्वर की देन मानकर, राम पर काव्य रचना करने लगे। इस प्रकार अपने इष्टदेव राम के प्रति अनेक छन्दों में अपनी भावनाओं के पुष्पों को समर्पित किया। अब यहाँ संक्षेप में मोरोपन्त की ७८ रामायणों पर दृष्टिनिक्षेप करेंगे। इस छोटे से निबन्ध में सूचनाएँ केवल संकेत मात्र ही हो सकती हैं।

५१—वरद रामायण—प्रतिमाक्षरा वृत्त का प्रयोग हुआ है। इसमें कुल ६७ छन्द हैं।

५२—श्री रमणीय रामायण—वृत्त सारंग। कुल ८० छन्द।

५३—भाव रामायण—वृत्त मंदाक्रान्ता। कुल ११६ छन्द।

५४—सच्छ्लाघ्य रामायण—वृत्त हरिणी। कुल ८१ छन्द।

५५—श्रवणामृत रामायण—वृत्त नर्कुटकं। कुल २५ छन्द।

५६—सत्कीर्ति रामायण—वृत्त स्रग्धरा। कुल २१ छन्द।

५७—कल्याण रामायण—वृत्त पञ्झटिका। कुल ७६ छन्द।

५८—रामायण पीयूष—वृत्त मालिनी। कुल १०६ छन्द।

५६—सद्रत्न रामायण—

५—विविध वृत्तात्मक रामायणें (६० से ७४)

६०—अनुष्टुभ् रामायण—अनुष्टुभ् वृत्त में सरल और सरस रामायण है।

६१—आद्यार्या रामायण—यह वृत्त प्रसिद्ध आर्या की भाँति ही हैं परन्तु चौथे चरण में तीन मात्राएँ कम होती हैं जिससे पढ़ने में कुछ अटपटापन लगता है। मराठी में इस वृत्त का प्रयोग मोरोपन्त ने सर्वप्रथम किया है।

६२—पहली दोहा रामायण—

६३—दूसरी दोहा रामायण—मोरो पन्त ने मराठी में दोहा छन्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और सुन्दर प्रयोग किया।

६४—सूरा रामायण—इस रामायण में सूरा वृत्त का प्रयोग किया गया है जिससे रचना बहुत ही मधुर हो गई है। 'रामचरितमानस' में इस प्रकार के अनेक सरस छन्द हैं।

६५—पंचशती रामायण—इसकी रचना साकी वृत्त में हुई है और यह बहुत ही मधुर रचना है। इसमें साकियों की कुल संख्या ५०० है। मंत्र-रामायण की भाँति इसमें भी वर्णन-विस्तार, कथा-संदर्भ, भाषा-सौन्दर्य प्रसंशनीय हैं। इसमें शुद्ध मराठी भाषा का प्रयोग हुआ है और अनेक लोकोक्तियों को भी स्थान मिला है।

६६—पंच चामर रामायण—इस रामायण में राम के अयोध्या वापिस आने पर भरतमिलाप तथा पुरवासियों के आनन्द का सुन्दर और सरस वर्णन किया गया है।

६७—विबुध रामायण—यह रामायण बहुत ही सरस है और कवि को भी बहुत प्रिय थी।

६८—पृथ्वी रामायण, ६६—सवाई रामायण, ७०—विद्युन्माला रामायण, ७१—पुष्पिताग्रा रामायण, ७२—मत्तमयूर रामायण, ७३—घनाक्षरी रामायण, ७४—एकश्लोकी रामायण।

६—अस्थान प्रकाशित रामायणें (७५ से ७७)

मोरोपन्त के काव्यसंग्रह में इन तीन रामायणों को गलत स्थान पर प्रकाशित किया गया है। इसीलिए इन तीन रामायणों का उल्लेख अलग किया जा रहा है।

७५—राम प्रार्थना रामायण—यह अनुष्टुभ् वृत्त में है। कुल पदसंख्या ४० है।

३७—मात्रा रामायण—इस रामायण में वर्ण-क्रम के अनुसार अ से ज्ञ तक के अक्षरों से आर्याओं का प्रारम्भ किया गया है जो क्रम कहीं भी खण्डित नहीं होता। परन्तु ऋ, लृ, ङ, ञ, ळ से कोई छन्द नहीं लिखा गया है।

३८—लघु रामायण—इस रामायण की विशेषता यह है कि इसमें सभी वर्ण लघु हैं। यह रचना अनुप्रास बहुल है।

३९—दिव्य रामायण—इसमें प्रत्येक गीत के एक चरण में १६ मात्राएँ हैं जिनमें से २ लघु और १४ गुरु हैं।

४०—सौम्या रामायण—इस रामायण के प्रथम चरण में सभी वर्ण दीर्घ हैं। सौम्या वृत्त के प्रथम चरण के सभी १६ अक्षर गुरु हैं और दूसरे चरण में ३२ लघु अक्षर हैं।

४१—कविप्रिया—इस रामायण ग्रंथ की रचना अश्वघाटी छन्द में हुई है। इसमें प्रत्येक चरण में २२ अक्षर होते हैं जिनमें से दूसरे, सातवें तथा नौवें अक्षर सर्वत्र एक हैं।

४२—विचित्र रामायण—इस रामायण के वृत्तों में जलोद्धतगति है। छन्द की गति जल की लहरों की भाँति चलती है, यथा—

भवाब्धि सुकवि कविप्रिय करी, करीशतम हा महादय हरी।
सुकीर्ति परमा रमा मिरळी, रवीडित महा महास्पद नवी॥

४३—दाम रामायण—दाम के अर्थ हैं पुष्पाहार। पुष्पों को गूँथ कर जिस प्रकार माला बनाई जाती है उसी प्रकार इस रामायण में आर्या के प्रथम चरण के अन्तिम दो तीन या चार अक्षरों (बहुधा तीन) को दूसरे चरण के प्रारम्भ में ले आते हैं। इस प्रकार एक चरण दूसरे से गूँथा हुआ रहता है। इस ग्रंथ में इस प्रकार की ६० आर्यायें हैं।

४४—निरोष्ठ रामायण—इस रामायण में पवर्ग वर्ण का प्रयोग नहीं किया गया है।

४—विशिष्ट नामक रामायणें—

४५—प्रिय रामायण—इस रामायण में यमकानुप्रास की अनोखी छटा द्रष्टव्य है। प्रत्येक छन्द में पहले और तीसरे चरणों में, पहले और दूसरे चरणों में, दूसरे और चौथे चरणों और मध्य में—सर्वत्र यमक हैं।

४६—सद्वित्त रामायण—पुष्पक विमान में बैठ कर राम अयोध्या वापिस आते हुए भरत का चित्रण करते हैं।

४७—गदन्न रामायण—इस रामायण में जटायु का बहुत ही सम्मानपूर्वक वर्णन किया गया है। जटायु को राम के पितातुल्य मानकर चित्रित किया गया है।

४८—सुरामायण—इस रामायण की रचना भुजंगप्रयात वृत्त में की गई है। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं है।

४९—श्री हर रमणीय रामायण—इस रामायण की रचना तोटक वृत्त में हुई है। यह रचना सरस है।

५०—सद्भक्त सर्वस्व रामायण—इस ग्रंथ में वसंततिलका वृत्त का प्रयोग किया गया है। इसमें संस्कृत गर्भित भाषा तथा यमकों की प्रचुरता है परन्तु रचना अधिक क्लिष्ट नहीं है। इसमें छः छः अक्षरों के यमक हैं।

ग्रंथ-परिचय

१. संत लछिमी सखी और उनकी कृति 'अमरफराश'

मुरलीधर श्रीवास्तव एम० ए०, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा

निर्गुण धारा का वह स्रोत अब भी सूखा नहीं है, जिसका आरम्भ मध्ययुग में सन्त शिरोमणि कबीर से माना जाता है। आज भी वह धारा बह रही है। अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी आदि कई जनपदी भाषाओं में निर्गुण साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। आज हम इसी शताब्दी के भोजपुरी क्षेत्र के एक प्रसिद्ध संत और उनकी कृतियों में प्रसिद्ध 'अमरफराश' का परिचय हिन्दी के शोधार्थी विद्वानों के सम्मुख देना चाहते हैं। संत-परम्परा में लछिमी सखी एक नई कड़ी के रूप में स्वीकृत किए जाऐंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

सखी मत या सखी समाज का कृष्णभक्ति धारा में विशेष महत्त्व रहा है, रामभक्ति धारा में भी इसका प्रवेश हो ही चुका है, पर निर्गुण शाखा में सखी मत या सखी भाव की उपासना का स्पष्ट उल्लेख संत लछिमी सखी के मत के अतिरिक्त कदाचित नहीं मिलता। इस दृष्टि से निर्गुण धारा का विकास और उसका इतिहास जिनका प्रिय शोध-क्षेत्र रहा है, उनके लिए लछिमी सखी का पंथ अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस मत के संत पैर में घुंघरू पहनते और स्त्री वेश भी धारण करते हैं। नाम के आगे सखी लगाते हैं और निर्गुण के प्रति मधुर भाव या प्रेमाभक्ति व्यक्त करते हैं। निर्गुण ब्रह्म के नाम के बारे में ये बड़े उदार हैं। राम शब्द से प्रेम है, कृष्ण और शिव आदि का नाम भी स्वीकृत है, किन्तु अभिप्राय सदा 'ब्रह्म' से ही रहता है। कबीर को इस पंथ में भी बड़े आदर भाव से माना जाता है।

इस निर्गुण सखी मत के प्रवर्त्तक का जन्म सारन जिले के अमनौर* गाँव में एक गरीब कायस्थ-कुल में १८४१ ई० में हुआ था। आप ठीक से पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे। नाममात्र के पढ़े लिखे थे। जन्म से ही अध्यात्म का संस्कार जागा और २५-२६ वर्ष की अवस्था में औघड़ फ़कीर हो गए। मांस-मदिरा, गाँजा-भाँग आदि का सेवन करते हुए आप फक्कड़ साधुओं के समान घूमा करते थे। १९०३ ई० में आपने टेरुआ गाँव में एक कुटी बना कर हरिभजन और सत्संग आरम्भ किया। वहीं आपको ज्ञानोदय हुआ और फिर आप

---

*सारन जिला तकथ अमनउर।
कायथ वंश में जनमेउ बउर॥
मौजे टेरुआँ में अहले घउर।
मिलि जुलि भगत बनावल ठउर॥
—लछिमी सखी

७६—आर्यागीति मुक्तमाला रामायण—कठिन और क्लिष्ट आर्या गीतियों का प्रयोग हुआ है। कुल पदसंख्या १०६ है। इसमें मोरोपन्त द्वारा लिखे हुए कुछ पाठ-भेद भी हैं।

७७—मुक्तमाला रामायण—यह संस्कृत में है। इसकी रचना 'मंत्र रामायण' के बाद ही हुई थी।

७—अप्रसिद्ध रामायणें (७८ से ८८)

७८—छन्दो रामायण—इसे 'सार रामायण' अथवा 'वृत्तरत्नमय रामायण' भी कहते हैं। इसमें एक ग्रंथ में ही छन्दशास्त्र की उद्धरणी की गई है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है।

७९—त्रुटितरामायण—यह रामायण अपूर्ण हैं।

८०—एकपदी रामायण—इसका उल्लेख तो है, परन्तु उपलब्ध नहीं है।

८१—रामनामाष्टोत्तर शत रामायण—संस्कृत में लिखी गई है। ३० पदों में १०८ विशेषणों के साथ पूरी रामकथा आबद्ध है।

८२—मंचरामायण—इसके वृत्त बड़े लम्बे हैं। प्रत्येक चरण २५ अक्षर का है। कुल पद-संख्या ६३ है।

८३—स्रग्विणी रामायण—बहुत ही सरल और सरस भाषा में इसकी रचना हुई है। पद-संख्या ९४।

८४—श्रीरामायण—शिखरिणी वृत्तमें है। पदसंख्या ५१।

८५—दण्डक रामायण—३० या ३१ अक्षरों के चरण वाला वृत्त। पद-संख्या १००।

८६—प्रहर्षण रामायण—पद-संख्या ८५ है। गतिवान काव्य है।

८७—तन्वी रामायण—वृत्त बड़े और अपरिचित हैं जिन्हें कवि की स्वतंत्र उद्भावना कहा जा सकता है। पदसंख्या ८५।

८८—अप्रसिद्ध और अप्राप्य जिसकी कोई निश्चित सूचना नहीं है।

२. संत सिंगाजी की 'परचुरी'

रमेशचन्द्र गंगराड़े एम्० ए०, महाकौशल महाविद्यालय, जबलपुर

निमाड़ के सन्त कवि सिंगाजी की जीवनी से सम्बद्ध एक परिचयात्मक ग्रन्थ 'परचुरी' नाम का है जिसकी रचना खेम नामक किसी सन्त ने सं० १६१६ वि० में की थी।[१]

इसको पढ़ने से ऐसा लगता है कि परचुरीकार संत सिंगा के साथ रहा है और इस निकट सम्पर्क के द्वारा उसे सिंगा की जीवनी का परिचय मिलता रहा है। इसी परिचय को रचयिता ने पुस्तक के रूप में लिखकर इसका नाम 'परचुरी' रख दिया है। 'परचुरी' शब्द 'परचना' (=परिचय प्राप्त करना) से व्युत्पन्न ज्ञात होता है। संत-साहित्य के गुटकों में 'परचई' अथवा 'परचुरी' शब्द का प्रयोग किसी प्रसिद्ध संत की जीवनलीला का परिचय कराने वाले ग्रन्थ के लिए होता है। ।

जिस प्रति से प्रस्तुत निबन्ध की सामग्री ली गई उसमें यद्यपि लिपिकाल नहीं दिया है, किन्तु देखने से वह काफी प्राचीन मालूम पड़ती है। इसका अनुमान इसके कागज़, स्याही और लिपि से लगाया जा सकता है। हाथ से बनाए हुए कागज़ पर बरू (=लकड़ी की कलम) से यह लिखी गई जान पड़ती है। इसका कागज़ एकदम जर्जरावस्था में है, किन्तु इसकी लिखावट बिलकुल स्पष्ट और चटकीली है। प्रारम्भ और अन्त के तीन या चार पृष्ठ फटे हुए हैं। उनके टुकड़ों को जोड़कर सामग्री को पढ़ा जा सकता है। लिखने के लिए काली और लाल स्याही का उपयोग किया गया है। इसका आकार ७½" × ५" है और यह आड़े पृष्ठों में (प्राचीन पोथी-पत्रा की तरह) लिखी गई है। इसको रचयिता ने 'साखी' और 'चौपाई' में लिखा है। एक विषय या घटना विवेचन के लिए क्रम से कहीं १८, कहीं १६ और कहीं ३०-३२ चौपाइयाँ लिखी गई हैं। इस प्रकार इसमें १६ विश्राम हैं। हर विश्राम के बाद चौपाई की क्रम-संख्या बदल गई है।

इस ५२ पृष्ठों की 'परचुरी' में सिंगाजी की जीवनी लिखी गई है जो गुरु-दीक्षा के प्रसंग से प्रारम्भ होकर समाधि लेने के प्रसंग पर समाप्त होती है। इसमें वर्णित सामग्री निम्न सूची से स्पष्ट हो जाएगी—

१—परचुरी, पृष्ठ ५१६-१।

अपनी मातृभाषा में पद बनाने लगे। इनके पदों या भजनों का चार ग्रंथों में संकलन हुआ है। संत लछिमी सखी के अन्तिम चार वर्ष अपनी कुटिया में ही बीते और इस अवधि में ही इन पदों की रचना हुई थी। आपका महाप्रस्थान १६१४ ई० में हुआ। आपकी गद्दी चल रही है और इस पंथ का कुछ साहित्य भी प्रकाशित हुआ है। आपके रचे भक्ति-वैराग्यपूर्ण पदों के चार संग्रह हैं, १—अमरसीढ़ी, २—अमरकहानी, ३—अमरविलास, ४—अमरफराश। 'अमरसीढ़ी' और 'अमरकहानी' सखी मत के भक्तों ने प्रकाशित कराया है। संत लछिमी सखी की कृति 'अमरफराश' का परिचय देना इस प्रबन्ध का विषय है। इसकी एक शुद्ध प्रतिलिपि बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना में सुरक्षित है।

लछिमी सखी की रचनाएँ कई प्रकार की हैं। उनके छंद भोजपुर के लोकमानस के अनुकूल हैं। इनकी रचनाओं के प्रमुख रूप हैं—भजन या पदावली शैली में ककहरा, झुमरा, हुमरा, ठुमरी, गारी, सोहर, घनाक्षरी, खेमटा, चैताचार, धमार, झुलना, कजली, लावनी, बीदापत, लावनी खड़ालय, चतुरमासा आदि।

बानगी के रूप में 'अमरफराश' भजनावली से कुछ पद देते हैं, जिससे संत लछिमी सखी के मत और भाषा का कुछ परिचय मिल जाएगा :—

अब का तुं सोचत मन में गांवारा। घरी पल पहर में होईबे आवारा ॥१॥
काहे खातिर चारू वोर लागता वोसारा। गाँव वो मिरिपास लिखात मो कारा ॥२॥
ऐसन एक दिन लगिहै वोखारा। ओहि दिन प्रान निकलि जैहै पारा ॥३॥
आगतें तुं काहें नहीं होत किनारा। घरे आग लगी तव खोंनवे ईनारा ॥४॥
लछिमी सखी भजु नाम हमारा। लेखे बा वो खर्चा उतरि लेहु पारा ॥५॥

× × × ×

जहिआ जैहन दुनु आँखु मुँदाई। तहिआ तु कवन करवे प्रभुताई ॥१॥
ना त भाँटा लेखा ढेंढर निकली भाई। या नाहीत रहि जैवे मुँह बाई ॥२॥
देखते मातर लोग का लागी डेराई। जेहाली केहु मुरदा उठावे ना आई ॥३॥
उजे उपर से दीहे एगो चादर वोढ़ाई। जे हाल अब जा आपन लेल बिदाई ॥४॥
लछिमी सखी जे तोहे कैल पैदाई। तेकरो के जात बार तुं बिसराई ॥५॥

× × × ×

कंठ के कंठी मन के माला बानाई। सोवांसा हे धागा ते में पोईले भाई ॥१॥
जपि लेहु अच्छर नाम है आढ़ाई। राकार माकार के बीच माकार है भाई ॥२॥
भर पेट खाहु मति कबहुँ आघाई। नाहीं त कहीं नींद वो आलस आई ॥३॥
तजेहु याद वासे भोर परिजाई। काम औ क्रोध औरो जोर करी भाई ॥४॥
लछिमी सखी हाले लेहु घोर चढ़ आई। आवे तरे रही हे बागडोर धैले भाई ॥५॥

२. संत सिंगाजी की 'परचुरी'

रमेशचन्द्र गंगराड़े एम्० ए०, महाकौशल महाविद्यालय, जबलपुर

निमाड़ के सन्त कवि सिंगाजी की जीवनी से सम्बद्ध एक परिचयात्मक ग्रन्थ 'परचुरी' नाम का है जिसकी रचना खेम नामक किसी सन्त ने सं० १६१६ वि० में की थी।[१]

इसको पढ़ने से ऐसा लगता है कि परचुरीकार संत सिंगा के साथ रहा है और इस निकट सम्पर्क के द्वारा उसे सिंगा की जीवनी का परिचय मिलता रहा है। इसी परिचय को रचयिता ने पुस्तक के रूप में लिखकर इसका नाम 'परचुरी' रख दिया है। 'परचुरी' शब्द 'परचना' (=परिचय प्राप्त करना) से व्युत्पन्न ज्ञात होता है। संत-साहित्य के गुटकों में 'परचई' अथवा 'परचुरी' शब्द का प्रयोग किसी प्रसिद्ध संत की जीवनलीला का परिचय कराने वाले ग्रन्थ के लिए होता है। ।

जिस प्रति से प्रस्तुत निबन्ध की सामग्री ली गई उसमें यद्यपि लिपिकाल नहीं दिया है, क़िन्तु देखने से वह काफी प्राचीन मालूम पड़ती है। इसका अनुमान इसके कागज़, स्याही और लिपि से लगाया जा सकता है। हाथ से बनाए हुए कागज़ पर बरू (=लकड़ी की कलम) से यह लिखी गई जान पड़ती है। इसका कागज़ एकदम जर्जरावस्था में है, किन्तु इसकी लिखावट बिलकुल स्पष्ट और चटकीली है। प्रारम्भ और अन्त के तीन या चार पृष्ठ फटे हुए हैं। उनके टुकड़ों को जोड़कर सामग्री को पढ़ा जा सकता है। लिखने के लिए काली और लाल स्याही का उपयोग किया गया है। इसका आकार ७½" × ५" है और यह आड़े पृष्ठों में (प्राचीन पोथी-पत्रा की तरह) लिखी गई है। इसको रचयिता ने 'साखी' और 'चौपाई' में लिखा है। एक विषय या घटना विवेचन के लिए क्रम से कहीं १८, कहीं १६ और कहीं ३०-३२ चौपाइयाँ लिखी गई हैं। इस प्रकार इसमें १६ विश्राम हैं। हर विश्राम के बाद चौपाई की क्रम-संख्या बदल गई है।

इस ५२ पृष्ठों की 'परचुरी' में सिंगाजी की जीवनी लिखी गई है जो गुरु-दीक्षा के प्रसंग से प्रारम्भ होकर समाधि लेने के प्रसंग पर समाप्त होती है। इसमें वर्णित सामग्री निम्न सूची से स्पष्ट हो जाएगी—

१—परचुरी, पृष्ठ ५१६-१।

(१) गुरु दीक्षा—गुरु मनरंगगीर से दीक्षा प्रदान करने की माँग, गुरू द्वारा सांसारिक प्रपंच, ब्रह्म और माया सम्बन्धी विवेचन। (पृ० १-६)

(२) गुरु दीक्षा के पश्चात—गृहस्थी के कार्यों और सांसारिक वातावरण के प्रति विरक्ति। (पृ० ७-८)

(३) ओंकार मांधाता[१] जाने का प्रसंग—मांधाता में एकाएक प्रकट होकर भक्तों को आश्चर्यचकित करना तथा उसी समय कोसों दूर अपने निवासस्थान हरसूद के घर में भी रहना तथा अन्य चमत्कार। (पृ० ६-११)

(४) दो ब्राह्मणों द्वारा इनकी परीक्षा—उनका पराजित हो कर चरण पकड़ना, हरसूद से पीपल्या ग्राम[२] आकर वहीं बसना, पीपल्या में सेवकों द्वारा मठ की स्थापना का प्रयत्न और सिंगाजी की इस मठ आदि के प्रति उदासीनता की भावना।

(५) सिंगाजी का भजन-कीर्तन में लग जाना—'गवली' (अहीर) समाज द्वारा इन्हें जाति-च्युत करने का षडयंत्र, किंतु दैवी शक्ति से असफलता। अतिथि-सत्कार और उनके आग्रह पर उन्हें कुँआरी भैंस का दूध पिलाना। ब्रह्म का बखान। निर्गुण पंथ की विवेचना। (११६-२३)

(६) फिर से मांधाता जाना—वहाँ सम्मानित होना किन्तु इनका त्याग और इनकी विरक्ति। संन्यासियों एवं फकीरों द्वारा इनकी निंदा, एक मुगल द्वारा फकीरों की गिरफ्तारी। सिंगाजी के कहने से अपराधियों की मुक्ति। मुगल सरदार द्वारा सिंगाजी की प्रशंसा। (पृ० २४-३१)

(७) पीपल्या ग्राम को लौटना—तीर्थ आदि को ढोंग कहना। कीर्तन के लिए दो सभाओं में एक साथ उपस्थित होने का चमत्कार। लोगों का इन्हें कलि में कृष्ण का अवतार मानना। (पृ० १३१-३६)

(८) अपने गुरु मनरंगगीर द्वारा आदेश प्राप्ति के कारण जीवित समाधि लेना। पुत्रों एवं पत्नी तथा श्रद्धालुओं का विलाप। उनकी स्मृति में शरद पूर्णिमा पर मेले की योजना। (पृ० ३६-३७)

(६) समाधि लेने के पश्चात एक ब्राह्मण व चमार को दर्शन। दरजी के खोए हुए बालक को ढूँढ़कर वापस करना। अपने शिष्य नारायण को स्वप्न में अपने आपको समाधि से निकालने का आदेश। समाधि से ६ माह बाद सुव्यवस्थित देह को निकालकर अंत्येष्टि क्रिया।

(१०) उपसंहार—निर्गुण मत की विवेचना। संतों एवं संत-मत की महिमा। रचयिता द्वारा अपने श्रद्धेय संत सिंगा के प्रति श्रद्धांजलि। (पृ० ४३८-५२)

१—देखिए मेरा लेख—सिंगाजी (हिंदी-अनुशीलन—जुलाई-सितम्बर ५७)।

२—ओंकार मांधाता खंडवा से इंदोर रोड पर नर्मदा पर ज्योतिर्लिंग होने से महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान है जहाँ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को भव्य मेला लगता है।

'परचुरी' के प्रसंगों का परिचय

गुरु-दीक्षा के प्रसंग में संत सिंगा माया के प्रति विरक्ति की भावना को बतलाते हुए गुरु की शरण में आना चाहते हैं—

माया की संग हूँ बहु दुख पायो। जाते शरण तुम्हारे आयो॥

गुरु मनरंगगीर समाधान करते हैं—

बिन माया कैसी सगाई। बिन माया परमारथ न होई॥
जैसी बस्तर बिन नांगी देही। कठण भक्ति रामानन्द केरी॥
प्रमारथ कबीरा कीनो। बस्तर फाड़ हाठ मा दीनो॥[1]

गृहस्थी के प्रति उदासीनता के भाव के कारण माता इनको कोसती हैं, तब वे इस प्रकार विचार करते हैं—

तब सींगाजी समजे मन माहीं। माता सबन की ऐसी होई॥
कबीर की माता सिकन्दर पुकारी। नामदेव की माता दीनी गारी॥[2]

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि अपने शिष्य सिंगाजी में जाग्रति पैदा करने के लिए मनरंगगीर द्वारा रामानन्द, कबीर, नामदेव आदि के उदाहरण दिए गए थे। इन संतों की विचार-धारा का प्रभाव सिंगाजी पर पड़ना स्वाभाविक ही था और इसलिए संत सिंगा में नामदेव और कबीर के संत-मत की पूरी छाप दिखलाई पड़ती है।

गुरुदीक्षा के बाद इनके हरसूद से पीपले चले आने की चर्चा भी की गई है। इनके परिवार की जानकारी इस प्रकार दी गई है—

बड़ो जेठो लींबाजी भाई। जीन सींघाजी कु ठहेल फुरमाई॥[3]
जननी जसोदा सींगाजी की नार॥[4]
कालू भोलू चारू सुतं। संदू दीपू नान्हा पुत॥
ढुलमुल ढुलमुल नारायेण रोवे। कीसनाबाई के आसुन आवे॥
रंगु बैण काका की बैठी। सो ही सीस पठक लट छूटी।[5]

इनके चमत्कारों से प्रभावित हो परचुरीकार ने अनेक स्थानों पर संत सिंगाजी की प्रशंसा की है, और उनके मत को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। संत सिंगा ने वेद आदि का अध्ययन नहीं किया था और न वे उसमें आस्था ही रखते थे। वे तो 'हद छोड़ बेहदै' को जानते थे और साथ ही उन्होंने इस संसार को 'राम की माया और राम को पसारो' भी कह कर अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया है। बार बार 'गरभ' में आकर सांसारिकता के बीच आने की उनकी कोई इच्छा नहीं थी। एक जगह इस बात को स्पष्ट रूप से कह दिया है। ऐसा कहने से उनका इंगित 'मुक्ति' की ओर भी हो सकता है। यथा—

आचरज भयों जगतमा, साखी सुणी न वेद।
धन धन कला साद की, बिरला जाणे भेद॥[6]

१—परचुरी पृ० ६। १४-१५। २—वही, पृ० ७-७-८। ३—वही, पृ० १४। ८।
४—वही पृ० ४६। १०। ५—वही, पृ० ३७। १८। ६—वही, पृ० ११। २०।

स्वामी लागो हारी का ध्याने । लोक वेद की अटक न माने ।
गुरू को सबद सीर पर राखे । आजरा झरत आमीरस चाखे ॥[१]

संत सिंगा अपने जीवन में हमेशा संतुष्ट रहे और सादगी तो उनकी रग रग में समाई हुई थी। अनेक अद्भुत कार्यों के कारण वे श्रद्धालुओं की प्रशंसा के पात्र बने हुए थे। 'प्रगट चल्यौ सींघाजी को पंथ' लिखकर रचयिता ने उनको नामदेव और कबीर की श्रेणी में रखकर पंथ-प्रवर्तक माना है, किन्तु वे संतों से नम्र ही बने रहे। स्वामी सिंगा नम्रता पूर्वक कहते हैं—

कहे स्वामी हूं हैं उनके पग की धूर ।
काहा श्री रामानन्द काहा दास कबीर ॥[२]

परचुरीकार का मत है कि संत सिंगा क्रमशः निर्गुणी होते चले गए और उन्होंने इस संसार को समझाने के लिए तथा अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए 'सबद' पर अधिक जोर दिया। वे भजन-कीर्तन में लीन रहने लगे तथा लोगों को सद्वृत्ति धारण करने का उपदेश देते रहे। उनका मत था कि प्रेम और भक्ति बहुत कम व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह संसार तो एक वृक्ष है और इसमें रहने वाले उस वृक्ष की शाखाएँ हैं। जिस शाखा की जैसी वृत्ति होगी वैसा ही फल पावेगी। वे कलि में कृष्ण के अवतार माने गए। परचुरीकार ने निर्गुण का गुण अपार कहा है—

रोम रोम रसना होत हे, तोऊ पार न पाए।
नीरगुण को गुण अपार है, खेम काहा लुं गाए।[३]

संत सिंगा ने अपने जीवनकाल में हमेशा अपने विरोधियों को नम्रतापूर्वक पराजित किया और इस कारण मुसलमान सरदार तक उनसे प्रभावित हो गए थे। उन्होंने जिस रूप में अपने अद्वैत मत को रखा है वह परचुरीकार की भाषा में सरल और सर्वग्राह्य होने पर भी बड़ा गूढ़ और गंभीर है। इससे हमें उनके दार्शनिक सिद्धांत का ज्ञान तो होता ही है साथ ही उनका निजी मत भी स्पष्ट होता है। कबीर की भाँति[४] उन्होंने अपने रहस्यवाद में अद्वैत और सूफीमत की गंगा-जमुनी एक साथ ही नहीं बहा दी प्रत्युत उन्होंने शुद्ध अद्वैत मत को ही प्रतिपादित किया है। संत सिंगा में सर्वत्र सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद की पुष्टि ही मिलती है।

पुरप वास तो एक सो रहे, काहा चंपो काहा वेल ॥
तेल फुलेल काहा बसे, मीलकर भयो फुलेल ॥[५]

सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि संत सिंगा ने हठयोग के जटिलतम रूप को अपनाया है और इस अवस्था से सम्बन्धित दस दरवाजे, बावन कोठरी, बारह कोष, सात

सुरति और बहत्तर नाड़ियों की चर्चा की है। साथ ही साथ नाथपंथी योगियों की तरह यह विश्वास भी प्रकट किया है कि सहस्रार में स्थित गगन मंडल में औंधे मुँह का अमृत कुंड है, यही चंद्र तत्व भी कहलाता है। इसमें से निरंतर अमृत झरता रहता है। इस अमृत का उपयोग करने वाला अजरामर हो जाता है।

संत सिंगा का कथन है—

> औंधा कुलुप जड़िया बिनसामृत कैसा खुले।
> सोल सुहागन सुंदरी नव बैठी कुपारी रे।
> उनसी हरिजन तु दूर रहे तिनख सोध कलारे।[1]
> दस दरवाजा प्रगट भई दुजे तीन ख कुलुप लगाई।
> उ तीन म उपर को खोज अरे गुरू वही सबद है सार।
> अनगढ़ मुरली बजी गयेब की उठे छतीसों राग।
> वंकनाल से अमीरस पीणा तीरवेणी में नाहावण करणा।[2]

इस तरह संत सिंगा निर्गुण ब्रह्म की विवेचना करते रहे और भजनादि गाते रहे। इनके निर्गुण सम्बन्धी भजनों की संख्या ८०० है। परचुरीकार ने इनकी समाधि के प्रसंग को लेकर लिखा है कि एक दिन गुरु मनरंगगीर का संदेसा आया कि अब सिंगाजी को समाधि ले लेनी चाहिए। उन्होंने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और श्रावण शुक्ला नौमी संवत् १६१६ वि० को जीवित समाधि ले ली। इनके समाधिस्थ होने से सबको बड़ा शोक हुआ और इनके शिष्य नारायण दास ने समाधि-स्थल पर हर शरदपूर्णिमा के मेले की योजना बना डाली। 'परचुरी' में इसका वर्णन यों है—

> गुरू को सबद मानी लीजो। पूरणमासी पहेलो काम जो कीजो॥
> श्रावण सुदी नौमी सार। ता दिन स्वामी ने कीयो विचार॥
> भयो स्वमी आंतर ध्यान। नीकसी जोत जोत मा संमान॥[3]
> स्वामी ठाणी सो कीजो तिथा। कीजो सरद पुंणेव को मेलो॥[4]

भाषा, लिपि और शैली

इस हस्तलिखित परचुरी की भाषा, लिपि और शैली की विवेचना करने में, जिसके आधार पर संत सिंगाजी सम्बन्धी प्रस्तुत निबन्ध लिखा गया है, हमारा ध्यान उसकी निम्न विशेषताओं पर जाता है—

१—हस्तलिखित परचुरी देवनागरी लिपि में लिखी गई है और प्राचीन पोथियों की तरह इसमें शब्द या शब्द समूह पृथक् पृथक् दिखलाने की चेष्टा नहीं की गई है। अतः पाठक के सम्मुख कभी कभी यह कठिनाई होती है कि वह अक्षरों को मनमाने ढंग से जोड़-तोड़ कर मूल ग्रन्थ को विकृत रूप में भी पढ़ लेता है।

१—परचुरी, पृ० ५२। ४-५
२—वही ८-९
३—वही ३७। १०
४—वही ३८। ५

२—परचुरी का लिपिकार विशेष पठित नहीं जान पड़ता। उसके ज्ञान का स्तर सामान्य प्रतीत होता हैं। अतः पोथी अशुद्धियों—विशेषतः स्वर सम्बन्धी अशुद्धियों—से भरी पड़ी है।

स्वर-वर्ण—

स्वर-वर्ण और संयुक्त स्वर (अ आ इ ई ऋ ए ऐ ओ औ) के दो रूप पाए जाते हैं—

(१) अविकल रूप में, जब वे स्वतंत्र व्यवहृत होते हैं।

(२) मात्रारूप में जब वे व्यंजना के बाद व्यवहृत होते हैं। निम्नलिखित स्थितियों को छोड़कर वे उसी प्रकार लिखे हुए पाए जाते हैं जैसे आज कल प्रचलित हैं—

(क) अ को आ के रूप में लिखा गया है।

ऋ का शुद्ध स्वर-मूल्य लुप्त हो गया है और प्रायः 'रि' के रूप में लिखा गया है—यथा—जाग्रित ('जाग्रत' के लिए)

(ख) इ ई की मात्राओं का स्वरूप वही है जो वर्तमान देवनागरी में है। किन्तु लिपिकार ने दीर्घ एवं लघु स्वरों के विन्यास की ओर ध्यान नहीं दिया है। अतएव प्रत्येक पृष्ट इस प्रकार के व्यत्ययों अथवा विपर्ययों से भरा पड़ा है, उदाहरणतया—

लिखित रूप—'सींघाजी', 'ठीकाणो', 'कीयो'।

उच्चरित रूप—क्रमशः 'सिंघाजी', 'ठिकाणो', 'कियो'।

(ग) उ, ऊ, के सम्बन्ध में भी वही वस्तुस्थिति है—

(घ) ए, ऐ के वर्तमान रूप नहीं मिलते। यह 'ये' के रूप में ही मिलते हैं।

व्यंजन वर्ण—

'ख' के लिए सर्वत्र 'ष' का प्रयोग मिलता है।

संयुक्त व्यंजन-वर्णों का व्यवहार प्रचुर रूप में किया गया है—

प्र के दो उच्चरित रूप हैं—प्र और पर्। उदाहरण के लिए पोथी में 'परमार्थ' के स्थान पर 'प्रमारथ' लिखा मिलता है (पृष्ठ १६। ३)

इसके अतिरिक्त ब्र, ग्र, त्र आदि अन्य रकारान्त संयुक्त-वर्णों के भी दो उच्चरित रूप हैं। निम्न उदाहरणों में 'र' को पूर्व व्यंजन से संयुक्त करके लिखा गया है।

जैसे, द्रुमति..........................दुर्मति, पृष्ठ १२। ३
नग्र..............................नगर ,, १२। ४
क्रम..............................कर्म ,, ७। ३

'ज्ञ' को प्रायः 'ग्य' या उसके साथ संबद्ध मात्रा पर अनुस्वार (ं) लगाकर व्यवहृत किया गया है। हिन्दी की कई बोलियों में यह रूप प्रचलित है।

जैसे, ग्यांन..........................(ज्ञान)

'न' के स्थान पर बहुधा 'ण' का व्यवहार किया गया है—

जैसे, सुणावा..........................(सुनावा),
जाणे..............................(जाने)

'व' का व्यवहार 'अ' के लिए किया गया है–

हुवा..............................हुआ

'ड़' के लिए 'ड' ही लिखा है–

आखाडे..........................आखाड़े

घोडा..............................घोड़ा

आगे आने वाले अनुनासिक शब्द का पूर्ववर्ती वर्ण भी अनुनासिक मिलता है–

ब्रांह्मण..........................ब्राह्मण,

ब्रंह्म..............................ब्रह्म

'क्ष' के लिए 'छ' ही पाया जाता है। दन्त्य 'न' द्वारा उच्चारण का काम लिया गया है। चन्द्र बिन्दु (ँ) द्वारा स्वरों की अनुनासिक ध्वनि प्रकट करने की प्रथा ही नहीं है। इसका काम अनुस्वार से ही लिया गया है।

संयुक्त व्यंजन–

(१) वर्णलोप–

कलु..............................कलियुग ३६ । ४

अंत्रजामी.........................अंतर्यामी १३ । ७

(२) समीकरण–

पुंनेव.............................पूर्णिमा ३७ । ५

अनंद..............................आनंद ३३ । ३

(३) सरलीकरण–

झाज..............................जहाज

(४) क्ष का छ–

दीछा.............................दीक्षा

'परचुरी' की भाषा

'परचुरी' की भाषा के सम्बन्ध में यही कहना युक्तिसंगत होगा कि उसकी भाषा मूलतः निमाड़ जिले की बोलचाल की भाषा 'निमाड़ी' है। इसी बोलचाल की भाषा के शब्द और शब्द समूहों को व्यवहृत कर उन्हें खड़ी बोली का रूप दिया गया है। खड़ी बोली के शब्दों को तत्सम रूपों में नहीं, प्रत्युत विकृत रूपों में लिखा गया है, जैसे—

उपगार < उपकार, आमर ∠ अमर, कामनी ∠ कामिनी, नग्र ∠ नगर, प्राश्चीत ∠ प्रायश्चित्त, अस्तुति ∠ स्तुति, नेश्चे ∠ निश्चय।

साथ ही साथ कुछ उर्दू के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—

'बक्सो', 'दीदार' आदि

'निमाड़ी' के शब्द और वाक्य प्रयोग तो परचुरी में भरे पड़े हैं, जैसे—

'छानु रहे रे मुआ' (= अरे मरे हुए अपने आपको सुधार)

'भाड़े' या 'भांडे'—(= गाली देना)

'चाल्या' (= चले)
'खाल्या, नाल्या' (= छोटे नाले)
'कोठड़ी' (= कमरा)
'खद खद हासे'—(= गद गद होना)
'छेव' (= अंत)
'सीन्ह छोडाये स्याल मुख न दीजो' (= पात्र कुपात्र को समझना)

संस्कृत के कुछ तत्सम शब्दों के प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु 'श' के स्थान पर 'स' ही पाया जाता है, जैसे—

एकादसी, द्वादसी, त्रयोदसी आदि

'परचुरी' की लिपि बहुत सुन्दर है। इसकी भाषा को देख कर परचुरीकार का दृष्टिकोण यह मालूम होता है कि संत सिंगा की जीवनी और विचारधारा को सर्वसुलभ बनाने के लिए ही ऐसी भाषा का उपयोग किया है। राजस्थानी के शब्दों का चयन भी किया है। 'परचुरी' की भाषा वस्तुतः निमाड़ी, राजस्थानी, बुन्देली, मालवी, मराठी, गुजराती और खड़ी बोली का मिश्रण कही जा सकती है। इसके लवर्ण का उच्चरण मराठी के ळ जैसा किया जाता है।

प्राचीन काल और पूर्व मध्य काल में जीवनी लिखने की परंपरा को निभाते हुए पोथी पत्रा की शैली पर यह 'परचुरी' रची गई है। इस की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता को बतला कर मैं अपना निबंध समाप्त करता हूँ।

यह परचुरी सम्वत् १६१६ वि० में लिखी गई है। संत सिंगा का समाधि-काल भी सम्वत् १६१६ वि० ही है। अतः यह रचना उनके निर्वाण के बाद उनके सहयोगी शिष्य या अनुरागी ने उनकी स्मृति को बनाए रखने के लिए की होगी, और फिर उसी के पश्चात् किसी अन्य शिष्य ने उसकी प्रतिलिपि तैयार की होगी।

संपादकीय

वार्षिक अधिवेशनों का आयोजन

अन्य अनेक अखिल भारतीय विश्वविद्यालयों के स्तर की संस्थाओं के समान भारतीय हिन्दी परिषद् का भी एक वार्षिक अधिवेशन होता है। यह संस्था अपने विकास-क्रम में धीरे-धीरे समस्त विश्वविद्यालयों के अधिकाधिक प्राध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर सकी है तथा इनके अतिरिक्त हिन्दी के अन्य प्रतिष्ठित विद्वान भी इसके सदस्य हैं। इसके पिछले कई अधिवेशन अन्य प्रान्तों में भी हुए हैं और वे पूर्णतः सफल रहे, इसी से इसकी लोकप्रियता का पता चलता है। इस प्रकार की उच्च शिक्षा तथा अध्ययन से संबंधित संस्थाओं में अधिवेशन के अवसर पर सब से अधिक गति और सक्रियता देखी जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की काँग्रेसों तथा परिषदों में और विभिन्न ज्ञान, विज्ञान, साहित्य तथा कला सम्बन्धी एकेडेमियों की प्रकृति तथा कार्यक्रम में मौलिक अन्तर होता है। कोई स्पष्ट विभाजक रेखा न भी खींची जा सके तो भी दोनों के दृष्टिकोण के अन्तर को देखा जा सकता है। एकेडेमियों में एतद् विषयक कार्यों का संगठन तथा संचालन अधिक महत्वपूर्ण है। और इस प्रकार की परिषदों में विद्वानों का सम्मिलन, विचार-विनिमय, खोज संबंधी दिशाओं का निर्धारण, शिक्षा संबंधी समस्याओं पर विचार आदि अधिक महत्वपूर्ण है। इन परिषदों का प्रमुख कर्त्तव्य है कि विषय के अथवा सम्बद्ध विषयों के सम्पूर्ण देश के तथा अनेक बार अन्य देशों के भी विद्वानों और और चिन्तकों को एकत्र होने का अवसर प्रदान करें।

वर्ष अथवा दो वर्ष में इस प्रकार के अधिवेशनों का आयोजन इसी दृष्टि से किया जाता है। इनका प्रमुख उद्देश्य यही है कि देश के प्रत्येक भाग के विषय विशेष के मूर्धन्य विद्वानों से लेकर सामान्य शोध करने वाले तथा शिक्षा देने वाले प्राध्यापक तक एक साथ एकत्र हों। उनको अपने विषय की वर्ष भर की प्रगति का कुछ लेखा जोखा लेने का अवसर मिले और साथ ही उस विषय में होने वाले खोज-कार्य का भी कुछ अनुमान लगाया जा सके। एक दूसरे के सम्पर्क में आने से अपनी अपनी बहुत सी समस्याओं का समाधान करने का मौक़ा इस प्रकार अनायास मिल जाता है। शिक्षा संबंधी अध्ययन और अध्यापन की समस्याओं पर भी इन अवसरों पर ही समुचित रूप से विचार किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार-विनिमय से बहुत लाभ है। आवश्यक नहीं है कि परिषद् के अधिवेशनों में किए गए विचारों के आधार पर, उसकी विभिन्न समितियों के द्वारा प्रस्तुत सुझावों के आधार पर, परिषद् किसी प्रकार के नियामकों की घोषणा ही करे, यद्यपि ऐसा करना भी अनुचित नहीं है, क्योंकि एक विषय के विद्वान् जिस बात में सहमत हों वह मान्य होनी ही चाहिए। परन्तु देश की सरकार अथवा राज्यों की सरकारें, विभिन्न विश्व-विद्यालय तथा जनता इनसे निर्देश ग्रहण कर सकती है। उनके सामने एक संकलित मत इस प्रकार प्रस्तुत हो सकता है।

प्रजातांत्रिक देशों में विद्वानों के इस प्रकार के अधिवेशन और भी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में, देशव्यापी समस्याओं के बारे में उस विषय के विद्वानों का वैज्ञानिक मत क्या है, यह ऐसे ही विद्वानों के विचार विनिमय से ज्ञात हो सकता है। आज प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह अपने देश के सम्बन्ध में और उसकी समस्याओं के सम्बन्ध में विचार करे और अपना सुचिन्तित मत प्रकट करे। ऐसी स्थिति में विशिष्ट विषय

के महत्त्वपूर्ण चिन्तकों का तो यह अपरिहार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस संबंध में सम्पूर्ण देश के संदर्भ को दृष्टि में रख कर विचार करें और इस विचार करने में अपनी वैज्ञानिक दृष्टि को ही महत्त्व दें। ज्ञान के क्षेत्र में भावुकता के लिए स्थान नहीं होना चाहिए और अपने इस प्रकार के सुचिन्तित मत को देश की जनता के सामने निरपेक्ष होकर तथा निर्भीकतापूर्वक रखना चाहिए। इस प्रकार के मतों का वास्तविक प्रजातांत्रिक देशों में अत्यन्त महत्व होता है। क्योंकि इन विद्वानों का मत कभी कभी किंचित अव्यावहारिक भले ही हो सकता है, परन्तु उसमें कम से कम पक्षधरता और अधिक से अधिक चिन्तन होगा। जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होने मात्र से शासक वर्ग सभी विषयों में मत देने का और विचार करने का अधिकारी नहीं हो जाता। देश के ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला का प्रतिनिधित्व करने वाले एतद् विषयों के योग्य व्यक्ति ही हैं। वे जनता के द्वारा मतदान द्वारा भले ही चुने न गए हों, पर वे अपनी स्थिति के कारण उनके महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। अतएव उनके विचारों और मतों से दिशा-निर्देशन लेना सरकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए कर्मचारियों की प्रस्तुत की गई योजनाओं से अधिक इन स्वतंत्र चिंतकों की राय का महत्त्व होना चाहिए, और वास्तव में इन योजनाओं का आधार भी यही होना उचित होगा।

हमारे देश में प्रजातांत्रिक शासन के प्रयोग-काल में स्थिति बहुत अस्पष्ट और संभ्रम की है। प्रजातंत्र की समस्त शक्तियों का न समुचित संयोजन है और न उनका उपयोग ही किया जा रहा है। वरन् कई दिशाओं में तो इस प्रकार की स्वायत्त की इकाइयों को संदेह तथा आक्रोश की दृष्टि से देखा जाता है। सम्पूर्ण देश की नैतिक आचरण के निम्नस्तर के हो जाने के कारण आज प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को बेईमान और अविश्वसनीय मानता है, जब कि वास्तव में उसकी अपनी स्थिति भिन्न नहीं है। ऐसी स्थिति में अधिक सत्ता प्राप्त लोगों का अन्य व्यक्तियों के प्रति यह दृष्टिकोण स्वाभाविक है। परन्तु प्रत्येक देशवासी को आज यह समझ लेना चाहिए कि यदि देश में प्रजातंत्र की जड़ों को ही मज़बूत करना है तो एक दूसरे को किंचित आचरण की छूट देकर और कभी आलोचना कर के आचरण को उन्नत करने का अवसर देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने स्थान पर पैर जमा कर देश की नैतिकता के स्खलन को रोकना होगा। उसके लिए प्रजातंत्र के मौलिक सिद्धान्तों पर ही आक्रमण करना देश के प्रजातांत्रिक विकास के लिए अत्यंत घातक होगा।

आज हमारे देश में योजना बनाने का काम मुख्यतः राज्य के उच्च कर्मचारी कर रहे हैं। लगता तो है कि योजनाएँ राजनीतिक दलों के द्वारा नियोजित हैं, पर जिस दल के हाथ में शासन है और जिसकी योजनाएँ देश के सामने हैं उनका कार्य रूप में प्रस्तुत होते-होते जो रूप हो ज़ाता है वह सिविल सर्विस के मस्तिष्क की चीज़ ही है। ऐसा कहा जा सकता है कि अन्य लोग देश के जीवन की इन दिशाओं में इस सक्रियता के साथ विचार ही नहीं करते, अधिकतर लोग सरकारों पर निर्भर हैं और सरकार योजनाओं को जनमत के लिए और विशेषज्ञों के मत के लिए रखती भी है। कारण कुछ भी हो, पर स्थिति संतोषजनक नहीं है। वास्तव में देश के सम्बन्ध में योजनाओं की भूमिका प्रस्तुत करने का और उसकी रूप रेखा की कल्पना करने का कार्य प्रजातांत्रिक देशों में चिन्तकों का होना चाहिए। राजनीतिक दल और शासन करने वाली सरकारों का काम उनको व्यावहारिक रूप प्रदान करने का है। योजना बनाकर सरकार के द्वारा नामज़द विद्वानों की सही प्राप्त कर लेने की परम्परा प्रजातंत्र की नहीं है।

ऊपर की सैद्धान्तिक चर्चा केवल प्रासंगिक है। यहाँ कहने का अभिप्राय है कि भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशनों में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विद्वानों ने अपने इस महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिया है। अधिवेशन के अयोजकों ने बराबर समसामयिक भाषा सम्बन्धी देश की समस्याओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है और देश के प्रतिष्ठित विद्वानों ने इन समस्याओं के प्रति जागरूकता दिखाई है। उन्होंने समस्याओं के प्रत्येक पहलू पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है और समय समय पर अपने मत प्रकट किए हैं तथा सुझाव दिए हैं।

परन्तु अधिवेशनों के कार्य क्रम से यह भी स्पष्ट है कि परिषद् ने अपने सामने खोज तथा अध्ययन-अध्यापन की समस्या को सबसे अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि वह उनके अपने कार्य-क्षेत्र का कर्त्तव्य है। आज की स्थिति में यह कहना तो उचित नहीं है कि ऊपर उल्लिखित दायित्व हमारे लिए कम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जैसा कहा गया है, प्रजातांत्रिक विचारधारा का निर्वाह देशव्यापी जीवन ही कर सकता है। इनका संदर्भ भी अनेक जीवन के क्षेत्रों का स्पर्श करता है, अतः निर्णयात्मक ढंग से कोई भी वर्ग नहीं सोच सकता, केवल अपने विचारों और मतों से हम स्थिति और समस्या को अधिकाधिक स्पष्ट करने में सहायक हो सकते हैं। पर अपने विषय के अध्ययन तथा अध्यापन के सम्बन्ध में हमें ही अन्तिम रूप से सोचना है। इस दृष्टि से इनका महत्त्व हमारे लिए अधिक कहा जा सकता है।

परन्तु अधिवेशनों की भीड़-भाड़ में समस्याओं पर जो विचार-विनिमय होता है, अथवा खोज निबन्धों पर चर्चा होती है, वह बहुत कुछ ऊपरी रह जाती है। इस बात का अनुभव बहुत से लोग करते हैं और उनको इस बात की शिकायत भी होती है कि इतना आयोजन का श्रम करने के बाद हमारी उपलब्धि क्या है? वस्तुतः हम किन निर्णयों पर पहुँचते हैं? हम किन योजनाओं को निश्चित रूप दे पाते हैं? हम किस विषय पर अन्तिम रूप से विचार कर पाते हैं? वास्तव में यह भावना आन्तरिक है, और इस पर हमको विचार भी करना चाहिए।

यह ठीक है कि यदि हम में विचार और भाषा का अधिक संयम आ सके, यदि हमारी दृष्टि बात से अधिक काम पर रह सके, यदि हमारे आग्रह मत-भेद से अधिक मत-साम्य की बातों पर हों तो हमारे अधिवेशनों को उपर्युक्त दृष्टि से अधिक सफलता मिल सकेगी। कार्य तो हम अब भी अपने विषय में लगन और अध्यवसाय के साथ कर रहे हैं और अपनी समस्याओं पर विचार भी कर रहे हैं, पर तब संयोजन और संगठन के कारण हमारी गति तीव्र हो सकेगी और हमारी दिशाएँ भी स्पष्ट होंगी। लेकिन वर्तमान स्थिति में इन अधिवेशनों में दो-ढाई सौ विद्वानों का सम्मिलन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके विचार-विनिमय के आधार पर भले ही तत्क्षण कोई निष्कर्ष न निकलते हों, परन्तु चिन्तन की दिशाओं का उन्मेष तो निश्चय ही होता है। ज्ञान की प्रक्रिया यही है। प्रतिक्षण किसी निष्कर्ष पर पहुँचना न सम्भव ही है और न आवश्यक ही। सब का किसी विषय में सहमत हो जाना भी ज्ञान के क्षेत्र के अनुरूप नहीं माना जा सकता। यह सम्मेलन और विचार-विनिमय वर्ष-वर्ष चलने वाले चिन्तन-मनन को अधिक गति देने के लिए होता है, और यही इसकी सार्थकता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम इन अधिवेशनों का कुछ और उपयोग नहीं कर सकते या करना नहीं चाहिए। पिछले इलाहाबाद के अधिवेशन में एक सुझाव हमारे सामने आया भी था (प्रो० कपिल जी द्वारा), कि इतने विद्वानों को एकत्र होने का सुयोग मिलता है, क्यों न किसी सेमिनार की योजना भी की जाय जिसमें भाषा तथा साहित्य के किसी अंग पर उससे संबंधित विद्वानों द्वारा भाषणों का और विचार-विनिमय का प्रबन्ध किया जाय। इस प्रकार की योजना से अधिक लाभ होगा और हमको लगेगा कि हमने भी कुछ ग्रहण किया। इस सुझाव का सभी लोगों ने समर्थन किया था और संभव है, अगले अधिवेशन के संयोजक इस दिशा में भी प्रयत्न करें। परन्तु इस विषय में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए और हमारे सम्मिलित प्रयत्न से उनका निराकरण भी हो सकेगा।

अधिवेशन का आयोजन केवल तीन दिन में समाप्त हो जाता है। परन्तु सेमिनार के लिए एक सप्ताह या दो सप्ताह का समय आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त सेमिनार में दो ढाई सौ सदस्यों की किस रूप में व्यवस्था की जा सकेगी, यह भी प्रश्न है। कहा जा सकता है कि इतनी संख्या में लोग एक सप्ताह तक रुकने की सुविधा नहीं पा सकेंगे और न सब की रुचि ही हो सकती है। फिर भी संख्या ६० या ७० तक आसानी से पहुँच सकती है, यदि सेमिनार की योजना का समुचित आकर्षण हो। अब इतने लोगों का इतने दिनों तक प्रबन्ध किस प्रकार होगा, और कौन कर सकेगा। दो-तीन दिन के अधिवेशनों का प्रबन्ध विश्वविद्यालय सँभाल सकते हैं, पर इतने बड़े आयोजन की व्यवस्था कोई विश्वविद्यालय अपनी सीमित आर्थिक स्थिति में किस प्रकार कर सकेगा। यह संभव हो सकता है कि सेमिनार में उपस्थित होने वाले सदस्य अपने खाने पीने का खर्च स्वयं वहन करें। परन्तु जिन्हें सेमिनार को संचालित करने का दायित्व दिया जाएगा, उनका खर्च तो संयोजकों को वहन ही करना पड़ेगा। हाँ, यदि वे अपना सहयोग अपना ख़र्च कर के भी दे सकें तो काम आसान हो सकता है। लेकिन इतनी आशा करना आज के युग में अधिक होगा। सेमिनार में सम्मिलित होने वाले सदस्यों को भी कुछ सुविधाएँ चाहिए, अन्यथा भाग लेने वाले कम ही लोग रह जाएँगे।

इस विषय में यदि प्रांतीय सरकारों अथवा केन्द्रीय सरकार से अनुदान मिल सके तो कठिनाई हल हो सकती है। फिर प्रश्न हो सकता है कि यदि अनुदान से सेमिनार चलाना है तो अधिवेशन से उसे क्यों नत्थी किया जाय? अधिवेशन के साथ रखने से एक तो आने वाले सदस्यों को सहूलियत होगी, इसके अतिरिक्त खर्च की दृष्टि से भी बहुत कम में काम चल सकता है। प्राध्यापकों द्वारा आयोजित सेमीनार में अपेक्षाकृत बहुत कम व्यय होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ यह देखा जाता है कि जब सरकारें अपने अन्तर्गत आयोजित किसी योजना में मुक्त हस्त से खर्च करती हैं, स्वतंत्र संस्थाओं के प्रति उससे बहुत कम रकम के सम्बन्ध में भी उनके मन में सन्देह बना रहता है।

फिर भी हम इस प्रकार की योजना के पक्ष में हैं और हमारा सुझाव है कि इस वर्ष के अधिवेशन के साथ सेमिनार को नियोजित करने का प्रयत्न किया जाय। हम प्रारम्भ में यह कर सकते हैं कि कम से कम ख़र्च में काम चल सके और भविष्य में अपने अनुभव के आधार पर इस दिशा में हम आगे बढ़ सकते हैं*।

---

* 'अनुशीलन' सदस्यों से अन्य सुझाव आमंत्रित करता है।

हिन्दी अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष ११] जुलाई–सितम्बर १९५८ ई० [अंक ३

कबीर की 'उन्मनी' क्या है ?

संगमलाल पाण्डेय, एम० ए०, साहित्याचार्य, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

हिन्दी के सन्त-साहित्य में, विशेषतः कबीर-साहित्य में, 'उन्मनी' पद का विशेष महत्त्व है। यदि कबीर से पूछा जाता कि तुम क्या करते हो, तो वे निस्संदेह एक शब्द में उत्तर देते—'उन्मनी'। यही नहीं, यदि उनसे पूछा जाता कि तुम कौन हो, तो भी वे उत्तर देते 'उन्मनी'।

देखना है कि यह उन्मनी क्या है ?

यद्यपि संत-साहित्य पर, विशेषतः कबीर के ऊपर, हिन्दी साहित्य के उच्चकोटि के विद्वानों ने परम श्लाघनीय कार्य किया है, तथापि मुझे लगता है कि जो उन्मनी शब्द कबीर के दर्शन का सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द है, उसका अभी तक ठीक अर्थ भी निर्णीत नहीं हुआ है। कबीर के दर्शन और साहित्य के जानने वालों ने इस बात को स्वीकार किया है कि वे योग के, विशेषतः हठयोग के, विरोधी थे। इतना मानने पर भी उन सबों ने, पता नहीं क्यों, 'उन्मनी' शब्द की वही व्याख्या की है जो हठयोगी करते हैं। किंतु क्या अपने दर्शन के केन्द्रभूत शब्द को कबीर हठयोगियों से ले सकते थे ? हठयोग में उन्मनी का जो अर्थ है उसे पहले जान लेना आवश्यक है। 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है—

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

अर्थात् वायु को भीतर संचरित करने पर मन स्थिर हो जाता है। मन के सुस्थिर होने को

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम इन अधिवेशनों का कुछ और उपयोग नहीं कर सकते या करना नहीं चाहिए। पिछले इलाहाबाद के अधिवेशन में एक सुझाव हमारे सामने आया भी था (प्रो० कपिल जी द्वारा), कि इतने विद्वानों को एकत्र होने का सुयोग मिलता है, क्यों न किसी सेमिनार की योजना भी की जाय जिसमें भाषा तथा साहित्य के किसी अंग पर उससे संबंधित विद्वानों द्वारा भाषणों का और विचार-विनिमय का प्रबन्ध किया जाय। इस प्रकार की योजना से अधिक लाभ होगा और हमको लगेगा कि हमने भी कुछ ग्रहण किया। इस सुझाव का सभी लोगों ने समर्थन किया था और संभव है, अगले अधिवेशन के संयोजक इस दिशा में भी प्रयत्न करें। परन्तु इस विषय में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए और हमारे सम्मिलित प्रयत्न से उनका निराकरण भी हो सकेगा।

अधिवेशन का आयोजन केवल तीन दिन में समाप्त हो जाता है। परन्तु सेमिनार के लिए एक सप्ताह या दो सप्ताह का समय आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त सेमिनार में दो ढाई सौ सदस्यों की किस रूप में व्यवस्था की जा सकेगी, यह भी प्रश्न है। कहा जा सकता है कि इतनी संख्या में लोग एक सप्ताह तक रुकने की सुविधा नहीं पा सकेंगे और न सब की रुचि ही हो सकती है। फिर भी संख्या ६० या ७० तक आसानी से पहुँच सकती है, यदि सेमिनार की योजना का समुचित आकर्षण हो। अब इतने लोगों का इतने दिनों तक प्रबन्ध किस प्रकार होगा, और कौन कर सकेगा। दो-तीन दिन के अधिवेशनों का प्रबन्ध विश्वविद्यालय सँभाल सकते हैं, पर इतने बड़े आयोजन की व्यवस्था कोई विश्वविद्यालय अपनी सीमित आर्थिक स्थिति में किस प्रकार कर सकेगा। यह संभव हो सकता है कि सेमिनार में उपस्थित होने वाले सदस्य अपने खाने पीने का खर्च स्वयं वहन करें। परन्तु जिन्हें सेमिनार को संचालित करने का दायित्व दिया जाएगा, उनका खर्च तो संयोजकों को वहन ही करना पड़ेगा। हाँ, यदि वे अपना सहयोग अपना खर्च कर के भी दे सकें तो काम आसान हो सकता है। लेकिन इतनी आशा करना आज के युग में अधिक होगा। सेमिनार में सम्मिलित होने वाले सदस्यों को भी कुछ सुविधाएँ चाहिए, अन्यथा भाग लेने वाले कम ही लोग रह जाएँगे।

इस विषय में यदि प्रांतीय सरकारों अथवा केन्द्रीय सरकार से अनुदान मिल सके तो कठिनाई हल हो सकती है। फिर प्रश्न हो सकता है कि यदि अनुदान से सेमिनार चलाना है तो अधिवेशन से उसे क्यों नत्थी किया जाय ? अधिवेशन के साथ रखने से एक तो आने वाले सदस्यों को सहूलियत होगी, इसके अतिरिक्त खर्च की दृष्टि से भी बहुत कम में काम चल सकता है। प्राध्यापकों द्वारा आयोजित सेमीनार में अपेक्षाकृत बहुत कम व्यय होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ यह देखा जाता है कि जब सरकारें अपने अन्तर्गत आयोजित किसी योजना में मुक्त हस्त से खर्च करती हैं, स्वतंत्र संस्थाओं के प्रति उससे बहुत कम रकम के सम्बन्ध में भी उनके मन में सन्देह बना रहता है।

फिर भी हम इस प्रकार की योजना के पक्ष में हैं और हमारा सुझाव है कि इस वर्ष के अधिवेशन के साथ सेमिनार को नियोजित करने का प्रयत्न किया जाय। हम प्रारम्भ में यह कर सकते हैं कि कम से कम खर्च में काम चल सके और भविष्य में अपने अनुभ के आधार पर इस दिशा में हम आगे बढ़ सकते हैं*।

---

*इस विषय में 'अनुशीलन' सदस्यों से अन्य सुझाव आमंत्रित करता है।

समाधि है। उसको प्राप्त करने के लिए हठात् वायु को भीतर संचारित करने की आवश्यकता नहीं है। कबीर के ही शब्दों में इसका वर्णन यों है—

सन्तो सहज समाधि भली।
सांई ते मिलन भयो जा दिन ते, सुरत न अन्त चली॥
आंख न मूंदूं कान न रूंधूं, काया कष्ट न धारूं।
खुलै नैन मैं हंस हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं॥
कहूं सो नाम, सुनूं सो सुमिरन, जो कछु करूं सो पूजा।
गिरह-उद्यान एक सम देखूं, भाव मिटाऊं दूजा॥
जहं जहं जाऊं सोइ परिकरमा, जो कछु करूं सो सेवा।
जब सोऊं तब करूं दण्डवत, पूजूं और न देवा॥
सबद निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचन को त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न बिसरै, ऐसी तारी लागी॥
कहै कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट करि गाई।
सुख-दुख के इक परे परमसुख, तेहि में रहा समाई॥

स्पष्ट है कि कबीर की सहज समाधि अभाववाद और पलायनवाद से दूर है। सब कुछ करते हुए भी वे उन्मनी का अनुभव कर रहे हैं। उनकी साधना शब्द-साधना या नाम-साधना है। उठते-बैठते वे उसी नाम का स्मरण कर रहे हैं। वे सदैव जगे रहते हैं। वे कभी सोते नहीं हैं। उन्मनी में रहते हुए भी वे जाग्रत अवस्था के व्यवहार को जाग्रत अवस्था के व्यक्तियों की भाँति कर रहे हैं।

हठयोग की समाधि और कबीर की समाधि में इस प्रकार अन्तर है। पर सब से बड़ा अन्तर यह है कि कबीर की उन्मनी परमसुख है और यह ध्यान देने का विषय है कि हठयोग की उन्मनी का लक्षण परमसुख नहीं कहा गया है। मन का सुस्थिर होना भले ही सुख का कारण हो, पर वह सुख नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः हठयोग की उन्मनी और कबीर की उन्मनी में उतना ही अन्तर है जितना ख़सम (पति) और खसम (गगनोपम) में अथवा बेगमपुर (अन्तःपुर) और बेग़मपुर (परमसुख) में। जैसे संत-साहित्य के ख़सम और बेगमपुर को क्रमशः पति और अन्तःपुर नहीं समझना चाहिए वैसे उसकी उन्मनी को भी हठयोग की उन्मनी से बिलकुल भिन्न समझना चाहिए। हठयोग का 'उन्मनी' पद संस्कृत पद है और 'उत्' उपसर्ग और 'मन' शब्द को मिला-कर बना है। कबीर का 'उन्मनी' पद फारसी भाषा का शब्द है। यह वस्तुतः फ़ारसी के 'ऊमनम्' शब्द का रूपान्तरण है। लगता है, कबीर ने हठयोगियों के ज्ञान को परखने के लिए और उन्हें चकित करने के लिए उनके उन्मनी शब्द के तौल पर ही अपने ऊमनम् शब्द को उन्मनी के रूप में बना लिया था। 'ऊमनम्' शब्द को हम हिन्दी में 'ऊमन' के रूप में भी ले सकते हैं। यहाँ 'ऊ' का मतलब 'वह' (सः) है और 'मनम्' या 'मन' का अर्थ 'मैं' (अहम्) है। इस प्रकार 'ऊमनम्' या 'ऊमन' और इससे बने 'उन्मनी' शब्द का अर्थ होगा 'सोऽहम्' अर्थात् 'वह मैं हूँ' यानी ईश्वर मैं ही हूँ। इस प्रकार कबीर की उन्मनी 'सोऽहमस्मि' का ही पर्याय है।

ही मनोन्मनी अवस्था कहते हैं।[१] फिर उन्मनी अवस्था को प्राप्त करने वाले योगी की स्थिति का वर्णन करते हुए वहीं कहा गया है—

शंखदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देहे उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्॥
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः॥
खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तःसमाधिना॥
न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना॥
चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम्।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः॥
न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना॥
स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते।
निश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः॥
अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना॥[२]

अर्थात् उन्मनी अवस्था को प्राप्त करने वाला शंख-दुंदुभि आदि के नाद कभी नहीं सुनता, उसकी देह लकड़ी के समान हो जाती है। वह सभी अवस्थाओं से मुक्त है, सभी चिन्ताओं से रहित है। वह मृतक की भाँति रहता है। मृत्यु उसको मारती नहीं, कर्म उसको बाँधते नहीं। कोई उसे किसी प्रकार से साध नहीं सकता। वह रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श को नहीं जानता। वह अपने और पराये को नहीं जानता। वह कभी सोता नहीं, जागता नहीं। वह स्मरण और विस्मरण से रहित है। वह कभी उदित और अस्त नहीं होता। वह शीतोष्ण, सुखदुःख और मानापमान को नहीं जानता। स्वस्थ होकर वह जाग्रत अवस्था में भी सुप्तवत् व्यवहार करता है। वह निःश्वास और उच्छ्वास से रहित है। वह अवध्य और देहधारियों के वश से बाहर है, मन्त्रों और यन्त्रों से उसे पकड़ा नहीं जा सकता। स्पष्ट है कि हठयोग की उन्मनी अवस्था के निम्नांकित लक्षण हैं—

१—यह हठ-समाधि है।
२—यह मनःस्थैर्य है।
३—यह चित्तवृत्ति का निरोधमात्र है।
४—यह अभावात्मक है।

यदि हम कबीर की उन्मनी का लक्षण देखें तो ज्ञात होगा कि वह केवल चित्तवृत्ति का निरोधमात्र, अभावमात्र और मनःस्थैर्यमात्र नहीं है। फिर वह हठ-समाधि न होकर सहज

---

१. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'उन्मनी' का यही अर्थ किया है। देखिए 'कबीर' पृ० ५०।
२. हठयोग-प्रदीपिका ४। १०६-११३।

समाधि है। उसको प्राप्त करने के लिए हठात् वायु को भीतर संचारित करने की आवश्यकता नहीं है। कबीर के ही शब्दों में इसका वर्णन यों है—

सन्तो सहज समाधि भली।
सांई ते मिलन भयो जा दिन ते, सुरत न अन्त चली ॥
आंख न मूंदूं कान न रूंधूं, काया कष्ट न धारूं।
खुले नैन मैं हंस हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं ॥
कहूं सो नाम, सुनूं सो सुमिरन, जो कछु करूं सो पूजा।
गिरह-उद्यान एक सम देखूं, भाव मिटाऊं दूजा ॥
जहं जहं जाऊं सोइ परिकरमा, जो कछु करूं सो सेवा।
जब सोऊं तब करूं दण्डवत, पूजूं और न देवा ॥
सबद निरन्तर मनुआ राता, मलिन वचन को त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न बिसरै, ऐसी तारी लागी ॥
कहै कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट करि गाई।
सुख-दुख के इक परे परमसुख, तेहि में रहा समाई ॥

स्पष्ट है कि कबीर की सहज समाधि अभाववाद और पलायनवाद से दूर है। सब कुछ करते हुए भी वे उन्मनी का अनुभव कर रहे हैं। उनकी साधना शब्द-साधना या नाम-साधना है। उठते-बैठते वे उसी नाम का स्मरण कर रहे हैं। वे सदैव जगे रहते हैं। वे कभी सोते नहीं हैं। उन्मनी में रहते हुए भी वे जाग्रत अवस्था के व्यवहार को जाग्रत अवस्था के व्यक्तियों की भाँति कर रहे हैं।

हठयोग की समाधि और कबीर की समाधि में इस प्रकार अन्तर है। पर सब से बड़ा अन्तर यह है कि कबीर की उन्मनी परमसुख है और यह ध्यान देने का विषय है कि हठयोग की उन्मनी का लक्षण परमसुख नहीं कहा गया है। मन का सुस्थिर होना भले ही सुख का कारण हो, पर वह सुख नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः हठयोग की उन्मनी और कबीर की उन्मनी में उतना ही अन्तर है जितना ख़सम (पति) और खसम (गगनोपम) में अथवा बेगमपुर (अन्तःपुर) और बेग़मपुर (परमसुख) में। जैसे संत-साहित्य के ख़सम और बेगमपुर को क्रमशः पति और अन्तःपुर नहीं समझना चाहिए, वैसे उसकी उन्मनी को भी हठयोग की उन्मनी से बिलकुल भिन्न समझना चाहिए। हठयोग का 'उन्मनी' पद संस्कृत पद है और 'उत्' उपसर्ग और 'मन' शब्द को मिला-कर बना है। कबीर का 'उन्मनी' पद फारसी भाषा का शब्द है। यह वस्तुतः फ़ारसी के 'ऊमनम्' शब्द का रूपान्तरण है। लगता है, कबीर ने हठयोगियों के ज्ञान को परखने के लिए और उन्हें चकित करने के लिए उनके उन्मनी शब्द के तौल पर ही अपने ऊमनम् शब्द को उन्मनी के रूप में बना लिया था। 'ऊमनम्' शब्द को हम हिन्दी में 'ऊमन' के रूप में भी ले सकते हैं। यहाँ 'ऊ' का मतलब 'वह' (सः) है और 'मनम्' या 'मन' का अर्थ 'मैं' (अहम्) है। इस प्रकार 'ऊमनम्' या 'ऊमन' और इससे बने 'उन्मनी' शब्द का अर्थ होगा 'सोऽहम्' अर्थात् 'वह मैं हूँ' यानी ईश्वर मैं ही हूँ। इस प्रकार कबीर की उन्मनी 'सोऽहमस्मि' का ही पर्याय है।

'ऊमनम्' वाक्य का यह अर्थ दाराशिकोह ने अपनी पुस्तक 'मज्मा-ए-उल-बहरैन' में इस प्रकार दिया है—

'आन् दरूं रफ्तन व बरूं आमदने दमरा, बदो लफ्ज़ ताबीर करदा अन्। नफ्स कीं बाला मीरवद 'ऊ' मीगोयन्द व नफ्स कि दरूं मीआयद 'मन' मीन् नामन्द यानी 'ऊमनम्'। व सूफ़िया मशगूलि-ए-ईं दो लफ्ज़ रा 'हू अल्लाह' मीदानन्द।' अर्थात् साँसों का भीतर आना और बाहर जाना दो शब्दों द्वारा समझाया जाता है। जो साँस बाहर आती है उसे 'ऊ' (वह) कहा जाता है और जो भीतर जाती है उसे 'मन' (मैं) कहा जाता है। दोनों का योग 'ऊमनम्' हुआ जिसका अर्थ है 'वह मैं हूँ'। सूफ़ी लोग इसी को 'हू अल्लाह' (वह ईश्वर है) कहते हैं।

दाराशिकोह ने इस तरह अजपाजप के प्रसंग में ऊमनम् का बयान किया है। उसका मत है कि भारतीय साधकों का अजपाजप और सूफ़ियों का 'ऊमनम्' एक ही सिद्धान्त है। अद्वैत वेदान्तियों और तुलसीदास ने भी इसी सोऽहमस्मि वृत्ति को चरम लक्ष्य बताया है।[1]

अब हम कबीर के दर्शन से कुछ युक्तियाँ रखेंगे जो सिद्ध करती हैं कि उन्मनी का अर्थ ऊमनम् या सोऽहमस्मि ही होना चाहिए।

(१) कबीर की साधना नाम-साधना थी। नाम-साधना से हठयोग की उन्मनी का कोई सम्बन्ध नहीं है। पर इस साधना से ऊमनम् का घनिष्ठ संबंध है। ऊमनम् ही वस्तुतः वह अजर और अमर नाम है जिसे कबीर सदा बिना कष्ट उठाए जपते रहते हैं। अपने नाम-जप के प्रसंग में कबीर कहते भी हैं कि वे न तो माला फेरते हैं और न ओठ हिलाते हैं, फिर भी नाम-जप करते रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जैसे श्वासों का चलना स्वाभाविक है वैसे ही कबीर का ऊमनम् का जप करना भी। दाराशिकोह के कथन का यह अर्थ न लगाना चाहिए कि श्वास और उच्छ्वास का योग ही ऊमनम् है। उसका अभिप्राय यह है कि श्वास और उच्छ्वास की तरह ऊमनम् या सोऽहमस्मि, यह वृत्ति अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रहती है। यहाँ यह उल्लेखयोग्य है कि हठयोग की उन्मनी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध है पर कबीर की उन्मनी अन्य चित्तवृत्तियों का भले ही निरोध हो, पर सोऽहमस्मि रूप वृत्ति का निरोध नहीं है वरन् उसका तो सतत ध्यान है।

(२) कबीर की शिक्षा भी सोऽहमस्मि को जपने की है या इसके सतत ध्यान करने की है। कभी-कभी वे सोऽहम् को गढ़ मानकर उसे जीतने को कहते हैं। स्पष्ट है कि यही उनका चरम सिद्धान्त था। यदि हठयोग की उन्मनी को कबीर की उन्मनी माना जाय तो फिर कबीर की उन्मनी को उनका परम पद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका परम पद अद्वैत आत्मा की अनुभूति है, सोऽहमस्मि का अनुभव करना है। हठयोग की उन्मनी सोऽहमस्मि की अनुभूति नहीं हो सकती। अतः यदि कबीर की उन्मनी को उनका परम पद माना जाय, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, और फिर सोऽहमस्मि के सतत ध्यान को उनका परम पद माना जाय, जैसा कि कबीर स्वयं तथा उनके सभी व्याख्याकार कहते हैं, तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि 'उन्मनी' और 'सोऽहमस्मि' एकार्थक हैं। और यह 'ऊमनम्' से उन्मनी की व्युत्पत्ति करने पर ही हो सकता है। अतः सिद्ध है कि कबीर की उन्मनी ऊमनम् ही है।

---

१. सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप-शिखा सोइ परम प्रचण्डा॥—मानस, उत्तरकांड

(३) कबीर ने अपनी सहज समाधि को बतलाया है कि यह दिन-दिन अधिक बढ़ती जा रही है—'दिन-दिन अधिक चली'। इस समाधि को मनःस्थैर्य-रूप हठयोग की उन्मनी मान लेने से इसका प्रतिदिन अतिशय बढ़ना समझ में नहीं आता कि क्या है ? उन्मनी को 'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा' मान लेने से इसका अधिक होना समझ में आता है। ज्यों-ज्यों ऊमनम् का ध्यान या स्मरण बढ़ता है त्यों-त्यों उन्मनी अवस्था भी बढ़ती है।

(४) व्युत्थान-दशा में भी कबीर के दर्शन के अनुसार 'ऊमनम्' सत्य रहता है। आत्मा वस्तुतः परमात्मा ही है, चाहे उसे इस बात का ज्ञान हो न हो। इस दृष्टि से ऊमनम् नित्य प्राप्त है और उससे व्युत्थान असंभव है। जो व्युत्थान मानते हैं उन्हें इसके स्वरूप का—आत्मा के स्वरूप का—ज्ञान ही नहीं हुआ, वे माया में ही हैं। पर इस उन्मनी को हठयोग की उन्मनी मान लेने से इससे व्युत्थान संभव है और यह नित्य न हो कर अनित्य हो जाती है। वस्तुतः कबीर ने हठयोग की उन्मनी का तो तिरस्कार-सा किया है—

इंगला बिनसै पिंगला बिनसै, बिनसै सुषमनि नारी।
जब उन्मनि की तारी टूटै, तब कहं रही तुम्हारी॥

(५) कबीर की उन्मनी को देखा जाय तो सचमुच वह भारतीय दर्शन और फारसी तसव्वुफ का समन्वय करती है। 'सोऽहमस्मि' दोनों दर्शनों का परमपद-विषयक सिद्धान्त है। कबीर की उन्मनी को हठयोग की उन्मनी मान लेने से हम इसको तसव्वुफ या सूफीमत और इस्लाम का मत नहीं ठहरा सकते। पर कबीर का प्रत्येक सिद्धान्त ऐसा है जो भारतीय दर्शन और तसव्वुफ दोनों का निचोड़ है। उनकी उन्मनी को हठयोग की उन्मनी मान लेने पर वस्तुतः हम उनके इस समन्वयवादी दर्शन के बिलकुल विपरीत जाते हैं।

लगता है कि दाराशिकोह के समय 'उन्मनी' और 'अजपाजप' का प्रचलन भारतीय सन्तों में अधिक था। दाराशिकोह ने देखा कि यह वह सिद्धान्त है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों मानते हैं। अतः उसने इसको अपनी पुस्तक में दर्ज किया और इसके अर्थ की स्पष्ट व्याख्या की। आशा है, सन्त-साहित्य के विशेषज्ञ 'उन्मनी' शब्द के इस अर्थ पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके अभी तक की प्रचलित भ्रांति को दूर करेंगे।

जायसी से संबद्ध तिथियों का पुनःपरीक्षण

गोपाल राय एम० ए०, पटना कालेज, पटना

प्रस्तुत निबंध में जायसी के जीवन तथा काव्य-निर्माण सम्बन्धी प्रामाणिक तिथियों को निश्चित करने का प्रयत्न किया जायगा ।

जन्म-तिथि

जायसी का जन्म किस समय हुआ, यह हमें ठीक-ठीक नहीं मालूम । अपने जन्म-काल के संबंध में जायसी ने 'आखिरी कलाम' नामक ग्रंथ में लिखा है :

भा औतार मोर नौ सदी । तीस बरिस ऊपर कवि बदी ॥[१]

इस पंक्ति का अर्थ हिन्दी के तीन प्रसिद्ध विद्वानों ने तीन प्रकार से किया है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'नौ सदी' का अर्थ ६०० हिजरी करते हुए इसी वर्ष (१४६४-६५ ई०) को जायसी का जन्म-काल मानते हैं ।[२] आचार्य चन्द्रबली पांडेय 'भा अवतार...कवि बदी' का अर्थ 'नवीं सदी हिजरी में ३० वर्ष बीतने पर' अर्थात् ८३० हि० मानते हुए जायसी का जन्मकाल १४२७ ई० (८३० हि०) सिद्ध करते हैं ।[३] डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने 'नौ सदी' का तीसरा ही अर्थ करते हुए जायसी के जन्म-काल पर विस्तारपूर्वक विचार किया है । उन्होंने 'आखिरी कलाम' की अग्रांकित पंक्ति 'नौ सै बरस छतीस जे भए । तब एह कविता आखर कहे ।' का उल्लेख करते हुए तथा इसकी संगति 'भा औतार मोर नौ सदी' से बिठाते हुए यह विचार प्रकट किया है कि 'तीस बरस की आयु में उन्होंने (जायसी ने) यह रचना (आखिरी कलाम) की और वे 'नवसदी' में पैदा हुए थे । ६३६ में से तीस वर्ष निकाल देने पर ६०६ हि० आता है । ६११ हि० में एक बहुत बड़ा भूकंप आया था और सूर्य-ग्रहण भी ६०८ हि० में पड़ा था । जायसी इन घटनाओं को वयस्क होने पर ही कह सकते थे कि वे उनके जन्म के समय ही हुई थीं । 'नव सदी' का अर्थ या तो कवि को ठीक-ठीक मालूम नहीं था या 'नई' सदी से ही उनका तात्पर्य था । 'नव' शब्द का प्रयोग 'नए' के अर्थ में कवि ने बहुत जगह किया है । ६०६ के लिए कवि कह सकता था कि उसका जन्म एक नई सदी में हुआ था । और यह भी हो सकता है कि कवि 'नवसदी' का

---

१. जायसी-ग्रंथावली, सं० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ६८८ । २. जायसी-ग्रंथावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्क०, भूमिका, पृ० ५ । ३. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १४, पृ० ३६७ ।

अर्थ ६०० के बाद का समय समझता हो। 'आखिरी कलाम' के अंतस्साक्ष्य से यह ६०६ हिजरी (१५००-१५०१ ई०) जन्म सन् इतना स्पष्ट निकलता है कि सहसा उस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।[४]

इस प्रकार डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने ६०६ हि० को जायसी का जन्म-काल सिद्ध किया है, किन्तु उनके भी तर्क अपर्याप्त तो हैं ही, उनका निगमन भी आत्म-विरोधी है। उन्होंने अपने 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' (पृ० ४१-४२) में 'पद्मावत' का रचना-काल ६२७ हिजरी सिद्ध किया है। यदि ६०६ हिजरी को जायसी का जन्म-काल माना जाय तो ऐसी अवस्था में जायसी २१ वर्ष की उम्र में ही कवि कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। किन्तु जायसी ने स्वयं लिखा है कि 'तीस बरिस ऊपर कवि बदी' अर्थात् 'मैं तीस वर्ष की उम्र में कवि कहलाने लगा', डॉ० कुलश्रेष्ठ ने 'तीस बरिस...बदी' का यह अर्थ लगा लिया है कि 'मैंने तीस वर्ष की अवस्था में इस ग्रंथ (आखिरी कलाम) की रचना की', जो अशुद्ध है।

जायसी का जन्म-काल ६०६ हिजरी मान लेने पर, डॉ० कुलश्रेष्ठ के अनुसार, 'पद्मावत' की रचना जायसी की २१ वर्ष की अवस्था में माननी होगी। पर 'पद्मावत' जैसे श्रेष्ठ काव्य की रचना एक इक्कीस वर्षीय युवक के हाथों संभव नहीं है। 'पद्मावत' के अंतस्साक्ष्य से यह भी बिलकुल स्पष्ट है कि यह जायसी की वृद्धावस्था की रचना है। 'पद्मावत' के अंत में कवि ने अपनी वृद्धावस्था का उल्लेख निम्नांकित पंक्तियों में किया है—

मुहमद विरिध बएस अब भई। जोबन हुत सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनन्ह दै नीरू॥
दसन गए कै तुचा कपोला। बैन गए दै अनरुचि बोला॥
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गएउ तरहुँड़ सिर नाई॥
सरवन गए ऊँच दै सुना। गारौ गएउ सीस भा धुना॥
भँवर गएउ केसन्ह दै भुवा। जोबन गएउ जियत जनु मुवा॥
तब लगि जीवन जोबन साथाँ। पुनि सो मीचु पराए हाथाँ॥
बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़े आढ़े होहु तुम्ह केइँ यह दीन्ह असीस॥[५]

इस प्रकार जायसी का जन्म-काल, इस स्पष्ट अंतर्विरोध के कारण, ६०६ हि० नहीं माना जा सकता। इसी तर्क के आधार पर ६०० हि० को भी प्रामाणिक मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

जायसी के जन्मकाल संबन्धी इन तिथियों की अप्रमाणिकता एक और साक्ष्य से सिद्ध होती है। मालिक मुहम्मद जायसी की मृत्यु-तिथि प्रायः निश्चित है। काजी नसरुद्दीन हुसेन जायसी ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजाउदौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में इनका मृत्युकाल ५ रजब ६४६ हिजरी (१५४२ ई०) दिया है।[६] श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने भी अपने एक निबन्ध में इसे प्रामाणिक माना है।[७] यों जायसी के मृत्यु-काल के सम्बन्ध में जनश्रुतियों पर आधारित कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। किन्तु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

४. मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० १६। ५. जायसी-ग्रंथावली, सं० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ५५५-५६।
६. जायसी-ग्रंथावली; सं० रामचन्द्र शुक्ल, भू० पृ० ८। ७. जायसी का जीवन-वृत्त, ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० ४१७।

मुंशी गुलाम शरूर लाहौरी ने इनका मृत्यु-काल १६३६ ई० बताया है। (देखिए-खजीनतुल असफिया, पृ० ४७३) कुछ लोग १६५६ ई० को भी इनका मृत्यु-काल मानते हैं (द्रष्टव्य ना० प्र० प०, भाग २१, पृष्ठ ५८)।[८] किन्तु इन तिथियों को जायसी का मृत्यु-काल मानना असंगत है। जायसी का 'पद्मावत' १५४०-४१ ई० में लिखा गया था और उस समय जायसी वृद्ध हो चुके थे, यह अंतस्साक्ष्य से प्रमाणित होता है। वृद्ध होने के बाद कोई व्यक्ति ९६ या ११६ वर्ष तक जीता रहे, यह अविश्वसनीय है। ऐसी अवस्था में ९४९ हिजरी को जायसी का मृत्यु-काल माना जा सकता है। कम-से-कम इस तिथि को अप्रामाणिक मानने के लिए कोई आधार नहीं है। अब यदि ९०६ हि० अथवा ९०० हि० को जायसी का जन्म-काल माना जाए तो उनकी मृत्यु ४३ या ४९ वर्ष की अवस्था में सिद्ध होती है। पर ४३ या ४९ वर्ष की अवस्था वृद्धावस्था नहीं कहला सकती। 'पद्मावत' समाप्त करते-करते अर्थात् ९४७ हिजरी तक जायसी वृद्ध हो चुके थे, यह तो ऊपर उद्धृत वृद्धावस्था के वर्णन से स्पष्ट ही है। एक और प्रमाण से भी 'पद्मावत' के रचना-काल के समय जायसी की वृद्धावस्था सिद्ध होती है। 'पद्मावत' के स्तुति-खंड में कवि ने शेरशाह को आशीर्वाद देने का उल्लेख किया है—

दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहिं जुग राज।
बादसाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज॥

दिल्ली की गद्दी पर बैठने के समय शेरशाह की अवस्था ५३-५४ वर्ष की हो चुकी थी। अतः उसे आशीर्वाद देने वाला कवि अवश्य वृद्ध रहा होगा। अतः ९०० हि० अथवा ९०६ हि० को जायसी का जन्म-काल नहीं माना जा सकता।[९]

इन तिथियों (९०० हि०-९०६ हि०) की प्रामाणिकता के विरुद्ध इधर कुछ और प्रमाण मिले हैं। ई० सन् १९५२-५३ में प्रोफेसर सैयद हसन अस्करी को मनेर शरीफ से कई ग्रन्थों के साथ 'पद्मावत' और 'अखरावट' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं जिन पर उन्होंने एक विस्तृत निबन्ध 'द जर्नल आफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी' के ३९ वें अंक में लिखा। 'अखरावट' की प्रति की पुष्पिका में जुम्मा ८ जुल्क़ाद, ९११ हिजरी का उल्लेख है। संभवतः जिस मूल प्रति से इस प्रति की नकल की गई थी, उसकी पुष्पिका में यह तिथि लिखी हुई थी जिसे प्रतिलिपिकार ने ज्यों-का-त्यों उतार दिया है। इससे 'अखरावट' का रचनाकाल ९११ हि० के आसपास प्रमाणित होता है। 'अखरावट' जायसी की प्रथम रचना थी। जिस भूकंप का उल्लेख जायसी ने आखिरी कलाम में किया है—और जिसे डा० कमल कुलश्रेष्ठ,[१०] श्री परशुराम चतुर्वेदी[११], आदि विद्वानों ने भ्रमवश जायसी के जन्म के समय घटित मान लिया है—उससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि 'अखरावट' का रचना-काल ९११ हिजरी है। अपने जन्म और कवि रूप में प्रसिद्ध होने के समय का उल्लेख करते हुए जायसी लिखते हैं :—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥
आवत उधतचार बड़ ठाना। भा भूकम्प जगत अकुलाना॥

---

८. मलिक मुहम्मद जायसी, डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० १३। ९. पद्मावत-सार, इन्द्रचन्द्र नारंग, पृ० ३। १०. मलिक मुहम्मद जायसी, कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० ७। ११. सूफी काव्य-संग्रह, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४।

धरती दीन्ह चक्र बिधि भाईं। फिरै अकास रहट के नाईं ॥
गिरि पहार मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भल चाला ॥
मिरित लोक जेहिं रचा हिंडोला। सरग पताल पवन घट (खट ?) डोला ॥
गिरि पहार परवत ढहि गए। सात समुंद्र कह्च (कीच ?) मिलि भए ॥
धरती छात फाटि भहरानी। पुनि भइ मया जो सिस्टि हठानी (दिठानी ?)॥[१२]

प्रथम पंक्ति के बाद जायसी किसी भयानक भूडोल का वर्णन करते हैं। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, श्री परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वानों ने यह बतलाया है कि यह भूकंप जायसी के जन्म के समय हुआ था। 'तारीखे-दाउदी' (अब्दुल्लाह) 'मख़जने-अफ़ाग़िना' (नियमतुल्लाह) और बदाउनी के 'मुन्तख़बुत्तवारीख' के अनुसार ६१०-६११ हिजरी में उत्तर भारत में एक भयंकर भूचाल हुआ था, और कदाचित् इससे इतनी हानि पहुँची थी कि इतिहासकारों ने भी, जो इस प्रकार की घटनाओं पर विशेष ध्यान नहीं देते, इसका उल्लेख किया है।[१३] डॉ० कुलश्रेष्ठ जायसी का जन्मकाल ६०६ हिजरी मानते हुए भी यह मान लेते हैं कि यह भूकंप उनके जन्म के समय हुआ था और तर्क देते हैं कि 'इन घटनाओं को वयस्क होने पर ही कह सकते थे कि वे उनके जन्मकाल के समय ही हुई थीं।' यह तर्क कितना दुर्बल है, यह तो स्पष्ट ही है। पाँच वर्षों के अंतर को डॉ० कुलश्रेष्ठ किस प्रकार मिटा देते हैं, इसका रहस्य तो वे ही जानें।

यदि उपर्युक्त भूचाल-वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे जायसी ने इस भूकंप को स्वयं देखा हो। यदि जायसी के जन्म के समय यह भूकंप हुआ होता तो वे एक पंक्ति में 'भा भूकंप जगत अकुलाना' कहकर संतोष कर लेते। भूचाल का विस्तृत वर्णन इस बात का संकेत है कि जायसी ने उसे देखा और उसकी विकरालता का अनुभव किया था। प्रतीत ऐसा होता है कि जिस समय जायसी का कवि-जीवन आरंभ हुआ था, उसी समय वह भूचाल आया होगा। 'अखरावट' की पुष्पिका उल्लिखित ६११ हिजरी और ६१०-११ हिजरी में घटित इस भूकंप के उल्लेख में अद्भुत साम्य है और यह आकस्मिक नहीं प्रतीत होता। जायसी ने जानबूझ कर इसका वर्णन किया है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि 'अखरावट' जायसी की प्रथम रचना है और यह ६११ हिजरी में लिखा गया। अतः जायसी का जन्मकाल ६०० हिजरी या ६०६ हिजरी मानना असंगत हो जाता है। क्योंकि ५ या ११ वर्ष की अवस्था में 'अखरावट' जैसे सिद्धान्त-प्रधान ग्रंथ की रचना संभव नहीं है।

वस्तुतः 'नौ सदी' का अर्थ न तो ६०० हिजरी होगा और न 'नई सदी', क्योंकि कवि के जीवन की अन्य तिथियों से इनकी संगति नहीं बैठती। सदी का अर्थ 'सौ वर्षों का समूह' माना जाता है और 'नौ सदी' का अर्थ है ८०१ से ६०० तक की सौ वर्षों की अवधि। अतः जायसी का जन्म 'नौ सदी' में अर्थात् ८०१ हिजरी से लेकर ६०० हिजरी के बीच कभी हुआ था।

---

१२. जायसी ग्रंथावली, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ६८८। १३. प्रो० सैयद हसन अस्करी, द जर्नल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग ३६, पृ० १६।

आचार्य चंद्रबली पांडेय इसी दृष्टिकोण से जायसी का जन्मकाल ६ वीं सदी में तीस वर्ष बीतने पर अर्थात् ८३० हिजरी (१४२७ ई०) मानते हैं। जायसी की जन्म-तिथि ८३० हिजरी मान लेने पर उनकी उम्र ११६ वर्षों की ठहरती है जो असंभव तो नहीं किन्तु असामान्य अवश्य है। पद्मावत का रचना-काल ६४७ हिजरी मानने का यह अर्थ होगा कि जायसी ने ११७ वर्ष में इस ग्रंथ की रचना की थी, जो विश्वसनीय नहीं मालूम पड़ती। असल में आचार्य पांडेय जी ने 'कवि बदी' इन दो शब्दों पर ठीक से विचार नहीं किया है। 'कवि बदी' का अर्थ है 'कवि कहलाया' न कि 'कवि कह रहा है', जैसा आचार्य पांडेय जी को अभिप्रेत है।

'तीस बरिस ऊपर कवि बदी' से पता चलता है कि जायसी ने तीस वर्ष की उम्र में काव्य-रचना आरंभ की थी। जायसी की प्रथम कृति 'अखरावट' का रचना-काल ६११ हिजरी (१५०५-६ ई०) ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है। ६११ से ३० घटाने पर ८८१ बचता है और संभवतः इसी के आस-पास जायसी का जन्म हुआ था। ८८१ हिजरी (१४७६ ई०) को जायसी का जन्म-काल मान लेने पर जायसी के जीवन की अन्य तिथियों की संगति आसानी से बैठ जाती है। इसके अनुसार मृत्यु के समय जायसी की अवस्था ६८ वर्षों की ठहरती है, जिसे वृद्धावस्था मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि जायसी का जन्म ८८१ हिजरी (१४७६ ई०) में और मृत्यु ६८ वर्षों की अवस्था में ६४६ हिजरी (१५४२ ई०) में हुई थी। उनकी जीवन संबंधी अन्य घटनाओं की तिथियाँ तिमिराच्छन्न हैं।

जायसी ने कितने ग्रंथों की रचना की थी, इस संबंध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। श्री सैयद आले मुहम्मद[१४] के अनुसार जायसी ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी : १. पद्मावत, २. अखरावट, ३. सखरावत, ४. चंपावत, ५. इतरावत, ६. मटकावत, ७. चित्रावत, ८. खुर्वानामा, ६. मौराईनामा, १०. मुकहरानामा, ११. मुखरानामा, १२. पोस्तीनामा, १३. होलीनामा, १४. आखिरी कलाम। पर अभी तक जायसी लिखित केवल चार ग्रंथ प्राप्त हो सके हैं—१. पद्मावत, २. अखरावट, ३. आखिरी कलाम, और ४. कहारानामा या कहरानामा। 'कहरानामा' ही आले मुहम्मद की सूची का 'मुकहरानामा' ज्ञात होता है। 'कहरानामा' की रचनातिथि अज्ञात है। जायसी ने इस ग्रंथ में कहीं भी किसी तिथि का उल्लेख नहीं किया है। 'अखरावट' का रचनाकाल ६११ हिजरी (१५०५-६ ई०) है, यह हम सिद्ध कर चुके हैं। 'आखिरी कलाम' का रचनाकाल कवि ने[१५] स्वयं लिखा है कि :

नौ से बरस छतीस जो भए। तब एहि कविता आखर कहे।

अर्थात् ६३६ हिजरी (१५२६-३० ई०) में 'आखिरी कलाम' की रचना हुई थी। इस समय बाबर दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था और जायसी ने उसकी प्रशंसा शाहेवक्त के रूप में की है—

बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उनका बिधि साजा॥

इस प्रकार 'आखिरी कलाम' का रचना-काल ६३६ हिजरी (१५२६-३०) निर्विवाद है।

---

१४. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका १६६७, पृ० ५७।　　१५. जायसी-ग्रथावली, सं० माताप्रसाद गुप्त, पृ०६६१।

जायसी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'पद्मावत' का रचनाकाल विवादग्रस्त है। 'पद्मावत' की विभिन्न प्रतियों में उनकी रचनाकाल संबंधी पंक्ति के विभिन्न पाठ मिलते हैं। रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी-ग्रंथावली' के प्रथम संस्करण में 'सन नव सै सैंतालिस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।' पाठ स्वीकार किया था, किंतु दूसरे संस्करण में उन्होंने 'नव सै सैंतालिस' के स्थान पर 'नव से सत्ताइस' को ही मान्य समझा और इसका कारण यह बताया कि 'पद्मावत' के एक पुराने बँगला अनुवाद में, जिसे अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक कवि से कराया था, 'पद्मावत' का रचना-काल ९२७ हिजरी ही मिलता है—'शेख मुहम्मद जाति जखन रचित ग्रंथ संख्या सप्तविंश नवशत।'[१७] डॉ० माताप्रसाद गुप्त की कुछ प्रतियों (द्वि० ५, तृ० २, पं० १) में भी 'नौ सै सत्ताइस' पाठ मिलता है।[१८] 'पद्मावत' की सन् १८०१ ई० की लिखी एक प्रति में भी ग्रंथ-रचना-काल ९२७ हि० मिला था।[१९] भारत कलाभवन, काशी की कैथी प्रति में ९२७ के स्थान पर ९३६ हिजरी पाठ प्राप्त होता है।[२०] डॉ० माताप्रसाद गुप्त की दो प्रतियों (द्वि० ७ और ३) में 'पैंतालिस' पाठ है।[२१] पर डा० माताप्रसाद गुप्त की अधिकांश प्रतियों तथा रामपुर की प्रति में 'सैंतालिस' पाठ मिलता है। इनके आधार पर डॉ० गुप्त ने 'सन नौ सै सैंतालिस अहे। कथा अरंभ बैन कवि कहे।' पाठ स्वीकार किया है। प्रो० सैयद हसन अस्करी की विहारशरीफ वाली प्रति में ९४८ पाठ है।[२२] इस प्रकार 'पद्मावत' के रचना-काल के संबंध में पाँच तिथियाँ—९२७, ९३६, ९४५, ९४७, और ९४८—हमारे सामने आती हैं। वास्तविक तिथि कौन सी है, यह विचारणीय है।

'पद्मावत' के रचना-काल के संबंध में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत द्रष्टव्य है। उन्होंने 'पद्मावत' (संजीवन भाष्य) के प्राक्कथन में लिखा है :[२३]

'मैंने अर्थ करते समय शेरशाह वाली युक्ति पर ध्यान देकर ९४७ पाठ को समीचीन लिखा था, किंतु अब प्रतियों की बहुल सम्मति एवं क्लिष्ट पाठ की युक्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि ९२७ मूल पाठ था और जायसी ने 'पद्मावत' का आरम्भ इसी तिथि में अर्थात् १५२१ ई० में कर दिया था। ग्रंथ की समाप्ति कब हुई, कहना कठिन है, किन्तु कवि ने उस काल के इतिहास की कई प्रमुख घटनाओं को स्वयं देखा था।......मेरे मित्र श्री शंभुप्रसाद जी बहुगुणा ने मुझे एक बुद्धिपूर्ण सुझाव दिया है कि पद्मावत के विविध हस्तलेखों की तिथियाँ इन घटनाओं से मेल खाती हैं। हिजरी ९२७ में आरम्भ करके अपना काव्य कवि ने कुछ वर्षों में समाप्त कर लिया होगा। उसके बाद उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ समय-समय पर बनती रहीं। भिन्न तिथियों वाले सब संस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किए गए। ९२७ वाली कवि लिखित प्रति मूल प्रति थी। ९३६ वाली प्रति की

---

१६. वही, पृ० ६८९-६९०। १७. जायसी ग्रंथावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० ६। १९. खोज रिपोर्ट, १४ वाँ त्रैवार्षिक विवरण, १९२९-३१, पृ० ६२।
१८. जायसी-ग्रंथावली, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १३५ (पाद टिप्पणी)। २०. पद्मावत (संजीवन भाष्य) डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० ३३। २१. जायसी ग्रंथावली, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १३५ (पाद टिप्पणी)। २२. जे० बी० आर० एस०, भाग ३९। २३. पद्मावत (संजीवन भाष्य) प्राक्कथन पृ० ३३।

मूल प्रति हुमायूँ के राज्यारोहण की स्मृति रूप में चालू की गई। हिंजरी ६४५ वाली प्रति, जिसका माताप्रसाद जी गुप्त ने पाठांतर में उल्लेख किया है, शेरशाह की चौसा युद्ध में हुमायूँ पर विजय प्राप्त करने के उपरांत चालू की गई। ६४७ वाली चौथी प्रति शेरशाह की हुमायूँ पर कन्नौज विजय की स्मृति का संकेत देती है। पाँचवीं या अंतिम प्रति ६४८ हिजरी की है, जब शेरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठकर राज्य करने लगा था। मूल ग्रंथ जैसे का तैसा रहा, केवल शाहेवक्त वाला अंश जोड़ा गया।' पर डा० अग्रवाल का यह मत विश्लेषण करने पर निराधार सिद्ध होता है। यदि मूल ग्रंथ ६२७ में आरंभ किया गया होता और कुछ वर्षों में समाप्त हो गया होता तो उसमें उस समय के बादशाह का शाहेवक्त के रूप में वर्णन होता। पर 'पद्मावत' की एक भी ऐसी प्रति नहीं मिलती जिसमें शाहेवक्त के रूप में सिकन्दर लोदी अथवा इब्राहिम लोदी का वर्णन हो। यदि हम आचार्य चंद्रबली पांडेय का यह तर्क मान भी लें कि "सन् ६२७ हिजरी का जीवन-काल १२ दिसम्बर सन् १५२० से ३० नवम्बर १५२१ ई० तक था। यह वह समय था जब इब्राहिम लोदी और उसका सहोदर भ्राता जलाल परस्पर उस सिंहासन के लिए लड़ रहे थे जो सिकन्दर के नाम पर रो रहा था। अब मथुरा के हिन्दू यमुना में स्नान करने का साहस कर लेते थे, बाल बनवा सकते थे और अपनी मूर्तियों को बूचरखाने में जाने से रोक सकते थे। सिकन्दर का आतंक इब्राहिम भोग रहा था। जनता उसके प्रतिकूल पड़ती जाती थी। अनादर, अपमान एवं अन्याय में वह सिकन्दर का चचा निकला। बंगाल का हुसैनशाह कभी सत्य पीर की उपासना कर सदा के लिए सो गया था। सारांश यह कि एक भी बादशाह उस समय ऐसा न था जो जायसी का शाहेवक्त होता। संभव है कि जायसी ने पवित्र 'पद्मावत' को उन शासकों के शासन से बचाकर रखना ही उचित समझा हो और उसकी वंदना में शाहेवक्त को स्थान न दिया हो।" तो भी ६३६ वाली प्रति में शाहेवक्त के रूप में हुमायूँ का और ६४५-६४७ तथा ६४८ वाली प्रतियों में शेरशाह का वर्णन होना चाहिए था। पर ऐसा न होकर सभी प्रतियों में शाहेवक्त के रूप में शेरशाह का ही वर्णन है, तिथियाँ अवश्य बदली हुई हैं। किसी भी प्रति में शाहेवक्त के रूप में हुमायूँ का वर्णन नहीं हो सकता। यदि भिन्न तिथियों वाले सब संस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किए गए तो बाबर के राज्यारोहण के समय कोई संस्करण क्यों नहीं चालू किया गया? बाबर की पानीपत की विजय (१५२६ ई०) या खानवा युद्ध में उसका विजयी होना (१५२७ ई०) हुमायूँ पर शेरशाह की चौसा या कन्नौज युद्ध की विजय से कम महत्त्वपूर्ण घटनाएँ नहीं थीं। अतः डा० अग्रवाल का यह मत तो व्याघात दोष से पीड़ित है। इस मत को मान लेने पर जायसी को एक ऐसा खुशामदी कवि मानना पड़ेगा जो हुमायूँ के राज्यारोहण के समय उसकी स्मृति में अपने ग्रंथ का नया संस्करण चालू करता है और उसी हुमायूँ के क्रमशः चौसा युद्ध में और कन्नौज युद्ध में शेरशाह से पराजित हो जाने पर शेरशाह की विजय के उपलक्ष्य में अपने ग्रंथ के दूसरे नए-नए संस्करण चलाता है। जायसी जैसे साधु पुरुष के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना करना गलत ढंग से सोचने का परिणाम है।

'पद्मावत' के रचनाकाल के सम्बन्ध में जो पाँच तिथियाँ हमारे समक्ष आती हैं उनमें ६२७ और ६४७ पाठ का समर्थन एकाधिक प्रतियाँ करती हैं। ६३६, ६४५ और ६४८ का समर्थन केवल एक-एक प्रतियाँ करती हैं और इसे हम प्रतिलिपिकारों का प्रसाद मान सकते हैं। इनके आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचना असंभव है। इस प्रकार ६२७ और

६४७ दो तिथियाँ शेष रह जाती हैं, जिनपर गंभीरतापूर्वक विचार करना अपेक्षित है। फारसी लिपि में थोड़ी सी असावधानी होने पर 'सत्ताइस' और 'सैंतालिस' में भ्रम हो सकता है। हाथ से लिखने में इस गड़बड़ी के होने की बहुत अधिक संभावना रहती है। देखना यह है कि इन दोनों तिथियों में कौन तिथि ठीक है और कौन गलत।

सर्वप्रथम हम ६२७ हिजरी पर विचार करें। मिश्रबन्धु,[२४] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,[२५] डा० कमल कुलश्रेष्ठ,[२६] परशुराम चतुर्वेदी,[२७] श्री चंद्रबली पांडेय,[२८] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[२९] आदि विद्वान् ६२७ हिजरी को ही 'पद्मावत' का रचना-काल मानते हैं। पर 'पद्मावत' में शाहेवक्त के रूप में शेरशाह के ऐश्वर्य, पराक्रम, दानशीलता आदि का वर्णन है। हुमायूँ के ऊपर शेरशाह की विजय चौसा युद्ध में २६ जून, १५३९ को (६४६ हि०) और कन्नौज के युद्ध में १७ मई, १५४० को (१० मुहर्रम, ६४७ हि०) हुई। दिल्ली के सुलतान पद पर शेरशाह का अभिषेक २५ जनवरी, १५४२ ई० को (ता० ७ शव्वाल, हि० ६४८) हुआ। इस प्रकार रचना-तिथि और शाहेवक्त के वर्णन में विरोध हो जाता है। ६२७ हि० को 'पद्मावत' का रचनाकाल मानने वाले रामचन्द्र शुक्ल आदि उपर्युक्त विद्वानों ने इसका समाधान यों किया है कि जायसी ने ग्रन्थ का आरम्भ तो ६२७ हिजरी में ही किया था, किन्तु उन्होंने उसे शेरशाह के राज्यकाल में ६४७ हिजरी में (चन्द्रबली पांडेय के अनुसार ६४८ हिजरी में) समाप्त किया और उसी समय शाहेवक्त वाला अंश जोड़ा। 'पद्मावत' जैसे ग्रंथ का बीस वर्षों में समाप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ६२७ के पक्ष में ये विद्वान् कुछ तर्क रखते हैं, जिनका परीक्षण अपेक्षित है।

'सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।' पाठ मानते हुए रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष है कि 'इस दशा में यही संभव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रन्थ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। इसी से कवि ने भूतकालिक क्रिया 'अहा' (था) और 'कहा' का प्रयोग किया है।[३०] आचार्य चन्द्रबली पांडेय लिखते हैं: 'अहा' और 'कहा' पुकार कर कह रहे हैं कि जायसी भूतकाल की बातें कह रहे हैं, वर्तमान की नहीं।[३१] पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने अनेक हस्तलिखित प्रतियों के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद 'अहा.........कहा' के स्थान पर 'अहै.........कहै' पाठ स्वीकार किया है।[३२] डा० गुप्त के पाठ को अस्वीकार करने का कोई ठोस कारण हमारे पास नहीं है। इस प्रकार भूतकाल की बाधा सहज ही समाप्त हो जाती है।

६२७ के पक्ष में रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों का सबसे प्रबल तर्क यह है कि आलो-उजालो के बँगला अनुवाद में यही तिथि प्राप्त होती है। यह अनुवाद सन् १६५० ई० के आसपास अर्थात् 'पद्मावत' की रचना के प्रायः एक सौ वर्ष बाद किया गया था।

---

२४. मिश्रबंधु विनोद, भाग १ (प्रथम सं० १९१३) पृ० २९०। २५. जायसी ग्रथावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका पृ० ६। २६. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, कमल कुलश्रेष्ठ (प्रथम सं० १९५३) पृ० ४१-४२। २७. सूफी काव्य संग्रह, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४। २८. पद्मावत की तिथि तथा रचना-काल, श्री चन्द्रबली पांडेय, ना० प्र० प० भाग १२, पृ० १४२। २९. हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, (१९५२) पृ० २४०-४१। ३०, जायसी ग्रंथावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, भू० पृ० ६।

अभी तक 'पद्मावत' की एक भी इतनी प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं प्राप्त हो सकी है। इस प्रमाण की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अतः इसका परीक्षण आवश्यक है।

आलो-उजालो ने 'पद्मावत' का अनुवाद किसी हस्तलिखित प्रति से किया होगा, यह निश्चित है। फारसी लिपि की घसीट लिखावट सर्वविदित है जिसके कारण 'सैंतालिस' को 'सत्ताइस' पढ़ लेना असंभव नहीं है। संभव है कि आलो-उजालो ने किसी ऐसी प्रति से अपना अनुवाद प्रस्तुत किया हो जो सुलिखित न हो और उसने 'नौ से सैंतालिस' को 'नौ सै सत्ताइस' पढ़ लिया हो। साथ-साथ यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आलो-उजालो को इतिहास की तिथियों का अच्छा ज्ञान नहीं था अन्यथा उसने शेरशाह के वर्णन और ९२७ हि० का असामंजस्य अवश्य लक्षित किया होता।

डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने 'पद्मावत' की रचना-तिथि पर विचार करते हुए ९२७ हि० के पक्ष में एक विचित्र तर्क दिया है। उनका कथन है—"प्रस्तुत लेखक १५२० ई० ९२७ हि० को माननेवाले विद्वानों से मतैक्य रखते हुए एक और तर्क ९२७ हि० के पक्ष में रखता है। वह यह है कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना अंतिम ग्रंथ 'आखिरी कलाम' १५२९ ई० (९३६ हि०) में लिखा था।......जब कवि का 'आखिरी कलाम' अर्थात् अंतिम रचना ९३६ हि० की है तो 'पद्मावती' निश्चित रूप से उससे पूर्व की होगी।"[३३]

डा० कुलश्रेष्ठ 'आखिरी कलाम' का अर्थ 'कवि की अंतिम रचना' करते हैं। पर यह मान्यता निराधार और भ्रमपूर्ण है। किसी भी लेखक को नामों का इतना अभाव नहीं रहता कि वह अपनी किसी रचना का नाम 'अंतिम रचना' रखे, दूसरे भले ही इसकी अंतिम रचना को इस नाम से पुकारने लगें। यदि जायसी ने ९३६ हिजरी के ही आगे कुछ न लिखने की कसम खा ली होती तो यह जरूर संभव था। पर ऐसी कसम खाने का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ हि० में हुई थी और इतना निश्चित है कि 'पद्मावत' के कुछ अंश—कम-से-कम शेरशाह की प्रशंसा और कवि की वृद्धावस्था के वर्णन वाले अंश—काफी बाद में लिखे गए थे। ९३६ हि० में जायसी का 'पद्मावत' ९२७ हि० को रचनाकाल मानने वाले विद्वानों के अनुसार, अधूरा पड़ा हुआ था, और जायसी को इसे पूरा भी करना था; फिर वे किसी कारण अपनी एक रचना का नाम 'अंतिम रचना' रखते, यह समझ में नहीं आता। 'आखिरी कलाम' को जायसी की अंतिम रचना मानने के पूर्व यह मान लेना होगा कि 'पद्मावत' की रचना ९३६ हि० के पूर्व समाप्त हो गई थी, जो असंगत है। 'पद्मावत' २६ जून, १५३९ ई० (९४६ हि०) तक समाप्त नहीं हुआ था, यह निश्चित है; क्योंकि यदि ९२७ हि० और ९४६ हि० के बीच इसकी समाप्ति हुई होती तो शाहेवक्त के रूप में शेरशाह का वर्णन न होकर सिकंदर लोदी, इब्राहिम लोदी, बाबर अथवा हुमायूँ का वर्णन होता। ऐसा न होना इस बात का प्रमाण है कि 'पद्मावत' की समाप्ति शेरशाह के समय में हुई थी, आरम्भ चाहे जब हुआ हो।

अतः हम 'आखिरी कलाम' को जायसी की अंतिम रचना नहीं मान सकते। असल

---

३१. पद्मावत की लिपि तथा रचनाकाल, ना० प्र० प०, भाग १२। ३२. जायसी ग्रन्थावली, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १३५। ३३. डा० कमल कुलश्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य, पृ० २६।

में डा० कुलश्रेष्ठ को 'आखिरी कलाम' का अर्थ करने में भ्रम हुआ है। जायसी की इस रचना में मरणोपरांत जीव की दशा और कयामत के अंतिम न्याय आदि का वर्णन है। कयामत के अंत की बात को जायसी ने आखिरी कलाम कहा है और यह ग्रंथ का सर्वाधिक उपयुक्त नाम है। निष्कर्ष यह कि 'आखिरी कलाम' जायसी की अंतिम कृति नहीं। जायसी का अंतिम ग्रन्थ 'पद्मावत' है, जिसकी रचना ९४७ हि० में हुई थी तथा जिसमें कवि ने अपनी वृद्धावस्था का उल्लेख किया है। प्रो० सैयद हसन अस्करी भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[३४]

'पद्मावत' की रचनाकाल संबंधी पंक्ति का कौन सा पाठ प्रामाणिक माना जाय, यह विचारणीय है। यह तो निश्चित है कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अपेक्षा 'पद्मावत' का संपादन अधिक वैज्ञानिक ढंग से किया है। 'पद्मावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ भी शुक्ल जी को प्राप्त नहीं थीं। उन्होंने 'पद्मावत' के संपादन में चार मुद्रित प्रतियों और एक हस्तलिखित प्रति का उपयोग किया था।[३५] इसकी तुलना में डा० गुप्त ने १६ हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है।[३६] इन सोलह प्रतियों में से केवल तीन (द्वि० ५, तृ० ३ और पं० १) में 'सत्ताइस' और एक (प्र० १) में 'अहा...कहा' पाठ मिलता है। दो प्रतियों (द्वि० ७ और ३) में 'सैंतालिस' के स्थान पर 'पैंतालिस' और एक प्रति (प्र० १) में 'बैन कवि' के स्थान पर 'ताहि दिन' पाठ प्राप्त होते हैं। शेष प्रतियों के आधार पर वैज्ञानिक रीति से पाठ-शोध कर डा० गुप्त ने "सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै।" पाठ माना है।[३७] रामपुर राज्य की 'पद्मावत' की हस्तलिखित प्रति भी इसी पाठ का समर्थन करती है।[३८]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल अपने 'पद्मावत' की भूमिका (पृ०३३) में ९२७ हि० को ही मूल पाठ मानते हैं और इसका कारण ये 'प्रतियों की बहुल सम्मति' बतलाते हैं। यह विचित्र विरोध है कि एक ही आधार—प्रतियों की बहुल सम्मति—पर डा० गुप्त ९४७ पाठ मानते हैं और डा० अग्रवाल ९२७। इन दोनों मतों में डा० गुप्त का मत अधिक विश्वसनीय और प्रमाणपुष्ट है। डा० अग्रवाल का आगे कहना है कि 'पद्मावत की सन् १८०१ की लिखी एक अन्य प्रति में भी ग्रंथ-रचना-काल ९२७ मिला था। (खोज रिपोर्ट, १४ वाँ त्रैवार्षिक विवरण, १९२९-३१ पृ० ६२) ९२७, पाठ के रूप में एक तर्क यह भी है कि यह अपेक्षाकृत क्लिष्ट पाठ है।'[३९]

जहाँ तक १८०१ वाली प्रति का प्रश्न है, इसकी वैज्ञानिक रीति से परीक्षा नहीं हुई है, और इसलिए हम इस पर अधिक भरोसा नहीं कर सकते। 'अपेक्षाकृत क्लिष्ट पाठ' होना भी ९२७ को मान लेने के लिए पर्याप्त कारण नहीं है। आलो-उजालो के बँगला अनुवाद में दी हुई तिथि को भी आप्तवाक्य नहीं माना जा सकता, यह हम देख चुके हैं। वास्तव में डा० माताप्रसाद गुप्त का 'पद्मावत' की हस्तलिखित प्रतियों के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद

---

३४. प्रो० अस्करी, ए न्यूली डिस्कवर्ड वोल्यूम ऑफ अवधी वर्क्स इन्क्लूडिंग पद्मावत एण्ड अखरावट ऑफ मलिक मुहम्मद जायसी, जे० बी० आर० एस०, भाग ३९ पृ० १८। ३५. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी-ग्रंथावली, वक्तव्य पृ० १। ३६. डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, भूमिका पृ० २। ३७. वही, पृ० १३५। ३८. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत (संजीवन-भाष्य) प्राक्कथन, पृ० ३३। ३९. वही।

'नौ सै सैंतालिस' पाठ मानना और शाहेवक्त के रूप में शेरशाह का वर्णन हमें 'पद्मावत' का रचना-काल ९४७ हि० मानने के लिए बाध्य करता है।

'पद्मावत' का रचना-काल ९२७ हि० मानने वाले विद्वान् यह मानते हैं कि ग्रंथ शेरशाह के समय में समाप्त हुआ और उसी समय कवि ने शाहेवक्त की वंदना लिखी। पर यह मान्यता कल्पना का प्रसाद अथवा ९२७ वाले पाठ को युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए गढ़ा हुआ तर्क जान पड़ता है। स्तुति-खंड में सूफ़ी कवि ईश्वर की वंदना करते हैं। काव्य आरंभ करने के पूर्व ही ईश्वर की वंदना की जाती है, बाद में नहीं। अतः रचना से निश्चित है कि जायसी ने पहले स्तुति-खंड लिखा होगा। सिंहलगढ़-वर्णन के आरंभ में कवि लिखता है—'सिंघल दीप कथा अब गावौं।' जिससे स्पष्ट है कि पहले स्तुति खंड समाप्त करने के बाद उसने सिंहलगढ़-वर्णन आरंभ किया था। यह कहना कि केवल शेरशाह की स्तुति वाला अंश पीछे जोड़ा गया, कोई अर्थ नहीं रखता।

वास्तविकता यह है कि जायसी ने ९४७ हि० में 'पद्मावत' की रचना आरंभ की और ९४९ हि० से पूर्व उसे समाप्त कर दिया। स्तुति-खंड में शेरशाह के ऐश्वर्य, प्रताप, वीरता, ज्ञानशीलता, धार्मिकता आदि के वर्णन से विदित होता है कि 'पद्मावत' की रचना के समय शेरशाह दिल्ली का सुलतान हो चुका था और उसका ऐश्वर्य चरम सीमा पर पहुँच गया था। दिल्ली के सुलतान पद पर शेरशाह का अभिषेक २५ जनवरी, १५४२ को (ता० ७ शव्वाल, हि० सन् ९४८) को हुआ था। ९४७ हि० को 'पद्मावत' का रचना-काल मानने पर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि जायसी ने शेरशाह को 'दिल्ली सुलतान' कहा है, किन्तु ९४७ हि० में शेरशाह का राजतिलक नहीं हुआ था। आचार्य चंद्रबली पांडेय इसी आधार पर ९४७ हि० को 'पद्मावत' का रचना-काल नहीं मानते। उनका कहना है कि "हमारी समझ में 'पद्मावत' का आरंभ ग्रीष्म ऋतु में, संभवतः दशहरा को ही हुआ। यदि हमारा अनुमान ठीक है तो उस समय शेरशाह 'देहली सुलतान' नहीं था। वह तो अगस्त के लगभग दिल्ली में पहुँचता है। अतः इस दृष्टि से सन् ९४७ हि० को ठीक मानना उचित नहीं जान पड़ता।"[४०]

यदि आचार्य पांडेय के मतानुसार 'पद्मावत' का रचना-काल ग्रीष्म ऋतु में मान भी लिया जाए तो भी ९४७ हि० को 'पद्मावत' का रचना-काल मानने में कोई बाधा नहीं है। हुमायूँ पर शेरशाह की विजय कन्नौज के युद्ध में १७ मई १५४० ई० को (९ दिन-बीते ९४७ हि०) हुई थी और उसी समय वह दिल्ली का सम्राट् बन चुका था, राजतिलक भले ही बाद में हुआ। इसलिए ९४७ हि० में शेरशाह का सुलतान के रूप में उल्लेख और उसके प्रताप का वर्णन असंगत नहीं है।

९२७ हि० की अपेक्षा ९४७ हि० को 'पद्मावत' का अधिक प्रामाणिक रचना काल मानने का एक कारण और है। जायसी ने 'पद्मावत' के स्तुति खंड में 'करतार' सृष्टि की उत्पत्ति मुहम्मद साहब और उनके चार मित्रों का क्रमशः वर्णन करने के बाद ४५ पंक्तियों में शाहेवक्त शेरशाह के ऐश्वर्य और प्रताप का वर्णन किया है। इसके बाद वे पीर सैयद

---

४०. पद्मावत की लिपि तथा रचना-काल, ना० प्र० प०, भाग १२, पृ० १२६।

असरफ गुरु मोहदी, अपने चार दोस्तों और जायस नगर का उल्लेख करते हुए ग्रंथ का रचना-काल बताते हैं। तत्पश्चात् सिंहलगढ़ वर्णन से ग्रंथ का आरंभ होता है। सामान्यतः देखा जाता है कि कोई कवि अपने काव्य का समाप्ति-काल ही लिखता है—कम-से-कम प्राचीन कवियों ने तो ऐसा ही किया है। आधुनिक लेखकों के समान प्राचीन लेखकों में 'कब ग्रंथ आरंभ हुआ, लिखने में कौन-कौन-सी दिक्कतें हुईं, कितने वर्षों में ग्रंथ समाप्त हुआ' आदि लिखने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। सभी सूफी कवियों ने ग्रंथ का समाप्ति-काल ही लिखा है। फिर जायसी ने ग्रंथारंभ की तिथि देना क्यों आवश्यक समझा, यह समझ में नहीं आता। इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि चूँकि जायसी बीस वर्ष बाद ग्रंथ समाप्त कर रहे थे, अतः उन्होंने ग्रंथ के महत्त्व को बढ़ाने के लिए ग्रंथारंभ की तिथि देना आवश्यक समझा हो। पर ऐसी अवस्था में तो उन्होंने यह लिखना भी आवश्यक समझा होता कि ग्रंथ को पूरे होने में बीस वर्ष क्यों लगे। इसके साथ-साथ उन्होंने ग्रंथ का समाप्ति-काल भी लिखा होता। अतः यह बात युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ती कि जायसी ने बीस वर्ष पहले की ग्रंथारंभ की तिथि का उल्लेख किया है पर समाप्ति-काल नहीं लिखा है।

इस विवेचन से डॉ० माताप्रसाद गुप्त का पाठ 'सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै।' ही अधिक उपयुक्त मालूम होता है। हिन्दी साहित्य के आरंभिक विदेशी इतिहासकारों, गार्सां द तासी और डा० ग्रियर्सन ने 'पद्मावत' का रचना-काल ९४७ हि० ही स्वीकार किया है। प्रो० सैयद हसन अस्करी 'पद्मावत' का रचना-काल ९४७ हि० (१५४०-४१ ई०) ही मानते हैं।[४१] १८ वीं शताब्दी में लिखित 'पद्मावत' की एक प्रति में, जिसे पटना के किसी भोलानाथ ने उर्दू लिपि में लिखा था, ९४७ हि० पाठ ही मिलता है। यह प्रति प्रो०अस्करी को मिली थी और इस समय बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना के पुस्तकालय में सुरक्षित है।[४२]

---

४१. जे० बी० आर० एस०, भाग ३९, पृ० १७। ४२. वही।

भोज की शृंगाररस संबंधी मान्यता

मनोहरलाल गौड, धर्म समाज कालिज, अलीगढ़

संस्कृत के साहित्यालोचकों में भोज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने प्राचीन परम्पराओं से मुक्त होकर अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किए हैं। उनका अध्ययन विशाल है, पाण्डित्य गंभीर है और शैली प्रौढ़ है। अलंकार, रस, गुण, दोष, चरित्र-चित्रण आदि सभी विधाओं के विषय में उन्होंने नवीन विचार उपस्थित किए हैं और प्राचीन विचारों का उपयोग किया है। विचारणा उनकी बड़ी विस्तृत और व्यापक है। प्रस्तुत निबंध में उनके सब सिद्धान्तों का उल्लेख न कर केवल रस सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करने का प्रयास है। यह अंश है भी सबसे अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण।

भोज के दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—'सरस्वती कंठाभरण' और 'शृंगार प्रकाश'। पहले में काव्य से सम्बन्ध रखने वाली अनेक सामान्य समस्याओं पर विचार किया गया है। एक प्रकार से यह कविशिक्षा का ग्रन्थ है। दूसरा काव्यरस का, विशेषतः शृंगार रस का, प्रतिपादक है। काल-क्रम से 'शृंगार प्रकाश' उनका बाद का ग्रंथ है। इसीलिए 'सरस्वती कंठाभरण' में जिन निर्णयों को बताते हुए भोज कहीं-कहीं अव्यवस्थित से हो गए हैं उन्हीं का 'शृंगार प्रकाश' में बड़ी स्पष्टता और विश्वास से स्थापन उन्होंने किया है। शृंगार रस सम्बन्धी उनकी मान्यता भी 'सरस्वती कंठाभरण' में व्यक्त हुई है। पर उसे स्पष्टता मिली 'शृंगार प्रकाश' में। यह मान्यता अनेक अंशों में मौलिक है और एक नवीन दिशा की ओर संकेत करती है। इसलिए उसका परिचय प्राप्त करना साहित्यमात्र के लिए उपयोगी होगा।

सबसे पहले हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भोज मूलतः अलंकारवादी हैं। भामह और दण्डी के वे अनुयायी हैं। इसलिए रसतत्व को भी उन्होंने अलंकार समझ कर विचारा है। काव्याभिव्यक्ति की तीन श्रेणियाँ होती हैं—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति। रसमयी अभिव्यक्ति रसोक्ति है जो दूसरी दोनों की अपेक्षा अधिक हृदयग्राहिणी है।

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासुग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥

रस को उक्ति का अंग मानना स्पष्टतः अलंकारवाद का प्रभाव है। पर फिर भी भोज हृदय से रसतत्व के महत्त्व को समझते हैं। दण्डी केवल दो ही उक्तियाँ मानते हैं: स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। भामह एक वक्रोक्ति ही स्वीकार करते हैं। पर भोज ने उनसे बढ़कर रसोक्ति की पृथक् स्थापना की है। इसका अर्थ यही है कि उन्हें रसतत्व भले ही उक्ति का अंग प्रतीत हुआ हो पर अलंकार और गुणों के समान वह महत्त्वपूर्ण अवश्य लगा। इसका विवेचन

उन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् आदि अलंकारों के प्रसंग में किया है। काव्य को मानव शरीर का रूपक देकर रस को उसकी आत्मा मानना जैसी कोई धारणा भोज की नहीं है। फिर भी उन्होंने अलंकार और गुणतत्व से रसतत्व को पृथक् और श्रेष्ठ माना है। इस प्रकार रस सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से भोज अलंकारवाद और रसवाद के मध्य में आते हैं।

भोज के अनुसार रस एक है और वह शृंगार है। इसके लिए उन्होंने 'अहंकार', 'अभिमान' और 'शृंगार' तीन शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे रस की मूल भावना के विकास की विभिन्न कक्षाओं को व्यक्त किया है। काव्य की भाषा और उससे व्यक्त हुए भाव का आपस का क्या सम्बन्ध है, इस समस्या की ओर ध्यान गया है व्यंजना-वादियों का और रस पदार्थ क्या है, वह एक है या अनेक और उसका हमारे हृदय से क्या सम्बन्ध है, इस बात पर भोज ने बहुत और गंभीर विचार किया है। उसमें भी रस की संख्या पर इनका विशेष विमर्श है। भोज की मूलगत मान्यता यह है कि रस पदार्थ एक, अखण्ड और आत्म-धर्म है। वह प्रिय, स्निग्ध और द्रावक है। इसलिए उसे शृंगार कहना चाहिए। करुण, वीर, हास्य आदि के भेद उसकी अनुभूति क्रिया के मध्य में आते हैं उसी प्रकार जैसे ब्रह्म सृष्टि के आदि में एक और अन्त में एक तो रहता ही है मध्य में भी प्राकृतिक अनेकता में उसकी एकता दर्शन में प्रतिपाद्य है। भोज सांख्य दर्शन से विशेष प्रभावित हैं। प्रकृति तत्व से सृष्टि के विकास-क्रम की कथा ही उनके रस-विकास की कथा प्रायः बनी है।

अहंकार, अभिमान और शृंगार इन तीन शब्दों का रस के लिए जो प्रयोग हुआ है उसका अर्थ यह है। काव्य के भावविकास की तीन दशाएँ होती हैं—मूल दशा, विकास दशा और चरम दशा। इनमें से मूल दशा को मूल और प्ररोह दो भागों में बाँट सकते हैं। इस लिए ये अवस्थाएँ चार भी हो जाती हैं। जिसे रस कहा जाता है वह मूलतः आत्मधर्म है, रसिक के व्यक्तित्व का भाज्य अंग है। इसके रहने से हम रसिक कहलाते हैं। यह तत्व सामान्यतः एक है और प्रिय है। इसलिए इसे शृंगार कहा जाना चाहिए। काव्यानुभूति में रस के अंग स्वरूप जो स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि हैं उन सब के मूल में हमारा यह आत्मधर्म 'रस' रहता है। वह संसार अथवा काव्य के पदार्थों को देखने, समझने के लिए एक स्वस्थ और सरस दृष्टि हमें प्रदान करता है। इसलिए यह 'रस' हमारे सभ्य, शिष्ट और संपन्न होने का चिह्न है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह विषयों से असंपृक्त, अनवच्छिन्न रहता है। इसी का जब विषयों से सम्बन्ध होता है तो उसमें भेद, अनेकता एवं स्वभाव की विविधता आ जाती है। यह इसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं है। काव्य में जिन्हें स्थायी, संचारी आदि कहा जाता है वे वास्तव में मूलगत भाव नहीं हैं। वे विषय-संपृक्त हैं अतएव अनेक हैं। इसीलिए वे सदा रहने वाले नहीं हो सकते। उन्हें स्थायी कहना उचित नहीं है। वे सभी संचारी हैं, कुछ कम और कुछ अधिक। स्थायी, संचारी आदि संज्ञाओं द्वारा भाव की जिस स्थिति का संकेत आचार्यों ने किया है वह वास्तव में भाव की भावना दशा है। रस इससे पहले और बाद में ही रहता है। भावना दशा विषय सापेक्ष, अनेक और सखण्ड है। रस दशा एक, निरपेक्ष और अखण्ड है।

वह क्या है? भोज ने उसे 'अहंकार' और 'अभिमान' दो शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने इस समय के प्रचलित 'गर्व' अर्थ में न कर यौगिक अर्थ

'अहम्' की अनुभूति में किया है। अहम् अर्थात् आत्मा। यह अहंकार अपने ही आत्मतत्व आनंद की अनुभूति है। इसी के आस्वादन से योगी 'आत्मा राम' बनता है—'नहिस्वात्मारामं विषय मृगतृष्णा भ्रमयति'—(शिवमहिम्न स्तोत्र)। इसे आत्मकाम, आत्मरति कह सकते हैं।

यह 'भावना' से पूर्व और उसके अनंतर भी अवस्थित रहता है। भाव जिसके द्वारा अनुभवगम्य बनता है वह हमारा 'अहम्' जो हमारे परिष्कृत चरित का चिह्न है, हमारी पूर्णता का द्योतक है। यह अहंचेतना वह बीज है जो विविध भावों के रूप में प्ररोहित होता है। अहम् का स्वरूप क्या है, यदि यह पूछा जाय तो कह सकते हैं कि जो आत्मा का अपने प्रति प्रेम है, वह आत्मकाम या आत्मरति है। ऋग्वेद के मंत्र में बताया गया है कि सृष्टि के प्रारंभ में काम उत्पन्न हुआ। वही मन का पहला रेतस् था। 'कमस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्', 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयः' आदि उपनिषद् वाक्य भी इसी तत्व की ओर संकेत करते हैं।

यह आत्मकाम अन्तर्मुख और बहिर्मुख दो रूप का होता है। अन्तर्मुख विषयानपेक्ष प्रत्यक् स्वभाव का है। बहिर्मुख विषयोन्मुख हो जाता है। इसी का नाम अभिमान है। ऐसा मान जो किसी की ओर प्रवृत्त होता है [अभि = ओर को, मान = मनन]। इसकी सत्ता इतनी प्रबल होती है कि यह विषय को अपने प्रभाव से प्रभावित करती है, उसकी अनुभूति पर अपना रंग चढ़ाती है। अवसादी स्वभाव के व्यक्ति को संसार की प्रत्येक अनुभूति अवसादपूर्ण और इसी प्रकार प्रसादी स्वभाव वाले को सर्वत्र प्रसन्नता के जो दर्शन होते हैं उसकी व्याख्या यह नहीं है कि उसके लिए संसार के विषय ही अपना स्वभाव बदल लेते हैं, अपितु यह है कि उसका प्रकृतिस्थ भाव बाहर की अनुभूति को प्रभावित कर देता है। अपने रंग से उसे रँग देता है। मनोविज्ञान में जिसे 'प्रोजेक्शन' कहते हैं वह रस प्रसंग में प्रायः सर्वदा होता है। तभी तो काव्य के करुण, रौद्र, भयानक आदि दुःखात्मक भाव भी आनन्द रूप में प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि हमारा अभिमान जो आत्मधर्म होने से आनन्द स्वरूप है समस्त अनुभूतियों को आनन्दात्मक बना देता है।

अहंकार और अभिमान में अन्तर केवल इतना ही है कि पहला अर्थात् अहंकार निरपेक्ष काम है और दूसरा सापेक्ष। हैं दोनों अव्यक्त ही। इन्हें विषय के संसर्ग से जब अभिव्यक्ति मिलती है तब वे भाव बन जाते हैं। यह अनुभूति की प्रकृष्ट कोटि की दशा है और व्यक्तावस्था होने से विषयों के संपर्क के कारण इसमें भेद, अनेकता, विविधता आदि धर्म आ जाते हैं। अनुभूति की यह व्यवहार दशा है और शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक आदि संज्ञाएँ इसी कोटि में व्यवहृत होती हैं। इस अवस्था में प्रतीत होने वाले भाव अस्थिर स्वभाव के होते हैं। स्थिरता और व्यापकता तो केवल अहंकार और अभिमान के धर्म हैं। अतः भोज इस भाव में न तो संख्या की इयत्ता को स्वीकार करते हैं और न उनके स्थायी संचारी आदि भेदों को। उनके अनुसार संचारिता प्रत्येक भाव में है और इनकी ४६ संख्या भी कोई निश्चित नहीं। इनसे अधिक अनेक भाव होते हैं।

इस अवस्था में भावों में भी उत्कर्षापकर्ष आते हैं। एक भाव दूसरे से मिलकर वृद्धि ग्रहण करता है। इसलिए आचार्यों के स्थायी भाव, संचारी भाव और सात्विक भाव इसी कोटि में आते हैं। यह रसानुभूति की मध्यमावस्था है। इससे पूर्व अहंकार की रूढ़ावस्था थी जिसमें अहंकार और अभिमान का ग्रहण होता है।

मध्यमावस्था के अनन्तर रसानुभूति की उत्तरा कोटि आती है जिसमें उत्कृष्ट दशा के स्थायी, संचारी आदि मिलकर एक हो जाते हैं। वे अनुभविता के व्यक्तित्व में आत्मसात् हो जाते हैं। भोज की भाषा में वे फिर लौट कर अहंकार बन जाते हैं। यही रस है। इसे प्रेमन् कहना चाहिए क्योंकि इस स्थिति में आकर प्रत्येक भाव में प्रियता आ जाती है, वह आत्मकाम बन जाता है, हमारा अपना हो जाता है। भोज के शब्द ये हैं :—

'रूढाहंकारता रसस्यपूर्वाकोटिः। रत्यादीनामेकोनपंचादशतोऽपि विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। रसस्यैवं मध्यमावस्था। भावान्तराणामपि परमपरिपाके प्रेमरूपेण परिणतौ रसैकायनमिति रसस्य परमाकाष्ठा।'

भोज का विशेष प्रतिपाद्य यह है कि साहित्य के आचार्यों ने जिसे शृंगार, हास्य, करुण आदि रस बताया है वह वास्तव में भाव-कोटि की अनुभूति है क्योंकि उसमें चित्त की विषयाकार स्थिति विद्यमान रहती है। जब तक अनुभूति का विषयों से संपर्क बना रहता है तब तक वह निरपेक्ष नहीं हो पाती और तब तक उसमें रसता, एकमात्र आनंदरूपता नहीं आ पाती है। जो वास्तविक रस है वह तो आत्मकाम है जिसे अहंकार कहना चाहिए। रस वह है जो अपने से संबंधित दूसरों को रसमय बना ले, उन्हें स्व-रूप कर ले और स्वयं आनंदस्वरूप भी हो। यही रसानुभूति के आदि में और यही अन्त में विद्यमान रहता है। इस प्रकार काव्यानुभूति में एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि रस से भाव और भाव से रस उत्पन्न होता है। अभिमान से रत्यादि वस्तु सापेक्ष भाव का जन्म होना रस से भाव की उत्पत्ति है और भावों से समन्वयात्मक रस का जन्म जो होता है वह भाव से रस की उत्पत्ति है।

आत्मरति विषय संपृक्त होकर किस प्रकार प्रकृष्ट होती है और उसमें किस प्रकार बहिर्दर्शनीयता आ जाती है इसके लिए भोज ने एक उत्तम उदाहरण दिया है। किसी युवक को युवती ने प्रेमपूर्वक देखा तो वह इससे अपने को धन्य समझता हुआ कहता है कि :—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया त्रस्तसारंगतरलायतनेत्रया॥

उपनिषद् के वाक्य—'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति' तथा 'सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्चप्रेष्ठश्च' इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। भगवद्गीता में भी कहा है :—

सर्वेषामपि भूतानः नृपस्वात्मैव बल्लभः।
इतरे पत्यवित्ताद्याः तद्वल्लभतयैवहि॥

इस सिद्धान्त से रसानुभूति के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१—रस निरपेक्ष अनुभूति है और उसमें दूसरों को रसरूपता प्रदान करने की शक्ति विद्यमान रहती है।

२—यह संख्या में एक है और प्रिय है। इसलिए उसे शृंगार, प्रेमन् आदि की संज्ञा दी जाती है।

३—यह रस की प्रेमरूपता के कारण ही है कि करुण, रौद्र, बीभत्स आदि रस प्रिय बन जाते हैं।

४—विषयों से संपृक्त अनुभूति भावना का विषय रहती है, अतः वह भाव है, रस नहीं। इसलिए साहित्याचार्यों के रस, स्थायीभाव, संचारीभाव आदि सब भाव हैं।

५—यद्यपि भोज ने कहा नहीं पर व्यंजना यही है कि रस का वास्तविक स्थायी भाव अहंकार है। वह तीन कोटियों को पार करता हुआ रस पदवी प्राप्त कर लेता है।

६—४९ भावों में से कुछ सदा के लिए स्थायी और दूसरे व्यभिचारी रहें, यह तर्क-संगत नहीं है। पात्र और परिस्थिति के अनुसार इनमें से कोई भी भाव स्थायी अथवा संचारी हो सकता है। एक के स्थायी हो जाने पर दूसरे उसके संचारी बन जाते हैं। इस प्रकार रसों की संख्या नौ, दस आदि न होकर ४९ अथवा इस से भी अधिक हो सकती है।

सांख्य और भोज

१—भोज ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में अनेक बातें सांख्य दर्शन से ली हैं। वह सत्कार्यवाद का पक्षपाती है। 'सन्नेव आविर्भवति न तु असद् उत्पद्यते'। सत ही सदा आविर्भूत होता है, असत् की उत्पत्ति कभी नहीं होती। इसीलिए अहंकार को रस उन्होंने बताया है। जो उत्तरकाल में विकसित होकर रस कहलाता है वह पहले भी रस ही है। अन्तर इतना ही है कि पूर्ण अभिव्यक्ति उसे नहीं मिली है।

२—अहंकार तत्व भी सांख्य दर्शन का प्रसिद्ध अहंकार है जो सृष्टि के विकास में मूल प्रकृति से तीसरा पड़ता है—'प्रकृतेर्महान्। महतोऽहंकारः।' सांख्य दर्शन में अहंकार को अभिमान भी कहा जाता है और उसी दशा में जब कि वह विषयाभिमुख हो जाता है। यही आचार्य भोज की मान्यता है।

३—अहंकार सत्वगुणप्रधान बुद्धि का धर्म है। सत्व की शुद्धि से बुद्धि का परिमार्जन और अहंकार की स्वच्छता आती है। यह मान्यता भी सांख्य दर्शन के अनुसार ही है। अतः भोज और सांख्याचार्य दोनों के मत में अहंकार व्यक्तित्व का सराहनीय गुण है, निंदनीय नहीं।

मनोविश्लेषण और भोज

भोज की आत्मकाम की कल्पना मनोविश्लेषण के सिद्धान्त से साम्य रखती है। इनका अहंकार-शृंगार मनोविश्लेषण में अहम् (ईगो) अथवा इदम् (इड) के समकक्ष कहा जा सकता है। वहाँ भी मूल काम के दो भेद किए जाते हैं—'इगो लिबिडो' और 'ऑब्जेक्ट-लिबिडो'। पहला निर्विषय, अंतर्मुख है दूसरा सविषय, बहिर्मुख। पहले का विषय स्वयं कर्ता या आत्मा ही रहता है पर भोज और मनोविश्लेषकों में यह अन्तर है कि पहला आत्मकाम को आत्मा का पवित्र धर्म मानता है। हमारे व्यक्तित्व का यह उत्कर्ष है, परिमार्जन है जो प्राक्तन जन्मों के अनेक पुण्यों का फल होता है। इसके विपरीत मनोविश्लेषण में आत्मकाम व्यक्तित्व का एक विकार है, एक कुंठा है जो अनेक प्रकार के उपद्वारों से बाहर प्रकट होती है। मनोविश्लेषण की पद्धति में यह विशुद्ध प्रेम का शत्रु भी माना जाता है। पर भोज के अनुसार स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। उसका आत्मकाम समस्त प्रेमभावनाओं का बीज है। वह एक पवित्र संस्कार है। उसकी सत्ता सदा बनी रहती है। ऐसा नहीं है कि जीवन की किसी दशा में उसकी वृद्धि और दूसरी दशा में ह्रास हो जाता हो। मनोविश्लेषण का काम बाल्यावस्था में आत्मकाम के रूप में नियमतः रहता है, सदा और सर्वत्र नहीं। इस प्रकार मनोविश्लेषण के आत्मरतिप्रधान 'नारसिज्म' सिद्धान्त से साधारण रूप में साम्य रखता हुआ भी भोज का

आत्मकाम का सिद्धान्त मूल में भिन्न है। उसका कारण यही है कि भोज की मान्यता अध्यात्मिक है, मनोविश्लेषण की पद्धति भौतिक है।

भोज और भक्ति रस

जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी ने भक्ति रस की जो स्थापना की है वह भोज की मान्यताओं से अनेक अंशों में मिलती है। भोज के सिद्धान्त की विशेषता स्थायी भाव के विषय में है। उनके अनुसार जो भाव रस के मूल में अवस्थित है वह एक तो स्वयं रस है दूसरे आत्मा का अंश है। वह अहंकार-अभिमान जैसा कोई सामयिक भाव नहीं है, हमारे व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग है, हमारी सभ्यता और शिष्टता का वह चिह्न है। उसका विषय से सम्बन्ध उत्तर काल में होता है। अपने स्वाभाविक रूप में तो वह विषयासंपृक्त निरपेक्ष है। यही मान्यता भक्ति रस के विषय में है। भक्तों के अनुसार आत्मा की 'संवित्' नाम की शक्ति उसके सहज रूप का एक तत्त्व है। वही विषयोन्मुख होकर अभिमान की भाँति भाव बन जाती है। यह भाव एक है और वह है भगवद्भक्ति। जिस प्रकार अहंकार का विकसित रूप अभिमान भी एक ही है उसी प्रकार संवित् शक्ति का विकसित रूप भाव भी एक है। फिर उसके तीसरी कक्षा में प्रीतिरति, सख्यरति, वात्सल्यरति, प्रियतारति, शान्तिरति आदि होते हैं जो सख्य, वात्सल्य आदि भक्तियों के स्थायी भाव हैं। फलतः भक्ति रस और काव्य रस के स्थायी भावों के मूल में एक एक बीजभाव भक्त और भोज दोनों ही मानते हैं।

इसके अतिरिक्त भक्तों के अनुसार रसानुभूति की परिणति भी एक ही भक्ति रस में होती है। रसों की अनेकता न आदि में रहती है, न अंत में। वह मध्य में है। यह भी भोज की रस संबंधी एकता के समानान्तर है। भक्तों के अनुसार वीर रस वीर भक्ति रस होता है। भगवान् श्रीकृष्ण के दावानल पान के समय अवश्य वीर रस का अनुभव होगा पर उसका अवसान भक्ति में ही होगा। यही मान्यता भोज की है। वीर रस का अनुभवी वीरप्रिय होगा, करुणा का अनुभवी करुणाप्रिय। इसलिए शृंगार के अतिरिक्त वीरादि का परिणाम प्रेमन् में ही होता है। इसलिए वह भी शृंगार ही है।

स्थायी भावों के मूल में एक भाव तथा परिपाक की दशा में अनुभूति को सर्वत्र एकाकार मानने की प्रवृत्ति भोज और गोस्वामी जी दोनों में है।

इतना अन्तर है कि भोज लौकिक रसों के व्याख्याता हैं, जीवगोस्वामी अलौकिक के। अतः गोस्वामी जी की भाँति मुख्य और गौण दो प्रकार के रस मानने की आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ी।

आनन्दवर्धन आदि और भोज

आनन्दवर्धन आदि साहित्य समीक्षकों की दृष्टि में रस आठ या नौ हैं, उनके अपने अपने स्थायी भाव हैं। ये रसिक के हृदय में सुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। विभावादि से उद्दीप्त होकर वे बढ़ते और रस प्रकर्ष तक पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार करुण, हास्य, वीर आदि रसों में रसता, आनन्दात्मकता क्या है? दुःखात्मक भाव रौद्र, भयानक आदि जिस कारण प्रेय बनते हैं वह रसिक की मनःस्थिति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? पर उस स्थिति का विश्लेषण और व्याख्यान व्यंजनावाद में नहीं किया गया। यदि उस

'भरतेश्वर बाहुबली रास' का अध्ययन

हरिशंकर शर्मा 'हरीश', रिसर्च स्कॉलर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

कथावस्तु

'भरतेश्वर बाहुबलि रास' की कथावस्तु का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है:—

जंबूद्वीप का अयोध्या नगर। राजा ऋषभ जिनेश्वर। उनके दो रानियाँ। नाम सुनन्दा और सुमंगला। उनके सुमंगला से भरत और सुनन्दा से बाहुबली दो पुत्र हुए। दोनों पराक्रमी तथा असाधारण वीर थे। भरतेश्वर को अयोध्यापुरी का शासन तथा बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंप कर श्री ऋषभेश्वर विषय-विरक्त हो गए और उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो गया। वे आदिनाथ हो गए। दोनों वीरों में भरत चक्रवर्ती का यथा नाम तथा गुण। बलशाली युद्ध वीर। जिस दिन ऋषभेश्वर को कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ ठीक उसी दिन भरतेश्वर की आयुध-शाला में 'दिव्य चक्ररत्न' उत्पन्न हुआ। चक्रवर्ती भरत ने पहिले पिता के पद की वंदना कर चक्ररत्न का अनुसरण किया और दिग्विजय प्रारंभ की। चक्ररत्न आगे आए, समस्त सेना पीछे। इस तरह संपूर्ण दिग्विजय कर भरत सेना सहित अयोध्या लौटे पर चक्ररत्न नगर के बाहर आकर रुक गया। भरत को मंत्री मतिसागर ने सुझाया कि आपके भाइयों को वश में करना अभी बाकी है। सबकी दृष्टि युद्धवीर बाहुबली की ओर उठ गई। भरत को क्रोध आ गया। दूत भेजा गया। रास्ते में उसे बड़े अपशकुन हुए। दूत ने बाहुबली को भरत की अधीनता स्वीकार कर पैरों में प्रणाम करने को कहा, सौगात या उत्कोच माँगे अन्यथा भरत द्वारा वध करने की तय्यारी की सूचना दी। बाहुबली यह सुनकर क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने कहा कि जब ऋषभेश्वर ने सबको समान रूप से राजपद दिया है तब एक सम्राट हो और दूसरा भाई उसके अधीन, यह संभव नहीं। दूत को उन्होंने फटकार कर वापिस कर दिया। दोनों ओर से युद्ध की तय्यारियाँ हुईं।

तेरह दिन तक भयंकर युद्ध हुआ। रक्त की नदी बह गई, तब भरतेश्वर की सेना की चन्द्रचूड़ और रत्नचूड़ विद्याधरों ने विनय की। सुरेन्द्र आए, युद्ध बन्द कराया और कहा कि भाई भाई की पारस्परिक लड़ाई में सेना का संहार व्यर्थ हो रहा है। इसलिए अच्छा तो यह हो कि दोनों भाई ही परस्पर द्वन्द युद्ध करें और वीरता का निर्णय हो जाय। तीन युद्ध निश्चित किए गए: (१) वचन युद्ध (२) दृष्टि युद्ध (नेत्र युद्ध) और (३) दण्ड युद्ध। तीनों में ही जब बाहुबली विजयी हुए तब भरत ने मर्यादा तोड़ चक्ररत्न चला दिया। यद्यपि इससे उनकी कुछ भी हानि नहीं हुई पर वे चक्रवर्ती के इस व्यवहार से बहुत दुःखी हुए और उन्हें विरक्ति हो गई। उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। युद्ध वीर को निर्वेद हो गया। राज्य श्री

(२) भरत और बाहुबली का परस्पर युद्ध ।

(३) बाहुबली का दीक्षा ग्रहण, समाप्ति ।

इन्हीं तीन विभाजनों में यह वीररसमय प्रबन्ध समाप्त हुआ है। प्रबन्ध रास पर विचार करते समय प्रबन्ध काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों पर विचार करना भी असंगत न होगा। वे इस प्रकार हैं:—

१. प्रबंध गद्य अथवा पद्य में की हुई सार्थ रचना को कहते हैं।[१] विक्रम सं० ११०० से १५०० वि० तक की अनेक रचनाएँ हमें प्रबन्ध के नाम से मिलती हैं, यथा—कुमारपाल प्रबन्ध, प्रबन्धचिंतामणि, भोज प्रबन्ध आदि ।

२. इन प्रबन्धों में वीर पुरुषों के चरित्र वर्णित होते हैं। अतः इन काव्यों में युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण होता है। उत्साह-वर्णन भी प्रबन्धों में होता है।

३. प्रबन्ध काव्य चरित्र, प्रबन्ध, पवाडो, रासो, छंद और सलोकों आदि अनेक नामों से वर्णित होते हैं जिनमें छन्द वैविध्य होता है।

४. प्रबन्ध काव्य विशेष रस प्रधान रचना होती है जिसकी शैली ओजपूर्ण या प्रवाह-पूर्ण होती है।

५. उसमें ऐतिहासिक वृत्त या ख्यातवृत्त होता है।

६. चरितनायक धीरोद्धत होता है, उसमें श्रेष्ठ पुरुषों के सब गुण विद्यमान होते हैं।

७. इस काव्य में अनेक अवांतर तथा काल्पनिक कथाएँ होती हैं।

प्रबन्ध की परम्परा भी पर्याप्त प्राचीन है। संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में बहुत पहले से प्रबन्ध मिलने लगते हैं। हर्षवर्द्धन के बाद चौहान, चंदेल, प्रतिहार, परमार, सोलंकी आदि राजपूतों के परस्पर संघर्षों से वीर रसात्मक वातावरण की सृष्टि हुई और वीर गाथात्मक स्रोत उमड़ पड़ा। इस काल में दो प्रकार के वीरगाथात्मक काव्य लिखे गए—१. मुक्तक रूप में २. प्रबन्ध रूप में

इन प्रबन्धों का विषय युद्ध और प्रेम था। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान कार्लाइल ने अपने ग्रन्थ में इनका पर्याप्त वर्णन किया है। वीररस के मुक्तकों के उदाहरण हेमचन्द्र[३] ने दिए हैं। इसी प्रकार के कुछ प्रबन्ध हमें प्रेम, शौर्य या रोमांस में डूबे हुए मिलते हैं। उदाहरणार्थ आल्हा के गीत, बीसलदेवरास, पृथ्वीराजरासो आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इसी तरह 'कान्हड़ दे प्रबन्ध'[४] तथा 'समरारास'[५] आदि प्रबंध देखे जा सकते हैं।

प्रबन्ध-काव्यों की यह परम्परा इसी प्रकार अव्याहत रही। उक्त लक्षणों के आधार पर परीक्षा करने पर 'भरतेश्वर बाहुबलीरास' प्रबन्ध ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसका वृत्त ख्यात है, नायक ऐतिहासिक पुरुष है, ओजस शैली में लिखा गया है तथा युद्ध, सेना, हाथी,

---

१. देखिए—गुजराती साहित्य ना स्वरूपों, प्रो० म० र० मजमुदार, पृष्ठ ७९। २. दे० कार्लाइल कृत Hero and Hero-Worship, पृ० १५२। ३. हैमचंद्रानुशासन—हेमचंद्र कृत व्याकरण। ४. देखिए पद्मनाथ रचित 'कान्हड़ प्रबन्ध' (सं० १५१२ का)। ५. आपण कविओ, श्री के०का० शास्त्री, पृ० २११-२२१।

उन्हें तुच्छ जान पड़ी। चक्रवर्ती भरत ने उनके चरणों में मस्तक टेक कर अमर्यादित कृत्य तथा भूल स्वीकार की। पर बाहुबली केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसके पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने बड़े वैभव के साथ नगर में प्रवेश किया। उत्सव हुए। नगर तोरण सजाए गए। आयुधशाला में आकर चक्ररत्न भी शांत हुआ और चतुर्दिक भरतेश्वर का यश छा गया।

रास की कथावस्तु संक्षेप में यही है। रचना अनेक छंदों में लिखी गई है और बहुत बड़ी है। कुल मिलाकर २०५ छन्दों में पूरी रास प्रबंध-काव्य की परम्परा में तो है ही, पर क्योंकि इसमें जीवन के एक अंश विशेष का वर्णन है अतः इसे खंड प्रबंध भी कहा जा सकता है।

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य के उपलब्ध होने वाले रासों में सं० १२४१ की यह रचना—भरतेश्वर बाहुबली रास—सबसे बड़ी रचना है। इसके बाद इतनी बड़ी रास रचना १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलती है, यह प्राप्त कृतियां से स्पष्ट होता है। अस्तु २५० वर्षों के इतने बड़े काल (सं० १२४१ से १५०० वि० तक) का विस्तार, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, भाषा एवं अन्य बातों का अकेला यही रास प्रतिनिधित्व करता है।

प्रस्तुत प्रबंध खंड की रचना भास, सर्ग या पर्व आदि में विभाजित नहीं है। यों प्रबंध-काव्य को परम्परा से ही कुछ भागों में विभाजित कर दिया जाता है।

महाकाव्यों को सर्गबद्ध किया जाता है।[1] प्राकृत भाषा में प्रबंध-काव्यों के सर्गों का नामकरण 'आश्वास' किया गया है।[2] अपभ्रंश में संधि[3] का प्रयोग हुआ है। संधि के प्रारम्भ में ध्रुवक और उसके आगे कुछ कड़वक तथा प्रत्येक कड़वक के बाद घत्ता रक्खा जाता था। कहीं कहीं प्रक्रम[4] नाम भी मिलता है। हिन्दी जैन साहित्य के परवर्त्ती अन्य रासों में भी ये नाम विभिन्न प्रकार से मिलते हैं—उदाहरणार्थ 'कच्छूली रास' में वस्त,[5] 'जंबूस्वामी चरित' में कड़वक पद्धति[6] एवं ठवणी (स्थापनी), 'समरारास' में भास[7] तथा 'पेथड़ रास'[8] में लढण नाम दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त सर्गों के नाम कांड,[9] व पर्व[10] भी मिलते हैं।

'भरतेश्वर बाहु० रास' भी इसी तरह वस्तु, ठवणि, वाणि[11] आदि में विभक्त होता चलता है। यद्यपि कथा में कहीं भी कविगत सर्ग यति या समाप्ति नहीं है फिर भी कथा का विभाजन सरलता से तीन भागों में किया जा सकता है :—

(१) भरत का चक्ररत्न सहित दिग्विजय वर्णन।

---

१. देखिए—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, पृ० ३०२-३ : सर्गबन्धो महाकाव्यां तत्रैको नायकः सुरः
२. 'सर्गा आश्वास संज्ञका'—साहित्यदर्पण, पृ० ३०४-५ ३. साहित्यदर्पणकार ने इसे 'कुडवक' कहा है। पर वास्तव में यह संधि है। इसका परिहार श्री अक्षयचंद्र शर्मा ने ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५६, अंक १, सं० २०११ में अपने लेख 'सिरिथूलि भद्द फागु—पर्यालोचन' में किया है। यह संधि कड़वक समूहात्मक होती थी—'कडवक समूहात्मक संधि'। ४. देखिए 'संदेश रासक', अब्दुलरहमान कृत। ५. प्रा० गु० का० सं०, मुनिजिनविजय, पृ० ५६। ६. जम्बूस्वामी चरित, प्रा० गु० का० सं०, पृ० ४१। ७. समरारासु—मुनि जिनविजयकृत, जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य, संचय, पृ० ११७। ८. प्राचीन गुर्जर कवियो—मोहनलाल देसाई कृत तथा प्रा० गु० का० सं० परिशिष्ट भाग, पृ० २४। ९. तुलसीकृत 'रामचरित मानस'। १०. देखिए, महाभारत में शांति पर्व, युद्धपर्व आदि सर्ग नाम। ११. देखिए—भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गांधी सम्पादित, पृ० १६, २७ आदि

(२) भरत और बाहुबली का परस्पर युद्ध।
(३) बाहुबली का दीक्षा ग्रहण, समाप्ति।

इन्हीं तीन विभाजनों में यह वीररसमय प्रबन्ध समाप्त हुआ है। प्रबन्ध रास पर विचार करते समय प्रबन्ध काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों पर विचार करना भी असंगत न होगा। वे इस प्रकार हैं:—

१. प्रबंध गद्य अथवा पद्य में की हुई सार्थ रचना को कहते हैं।[1] विक्रम सं० ११०० से १५०० वि० तक की अनेक रचनाएँ हमें प्रबन्ध के नाम से मिलती हैं, यथा—कुमारपाल प्रबन्ध, प्रबन्धचिंतामणि, भोज प्रबन्ध आदि।

२. इन प्रबन्धों में वीर पुरुषों के चरित्र वर्णित होते हैं। अतः इन काव्यों में युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण होता है। उत्साह-वर्णन भी प्रबन्धों में होता है।

३. प्रबन्ध काव्य चरित्र, प्रबन्ध, पवाडो, रासो, छंद और सलोकों आदि अनेक नामों से वर्णित होते हैं जिनमें छन्द वैविध्य होता है।

४. प्रबन्ध काव्य विशेष रस प्रधान रचना होती है जिसकी शैली ओजपूर्ण या प्रवाह-पूर्ण होती है।

५. उसमें ऐतिहासिक वृत्त या ख्यातवृत्त होता है।

६. चरितनायक धीरोद्धत होता है, उसमें श्रेष्ठ पुरुषों के सब गुण विद्यमान होते हैं।

७. इस काव्य में अनेक अवांतर तथा काल्पनिक कथाएँ होती हैं।

प्रबन्ध की परम्परा भी पर्याप्त प्राचीन है। संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में बहुत पहले से प्रबन्ध मिलने लगते हैं। हर्षवर्द्धन के बाद चौहान, चंदेल, प्रतिहार, परमार, सोलंकी आदि राजपूतों के परस्पर संघर्षों से वीर रसात्मक वातावरण की सृष्टि हुई और वीर गाथात्मक स्रोत उमड़ पड़ा। इस काल में दो प्रकार के वीरगाथात्मक काव्य लिखे गए—१. मुक्तक रूप में २. प्रबन्ध रूप में

इन प्रबन्धों का विषय युद्ध और प्रेम था। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान कार्लाइल ने अपने ग्रन्थ में इनका पर्याप्त वर्णन किया है। वीररस के मुक्तकों के उदाहरण हेमचन्द्र[3] ने दिए हैं। इसी प्रकार के कुछ प्रबन्ध हमें प्रेम, शौर्य या रोमांस में डूबे हुए मिलते हैं। उदाहरणार्थ आल्हा के गीत, वीसलदेवरास, पृथ्वीराजरासो आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इसी तरह 'कान्हड़ दे प्रबन्ध'[4] तथा 'समरारास'[5] आदि प्रबन्ध देखे जा सकते हैं।

प्रबन्ध-काव्यों की यह परम्परा इसी प्रकार अव्याहत रही। उक्त लक्षणों के आधार पर परीक्षा करने पर 'भरतेश्वर बाहुबलीरास' प्रबन्ध ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसका वृत्त ख्यात है, नायक ऐतिहासिक पुरुष है, ओजस शैली में लिखा गया है तथा युद्ध, सेना, हाथी,

---

१. देखिए—गुजराती साहित्य ना स्वरूपों, प्रो० म० र० मजमुदार, पृष्ठ ७६। २. दे० कार्लाइल कृत Hero and Hero-Worship, पृ० १५२। ३. हेमचंद्रानुशासन—हेमचंद्र कृत व्याकरण। ४. देखिए पद्मनाथ रचित 'कान्हड़ प्रबन्ध' (सं० १५१२ का)। ५. आपणा कविओ, श्री के०का० शास्त्री, पृ० २११-२२१।

उन्हें तुच्छ जान पड़ी। चक्रवर्ती भरत ने उनके चरणों में मस्तक टेक कर अमर्यादित कृत्य तथा भूल स्वीकार की। पर बाहुबली केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसके पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने बड़े वैभव के साथ नगर में प्रवेश किया। उत्सव हुए। नगर तोरण सजाए गए। आयुधशाला में आकर चक्ररत्न भी शांत हुआ और चतुर्दिक भरतेश्वर का यश छा गया।

रास की कथावस्तु संक्षेप में यही है। रचना अनेक बंधों में लिखी गई है और बहुत बड़ी है। कुल मिलाकर २०५ छन्दों में पूरी रास प्रबंध-काव्य की परम्परा में तो है ही, पर क्योंकि इसमें जीवन के एक अंश विशेष का वर्णन है अतः इसे खंड प्रबंध भी कहा जा सकता है।

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य के उपलब्ध होने वाले रासों में सं० १२४१ की यह रचना—भरतेश्वर बाहुबली रास—सबसे बड़ी रचना है। इसके बाद इतनी बड़ी रास रचना १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलती है, यह प्राप्त कृतियों से स्पष्ट होता है। अस्तु २५० वर्षों के इतने बड़े काल (सं० १२४१ से १५०० वि० तक) का विस्तार, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, भाषा एवं अन्य बातों का अकेला यही रास प्रतिनिधित्व करता है।

प्रस्तुत प्रबंध खंड की रचना भास, सर्ग या पर्व आदि में विभाजित नहीं है। यों प्रबंध-काव्य को परम्परा से ही कुछ भागों में विभाजित कर दिया जाता है।

महाकाव्यों को सर्गबद्ध किया जाता है।[१] प्राकृत भाषा में प्रबंध-काव्यों के सर्गों का नामकरण 'आश्वास' किया गया है।[२] अपभ्रंश में संधि[३] का प्रयोग हुआ है। संधि के प्रारम्भ में ध्रुवक और उसके आगे कुछ कड़वक तथा प्रत्येक कड़वक के बाद घत्ता रक्खा जाता था। कहीं कहीं प्रक्रम[४] नाम भी मिलता है। हिन्दी जैन साहित्य के परवर्त्ती अन्य रासों में भी ये नाम विभिन्न प्रकार से मिलते हैं—उदाहरणार्थ 'कच्छूली रास' में वस्त,[५] 'जंबूस्वामी चरित' में कड़वक पद्धति[६] एवं ठवणी (स्थापनी), 'समरारास' में भास[७] तथा 'पेथड़ रास'[८] में लढण नाम दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त सर्गों के नाम कांड,[९] व पर्व[१०] भी मिलते हैं।

'भरतेश्वर बाहु० रास' भी इसी तरह वस्तु, ठवणि, वाणि[११] आदि में विभक्त होता चलता है। यद्यपि कथा में कहीं भी कविगत सर्ग यति या समाप्ति नहीं है फिर भी कथा का विभाजन सरलता से तीन भागों में किया जा सकता है :—

(१) भरत का चक्ररत्न सहित दिग्विजय वर्णन।

---

१. देखिए—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, पृ० ३०२-३ : सर्गबन्धो महाकाव्यों तत्रैको नायकः सुरः
२. 'सर्गा आश्वास संज्ञका'—साहित्यदर्पण, पृ० ३०४-५
३. साहित्यदर्पणकार ने इसे 'कुडवक' कहा है। पर वास्तव में यह संधि है। इसका परिहार श्री अक्षयचंद्र शर्मा ने ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५९, अंक १, सं० २०११ में अपने लेख 'सिरिथूलि भद्द फागु—पर्यालोचन' में किया है। यह संधि कड़वक समूहात्मक होती थी—'कडवक समूहात्मक संधि'।
४. देखिए 'संदेश रासक', अब्दुलरहमान कृत।
५. प्रा० गु० का० सं०, मुनिजिनविजय, पृ० ५९।
६. जम्बूस्वामी चरित, प्रा० गु० का० सं०, पृ० ४१।
७. समरारासु—मुनि जिनविजयकृत, जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य, संचय, पृ० ११७।
८. प्राचीन गुर्जर कवियो—मोहनलाल देसाई कृत तथा प्रा० गु० का० सं० परिशिष्ट भाग, पृ० २४।
९. तुलसीकृत 'रामचरित मानस'।
१०. देखिए, महाभारत में शांति पर्व, युद्धपर्व आदि सर्ग नाम।
११. देखिए—भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गांधी सम्पादित, पृ० १६, २७ आदि

दूत के यह कहने पर कि 'चलो हे बाहुबली ! अधीनता स्वीकार करो, भेंट दो, नहीं तो वह तुम्हारा वध करेगा' बाहुबली तत्काल प्रत्युत्तर देता है—हे दूत ! मृषा मत बोल। भाग्य में जो लिखा है वह इस लोक या परलोक में भी हो के रहेगा, मैं युद्ध के लिए प्रस्तुत हूँ। जा यहाँ से।

राउ जंपइ राउ जंपइ, सुणिन सुणि दूत।
जंविहि लिहीउं भालयलि तंजि लोइ, इहलोइ पामइ।[1]

× × ×

अरिरि ! दूत सुणि देव न दानव, महि मंडलि मंडलवै मानव।
कोइ न लंघइ लहीया लीह, लायइ अधिक न ओछा दीह।[2]

इस तरह संलाप बड़ी ही उत्कटतापूर्ण एवं विवेकजन्य वाणी में हुए हैं।

विविध वर्णन

रास में अनेक वर्णनों की परम्परा का निर्वाह बड़ी सफलता से हुआ है। वर्णन में प्रमुख ये हैं :—

(१) नगर वर्णन (२) सेना वर्णन (३) दिग्विजय वर्णन (४) शकुन वर्णन (५) हाथी, घोड़ों, सवार आदि का वर्णन।

ये वर्णन कुछ तो ऊहात्मक भी हैं, यथा—सेना की चढ़ाई का अतिशयोक्ति प्रधान वर्णन,[3] कुछ वर्णनात्मक तथा वीररस की टंकार तथा णित्व प्रधान भाषा में चलते हैं पर इन वर्णनों में एक जीवट है और प्रर्याप्त ओज है। साथ-साथ मधुरता भी पर्याप्त मात्रा में है। शब्दों का चयन अत्यन्त उत्तम तथा अनुप्रासात्मक है। अतः काव्य में एक असाधारण गति है।

कुछ वर्णन के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

हाथियों का वर्णन :—(क) चलिय *गयवर* चलिय गयवर गुहिर गज्जंत।
(ख) *गंजइ फिरि फिरि गिरि सिहरि,* भंजइ तरुवर डालि तु।
अंकुस-वसि आवइ नहीं, य करइ अपार जि आलि तु॥[3]

घोड़ों का वर्णन :— (क) हूँकई, हसमस हणहणइं तरवरंत *हय-घट* चल्लीय।

× × ×

(ख) फिरइ फेकारई फीरणइं ए फुड फेणाउलि फारतु।
तरणि *तुरंगम* सम तुलइं तेजीय तरल ततार तु॥[4]

सवारों का वर्णन :—(क) हींसइं, हसमिसि हण हणइं ए तरवर तार तोखार तु।
खुदइं खूरलइं, खेडवीय, मन मानइं *असुवार* तु।[5]

सेना वर्णन :—(क) कटक न कवणिहिं भरह-तणउं, भाजइ भेडि भिडंत तु।
रेलइं रयणायरह जिमि राणो राणि नउंत तु।

एक सबसे प्रमुख वर्णन 'शकुन वर्णन' मिलता है। लोक साहित्य की शकुन-अपशकुन परम्परा को कवि ने बड़े सुंदर रूप से निभाया है। दूत को बाहुबली के पास जाते

---

१. भरतेश्वर बाहुबली रास, पृ० २२। २. वही, पृ० ८, वस्तु १६। ३. वही, पृ० १०, पद २२। ४. वही, पृ० १२। ५. वही, पृ० १०।

घोड़ों आदि के अनेक वर्णन किए गए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि रास और प्रबन्ध दोनों एक ही शब्द के पर्याय हैं।

हमारे आलोच्य ग्रन्थ के कर्त्ता श्री शालिभद्र सूरि ने परम्परानुसार रास का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया है। कवि ने ऋषभ जिनेश्वर के चरणों में प्रणाम करके सरस्वती का मन में स्मरण करके, गुरु पद वंदना के पश्चात् ही काव्य प्रारम्भ किया है :—

रिसह जिरोसर पय पणमेवी। सरसति सामिणि मन समरेवी।
। नमवि निरन्तर गुरु चरण

नाटकीय संलाप

रास के कई स्थल नाटकीय संवादों की सुषमा प्रस्तुत करते हैं। संवाद बड़े प्रभावशाली तथा सुंदर बन पड़े हैं, उदाहरणार्थ—मतिसागर भरतेश्वर संलाप, दूत बाहुबली संवाद आदि।

इन संलापों में एक नाटकीय योजना है, पर्याप्त गेयता है, दर्प तथा उत्साह है। अभिनय भंगिमा भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। भरतेश्वर और अमात्य मतिसागर के कथोपकथन का एक उदाहरण देखिए :—

मतिसागर किणि काजि, चक्र न पुरि प्रवेसु करइ।
तुं जि अम्हारइ राजि, धुरि धरीय धोरिं धुरहँ॥[१]

हे मतिसागर ! किस लिए यह चक्ररत्न पुर में प्रवेश नहीं कर रहा है ? क्योंकि तुम वृषभ की भाँति हमारे राज्य की धुरी को धारण करने में सक्षम हो।

अमात्य मतिसागर पुनः उत्तर देते हैं—हे चक्रवर्ती ! हे स्वामी ! सावधान हो जाइए। बाहुबली ने अभी आपका पराक्रम नहीं स्वीकार किया है।

बोलइ मंत्रि-मयंकु, संभलि सामीय ! चक्रधर।[२]
× × ×
नवि मानइ तूय आण, बाहुबलि विहुं बाहुबले।[३]
× × ×
तिणि कारणि नरदेव, चक्र न आवइ नीयरे।[४]

इसी प्रकार दूत-बाहुबली-संवाद अत्यन्त सुंदर है, यथा—

दूत :—**दूत पभणइ दूत पभणइ बाहुबलि राउ।**
भरतेसर चक्र धरु कहि न कवणि दूहवण कीजजइ।[५]
× × ×
वेगि सुवेगि सु बोलइ संभलि बाहुबलि।[६]

वह कहता है कि दोनों भाइयों का मिलन अत्यन्त आवश्यक है। तुम्हारे दर्शन के लिए भरत उत्कंठित हैं क्योंकि दोनों की एक दूसरे के बिना संपत्ति वैसे ही व्यर्थ है जैसे बिना नमक के रसोई।

विण बंधव सवि संपइ ऊणी, जिम विण लवण रसोई अलूणी।
तुम्ह दंसणि उत्कंठित राउ, नितु नितु वाट जोइ तुह भाउ।[७]

---

१. भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गाँधी, पृ० १८ पद ४५। २. वही, पद ४७। ३. वही, पद ४८। ४. वही, पद ५०। ५. वही, पद ७७, पृ० २६। ६. वही, पद ७८। ७. वही, पद ८३, पृ० २८।

दूत के यह कहने पर कि 'चलो हे बाहुबली ! अधीनता स्वीकार करो, भेंट दो, नहीं तो वह तुम्हारा वध करेगा' बाहुबली तत्काल प्रत्युत्तर देता है—हे दूत ! मृषा मत बोल। भाग्य में जो लिखा है वह इस लोक या परलोक में भी हो के रहेगा, मैं युद्ध के लिए प्रस्तुत हूँ। जा यहाँ से।

राउ जंपइ राउ जंपइ, सुणिन सुणि दूत।
जंविहि लिहीउं भालयलि तंजि लोइ, इहलोइ पामइ।[1]
× × ×
अरिरि ! दूत सुणि देव न दानव, महि मंडलि मंडलवै मानव।
कोइ न लंघइ लहीया लीह, लायइ अधिक न ओछा दीह।[2]

इस तरह संलाप बड़ी ही उत्कटतापूर्ण एवं विवेकजन्य वाणी में हुए हैं।

विविध वर्णन

रास में अनेक वर्णनों की परम्परा का निर्वाह बड़ी सफलता से हुआ है। वर्णन में प्रमुख ये हैं :—

(१) नगर वर्णन (२) सेना वर्णन (३) दिग्विजय वर्णन (४) शकुन वर्णन (५) हाथी, घोड़ों, सवार आदि का वर्णन।

ये वर्णन कुछ तो ऊहात्मक भी हैं, यथा—सेना की चढ़ाई का अतिशयोक्ति प्रधान वर्णन,[3] कुछ वर्णनात्मक तथा वीररस की टकार तथा णित्व प्रधान भाषा में चलते हैं पर इन वर्णनों में एक जीवट है और प्रर्याप्त ओज है। साथ-साथ मधुरता भी पर्याप्त मात्रा में है। शब्दों का चयन अत्यन्त उत्तम तथा अनुप्रासात्मक है। अतः काव्य में एक असाधारण गति है।

कुछ वर्णन के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

हाथियों का वर्णन :—(क) चलिय *गयवर* चलिय गयवर गुहिर गज्जंत।
(ख) *गंजइ* फिरि फिरि गिरि सिहरि, भंजइ तरुवर डालि तु।
अंकुस-वसि आवइ नहीं, य करइ अपार जि आलि तु॥[3]

घोड़ों का वर्णन :— (क) हूँकई, हसमस हणहणइं तरवरंत *हय-घट* चल्लोय।
× × ×
(ख) फिरइ फेकारई फीरणइं ए फुड फेणाउलि फारतु।
तरणि *तुरंगम* सम तुलइं तेजीय तरल ततार तु॥[4]

सवारों का वर्णन :—(क) हींसइं, हसमिसि हण हणइं ए तरवर तार तोखार तु।
खुदइं खूरलइं, खेडवीय, मन मानइं *असुवार* तु।[5]

सेना वर्णन :—(क) कटक न कवणिहिं भरह-तणउं, भाजइ भेडि भिडंत तु।
रेलइं रयणायरह जिमि राणो राणि नउंत तु।

एक सबसे प्रमुख वर्णन 'शकुन वर्णन' मिलता है। लोक साहित्य की शकुन-अपशकुन परम्परा को कवि ने बड़े सुंदर रूप से निभाया है। दूत को बाहुबली के पास जाते

---

१. भरतेश्वर बाहुबली रास, पृ० २२। २. वही, पृ० ८, वस्तु १६। ३. वही, पृ० १०, पद २२। ४. वही, पृ० १२। ५. वही, पृ० १०।

हुए अनेक अपशकुन होते हैं। लोमड़ी, सियार, सर्प आदि मिलते हैं जिनके नाम भी राजस्थानी हैं और उनके विशेषण भी उल्लेखनीय हैं, यथा—काजल-काल विडाल, खर-खर खर-ख, भैरव, घूक, देवि, वामतुरीय शिवा आदि।[१]

उपपदों में ये कितने सुन्दर रूप से व्यवहृत हुए हैं :—

(क) जा रथ जोत्रीय जाय सुजि आएसिइ नरवरइ।
फिरि फिरि साम्हउ थाइ वाम तुरीय वाहिणि-तणउ ॥—पद ५६

(ख) काजल-काल विडाल आविय आडिइं उजरइ ए।
जियणउ जम विकराल खर-खर खर-ख ऊछवीय ॥—पद ५७

(ग) सूकी य वाउल-डालि देवि वयठी सुर करइ ए।
झंपीय झालम झाल घूक पुकारहि दाहिइ ए ॥—पद ५८

(घ) जिमणई गमइं विषादि फिरीय फिरीय शिव के करइ ए।
डावीं य डगलइ सादि भैरव भैरव रव करइए ॥

इस तरह बिल्ली, गधा, बाँएँ घोड़े का अड़ना, सूखी डाली पर देवि (पक्षी विशेष) का बोलना, दाहिने घूक (उल्लू) का रव और लोमड़ी (शिवा) का बार बार सामने फिर कर अपशकुन करना कितना स्वाभाविक वर्णन है।

उक्ति का अनूठापन

वीर रस प्रधान प्रबन्ध होने के कारण इसमें वीरों की ऐसी अनूठी उक्तियाँ हैं जिनमें दर्प है, वीरता है, साहस-शौर्य एवं उत्साह का सागर है तथा जीवन के लिए एक जीवट का संदेश है। स्वावलम्बन और स्वाभिमानपूर्ण कुछ उदाहरण देखिए :—

परह आसकिणि कारण कीजइ ? साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ।
हीउं अनइ हाथ हत्थीयार, एह जि वीर तणउ परिवार।[२]

(दूसरे की आशा क्यों की जाय। साहस से स्वयं ही सिद्धि को वरण करना चाहिए। पास में दृढ़ हृदय और हाथ में हथियार ही तो वीरों का परिवार होता है)।

कितना दर्प है। स्वालंबन तो कूट कूट कर भरा है।

कुछ उक्तियाँ और भी देखिए :—

(क) सिर सरवस स पतंग न गमीजइ, तोइ नीसत्त पणइ न नमीजइ।[३]
(ख) कोइ न लोपइ लिट्टिया लीह (च) सामीय विसमउ करम-विभाउ।[४]

×　　　　×　　　　×

(क) धिग धिग ए एय संसार।

इस प्रकार अनेक सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं।

---

१. भरतेश्वर बा० ब० रास—श्री गाँधी, पृ० १६, ठवणि १।　२. भारतीय विद्या, वर्ष २; अंक १, पृ० ६, ठवणि ८, पद १०६।　३. भ० बा० ब० रास, पृ० ६६, पद १५७।　४. वही, पद ८२, पृ० १६३।

गेयता व वस्तु-प्रवाह रास का सौंदर्य और बढ़ा देते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध विविध रागों में बँधा है अतः यह अनेक प्रकार से गाया जा सकता है। विस्तार अधिक होने से समयाधिकता सम्भव है, परन्तु इसके विचित्र प्रवाह को देख किसी भी वीर के भुजदंड फड़क उठेंगे।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

'भरतेश्वर बाहुबली रास' के साहित्यिक रूप का परीक्षण भी अब कर लिया जाय। इस सम्बन्ध में हमें उसके भाव और कलापक्ष के तत्वों को देखना होगा। विशेष रूप से कृति का रस, अनुभूति, अभिव्यंजना, भाषा, अलंकार, छंद निर्णय आदि करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए हमारा आधार १. भाषा, २. रस व्यंजना, ३. अलंकार योजना, ४. छंद वर्णन—आदि का निर्णय होगा।

भाषाविचार—प्रस्तुत रास की भाषा अपभ्रंश के उत्तरकालीन स्वरूपों को स्पष्ट करने वाली प्राचीन राजस्थानी है जिसमें अपभ्रंश की सरसता पूर्णतया विद्यमान है जो 'देसील वयना सब जन मिट्ठा' उक्ति को सार्थक करती हैं। भाषा का शब्दचयन इतना सुन्दर है कि एक ध्वनि की अपूर्व सृष्टि होती है। अतः यह काव्य नादात्मक या ध्वन्यात्मक है। शब्द, लगता है, एक ही साँचे में ढले हैं जिनमें कर्णकटुता नहीं, एक मधुर लय का उन्मेष है। पुरानी राजस्थानी और जूनी गुजराती दोनों ही विभाषाएँ इसे अपना काव्य कहती हैं। पर अधिकांश शब्दों के स्वरूप राजस्थानी ही हैं। यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश के स्वरूप इसमें मिलते हैं, पर अपभ्रंश भाषा अपना प्रभाव छोड़ती हुई दिखाई पड़ती है। भाषा का परीक्षण निम्नाङ्कित रूपों से किया जा सकता है।

१. **अपभ्रंश**—रिसय जिणेसर, नयर, भरह, पयंउ, चक्क, रयण, गयवर आदि अनेक शब्द मिलते हैं। विज्जीय, मिल्लीय, चल्लीय, डुल्लीय, रूप क्रियाओं के मिलते हैं पर साथ ही धूजीय, चालीय, आवीय, चलिय आदि रूप सरलता लिए हुए राजस्थानी के रूप हैं।

२. **राजस्थानी व जूनी गुजराती**—काल, पखेरू, धोरी, कुमर, आणंद, धूजीय, गाजंत, गणइ, भणइ, रडवडंत, भडवडइ, धडहडंत आगलि, निहाण, गयण, भाण, रेलहिं, मिडंते, सिउं, तणौ, गमी, डामी, जिमणइ, विलाउ, मुज आण, लेसुं, पठावियइ आदि संज्ञा और क्रियाओं के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं।

३. **पुराने शब्द**—यह सत्य है कि हेमचंद्र के अपभ्रंश रूपों में शुद्ध प्रत्यय वाले शब्द—पणमवी, समरेवि, नमिवि, नरिंदह, बंधवहं, भणितु, रासह, छंदिहि, रयणिहिं, रासय, रासु, नितु, कीड, भंडारु, नरु आदि रूप मिलते हैं, परन्तु इसी अपभ्रंश के संस्कार से पुराने रूपों को छोड़कर भाषा में संभ्रांति होने से नये शब्दों का आना प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ—

४. **नये शब्द**—पय, बार, वरिस, हिव, भाखिहिं, सांभलउ, गच्छसिणगार, पाटधर तीणि तणउ, फागुण, छंदिहिं आदि शब्दों में नूतनता का आग्रह स्पष्ट है। [देखिए 'आपणा कवियो, के० का० शास्त्री, पृ० १५८]

५. **तत्सम शब्द**—पुराने रूप धीरे-धीरे कम होते गए हैं और उनके स्थान पर शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्दों की आयोजना होती जाती है, यथा—चरित्र, मनि, निरंतर,

हुए अनेक अपशकुन होते हैं। लोमड़ी, सियार, सर्प आदि मिलते हैं जिनके नाम भी राजस्थानी हैं और उनके विशेषण भी उल्लेखनीय हैं, यथा—काजल-काल बिडाल, खर-खर खर-ख, भैरव, घूक, देवि, वामतुरीय शिवा आदि।[१]

उपपदों में ये कितने सुन्दर रूप से व्यवहृत हुए हैं :—

(क) जा रथ जोत्रीय जाय सुजि आएसिइ नरवरइ।
फिरि फिरि साम्हउ थाइ वाम *तुरीय* वाहिणि-तणउ ॥—पद ५६

(ख) काजल-काल *बिडाल* आविय आडिइं उजरइ ए।
जियणउ जम विकराल खर-खर *खर-ख* ऊछवीय ॥—पद ५७

(ग) सूकी य वाउल-डालि देवि बयठी सुर करइ ए।
झंपीय झालम झाल घूक पुकारहि दाहिइ ए ॥—पद ५८

(घ) जिमणई गमइं विषादि फिरीय फिरीय शिव के करइ ए।
डावीं य डगलइ सादि *भैरव* भैरव रव करइए ॥

इस तरह बिल्ली, गधा, बाँएँ घोड़े का अड़ना, सूखी डाली पर देवि (पक्षी विशेष) का बोलना, दाहिने घूक (उल्लू) का रव और लोमड़ी (शिवा) का बार बार सामने फिर कर अपशकुन करना कितना स्वाभाविक वर्णन है।

उक्ति का अनूठापन

वीर रस प्रधान प्रबन्ध होने के कारण इसमें वीरों की ऐसी अनूठी उक्तियाँ हैं जिनमें दर्प है, वीरता है, साहस-शौर्य एवं उत्साह का सागर है तथा जीवन के लिए एक जीवट का संदेश है। स्वावलम्बन और स्वाभिमानपूर्ण कुछ उदाहरण देखिए :—

परह आसकिणि कारण कीजइ ? साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ।
हीउं अनइ हाथ हत्थीयार, एह जि वीर तणउ परिवार।[२]

(दूसरे की आशा क्यों की जाय। साहस से स्वयं ही सिद्धि को वरण करना चाहिए। पास में दृढ़ हृदय और हाथ में हथियार ही तो वीरों का परिवार होता है)।

कितना दर्प है। स्वालंबन तो कूट कूट कर भरा है।

कुछ उक्तियाँ और भी देखिए :—

(क) सिर सरवस स पतंग न गमीजइ, तोइ नीसत्त पणइ न नमीजइ।[३]
(ख) कोइ न लोपइ लिहिया लीह (ग) सामीय विसमउ करम-विभाउ।[४]

× × ×

(क) धिग धिग ए एय संसार।

इस प्रकार अनेक सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं।

---

१. भरतेश्वर बा० व० रास—श्री गांधी, पृ० १६, ठवणि १। २. भारतीय विद्या, वर्ष २; अंक १, पृ० ६, ठवणि ८, पद १०६। ३. भ० बा० व० रास, पृ० ६६, पद १५७। ४. वही, पद ८२, पृ० १६३।

७. श्री मुंशी लिखते हैं कि:—Old Gujrati develops a phonetic change by which a double consonant is simplified and the preceding vowel is lengthened. This must have been the result of a change of Accent.[१]

८. श्री मुनि जिनविजय जी इस रास की भाषा के विषय में लिखते हैं कि 'इस रास की भाषा शैली का रूप उस शताब्दी की आस पास उपलब्ध अन्य कृतियों—यथा जंबूस्वामी रास, रेवंत गिरिरास, आबूरास—की भाषा के समान ही है।[२]

९. श्री गांधी का विचार है कि इस रास की भाषा गुजराती में मुस्लिम युग के प्रवर्त्तन के पहिले की स्वाभाविक भाषा है। गुजराती का मूल स्थान प्रकृत होने से प्राकृत भाषामय तत्कालीन पुरानी गुजराती के रूप में इसकी रचना समझी जा सकती है।[३]

१०. भाषा की सरलता का एक उदाहरण देखिए—

हा कुल मंडण हा कुल वीर, हा समरंगणि साहस धीर। [पद १५४]

× × ×

सामीय ! विसमउ करम—विपाउ। [पद १५७]

× × ×

कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु? एहु जि दीजइ दैवह दोसु[४] [पद १५६]

कितनी सरल भाषा है जिसको सरल हिन्दी कहा जा सकता है।

यों विस्तार में इस रास की भाषा की शब्दध्वनि, और रूप विचार पर अन्यत्र विश्लेषण किया जाएगा। उक्त भाषा-विवेचन रास के सर्वप्रथम पद के शब्दों का है। प्रारंभ में ही भाषा का यह रुख मिलता है जो हिन्दी भाषा के अत्यधिक निकट है।

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि इस रास की भाषा में हिन्दी की ओर पूर्णतया झुकाव की प्रवृत्ति है। आगे यही भाषा थोड़ा परिष्कार प्राप्त कर सरल हिन्दी हो गई है। इसमें प्राचीन गुजराती या प्राचीन राजस्थानी के रूप सर्वत्र परिलक्षित होते हैं।

रस-व्यंजना

'भरतेश्वर बाहुबली रास' में युद्ध वीरों का वर्णन है, अतः स्थायी भाव 'उत्साह' पूर्णतया निष्पन्न हुआ है। वीररस के आलंबन और उद्दीपन सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रमुखतया वीर रस का यह तत्कालीन उत्कृष्ट प्रबंध कहा जा सकता है। परन्तु एक आश्चर्यजनक बात यह है कि वीरता के क्रोड़ में शांत रस आ गया है, या यों कहें कि वीरता का उपशमन 'शम' ने किया है। रास का अंत निर्वेदपूर्ण हो गया है जो संसार, राज्य, शरीर और श्री की नश्वरता पर प्रकाश डालता है।

---

१. गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० ८७। २. भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १ की मुनिजिनविजय, प्रस्तावना, पृ० ७. ३. भरतेश्वर बाहुबली रास, श्रीगांधी, पृ० ५६। ४. वहीं, पृ० ६६।

गुरुचरण, अमरपुरी, गुणगण, भंडार आदि[१]। श्री क० मा० मुन्शी लिखते हैं कि 'नई भाषा में प्राचीन अपभ्रंश शब्दों के स्थान पर प्रर्यायवाची संस्कृत शब्द रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है।'[२]

भाषा-परिवर्तन के इन नियमों की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है:—

१. पुरानी भाषा से रूपान्तर प्राप्त करते, संयुक्ताक्षर का लोप होकर पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाना भाषा की नवीनता का लक्षण है।

२. पूर्व के ह्रस्व स्वर का दीर्घ होना।

३. अनुस्वार का कोमल होना और साथ ही पूर्व के स्वर का दीर्घ होना।

४. श्री मुन्शी ने इन लक्षणों पर इस प्रकार प्रकाश डाला है[३]:—

(क) पूर्व स्थित ह्रस्व स्वर को दीर्घ बना कर संयुक्त वर्णों का सरलीकरण।

(ख) पूर्व स्थित ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर अनुनासिक ध्वनियों को कोमलतर बनाना।

इन परिवर्तनों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

१. सं० पट्टधर > पाटधर[४] (पुरानी राजस्थानी)

२. संस्कृत—फाल्गुन > अप० फग्गुन > फागुण[५]—(पुरानी हिन्दी)

३. अपभ्रंश—किद्धउं > कीधउ[६] (पुरानी राजस्थानी)

४. अप० संभलहु > सांभलउ[७]

इन शब्दों से भाषा का विकास लक्षित होता है।

५. इसी प्रकार—हिव, छंदिहि, जाणीइ, आदि शब्दों में 'इकार' प्रवेश भी देखा जा सकता है। भविइ, आणंदिइ शब्द भी ऐसे ही हैं।

६. प्रत्ययों के ईकार के प्रभाव से पूर्व स्वर में किस प्रकार परिवर्तन हुआ है तथा कर्मणि में किस प्रकार का रूप उपलब्ध होता है। निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा में किस प्रकार हिन्दी के अर्वाचीन रूप की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति है, यथा:—

(क) भाविज्जइ > भावीजइ > भावीयइ > भावियइ > भाविइ

(ख) जाणिज्जइ > जाणीजइ > जाणीयइ > जाणियइ > जाणीइ > जाणिइ > जाणिए[८]

अंतिम रूप किस प्रकार शुद्ध प्राप्त होता है जो राजस्थानी है।

---

१. आपणा कवियो, पृ० १५८। २. गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृ० ५२ ३. वही, पृ० ५२। ४. भरतेश्वर बाहुबलीरास, श्री गाँधी, पृ० २-३। ५. वही, पृ० वही। ६. गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० ८६ ७. वही। ८. आपणा कवियो, के० का० शास्त्री, पृ० १५९।

७. श्री मुंशी लिखते हैं कि:—Old Gujrati develops a phonetic change by which a double consonant is simplified and the preceding vowel is lengthened. This must have been the result of a change of Accent.[1]

८. श्री मुनि जिनविजय जी इस रास की भाषा के विषय में लिखते हैं कि 'इस रास की भाषा शैली का रूप उस शताब्दी की आस पास उपलब्ध अन्य कृतियों—यथा जंबूस्वामी रास, रेवंत गिरिरास, आबूरास—की भाषा के समान ही है।[2]

९. श्री गांधी का विचार है कि इस रास की भाषा गुजराती में मुस्लिम युग के प्रवर्त्तन के पहिले की स्वाभाविक भाषा है। गुजराती का मूल स्थान प्रकृत होने से प्राकृत भाषामय तत्कालीन पुरानी गुजराती के रूप में इसकी रचना समझी जा सकती है।[3]

१०. भाषा की सरलता का एक उदाहरण देखिए—

हा कुल मंडण हा कुल वीर, हा समरंगणि साहस धीर। [पद १५४]

× × ×

सामीय ! विसमउ करम—विपाउ। [पद १५७]

× × ×

कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु? एहु जि दीजइ दैवह दोसु[4] [पद १५६]

कितनी सरल भाषा है जिसको सरल हिन्दी कहा जा सकता है।

यों विस्तार में इस रास की भाषा की शब्दध्वनि, और रूप विचार पर अन्यत्र विश्लेषण किया जाएगा। उक्त भाषा-विवेचन रास के सर्वप्रथम पद के शब्दों का है। प्रारंभ में ही भाषा का यह रुख मिलता है जो हिन्दी भाषा के अत्यधिक निकट है।

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि इस रास की भाषा में हिन्दी की ओर पूर्णतया झुकाव की प्रवृत्ति है। आगे यही भाषा थोड़ा परिष्कार प्राप्त कर सरल हिन्दी हो गई है। इसमें प्राचीन गुजराती या प्राचीन राजस्थानी के रूप सर्वत्र परिलक्षित होते हैं।

रस-व्यंजना

'भरतेश्वर बाहुबली रास' में युद्ध वीरों का वर्णन है, अतः स्थायी भाव 'उत्साह' पूर्णतया निष्पन्न हुआ है। वीररस के आलंबन और उद्दीपन सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रमुखतया वीर रस का यह तत्कालीन उत्कृष्ट प्रबंध कहा जा सकता है। परन्तु एक आश्चर्यजनक बात यह है कि वीरता के क्रोड़ में शांत रस आ गया है, या यों कहें कि वीरता का उपशमन 'शम' ने किया है। रास का अंत निर्वेदपूर्ण हो गया है जो संसार, राज्य, शरीर और श्री की नश्वरता पर प्रकाश डालता है।

---

१. गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० ८७। २. भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १ की मुनिजिनविजय, प्रस्तावना, पृ० ७. ३. भरतेश्वर बाहुबली रास, श्रीगांधी, पृ० ५६। ४. वहीं, पृ० ६६।

रास में भरत आलंबन, आश्रय; बाहुबली आलंबन, आश्रय; युद्ध की तैयारियाँ, उत्तेजक वचन, उद्दीपन तथा परस्पर दोनों पक्षों में उदित उत्साह स्थायीभाव है। सेना-वर्णन, रण-वर्णन, रक्तपात, युद्ध तथा योद्धाओं के शारीरिक स्वरूप अनुभावों और संचारियों के प्रतीक हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

वीर रसः—(क) हुंफइ हसमस हण हणइ तरवरंत हय घट्ट चल्लीय।
पायल पय-भरि टल टलीय, मेरु सीस सेस मणि मउड डुल्लीय ॥[१]

(ख) दिसि दिसि दारक संचरइ ए, वेसर वहइं अपार तु।
संख न लाभइं सेन तणी, कोई न कहइं सुधि सार तु ॥[२]

(ग) तउ कोपिहिं कलकलिउ काल केवीय कालानल।
कंकोली किम रोपी ओ ! करि काल महाबल ॥[३]

(घ) जुडइं भिडइं भडहडइं खेदि खडखडइ खडा खडि।[४]

(ङ) कंपीय किन्नर कोडि पडीय, हरगण हडहडिया।[५]

(च) राउत राउति जोध जोधि पायक पायक्किहिं।
रहवर रहवरि वीर वीरि नायक नायक्किहिं ॥[६]

(छ) मारइं मुरडीय मूंछ मांहि मन मच्छर भरिया।[७]

और भयंकर युद्ध के बाद रक्त की नदी बह गई।

वीभत्स रसः—(क) उडीय खेह न सूझइ सूर, नवि जाणीय सवार असूर।
पडइं सुहड धड धावइं धसी, हणइ हणो कणि हाँकइं हसी[८]।

× × ×

बहइं रुहिर-नइ सिरवर तरइं, री री रणि रापस करइं।[९]
(रुधिर की नदी में तैरने वाले सिरों को देखकर राक्षसों का भयानक आवाजें कर प्रसन्न होना कितना वीभत्स है)

शांत रसः—और इस भयंकर युद्ध के बाद दोनों भाइयों में जब परस्पर नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध होता है तो बाहुबली की विजय होती है। क्षुभित हुआ भरतेश्वर उन पर जब चक्ररत्न चला देता है तो संपूर्ण वीररस के आलंबन बाहुबली को निर्वेद हो जाता है और रास निर्वेदांत ही सिद्ध होता है। इस अचानक परिवर्तन को वीर रस के काव्य-प्रणेता कवि ने बहुत ही संभार से सँजोया है, उदाहरणार्थ—

(क) धिग धिग ए एय संसार, धिग धिग राणिम राजरिद्धि।
एवडु ए जीव संहार कीधउ कुण विरोधवसि ॥[१०]

सम्पूर्ण संहार, जीवहानि और मृत्यु का ताण्डव देखकर, भाई का अपने ही सहोदर पर धर्मयुद्ध के स्थान पर चक्र का आक्रमण, अधर्म और अमर्यादित रूप का व्यवहार—इन्हीं सब तत्वों

---

१. भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री लालचंद, भगवान गांधी सम्पादित, पृ० ८, पद १६। २. वही, पृ० १२। ३. वही, पृ० ४६, पद १, ठवणि १०। ४. वही, पृ० ४६। ५. वही, पृ० ४६। ६. वही, पृ० ५६, पद १३८। ७. वही, पृ० ३८। ८. वही, पृ० ७६, पद १७६। ९. वही, पृ० १८१। १०. वही, पृ० ८२, ठवणि १४, पद १९३।

ने बाहुबली के हृदय में 'शम' की सृष्टि कर दी। बाहुबली दीक्षा ले लेते हैं, भरतेश्वर की आँखें आँसुओं से भर जाती हैं और वह उनके कदमों पर लेट जाता है—

सिरिवरि ए लोच करेउ कासगि रहीउ बाहुबले।
अंसूइं आँखि भरेउ तस पणमए भरह भड्डो॥[1]

श्रुत्यनुप्रास से पदावली बड़ी ही कांत हो गई है। भाषा मधुर और छंद गेय है, अतः ओज और माधुर्य की समन्वित स्थिति हो गई है। भाषा टकार प्रधान होने से और अपभ्रंश के 'णित्व' का प्रभाव होने से रास में रसमयता और माधुर्य एकरस व्याप्त हैं।

अलंकार वर्णन

'भरतेश्वर बाहुबली रास' की अलंकार-योजना बहुमुखी है। यों पुस्तक के ऊपर ही विद्वान् सम्पादक ने लिखा है—"सं० १२४१ नुं प्राचीन गुजराती अनुप्रास यमक मय वीर रस प्रधान युद्ध काव्य"[2] अतः अनुप्रास के अनेक उदाहरण मिलते हैं। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सफलता से वर्णन है। अलंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक आदि की योजना सुंदर है, अनुप्रास तो रास की प्रत्येक पंक्ति में झूम उठता है। इनके अतिरिक्त दृष्टान्त, उदाहरण, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि का भी सफल निर्वाह हुआ है। अलंकारों की ओर कवि का आग्रह नहीं हुआ करता। कवि श्री सूरि का भी नहीं है। उसकी भाषा और शब्दावली ही ऐसी है कि अनुप्रास तथा अन्य अलंकार खिंचे चले जाते हैं। अस्तु यह अलंकरण बिलकुल स्वाभाविक हुआ है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

अनुप्रास :—(१) **छेकानुप्रास**—(क) गउ मडंत गयवर गुडीय जंगम जिमि गिरि शृंग तु।
(ख) हीसइं हसमिसि हणहणइ।
(ग) तरवरतार तोखार तु।
(घ) खूँदइ खुरलइं खेडवीय।

(२) **वृत्यनुप्रास तथा**
(३) **लाटानुप्रास या**
(४) **वीप्सा**
(क) चलीय गयवर चलीय गयवर गुहिर गज्जंत।
(ख) पढम जिनवर, पढम जिणवर पणमेवि।

(५) **अत्यानुप्रास**— (क) दिसि दिसि दारक संचरइ ए।
(ख) अंगों अंगिम अंगमइ ए।

(६) **श्रुत्यनुप्रास**— (क) मंडीय मणिमय दण्ड मेघाडंबर सिरिधरिय
(ख) वेगि सुवेसी सो बोलहिं संभलि बाहुबलि।

यमक :— (क) वेगि *सुवेगि* सु बोलइ।
(ख) खर खर *खर*-रव ऊछलीय।
(ग) झंपिस *झालम* झालि।
(घ) भैरव भैरव *रव* करइ ए।

श्लेष :— (क) *वाम तुरीय* वाहिणी तणउ।
(ख) फिरीय फिरीय *शिव* के करइ ए।

सांगरूपक :—(क) काजल *काल-विडाल*।
(ख) बोलइ मंत्रि-मयंकु।

---

१. भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गाँधी, पृ० २२ पद १९५। २. वही; मुखपृष्ठ।

उपमा एवं उत्प्रेक्षा—(क) जिमि उदयाचल सूरि तिमि सिरि सोहइं मणि मवडो।
(ख) झलकइं कुंडल कानि रवि ससि मंडीय किरि अवर।
(ग) चउकीउ माणिक-थंभ-मांहि वइठउ बाहुबले।
रूपिय जिसीय रंभ चमर हारिं चालइं चमर।

अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति (क) कंपिय पयभरि शेष रहिउ विण साही उ न जाइ तु।
सिर डोलावइ धरणिहिं ए टलटलीय टूंक गिरि शृंगतु।

दृष्टान्त तथा उदाहरण (क) मंडिय मणिमय दंड मेघाडंबर सिरि धरिय।
जस पयंड भूयदंड जयवंती जय सिरि बसइ ए।
(ख) विण बधव सवि संपइ ऊणी जिमि विण लवण रसोइ अलूणी।

इसी प्रकार व्यतिरेक, विभावना, अपह्नुति आदि अनेक अलंकार स्वाभाविक रूप से ही आ गए हैं।

छंद-योजना

'भरतेश्वर बाहुबली रास' में कई छंदों का प्रयोग किया गया है, पर प्रमुख 'रास' छंद है। प्राकृत और अपभ्रंश की छन्द-योजना पुरानी हिन्दी में पूर्णतया सुरक्षित रही है। विशेष तौर से हिन्दी ने अपभ्रंश के कई छन्दों को अपनाया है, अपनाया ही नहीं उन्हें दुलार कर अपनी संपत्ति ही बना लिया है।[१]

प्रस्तुत प्रबन्ध में कवि ने रास छंद की योजना की है। रास छंद नया नहीं है। अब्दुर्रहमान कृत 'संदेश रासक' पूरा ही इस छंद में लिखा गया है। कविवर श्री शालिभद्र सूरि ने रास के प्रारंभ तथा अन्त में अपना छंदगत मन्तव्य स्पष्ट किया है :—

प्रारंभ : हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं।
तं जण मणहर मन आणंदहिं।
भाविहिं भवीयण सांभलओ।[२]

और रचना की समाप्ति पर भी रास छंद का उल्लेख किया है :—

गुण गणह ए तणउ भंडारु, सालिभद्र सूरि जाणीइए।
कीधउं ए तीणिचरित्रु भरह नरेसर रासु छंदिइं।[३]

अतः कवि की ओर से तो स्पष्ट हो गया कि यह रास छंद में ही लिखा गया है। इसके छंद पर विचार करते हुए गुजराती विद्वान् श्री के० काशीराम शास्त्री ने लिखा है कि—"प्रारम्भ के अवतरणों में १६+१६+१३ और १६+१६+१३ मात्राओं की द्विपदी मिलती है। इस प्रकार का मिश्रबन्ध पूर्व देखने में नहीं आया।"[४]

नीचे की कड़ियों को श्री शास्त्री ने सोरठा कहा है और रास छंद की विशेषता को 'तु' और 'ये' इन दो शब्दों के माध्यम से पहिचाना जाने वाला कहा है।

पर शास्त्री जी का यह मन्तव्य संदिग्ध सा लगता है।

---

१. देखिए—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६३-६४। २. भरतेश्वर-बाहुबली रास, श्री ला० गाँधी, पृ० २। ३. वही, पृ० ८६। ४. आपणा कविओ, श्री के० काशीराम शास्त्री, पृ० १६०।

'संदेश रासक' की भूमिका में डॉ० भायाणी ने 'रास' छंद की विवेचना की है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। डॉ० भायाणी ने 'रास' उस छंद को कहा है जिसमें दोहा, अडिल्ल, घत्ता, दुल्हअ, मात्रा, रड्डा, ढोसा, इड्डुणिया, पद्धड़िया, आदि छंद हों। अर्थात् इन छंदों में जितने परिमाण को जो प्रयुक्त किया हो तो वह रासक छंद है। पर श्री अगरचंद जी नाहटा इससे सहमत नहीं हैं। वे रास को एक स्वतंत्र छंद ही मानते हैं।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रासक छंद को २१ मात्राओं का कहा है और प्रमाण के लिए उन्होंने 'संदेश रासक' की भूमिका का निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है :—

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअ उक्कंखिरिय।
मंथर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तुह मणहर चल्लंतिय चंचल रमण भरि।
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिण रव पसरि।[१]

पर 'संदेशरासक' के इस छंद को हमारे आलोच्य ग्रन्थ के छंद से मिलाने से पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है, यथा—

अपनूं ए केवल नाण तउ विहरइ रिसहेस सिउ ए।
आविउ ए भरह नरिंद सिउं परगहि अवझापुरि ए।

मात्राओं में भी पर्याप्त अंतर है। अतः यह स्पष्ट है कि यह एक अन्य प्रकार का रास छंद है जो 'संदेशरासक' के छंद से पूर्णतया भिन्न है, और इसी भिन्नता के कारण श्री केशव शास्त्री ने 'इस प्रकार का मिश्रबंध पूर्व देखने में नहीं आया' लिख दिया है।

डॉ० द्विवेदी लिखते हैं कि—"विरहांक ने अपने 'वृत्त जाति समुच्चय' में दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है। एक में विस्तारित या द्विपदी और विदारी वृत्त होते थे और दूसरी में अड्डिल्ल, दोहा, घत्ता, रड्डा और ढोला छंद हुआ करते थे।"[२] अतः हो सकता है कि प्रस्तुत रास छंद इन्हीं दो प्रकारों में से एक हो, क्योंकि द्विपदी इसमें भी मिलती है। जो भी हो, रास छंद की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। संभावित विचार विमर्ष करने पर कवि की ही उक्ति का आश्रय लेना होगा और तब यह मान कर चलने में, कि यह छंद रास ही है, कोई आपत्ति नहीं लगती।

सोरठा : रास में सोरठा भी वर्णित हुआ है। एक उदाहरण देखिए—

मति सागर! किणि काज चक्क न पुरि प्रवेसु करइ?
तुं जि अम्हारइ राजि धुरि धरीइ धोरिं धुरइं।[३]

चउपई : चौपाई का प्रयोग भी रास में किया गया है। अड्डिल चौपाई का ही दूसरा रूप है।

चंद्र चूड विज्जाहरराउ तिणि वातइं मनि वहइ विसाउ।
हा कुल-मंडण! हा कुल-वीर, हा समरंगणि साहस धीर।[४]

वस्तु : वस्तु छंद भी इसमें खूब मिलता है। इस छंद में पाँच चरण होते हैं और नीचे

---

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल, श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १००। २. वही, पृ० १००
३. भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गाँधी, पृ० १८ पद ४५। ४. वही, पृ० ६६।

के दो चरणों की मात्रा तो दोहे की ही भाँति २४ होती है। नीचे के दो चरण, लगता है, दोहे की भाँति ही हैं, यथा—

राउ जंपइ राउ जंपइ सुणिन सुणि दूत।
भरह खंड भूमि सरह भरह राउ अम्ह सहोदर।
सवा कोडि कुमारिहिं सहीय सुर कुमर तेहि अवर नर।
मंत्रि महाधर मंडलिय अंते उर परिवार।
सामंतह सीमाउ सह कहिन सुकुशल विचार।

अंतिम दो चरण बिलकुल दोहा ही हैं। इसके प्रथम चरण में अंत में ऽ। और १५ मात्राएँ, द्वितीय तृतीय चरण में १३ + १५ = २८ मात्राएँ तथा चतुर्थ और पंचम चरण में १३ + ११ = २४ मात्राएँ होती हैं। कुल संख्या ११६ मात्राएँ। प्रथम चरण की सात मात्राओं की प्रायः आवृत्ति कर दी जाती है। उस अवस्था में प्रथम चरण में २२ मात्राएँ हो जाती हैं।[1] वस्तु छंद पर पर विचार करते हुए श्री नरोत्तमदास स्वामी जी ने लिखा है—कि "इसका संस्कृत नाम वस्तुक या वस्तु तथा अपभ्रंश नाम वत्थुअ या वत्थु है। इसका दूसरा नाम रड्डा भी है। छंद शास्त्र में इसके अनेक भेद किए गए हैं। प्राचीन राजस्थानी साहित्य में, विशेषतः जैन साहित्य में इसका खूब प्रयोग हुआ है।"

त्रोटक या त्रूटक : यह भी छः ही चरणों का छंद होता है, यथा—

वर वरइं सयंवर वीर, आरेणि साहस धीर।
मंडलीय मिलिया जान, हय हींस मंगलगान।
हय हींस मंगल गानि गाजिय गयण गिरि गुह गुमगुमइं।
धम धमीय धायल सलीय न सकइ सेस कुल गिरि कमकमइं।
धस धसीय धायइं धारधा बलि धीर वीर विहंडए[3]।
सामंत समहरि समु न लहइं मंडलीक न मंडए।। [१४५]

रास में इस छंद का खूब प्रयोग हुआ है।

सरस्वती धवल : इसको धवल भी कहते हैं। इसमें चार चरण होते हैं। इस छंद का भी एक उदाहरण देखिए—

रोही उ राउत जाइ पातालि विज्जाहर विज्जा बलिहिं।
चक्क पहूचए पूठि तिणि तालि बोलए बलवीय सहस जखो।
रे रे रहि रहि कुपीउ राउ, जित्थु जाइसि हित्थु मारिबु ए।
तिहुयण कोइ न अचइ अपाय जय जोषिम जीणइ जीवइ ए ।।[4]

ठवणि : प्रस्तु रास में ठवणि प्रयोग कई जगह आया है जो संस्कृत 'स्थापनी' शब्द का अपभ्रंश है। यह कोई छंद विशेष नहीं है, केवल नए छंद की स्थापना करने या छंद बदलने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

'भरतेश्वर बाहुबली रास' में इतने ही छंद प्रयुक्त हुए हैं।

---

१. वही, पृ० ३८, पद ६३। २. देखिए—राजस्थान भारती, अंक १, भाग ४, परिशिष्ट २, पृ० ५५। ३. भारतीय विद्या, वर्ष २ अंक १, पृ० १४, पद १४५। ४. वही, पृ० १५, पद १५०।

कुछ पदों की अर्वाचीन छाया

हिन्दी भाषा के पूर्ववर्ती स्वरूप या पुरानी हिन्दी के स्वरूपों की जानकारी के लिए कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहें हैं और उनके साथ कोष्ठकों में हिन्दी की छाया भी। इनसे स्पष्ट हो जायगा कि आदि कालीन जैन साहित्य की इन कृतियों में हिन्दी भाषा के प्रति कितना सारूप्य और सामीप्य है, यथा—

१. मतिसागर ! किणि काज चक्क न पुरि पवेसु करइ ? [४५]
(मतिसागर ! किण काज चक्र न पुर प्रवेश करइ)

२. काहल-कलयलि कल गलंत मउउ उधा मिलिया [११८]
(काहल कलकलहि कलंत मुकुटवंधा मिल्या)

३. समीय विसमउ करम-विपाउ [१५६]
(स्वामी ! विषमो कर्म विपाक)

४. चलिए गयवर चलिय गयवर गुहिर गज्जंत [१६]
(चले चले गजवर गंभीर गर्जंत)

५. रिसह जिणेसर-पय पणमेवी—[१]
(ऋषभ जिनेश्वर पद प्रणमी)

६. चउकिय माणिक थंभ माहि बईठउ बाहुबले [६६]
(चउकी माणिक स्तंभ, माँझ बईठउ बाहुबली)

७. फिरइँ फेकारइँ फोरणइँ, फुड फेणाउलि फार [२४]
(फिरैं फेकारै स्फोरणै फूल फेनावलि फार)

८. बंधव वंधवि ना मिलइं वेटा मिलइं न बाप [३१]
(बांधव बांधवे ना मिलै वेटा मिलैं न बाप)

६. गय आगलिया गल गलंत दीजइ हय लासा [१३२]
(गज आगड़िया गलगलंत दीजै हय लासा)

१०. दस दिसिइं वरतइ आण, भड भरहेसर गहगहइ ए।
(रायह ए गच्छ सिणगार, वयर सेण सूरि पाटधर ॥ [२०३]

(दस दिशै वरतै आण, भट भरतेश्वर गहगहै ए
राजेहँ के गच्छ शृंगार वज्रसेर सूरि पट्टधर)

उन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रास की भाषा हिन्दी के कितनी निकट है।

इस प्रकार आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति का हमने पर्यालोचन प्रस्तुत किया है। आशा है, तत्कालीन भाषा और साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने में थोड़ी सहायता मिलेगी।

कहना न होगा कि इस प्रकार प्रस्तुत रास आदि काल के हिन्दी जैन साहित्य की असाधारण रास रचना है।

हिन्दी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग में प्रचलित भ्रम

रामशंकर भट्टाचार्य, काशी

राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा तभी होगी जब वह संस्कृतनिष्ठ होगी। इस विषय में हमें यह भी मानना होगा कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग में एकरूपता होनी चाहिए। यद्यपि यह नियम आत्यन्तिक रूप से मान्य नहीं होगा, तथापि इतना तो मानना ही होगा कि अज्ञतापूर्वक जो भ्रान्ति संस्कृत शब्दों के प्रयोग में होती है, उसका अपनोदन आवश्यक है। हम इस निबन्ध में कुछ ऐसे शब्दों पर विचार करना चाहते हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में सुप्रतिष्ठित है, पर प्रायः हिन्दी के लेखक उनका प्रयोग असंगत रूप से करते हैं। लेखकों का नाम देना अनावश्यक है।

(१) **मृन्मय**—हमने अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इस शब्द के स्थान पर 'मृण्मय' शब्द देखा है। शायद लेखक गण यह समझते हैं कि 'ऋ' के बाद होने के कारण 'न' 'ण' हो जायगा। पर इस प्रयोग में बात ऐसी नहीं है, जो व्याकरणवित् जानते ही हैं। साधु शब्द 'मृन्मय' ही है। छान्दोग्य उपनिषत् में प्रयोग है—'यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं *मृन्मयं* विज्ञातं स्यात्...' (६।१।४)।

(२) **आवश्यक**— यह शब्द विशेष्य है या विशेषण, इस पर विवाद किया जाता है। प्रकृत बात यह है कि संस्कृत में इस शब्द का विशेष्य और विशेषण—दोनों रूप में प्रयोग मिलता है। पाणिनि ने 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) सूत्र में विशेष्य रूप में इसका प्रयोग किया है और पतंजलि ने 'नै तयोरावश्यकः समावेशः' (२।१५७) कहकर विशेषण में इसका प्रयोग दिखाया है। कैयट की व्याख्या से मालूम पड़ता है कि यह शब्द मूलतः विशेष्य है और तद्धितीय 'अ' प्रत्यय कर (मत्वर्थीय) इसको विशेषण बनाया जाता है। चाहे प्रक्रिया जो हो, हम दोनों रूपों में इस शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। आवश्यक को विशेष्य मानकर हिन्दी में 'आवश्यकीय' चलाया जा सकता है, उसी प्रकार विशेषण मानकर 'आवश्यकता' भी चलेगा, यद्यपि संस्कृत में इन शब्दों का सुप्रचलन नहीं है।

(३) **भ्रातुष्कन्या**—इस का प्रयोग संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पक्षपाती करते हैं। संस्कृत व्याकरणानुसार यह अशुद्ध है, और 'भ्रातुःकन्या' शब्द ही संस्कृत में बनेगा, यद्यपि 'भ्रातुष्पुत्री' शब्द बनने में शास्त्र का आनुकूल्य है। ऐसे स्थलों पर 'भ्रातृ-पुत्री' या 'भ्रातृकन्या' शब्द अधिक उपादेय होगा और हिन्दी वालों के लिए सरल भी होगा। उसी प्रकार 'भ्रातुष्पुत्र' को देखकर कुछ लोग 'भ्रातुष्पौत्र' शब्द चलाते हैं, यह भी संस्कृत व्याकरणानुसार अशुद्ध है। यहाँ भी संस्कृतानुसार 'भ्रातुःपौत्र' शब्द बनेगा। हिन्दी में 'भ्रातृ-पौत्र' चलाने में बाधा नहीं है, यों अन्य शब्द के लिए विद्वान् सोच सकते हैं।

(४) **स्पन्द**—आजकल 'स्पन्द' शब्द अत्यधिक प्रचलित है और 'निष्पन्द' शब्द भी मैंने अनेक विद्वानों के लेखों में देखा है। संस्कृत व्याकरणानुसार यहाँ केवल 'निसन्द' होगा, क्योंकि 'नि + स्पन्द' इस स्थिति में स् को ष् करने वाला कोई नियम व्याकरण में उपलब्ध नहीं

होता। संभवतः संस्कृत के लेखकों में भी यह भ्रम रहा होगा, क्योंकि काव्यालंकारकृत् वामन ने 'निष्पन्द इति षत्वं चिन्त्यम्' कहा है (पञ्चम परिच्छेद)।

(५) पूरण प्रत्ययान्त शब्दों में प्रायः अशुद्धियाँ दीख पड़ती हैं। इसमें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार कुछ निश्चित नियमों का निर्धारण आवश्यक है। हमने 'त्रयोविंशति' वार्षिक उत्सव—ऐसा प्रयोग देखा है। यहाँ संस्कृतानुसार 'त्रयोविंश' या 'त्रयोविंशतितम' होना चाहिए। 'षष्ठदश' शताब्दी में अमुक राजा का राज्य था—ऐसा वाक्य इतिहास-ग्रन्थों में प्रायः मिलता है। यहाँ 'षोडश' होना चाहिए। 'पञ्चमतम', 'तृतीयतम' ऐसे प्रयोग भी मिल जाते हैं, यहाँ भी 'पंचम' और 'तृतीय' ही होगा। यहाँ कुछ अशुद्ध शब्दों के स्थान पर संस्कृतानुसार, शुद्ध शब्द दिए जा रहे हैं और हम आशा करते हैं कि हिन्दी में इस विषय में स्पष्ट नियम बनाया जायगा।

अशुद्ध	शुद्ध (पूरणप्रत्ययान्त)
पञ्चपञ्चाशत्	पञ्चपञ्चाश, पञ्चपञ्चाशत्तम
पञ्चाशत्	पञ्चाश, पञ्चाशत्तम
एकादशतम, द्वादशतम	एकादश, द्वादश
(जिसके अन्त में 'दश' है, उसमें 'तम' प्रत्यय नहीं होता)	
विंशतम	विंश, विंशतितम
सप्तविंशतम	सप्तविंश, सप्तविंशतितम
त्रिंशतम	त्रिंश, त्रिंशत्तम

यहाँ यदि संस्कृत व्याकरणानुसार प्रयोग किया जाय तो उसमें सरलता होगी, क्योंकि संस्कृत का नियम सरल तथा अल्पसंख्यक है। निरर्थक अव्यवस्था बढ़ाने से हिन्दी सीखने वालों के लिए कठिनता होगी।

(६) 'भवत्' शब्द से जैसे 'भवदीय' बनता है, उसी प्रकार 'यावत्' शब्द से 'यावदीय' प्रयोग मेरे देखने में आया है। यों हिन्दी में यदि 'यावदीय' को शुद्ध ही मान लिया जाय तो बात दूसरी है, पर संस्कृतानुसार 'यावतीय' ही बनेगा।

(७) 'ब्रह्मीभूत', 'भस्मीभूत' आदि की तरह 'पृथकीभूत' शब्द भी दीख पड़ता है। मूल शब्द चूँकि 'पृथक्' है, अतः 'पृथग्भूत' होगा। जिस शब्द में अन्त्य हल् रह जायगा, वहाँ ईकार नहीं होगा। अद्ययावत् प्रचलित व्याकरणों में केवल एक व्याकरण में 'पृथकीभूत' शब्द को साधु माना गया है, पर अन्य सब वैयाकरण इसको नहीं मानते, अतः इसका प्रचलन करना व्यर्थ होगा।

(८) विसर्ग सन्धि (तथा रजात सन्धि) में प्रायः अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। 'अन्तर्प्रान्तीय' शब्द प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है, जिसमें न सन्धि ही ठीक है और न जिस अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है, वह अर्थ ही इस शब्द से निकलता है। इस पर लेखान्तर में मैंने विचार किया है। 'बाह्येन्द्रिय' शब्द की तरह 'अन्तरेन्द्रिय' शब्द का प्रयोग भी दीख पड़ता है, जो 'अन्तरिन्द्रिय' होगा। 'यशोकीर्तन' के स्थान पर 'यशःकीर्तन' होगा, या 'यश' को अकारांत मानकर 'यश-कीर्तन' करना चाहिए। विसर्ग संधि में इतनी अशुद्धियाँ दीख पड़ती हैं कि उसके निराकरण के लिए अधिकारी विद्वानों को यत्नशील होना चाहिए।[१]

---

१. प्रस्तुत विषय पर सम्पादकीय टिप्पणी द्रष्टव्य।

सांस्कृतिक अध्ययन :—

बङ्गाल का आर्यकरण

रामनाथ त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच्० डी०

प्राचीन काल में बंगाल कई प्रदेशों में विभाजित था—१. वरेन्द्र (अथवा पुण्ड्र अथवा गौड़) २. वंग एवं ३. राढ़।[1] उत्तरी बंगाल वरेन्द्र भूमि कहलाता था। वंग केवल पूर्वी बंगाल को कहते थे जो कि अब पूर्वी पाकिस्तान में है। इसी के दक्षिण अंचल के भाग समतट एवं हरिकेल कहलाते थे। दक्षिण की समुद्र तट भूमि उपवंग कही जाती थी। पश्चिमी एवं दक्षिणी पश्चिमी बंगाल राढ़ देश कहलाता था। उत्तरी राढ़ को ब्रह्म और दक्षिणी को सुह्म भी कहते थे। वरेन्द्र भूमि को ही गौड़ कहते थे। कभी-कभी वंग को छोड़ कर सारा प्रदेश ही गौड़ कहलाता था। मुसलमानों ने सर्वप्रथम समस्त प्रदेश का नाम बंगाल अथवा बंगाला प्रचारित किया। यह नाम उनका दिया हुआ नहीं है। 'सदुक्ति कर्णामृत' नामक ग्रंथ में बंगाल नामक एक कवि का नाम आया है, साथ ही बंगाल देश का भी नाम आया है।[2]

बंगाल की अधिकांश भूमि दलदल एवं मच्छरों से पूर्ण थी। यहाँ के रहने वाले कुरूप, काले, कुरुचियुक्त, भक्ष्याभक्ष्यग्राही एवं असभ्य जंगली थे। जान पड़ता है ये दुष्ट प्रकृति के थे, क्योंकि जैनों के प्राचीनतम ग्रंथ 'आचारांग सूत्र' में उल्लेख है कि जब महावीर (६ ठीं शती ई० पू०) राढ़ एवं सुह्म प्रदेश में धर्म प्रचार के लिए गए तो वहाँ के निवासियों ने 'छू छू' ध्वनि करते हुए इनके पीछे कुत्ते दौड़ा दिए। अहिंसा प्रिय जैन भिक्षुओं को भी दुश्चर राढ़ देशवासियों एवं कुत्तों के डर से बाँस की लाठी लेकर चलना पड़ता था।[3]

---

१. देखिए—सुनीतिकुमार चटर्जी, दि ओरिजन एंड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज (१). पृ० ६७ तथा सुकुमारसेन, बांगला साहित्येर इतिहास, पृ० २७। २. सुकुमार सेन, बांगला साहित्येर इतिहास, पृ० ३, ४।

३. अह दुच्चर लाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥८३॥
लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूह देसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसुंसु निवइंसु ॥८४॥
अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे।
छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुरा दसंतुत्ति ॥८६॥—आचारांग सूत्र १-१-६-४, सिद्ध चक्र प्रचारक समिति, बम्बई।।

प्राचीन वैदिक एवं लौकिक ग्रंथों में इन्हें पक्षी,[१] दस्यु,[२] संकीर्णयोनि,[३] म्लेच्छ,[४] अनार्य[५] आदि कहा गया है। बौधायन धर्मसूत्र[६] के अनुसार पुण्ड्र, बंग और कलिंग जाने वालों को प्रायश्चित्त करना पड़ता था। नृतत्त्व विशारद लोग (Anthropologists) बंगाल की निम्न जातियों—बाँसफोड़, बाग्दी, संथाल, मुंडा, हाँड़ी, डोम, कावरा आदि को बंगाल की आदि जातियाँ मानते हैं, तथा इनके अंग-प्रत्यंग की नाप-जोख कर इन्हें आस्ट्रिक, द्रविड़, मंगोल एवं नीग्रो जातियों की संतान बताते हैं।[७]

दूसरी ओर आर्य ग्रन्थों से यह भी प्रमाणित होता है कि ये लोग आर्यों की ही संतान थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार (७-८) ये विश्वामित्र के अभिशप्त पुत्र की संतान हैं। 'महाभारत' के आदि पर्व (अ० १२४-५३-५६) में कहा गया है कि बलि की पत्नी सुदेष्णा के गर्भ से दीर्घतमा ऋषि ने नियोग पद्धति द्वारा पाँच पुत्र अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र एवं सुह्म उत्पन्न किए, तथा इन्हीं के नाम पर देशों के नाम पड़े। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (३९-८) में भी अंग एक राजा का नाम है जो कि वैरोचन (बलि) का वंशज है। 'वायु पुराण' में तो अंग को बलि का पुत्र स्वीकार किया गया है—उत्तरार्द्ध ३७-३३। इससे पुष्ट होता है कि ये दस्यु जातियाँ मूलतः आर्य ही थीं। 'मनुस्मृति' में लिखा है पौण्ड्रिक आदि क्षत्रिय थे, वैदिक क्रियाओं के लोप होने और ब्राह्मणों को न देखने से शूद्र हो गए।[८] ब्राह्मण केवल उतने ही क्षेत्र में रहते थे जहाँ तक कि कृष्णसार विचरण करता था।[९] इसे ही यज्ञ-भूमि कहते थे। ब्राह्मण इस क्षेत्र से बाहर नहीं जाते थे, फलतः उनके द्वारा क्रियाओं के अभाव में पुण्ड्र आदि देश म्लेच्छ माने गए। क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जातियों को देश-विजय, वाणिज्य एवं जीविका के लिए आर्य प्रभावित प्रदेश से दूर जाना पड़ता था। अतएव ये जातियाँ वृषलत्व को प्राप्त हो जाती थीं। समस्त ग्रंथों का वृत्त ज्ञात कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बंगाल में आर्यों के पहुँचने के पूर्व अनेक जातियों (Races) के मूल निवासी वहाँ रहते थे जिन्हें आज भी समाज में निम्नस्थान प्राप्त है। कुछ के साथ आर्यों का रक्त-सम्बन्ध भी हुआ, इस प्रकार शुद्ध और संकर आर्यों से समाज का सवर्ण-वर्ग बना। इस प्रकार की स्थिति बंगाल की ही नहीं, समस्त भारत की भी रही है।

मौर्यों के शासनकाल में आर्यों का बंगाल-प्रवेश अधिक संख्या में होने लगा। गंगा नदी के सहारे आर्य संस्कृति का प्रवाह भी बंगाल की ओर अग्रसर होता गया। 'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक के समय पुण्ड्रवर्धन जैन मतावलम्बियों का केन्द्र था।[१०] अशोक के समय बौद्धों का प्रचार बढ़ा। जैन एवं बौद्ध धर्म वेद-विरोधी होते हुए भी, ब्राह्मण्य व्यवस्था को मानते थे। मौर्यों के पश्चात् बंगाल में तीन प्रमुख वंशों का राज्य रहा—गुप्त, पाल एवं सेन। पाल वंशीय राजा बौद्ध थे। तीनों वंशों के राज्यत्वकाल में बंगाल में आर्य परम्पराओं के प्रचार के लिए ब्राह्मणों को प्रधानता मिलती रही।

---

१. ऐतरेय आरण्यक, २-१-१. २. ऐतरेय ब्राह्मण, ७-१८ ३. बौधायन धर्मसूत्र ४. महाभारत सभापर्व, अ० १०-२५ ५. आचारांग सूत्र की शीलांकाचार्य-टीका (९-१०वीं शती) ६. बौधायन धर्मसूत्र, १-२-१५ ७. देखिए, बांगालीर इतिहास, नीहार रंजन राय, द्वितीय अध्याय ८. मनुस्मृति, १०-४३, ४४ ९. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। सः ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छ देशस्त्वः परः (मनु० २-२३) १०. दि ओरिजन एंड डेवलेपमेंट आफ़ दि बेंगाली लेंग्वेज, सुनीति कुमार चटर्जी, पृ० ७३

गुप्तकाल—गुप्त वंशीय राजा वैष्णव थे। सर्वप्रथम इन्हीं राजाओं ने बंगाल से वृषलत्व दूर करने के लिए ब्राह्मणों को भूमिदान कर बसाना प्रारम्भ किया। सेठ आदि अब्राह्मण लोगों ने भूमि क्रय कर ब्राह्मणों को दान किया। बंगाल के बाहर के लोग भी बंगाल में भूमि क्रय कर ब्राह्मणों को दान कर रहे थे। अयोध्यावासी कुलपुत्रक ने इसी निमित्त भूमि क्रय की थी।[१] पुण्ड्र में भूति वर्मा ने छठीं शती में भिन्न-भिन्न वेद के ५६ गोत्रीय २०५ वैदिक अथवा सांप्रदायिक ब्राह्मणों को बसाया था।[२] ब्राह्मणों को भूमिदान करने का प्रमुख उद्देश्य यज्ञ एवं देवपूजन था। इस काल में विष्णु मन्दिरों की स्थापना, मूर्तियों का निर्माण एवं देवार्चन का प्राधान्य बढ़ गया।

गुप्तकाल में ही राज कर्मचारी, नगरवासी, श्रेष्ठी, ग्रामवासी, गृहस्थ, सार्थवाह आदि का परिचय मिलता है।[३] सारा समाज ब्राह्मण्य रीति-नीति एवं व्यवस्थाएँ स्वीकार करता हुआ तीव्र गति से उन्नति की ओर उन्मुख था। ब्राह्मणों के महत्त्व की प्रधानता होते हुए भी अन्य धर्मों की उपेक्षा नहीं की जाती थी। पहाड़पुर की लिपि (५ वीं शती) के अनुसार ब्राह्मण लोग जैन श्रमणों को दान करते हुए देखे जाते हैं।[४]

सातवीं शती में गुप्तों का प्रभाव क्षीण हो जाने पर वंग और गौड़ स्वतंत्र हो गए। बंगाल के प्रथम प्रतापी राजा शशांक ने सरयूतट वासी १२ ब्राह्मणों को गौड़ में बसाया था, ये ब्राह्मण ही ग्रहविप्र कहलाते हैं।[५]

पालकाल—८ वीं शती के मध्यकाल तक राजनीतिक स्थिति बड़ी उथल-पुथलपूर्ण थी। यहाँ की 'मात्स्य न्याय' की स्थिति समाप्त करने के लिए बंगाल के सामन्तों ने गोपाल को अपना राजा चुन लिया। इसने ही पालवंश की नींव डाली। पाल राजा कुलीन न थे। कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य के प्रकाण्ड पाण्डित्य के आगे बौद्ध धर्म ठहर न सका। समस्त भारत से उत्सन्न होकर वह बंगाल में सिमिट आया। पाल राजाओं ने कई बौद्ध चैतन्य विहार आदि बनवाए, उदंतपुर एवं विक्रमशिला महाविहारों की स्थापना कराई एवं भग्न चैत्यों का जीर्णोद्धार कराया। पाल राजाओं के संरक्षण में बौद्ध धर्म ने कई विवर्त्तन परिवर्त्तन देखे। तांत्रिक साधनाओं की कई गुह्य-पद्धतियाँ उसमें समाविष्ट हो गईं। इस काल में बौद्धों का ऐसा प्राबल्य हुआ कि अनेक क्षत्रिय-वैश्य एवं शूद्रों ने उपवीत त्याग दिए और बौद्ध हो गए।[६]

बौद्ध धर्म के साथ ही ब्राह्मण धर्म पनपता रहा। बौद्ध राजा विद्वेषी न थे। उनके मंत्री शास्त्रज्ञ ब्राह्मण होते थे। राजा एवं प्रजा ने भूमि-व्यवस्था, समाज और राष्ट्र-व्यवस्था तथा उत्तराधिकार आदि अनेक विषयों में ब्राह्मण-स्मृति-शासित विधान ही स्वीकृत किए थे। समाज एवं राज्य की सारी व्यवस्थाएँ मनुस्मृति के अनुसार थीं। किन्तु बंगाल में शास्त्र-व्यवस्था का पालन कुछ उदारता के साथ होता था। पाल वंश की रानियाँ ब्राह्मणों को बुलाकर रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनकर उन्हें दान दिया करती थीं। पाल राजा बौद्ध होने पर भी ब्राह्मणों का आशीर्वाद ग्रहण करते थे, दान भी करते थे।[७]

---

१. बाङ्गालीर इतिहास (१), नीहार रंजन राय, पृ० २७१। २. वही, पृ० २७१। ३. वही, पृ० २७१। ४. बांगाला साहित्येर इतिहास (१), सुकुमार सेन, पृ० ५। ५. बांगालीर इतिहास (१), नीहाररंजन राय, पृ० २८५। ६. सत्येन्द्रनाथ वसु, वसुमती मासिक (आग्रहायण, १३५१ बंगाल)। ७. बांगालीर इतिहास (१), नीहाररंजन राय, पृ० २८६।

रामपाल ने ११-१२ वीं शती में क्षयिष्णु पालराज्य के उत्कर्ष का उद्धार करना चाहा, किन्तु उनके पश्चात् इस राज्य की रक्षा न हो सकी। पाल राज्य के अंतिम दिनों के कुछ पूर्व ही सेन एवं वर्मन वंश अपना आधिपत्य जमाने लगे थे।

सेन-वर्मन काल—ये दोनों वंश दक्षिण से आए थे। सेन कर्णाट ब्राह्मण थे, किन्तु क्षत्रिय वृत्ति अपना लेने के कारण अपने को ब्रह्म क्षत्र कहते थे। पाल काल में बौद्ध धर्म से प्रभावित ब्राह्मणेतर जातियों ने उपवीत त्याग दिया था। स्मृति शासित समाज में अनेक कदाकार जीवों के मांस, सड़ी सूखी मछलियों तथा कई विकट जानवरों के खाने का निषेध किया गया है।[१] इससे प्रकट होता है कि उस समय के लोग इन्हें ग्रहण करते थे। तांत्रिक लोगों में भी खाद्याखाद्य का विचार न था। वे सड़ा मांस, मलमूत्र पर्य्यन्त कुछ भी खा लेने में हिचकते न थे। बंगाल के घर घर में इस प्रकार की तांत्रिक दीक्षा ने प्रचार पाकर समाज को बीभत्स कर दिया था।[२] योनि-सम्बन्ध भी बड़े शिथिल जान पड़ते थे। स्मृति-शासित समाज के संस्कारों में पालित सेन-वंशीय राजाओं को बौद्ध बंगाल की यह संयम-शिथिल संस्कृति बिल्कुल पसंद नहीं आई। उन्होंने वहाँ की परिस्थितियों का शास्त्रों से समन्वय करते हुए स्मृति शास्त्र लिखने प्रारंभ किए।

बल्लाल सेन ने अपना ध्यान राज्य-विजय की ओर से हटाकर समाज को व्यवस्थित करने में लगाया। दीनेशचन्द्र सेन का कहना है कि इस समय आचार प्राणशून्य हो गए हैं, किन्तु किसी समय इन्हीं आचारों का प्रयोजन शिथिल समाज को शृंखलित करने के लिए हुआ था। बल्लाल सेन ने विद्या, यश एवं धन आदि के आगे आचारों को अधिक महत्त्व दिया। इन्हीं के आधार पर कौलीन्य का निर्माण हुआ।[३] लक्ष्मणसेन के समय से कौलीन्य वंशगत हो गया था।[४]

वर्मन वंश के राजाओं—हरि वर्मा एवं श्यामल वर्मा—के साथ बंगाली ब्राह्मणों की कुल-पंजिकाओं का सम्बन्ध है। कहा जाता है, इन्हीं दो में से किसी ने कान्यकुब्ज प्रदेश से वैदिक ब्राह्मणों को शकुल-सत्र यज्ञ के लिए बुलाया था। वर्मन-वंश के महासन्धि विग्रहक भट्ट भवदेव के व्यक्तित्व से ही हम इस काल के ब्राह्मणों के पाण्डित्य का अनुमान कर सकते हैं, साथ ही हम इसकी भी कल्पना कर सकते हैं कि ये लोग समाज को किस ओर ले जा रहे थे। भट्ट भवदेव एक ओर नीतिकुशल मंत्री थे तो दूसरी ओर शस्त्र-धारण में कुशल योद्धा। बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त कर देने के कारण इन्हें बौद्ध समुद्र को ग्रास करने वाला अगस्त्य कहा गया है। वे ब्रह्मविद्याविद्, सिद्धांततंत्र-गणितफल-संहिता के पण्डित, होराशास्त्र के एक ग्रन्थ के लेखक, कुमारिल भट्ट के मीमांसा-ग्रन्थ के टीकाकार, स्मृतिशास्त्र के प्रख्यात लेखक, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, आगमशास्त्र एवं अस्त्रवेद के भी सुपण्डित थे।[५] इनके द्वारा लिखित दो स्मृति-ग्रन्थ आज भी सुरक्षित हैं। बंगला रामायण-लेखक कृत्तिवास के समकालीन अथवा उनके अनन्तर उत्पन्न होने वाले रघुनन्दन पंडित ने भी भवदेव के ग्रन्थों का अनुसरण किया है।

इस काल के प्रमुख स्मृति-लेखक ये हैं—जीमूतवाहन, अनिरुद्ध भट्ट (बल्लालसेन के गुरु) राजा बल्लाल सेन, हलायुध (लक्ष्मणसेन के महाधर्माध्यक्ष) और राजा लक्ष्मण सेन

---

१. बांगालीर इतिहास (१), नीहार रंजन राय, पृ० ५४२। २. वंग भाषा ओ साहित्य, दीनेशचन्द्र सेन, पृ० १४६। ३. वही, पृ० १४६। ४. वही, पृ० १४६। ५. बांगालीर इतिहास (१), नीहार रंजन राय, पृ० २६१-६२।

जन्म-संस्कार के लोकाचार और उनसे सम्बन्धित शब्दावली

(अलीगढ़ ज़िले की बोली पर आधारित)

अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, पी-एच्० डी०, अलीगढ़

अलीगढ़ जिले की बोली आदर्श व्रजभाषा के नाम से विख्यात हुई है। सर ग्रियर्सन ने भी अलीगढ़ की बोली को स्टेंडर्ड व्रजभाषा बताया है। अलीगढ़ जिले में कुल छह तहसीलें हैं—(१) खैर (२) कोल (३) अतरौली (४) सिकन्दराराऊ (५) हाथरस (६) इगलास। इन सब तहसीलों के गाँवों में घूमकर यदि भाषा का सर्वेक्षण किया जाय तो व्रज बोली के क्रियारूपों में पर्याप्त अन्तर पाया जायगा। साहित्यिक हिन्दी की वर्तमान कालिक क्रिया—'आता है' के लिए तहसील कोल में 'आवत्वै' बोला जाता है। इसे ही तहसील खैर में 'आवै' बोलते हैं। तहसील कोल और हाथरस में भूतकालिक क्रिया-रूपों में भी अन्तर पाया जाता है। जिसे तहसील कोल में 'गु छोटौ छोरा चलौ गौ' बोलते हैं; उसे ही तहसील हाथरस में बोलते हैं—'गु छोटौ छोरा चल्यौ गयौ।' यही वाक्य तहसील सिकन्दरा-राऊ और कासगंज की सीमा-सन्धि पर बोला जाता है—'वो छोटो छोरा चलो गओ।' ऐसा ही क्रिया-रूप बुलन्दशहर तथा बदायूँ की सीमासन्धि पर भी मिलता है। केलॉग महोदय ने अपनी पुस्तक 'ग्रामर ऑफ दि हिन्दी-लैंग्वेज' में 'था' के लिए व्रजभाषा-रूप 'हो' और कन्नौजी-रूप 'हतो' लिखा है। किन्तु अलीगढ़ जिले की कोल और हाथरस नाम की तहसीलों में आज भी दोनों रूप प्रचलित हैं। *'मैं वहाँ था'* के लिए उक्त दोनों तहसीलों के गाँवों में दोनों रूप सुनने को मिलते हैं अर्थात् 'हूँ ह्वाँ हो' और 'हूँ ह्वाँ हतो'।

अलीगढ़ का प्राचीन नाम *'कोल'* है जिसे ग्रामीण जन *'कोर'* कहते हैं। इस जिले के गाँवों में पुत्र-जन्म के समय जो गीत गाए जाते हैं और जो लोकाचार मनाए जाते हैं, उनसे हमें अपनी सांस्कृतिक भावनाओं, विश्वासों तथा आदर्श व्रजभाषा के वास्तविक स्वरूप का ठीक-ठीक पता लगता है।

जब किसी स्त्री का गर्भ सात महीने का हो जाता है, तब *साध-आमन* (सं० श्रद्धा-आगमन) नाम का लोकाचार होता है। उस समय गर्भिणी के पीहर से जो कपड़े, पकवान आदि सामग्री आती है, उसे भी *'साध'* या *'साद'* (सं० श्रद्धा > सद्धा > साध) ही कहते हैं। साध में आए हुए कपड़ों में से जब गर्भिणी स्त्री अपने कपड़े चौक पर बैठकर पहनती है, तब *'चौक'* नाम का एक गीत भी इस प्रकार गाया जाता है—

आदि। भवदेव भट्ट का उल्लेख हो चुका है। जितेन्द्रिय एवं बालक ने भी ग्रंथ लिखे थे, किन्तु उनकी रचनाएँ अब अप्राप्य हैं।

इसी काल में हिन्दू समाज का पुनर्गठन हुआ। पालों के समय में ब्राह्मणेतर जातियों ने उपवीत त्याग दिया था, अब वे फिर हिन्दू हो गए; किन्तु सब के सब शूद्र अथवा वर्ण संकर माने गए। बंगाल के शूद्र मनूक्त शूद्रों से भिन्न हैं। इन नव-शूद्रों को वेद मंत्र सुनने का अधिकार था तथा ये ब्राह्मणों द्वारा कई अनुष्ठान करा सकते थे।[१] 'बृहद्धर्म पुराण' एवं 'ब्रह्म वैवर्त्त' का जन्म अथवा नवसंस्कार इसी युग में हुआ। इनमें निर्मित जातियों के वर्गीकरण से हम तत्कालीन स्थिति से परिचय लाभ कर सकते हैं।

'बृहद्धर्म पुराण'[२] के अनुसार बंगाल में दो जातियाँ स्वीकार की गईं—१. ब्राह्मण और २. शूद्र। शूद्र अथवा वर्णसंकरों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया—१. उत्तम संकर २. मध्यम संकर एवं ३. अधमसंकर अथवा अन्त्यज। 'ब्रह्म पुराण'[३] में भी विभाजन कुछ ऐसा ही है। उसमें संकर को केवल दो श्रेणियों में बाँटा है—सत् शूद्र एवं असत् शूद्र।

ब्राह्मणों की चार श्रेणियाँ हो गईं। राढ़ एवं केन्द्र भूमि में बसने वाले ब्राह्मण क्रमशः राढ़ीय एवं केन्द्री कहलाए। ये वैदिक क्रियाएँ भूल गए थे, अतएव सेन-वर्मन युग में जो ब्राह्मण आए वे वैदिक कहलाए। एक और श्रेणी ग्रहविप्रों की है, उन्हें शाकद्वीपी ब्राह्मण कहा जाता है तथा ये शशांक द्वारा बसाए गए थे। इनकी स्थिति समाज में महत्त्वपूर्ण नहीं मानी गई।

मुसलमानों के आक्रमण (१२ वीं शती की समाप्ति एवं १३ वीं शती का प्रारम्भ) तक बंगाली समाज का वर्ण-संगठन हो चुका था। रीति-नीति एवं पूजा-अर्चन में भी बंगाल आर्यावर्त्त के अन्य प्रदेशों से समानता करने लग गया था।

---

१. वसुमती मासिक, आग्रहायण, १३५१ बंगाब्द, तथा बृहद्धर्म पुराण, उत्तर खंड, अध्याय १३, १४।
२. बृहद्धर्म पुराण, उत्तर खंड; अध्याय १३, १४। ३. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, ब्रह्म खंड, अध्याय १० (१६—२१)।

ग्रंथ-परिचय :—

कबीरवाणी की एक प्राचीन (-तम ?) टीका

पारसनाथ तिवारी, एम० ए०, डी० फ़िल्०, इला० विश्वविद्यालय

संत-साहित्य के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में कबीर के १२१ पदों की टीका मिलती है जिसकी परम्परा काफ़ी प्राचीन मालूम होती है। मुझे यह टीका दो ह० लि० प्रतियों में मिली है जिनमें से एक नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी में और दूसरी श्री दादू महाविद्यालय, जयपुर में है। पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि दोनों के लिपिकर्त्ता क्रमशः मुकुन्ददास और हरिरामदास हैं जो गुरुभाई थे, क्योंकि दोनों ने अपने को स्वामी दरसनदास का शिष्य बतलाया है। दरसनदास जी प्रसिद्ध सेवादास निरंजनी की तीसरी पीढ़ी में पड़ते हैं। सभा की प्रति सं० १८५६ वि० की लिखी हुई है और दादू विद्यालय की सं० १८६१ वि० की। दोनों ही संग्रह-ग्रंथ हैं और बड़े आकार के हैं। सभा की प्रति ७१७ पत्रों की है और जयपुर की ६६६ पत्रों की। इन प्रतियों में कबीर की वाणी के अतिरिक्त अन्य सैकड़ों संतों तथा नाथ-सिद्धों की वाणियाँ मिलती हैं। प्रस्तुत टीका के संकलन में मैंने उक्त दोनों प्रतियों का उपयोग किया है और पाठांतरों में उनका निर्देश क्रमशः 'स.' (अर्थात् सभा की प्रति) और 'दा.' (दादू विद्यालय की प्रति) द्वारा किया है।

अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर कबीरवाणी की टीकाओं में इसे प्राचीन-तम कहा जा सकता है। 'कबीर बीजक' के प्राचीन टीकाकारों में रींवा नरेश महाराज विश्व-नाथसिंह और पूरनदास साहब के नाम लिए जा सकते हैं। विश्वनाथसिंह का राज्यकाल सन् १८२३ से १८५४ ई० तक (सं० १८८०-१९११ वि०) बताया गया है[1] और पूरनसाहब की टीका सन् १८३८ ई० (सं० १८९५ वि०) में लिखी गई।[2] जैसा पहले बताया जा चुका है, उपर्युक्त टीका की एक प्रतिलिपि सं० १८५६ वि० (सन् १७९९ ई०) में की गई थी। इसका तात्पर्य यह कि उसकी रचना उसके कुछ वर्ष पूर्व ही हो चुकी रही होगी। डा० बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' में गोरखनाथ के कुछ पदों की टीका जिस प्रति से दी है उसका सारा विवरण उपर्युक्त प्रतियों से मिलता है। इन प्रतियों में भी कबीरवाणी की टीका के साथ गोरखबानी की टीका भी मिलती है। डा० बड़थ्वाल ने अपनी प्रति का लि० का० सं० १८२५ वि० (सन् १७६८ ई०) बताया है।[3] इस प्रकार इस टीका की प्राचीनता विचारणीय है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीर साहित्य की परख' के परिशिष्ट में नवलगढ़ के एक निरंजनी गुटके की चर्चा की है जिसका लि० का० सं० १७७९ वि० (सन् १७२२ ई०) है। उसका विस्तृत विवरण वहाँ न रहने से यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उसमें

---

१. के, कबीर एण्ड हिज फालोवर्स, पृ० १३२। २. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० २६६। ३. दे० गोरखबानी, भू०, पृ० १२।

'आईं धना रानी चौक पै, होरिल कंठ लगाइ।
अजुध्या में अनँदबधामनी।
आईं सहोद्रा आरतें; माँगतिँ अपनौं नेगु।'

चौक पर बैठी हुई गर्भवती स्त्री की कोख पर सास, जिठानी आदि बड़ी-बूढ़ी *वड़यरवानियाँ* (स्त्रियाँ) हल्दी के छींटे लगाती हैं और कहती जाती हैं—'खानी, अघानी, पूत-सिहानी, दूधन न्हाइ, पूतन फलै।'

पुत्र-जन्म से छठे दिन जच्चा की खाट के सिरहाने वाले दाहिने पाये के मत्थे पर एक स्त्री बनाई जाती है और उसे पीले कपड़े के टुकड़े से ढक दिया जाता है। कुछ समय के उपरान्त उसे लपसी से पूजा जाता है। उसे ही *छठी पूजन* कहते हैं। जच्चा उसका पूजन करती है और अन्य स्त्रियाँ गीत गाती हैं। तब एक विशेष प्रकार का गीत गाया जाता है, जिसे '*छठी गीत*' कहते हैं—

'छटिय पुजन्ती आई रे जचरिया।
दूध पूत चरुआ कौ जीवै।
कोखि माँग कूँ नित सुख हूजै।
आजु गोदभरी आई रे जचरिया॥'

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य गीत भी गाए जाते हैं जिन्हें वे, *विहाई*, *जचा*, *पालना*, *करावली*, *सौंठ*, *रनझाँझन* आदि नामों से पुकारते हैं। *छठी पूजन* (सं० षष्ठी-पूजन) हमारी संस्कृति में एक प्राचीन पूजन है। महाकवि बाण ने भी 'कादम्बरी' में छठी-पूजन और मंगल-गीतों का उल्लेख किया है—

'स्वस्तिकभक्तिजालमुपरचयिता × × पिंजराम्बरधारिणीं भगवतीषष्ठीदेवीं कुर्वता'—कादम्बरी, बँगला संस्क०, सूतिकागृह वर्णनाखंड, पृ० २७७

× × ×

'सूतिकामंगलगीतिका'—सूतिकागृहवर्णन, पृ० २७६

नामकरण संस्कार को '*उट्ठौन*' या '*तगावँधन*' कहते हैं। इस दिन *सोवर* (सं० सूतिग्रह) के द्वार के कौरों पर रखे हुए *सतिये* और *छवरियाँ* मान (लड़के की फूआ) के द्वारा उचेल दी जाती हैं और उसके स्थान पर *ऐंपन* (पिसे हुए चावलों का गाढ़ा लेप) से सतिए और छवरियाँ बना दी जाती हैं। पुत्रजन्म से सवा महीने बाद एक लोकाचार '*चुरियाँवढ़न*' होता है। तब जच्चा की पहली चूड़ियाँ उतरवा दी जाती हैं और उनके स्थान पर नई चूड़ियाँ पहनवा दी जाती हैं। नई चूड़ियाँ पहन लेने पर उस स्त्री की '*जच्चा*' संज्ञा समाप्त हो जाती है और वह घर का हर एक काम-काज करने लगती है।

तिन में समि रहे। तौ काल भय नांहीं। अष्ट कंवल पांच कंवल (इंद्री ?) तीन गुन तिनकी काया सोई अष्ट कंवल। ता भीतरि श्री माया ताका काया रंग परमेस्वर विराजमान हैं। कदली काया। कुसुम हिरदा कंवल। ता भीतरि प्रमेस्वर छैं। दस अंगुल दसूं दिसि मन भरमैं सोई अंतर। दूजा (दूसरे अर्थ के अनुसार) दसूं द्वारे भरमै। द्वादस बारह अंगुल बाई। घोजिले स्वास स्वास जपिले नाम बंकनालि सुरति प्रमेस्वर सूं बांकी अंतरे कहिए तिस अंतर। तिसही मांहिं पछिम प्रमेस्वर की बाट छैं। जे सुरति सुरति सीधी होइ प्रमेस्वर सूं तौ बाट पावै। प्रमेस्वर सूं बांकी सुरति सोई अंतराइ। नीझर राम रस भंवर मन सिधां का। हिरदा सोई गुफा त्रिवेणी मन पवन सुरति एकत्र। मध चौरासी की बाट फेरिं न देपै। सनकादिक इंद्री। गगन अंतहकरन। गरजि कहिए उमगि। अनाहद धुनि सोई गरजि। मध कहिए ब्रह्म पंथ। जोया देष्या तार तेज बीजरी ब्रह्म घन कूपां पोड़स सोलह कला मन की सुधि हुई। सहज समाधि दुंद नांहीं।

[३]

गोकुल नाइक बीठुला, मेरौ मन लागौ तोहिं रे।
बहुतक दिन बिछुरें भए, तेरी औसेरि आवै मोहिं रे॥ टेक॥
करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे, नेह गए की आस रे।
आपहिं आप बंधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर संमि चीन्हिए, दीसै सरब समांन।
इहिं पद नरहरि भेटिए, तू छांड़ि कपट अभिमांन रे॥
नां कतहूं चलि जाइए, नां सिर लीजै भार।
रसनां रसहिं विचारिए, सारंग श्रीरंग धार रे॥
साधैं सिधि ऐसी पाइए, किंवा होइ महोइ।
जे दिढ ग्यांन न ऊपजै, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे॥
एक जुगति एकै मिलै, किंबा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइए, रांम नांम सिधि जोग रे॥
प्रेम भगति ऐसी कीजिए, मुखि अंमृत बरिषै चंद।
आप ही आप बिचारिए, कब केता होइ अनंद रे॥
तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥
चरन कंवल चित लाइए, रामं नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे॥

[क० ग्रं० ५]

गोकल पृथी गो काया कहीए। नाइक परमेसर बीठल व्यापक। टेक। करम कोटि कौ ग्रेह देह जामैं सब मलीन क्रम होंहिं। नेह गया बिन स्वर माया तासूं नेह। आपै आप सब बंधै लोचन सब के प्यासे रहैं। एक जुगति एक मिलै। जोग कीएं जोग फल भोग तें भोग फल। सोऊ झूंठ दोन्यूं। रांम नांम जपें दोऊ फल प्रापति जोग अरु भोग। आत्म प्रमात्म संजोग सोई जोग। नांव मीठा लागा सोई भोग ॥२॥ अंमृत स्वांतिक वचन। दूजा अंमृत नांव। चंद ग्यांन सो पोप। आपही आप आत्म विचार। अंतहकरन विदेह ग्यांन ॥३॥

[२]

मन के मोहन वीठुला, यहु मन लागौ तोहिं रे।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहिं रे॥ टेक॥
षट दल कवल निवासिया, चहुं कौं फेरि मिलाइ रे।
दहुं कै बीचि समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे॥
अष्ट कंवल दल भीतरां, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तो पाइए, नहीं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे॥
कदली कुसम दल भीतरां, तहां दस अंगुल का वीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे॥
वंक नालि के अंतरै, पछिम दिशा की वाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहां भंवर गुफा के घाट रे॥
त्रिवेणी मनहिं न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहां न फिरि मघ जोइए, सनकादिक मिलि हैं साथि रे॥
गगन गरजि मघ जोइए, तहां दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन वरषिहै, तहं भीजत हैं सब संत रे॥
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री वनवारि रे।
जुरा मरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुर गंमि तैं पाईए, झंषि मरै जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥

[क० ग्र० ४]

अर्थ जोग मैं—मोहन मोहि राखे सब। वीठल व्यापक। टेक। पटदल पांषुरी व स्वाधिष्ठान चक्र लिंग अस्थान निवास। मन पवन सुरति कौं चहूं कूं चारि पांषुड़ी का आधार चक्र। गुदाअस्थाने। दोइ का आग्यां चक्र लिलाट अस्थान। समाधि थिरकाल नहीं। अष्ट पांषुरी पांच तत तीनि गुन। की काया सोई कंवल अस्थान निरंजन।

साषी—पांच तत के पांच हैं, [आठ तत्त के आठ।
आठ तत्त का एक है, तहाँ निरंजन हाट॥ २॥][1]

कदली काया कुसुम आत्म कंवल। दस पांषुड़ी का मणिपूर चक्र। नाभी अस्थान। द्वादस पांषुड़ी का अनाहद चक्र। हृदा अस्थान। वंकनालि सुरति अंतरीष अम्यल। पछिम प्रमेस्वर नीझर ब्रह्मरस। भंवर मन सिधां का। गुफा हिरदा।

अर्थ भगति मैं—मोहन सब मोह्या। कोई ब्रह्म मैं कोई माया मैं। वीठल सब मैं व्यापक। टेक। षटदल पांच इंद्री छठा मन निवास। बाहरमुष (=बहिर्मुख) तैं अंतर निहचल करै। च्यारि मन बुधि चित अहंकार। चतुष्ट अंतःकरण। दोइ पष राग दोष(=द्वेष)

१. प्रति में साखी पूरी नहीं दी गई है। कोष्ठक का अंश मैंने मंगलदास संपादित 'श्री दादूदयाल जी की बाणी' की सहायता से [illegible] किया है (दे० साखी ४। ५१, पृ० ६३)

श्री विचारदास शास्त्री (वर्तमान हुजूर प्रकाशमणि नाम साहब, जो कबीरपंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रधानचार्य हैं) की बीजक-टीका सर्वाधिक संयत और विचारपूर्ण है। उनकी व्याख्या उक्त पंक्तियों के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

'जुलाहा (जीव) घर (शरीर) को छोड़कर जा रहा है तिस पर भी माया उसका पीछा नहीं छोड़ती। रामुरा (राम की माया) जीव रूप जुलाहे से शरीर रूप दूसरा पट बनवाने को जा रही है, इत्यादि।'

पहले दोनों अर्थ जैसे हैं उनके सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, किंतु विचारदास की टीका भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। प्रस्तुत टीका में इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—

'चले बुनावन माहां। चले बुनावन मांहिं। परमेश्वर सूं तन की सूंज। मांहैं हिरदा मैं। दूजा (अर्थात् दूसरा अर्थ) ऊँचा कपड़ा माहा। सो ऊँची भगति। नौ गज नौ द्वार। दस गज दस इन्द्री। ए उगनीस गज तिनकी पुरिया काया। सात सूत सप्त धात। गंड बहत्तर कोठे। पाट प्रीति सूं भगति। सोई पाट का डोरा तातैं अधिक भई।'[1]

यही परिस्थिति अन्य पदों के सम्बन्ध में भी है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि त्रुटियाँ इस टीका में हैं ही नहीं। कहीं कहीं कुछ शब्दों तथा स्थलों के सम्बन्ध में थोड़ी खींचतान अवश्य मिलती है; किंतु, अपेक्षित सावधानी बरतने पर, मुझे विश्वास है कि कबीर के अध्येताओं के लिए यह टीका बड़े काम की सिद्ध होगी।

अथ कबीर के पद अर्थ सहित—

[१]

दुलहिनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूं, पंचू तत्त बराती।
राम देव मोरै पाहुंनै आए, मैं जोवन मैंमाती ॥
सरीर सरोवर वेदी कीरहूं, ब्रह्मा वेद उचारा।
रांम देव संग भांवरि लैहूं, धंनि धंनि भाग हमारा ॥
सुर तैंतीसूं कौतिग आए, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हंम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी ॥

[क० ग्रं० पद १]

दुलहिनीं आत्मा। घर घट। भरतार परमेश्वर। टेक। तन मन परमेस्वर सूं रत किया। पंच तत तिनकी तासीर। प्रमेस्वर सूं लीन। बराती बने। जोबन। प्रेम मद मत्त। सरीर सरोबर वेदी करिहूं। प्रमेस्वर सूं बणाव[2] सोई वेदी। ब्रह्मा बानी। भांवरि फेरा प्रमेस्वर सूं बिलास सोई भांवरि। सुरदेव तैंतीस। पांच इंद्री पचीस प्रकृति तीन गुन ए तैंतीस। मुनिवर सहस अठ्यासी। नौ नाड़ी बहत्तर कोठा सप्त धात। ए अठ्यासी मुनि। आतम प्रमात्म सूं संजोग सोई व्याह। संसार सूं त्रिवासीक[3] हुए चले[4]।

१. दे० आगे, पद सं० ७३ की टीका। २. दा. बणावत। ३. दा. नवासीक। ४. स. हूँ च्यले।

कबीर के पदों की टीका है या नहीं; किन्तु ऐसा होना असंभव नहीं। कबीरपंथियों में रामरहसदास साहब (सं० १७८२-१८६६ वि०)[1] का 'बीजक' पर 'पंचग्रंथी' भाष्य सर्वाधिक प्राचीन है, किन्तु उसे टीकाग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

प्रस्तुत टीका का रचयिता कौन है, इसका उल्लेख उक्त प्रतियों में कहीं भी नहीं है, किन्तु उसमें पृथ्वीनाथ (अकबर के समकालीन) और दादू (मृ० सं० १६६० वि०) की रचनाओं के उद्धरण (दे० पद १६, २६ तथा ६८ की टीका) मिलने से यह सिद्ध होता है कि टीकाकार उक्त दोनों महात्माओं का परवर्ती रहा होगा। राजस्थानी प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलने के कारण यह रचना किसी राजस्थानी की ज्ञात होती है। 'अनभै प्रमोध' (संत शब्दावली का एक कोशग्रंथ) के रचयिता गरीबदास (दादू के तथाकथित पुत्र) की रुचि इस दिशा में अधिक दिखाई पड़ती है। संभव है, यह उन्हीं की रचना हो। किन्तु इस विषय में अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस टीका का रचयिता जो भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर के अन्य टीकाकारों की अपेक्षा उसने हवाई उड़ान कम भरी है। निम्नलिखित उदाहरण से इस कथन की पुष्टि हो जायगी—

कबीर के एक पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

रामुराय[2] चली बिनावन माहो। घर छोड़े जाइ जुलाहो॥
गज नव गज दस गज उनइस की, पुरिया एक तनाई।
सात[3] सूत दे गंड[4] बहत्तरि, पाट लागु अधिकाई॥

[तुल० क० ग्रं०, पद १६३; बीजक, शब्द १५ तथा गुरुग्रंथ, गौड़ी ५४]

उक्त पंक्तियों की टीका विश्वनाथसिंह जी ने इस प्रकार की है—'रामरा कहे रा जिनको मरा है अर्थात् रकार बीज को जिनके अभाव है साहब को नहीं जानै (!) ऐसे जे समष्टि जीव तिनके इहां मा जो है कारणरूपा माया सो बिनावन को कहे बिनवावन को चली अर्थात् जगत् बनाइवे को चली।...ब्रह्म जीव के पास सो जोलाहा जो यह जीव है सो घर को छोड़ देय है।...प्रथम एक गज की कल्पना रूप पुरिया तनावत भई। प्रथम जीव जीव बाणी प्रणव रूप एक गज की पुरिया अनुमान ब्रह्म बनायो अर्थात् मन भयो। पुनि नवौ व्याकरण बनावत भई।...पुनि चार वेद और छः शास्त्र ई दस गज की पुरिया तनावत भई सो अठारहौ पुराण उन्नीसौ महाभारत ए उनइस गज की पुरिया तनावत भई' इत्यादि।[5]।

इसी पर पूरणदास साहब की टीका देखिए—

'हे जीव, यह माया नाना प्रकार की बानी पढ़िके औ कल्पना करके संसार में दृढ़ावने चली। जाके पीछे ये जीव सब घर छोड़ के चले।...फिर नौ व्याकरण बनाया...चार वेद बनाया। तामें निर्णय किया तीन पद का। तत् त्वम् असि। फिर छः शास्त्र बनाया। इस प्रकार से उनइस का एक ताना तनाया। पांच तत्व छठा मन सतवाँ जीव नौ द्वार बहत्तर कोठा। एते से जो अधिक है सो मैं आत्मा। तब अनुभव पट बढ़ा कि कहीं तौल से तूलता नहीं।'[6]

---

१. उत्तरी भारत की संतपरम्परा, पृ० २६६। २. पाठांतर—क० ग्रं० : माधौ। ३. गुरुग्रंथ : साठ। ४. गुरु० : खंड। ५. दे० बीजक कबीर साहब, वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९६१, पृ० २२८-२९। ६. दे० बीजक श्री कबीर साहब का, पूरणदास की टीका, पृ० १०४-५।

बेध्या। सुमिरन तें एकत्र हूए। सहज सुंनि बुंदि रहित बैरागी अणरागी। आजी सूं राग नहीं। अमर कदे मरै नहीं। ताही पोजि बैरागी बिनां राग। अनभै भै रहित कथा। पलीता गुर सबद झल ब्रह्म जोति।

[६]

इहिं तत राम जपहु रे प्रांनीं, बूझौ अकथ कहांनीं।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि, जाग्रत रैंनि बिहांनीं॥
डाइन डारै सुनहां डोरै, स्यंघ रहै बन घेरै।
पंच कुटुंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरै॥
रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै।
सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै॥
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहिं बिचारै।
कहै कबीर सोइ गुर मेरा, आप तिरै मोंहिं तारै।

[क० ग्रं० ६]

इहिं तत इस जानि जपौ। अकथ कहानी अचरज कथा परमेस्वर की। हरि करि भाव हरि की कृपा। जागत रैणि चेतन आरवल[१]। टेक। डाइन माया मारै छोड़ै। सुनहा सांसा। डोरै बसि करै। सिंघ ग्यांन बन काया। पांच कुटुम्ब पांचै इंद्री ग्यांनवंत हुई। झूझै ब्रह्म दिसा बाजै सबद गुर का घेरै। समेटै बसि करै। रोहै रोकै मृघ मन संसा सबद जीव भी कहिए। बन बिकार पारधी चोट काल न करै। साइर सरीर जल ब्रह्म अगिन सूं। बन बिकार दाझै मछ मन अहेरा सिकार सबद सूं मेला करै। बिचारै मानै कह्यां सों करणी करै।

[७]

अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी॥ टेक॥
बन कै ससै समंद घर कीया, मछा बसै पहाड़ी।
सुद्र पीवै बांम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी॥
षाड बुणै कोली मै बैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी।
तांणै बांणै पड़ी अंनवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी॥
कहै कबीर सुनहु रे संतों, अगम ग्यांन पद मांहीं।
गुर प्रसाद सुई कै नांकै, हस्ती आवै जांहीं॥

[क० ग्रं० १०]

अवधू कहिए अणधूत अणठग्या। मन पै न ठगावै। इन्द्र्यां पै न ठगावै। ग्यांन की लहरि ध्यांन सोई धुंनि। लहरि कहिए छक्या। मांडी हिरदै सबद अतीत। गरीबी लीएं। दूजा अतीत बचन रहित ब्रह्म तासूं राता जन यूं तृष्ना दूरि करी।टेक। बन बिकार ससा सबद। समद ब्रह्म मछ मन। पहाड़ी परमेस्वर। सुद्र इंद्री पीवै रास रस। बांभन ब्रह्म मांहिं लीन सो मन। फल दरसन बाड़ी काया बिना। पांड़ काया कोली प्रांण[२] असथान। ब्रह्म सूं...... पावै सोई कहिए बुणै। मैं ब्रह्म भाव पूंटा मन। जगत सूं मनसा ताणैं। प्रमेस्वर सूं बांणैं।

---

१. दा. प्रारवल। २. स. मे दो बार।

[४]

नरहरि सहजैं हीं जिनि जांनां।
गत फल फूल तत्त तर पल्लव, अंकूर बीज नसांनां ॥ टेक ॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी ॥
उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेर डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजै अनहद तूरा ॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समांनीं ॥

[क० ग्रं० ७]

सहजैं मानसी भजन। दुंदरहत फल पाप पुंनि। फूल कामना तर प्रांन। तत रूप है रह्या गुण उदै नांहीं। पल्लव प्रकीरति नहीं। अहं अंकूर नहीं बीज वासना नाहीं। प्रगट प्रस्या ब्रह्म। गुर गम तैं गुर परसादि। ब्रह्म अगनि परजारी। प्रजारी प्रकीरति। प्रकीरति ससि सूर। मन पवन ताता सीला। दूरि कहिए इनतैं आगै। जोग कहिए जुगतारी। आतमा प्रमातमा जुगल सोई जोग जुगतारी। ध्यांन समाधि पवन सांसि सुमिरन लागे। सोई उलटे। पांच इंद्री छठा मन। ए षट चक्र वेधे। सुमिरन में मेर माया। डंड कहिए माया कूं जीती। सर सबद पूरा गुर का। गगन अंतहकरन। गरजि उमगि करि सुंनि ब्रह्मअस्थान दुंदरहित। अनहद हद रहित बाजा। दूजा अनहद कहिए अणहत्या बिन बजायां बाजै। या सुमति जिन सरीर में जानी। त्रिकुटी[1] मन पवन सुरति। संगम कहिए इकग्र तहां स्वामी प्रमेस्वर पद प्रांन आनंद मैं हूवा।

अर्थ दूजा जोग मैं—मन पवन उलटि षट चक्र मैं समाया। चक्र जो दुतीए सबद मैं कहे। मेर डंड दसवौ द्वार। पवन चक्रां मैं फेरि पिष्टि (दष्टि ?) रंधर करि दसवैं द्वारा चढ़ावै सर स्वांस। गगन दसवां द्वार। गरजि धुनि होई सोई अनाहद।

[५]

मन रे मन ही उलटि समांनां।
गुर प्रसादि अकल भई तोकौं, नहितर था बेगानां ॥ टेक ॥
नेड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जांनां।
औलौती का चढ्या बलींडै, जिनि पीया तिनि मांनां ॥
उलटे पवन चक्र षट वेधा, सुंनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहिं जीवै, ताहि खोजि बैरागी ॥
अनभै कथा कवन सौं कहिए, है कोई चतुर बिवेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी ॥

[क० ग्रं० ८]

मन उलटि परम मर्न सूं मिल्या। टेक। नेरे थैं दूरि बिन प्रीति। दूरि थैं नैरै। हिरदैं प्रीति तब्र। औलौती इंद्री बलेंडा ऊंची दसा। पवन सांस षटचक्र पांच इंद्री छठा मन

[1] १. दा. भृकुटी।

गुर। ऊतम बर परमेस्वर। जब लगि परमेस्वर सूं प्रापति नहीं। तौलूं गुर सरणैं रापि। लुबधी सुबुधि। लुबधी परमेस्वर भाव का लोभी। आनबहू अनभै। चूल्हा चित ब्रह्म अगिनि परजारी। फलसा नो द्वार[१] रोकै बिषै तैं। सब जग सब तासीर भूलौ। बाढ़ी गुर जनि भूलौ। ग्यांनहीन आत्मां सब रांड। चरषा चित कूंण संवारै। पद बिचारै जो करणी करै। गुर उपदेस दाता सतगुर परमेस्वर।

[१०]

अब मोहिं ले चलि नणद के बीर अपनैं देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूं, कुसंग आहि बदेसा॥ टेक॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातौं बिरही मेरे नीपजै, पंचूं मोर किसांनां॥
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥

[क० ग्रं० १४]

नणद के बीर पुरुष सो परमेस्वर अपणा देस अपणी सरणि। पंच इंद्री लूटैं एई कुसंगति। एई पांचूं[२] माया बिषै सूं लागा ऐई चोर। गंगा उठती बांणी तिसका भाव भजन सोई हृदै। जमुना जमाव। सप्त धात चारि माता की तीनि पिता की। इनकी तासीर ब्रह्म ओर उलटी। तब निपजी कहिए। किसाना पांचूं इंद्री। सहज भाव कहिए पांचूं थकित। बिषै तैं रहित दुंद रहित। ब्रह्म-भाइ सोई सहज भाइ। ते ब्रह्म मैं समाइ रहैं।

[११]

हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ बिश्राम॥ टेक॥
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलैं पंच पियारियां, तहां झूलै जीय मोर॥
द्वादस गम के अंतरा, तहां अमृत कौ ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिरि मौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हंम झूलैं हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट॥
नाद बिंदु की नावरी, रांम नांम कनिहार।
कहै कबीर गुंण गाइले, गुर गंमि उतरौ पार॥

[क० ग्रं० १८]

प्रेम भगति हिंडोलना। टेक। चंद सूर मन पवन। बंकनालि सुरति सोई डोरी। पंच पियारी पांच इंद्री। द्वादस बारह अंगुल बाइ उठै सांस जहां तें सो हिरदा अंतरा कहिए। तिस माहैं इंद्रित नाम। सहज सुंनि ब्रह्म अस्थांन। दुंद रहत सोई हृदा। नैहरो पीहर तासूं

१. दा. में 'द्वार' शब्द नहीं है।   २. दा. पांभूं।

अनवासी आत्मा। सूत सुरति कहै। परमेस्वर सूं गाढ़ी प्रीति बणावै। अगम कुंडा ग्यांन यां पद मांहीं सुई सुरति अरु भगति हस्ती मन।

[८]

हरि के षारे वड़े पकाए, जिनि जारे तिनि पाए।
ग्यांन अचेत फिरै नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाए॥ टेक॥
धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनंद सुनावै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा॥

[क० ग्रं० १२]

षरे बिकार षारे बिष रूप हैं। पकाए परमेस्वर कहीं धरे हैं। जारे कहिए जिन ग्यांन अगनि करि जारे। टेक। निहकामी किए तिन पाए। तिन बिकार जीते। और अचेत नर सब बिकार कूं षाए डहकाए ठगे। धौल ऊजल मन सोई मदलिया[१]। बैल बप कउवा मन दूजा बिरह। ताल ब्रह्मवांणी। चोलना चित। गादह ग्यांनी मन। मन चित एक मते सोई पहिर नाचै परमेस्वर आगैं। भैंसा भला भाव। नृत नृणौ। सिंघ ग्यांन पांन[२] प्रकीरति। घूंस बुधि घट मैं। गिलौरा ग्यांन कथा। उंदरी आत्मा मंगल भजन आनंद निचिंत कथा। गाडर ग्यांन परवत पाप। चकवा चित। अंगारा कुसबद जरै। दूजे अंगारे इंद्री। समद मन आकास ऊंची दसा।

[९]

चरषा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भईया की सौं॥ टेक॥
जलि जाई थल ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायो बाप॥
बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्यम ले चाहि।
जब लग बर पावै नहीं, तब लग तूं ही ब्याहि॥
सुबधी कै घर लुबधी आयो, आन बहू कै भाइ।
चूल्है अगनि बताइ करि, फलसौ दीयौ ठठाइ॥
सब जगही मरि जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै।
सब रांडनि कौ साथ, चरषा को धरै॥
कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहिं बिचारै।
पहलै परचै गुर मिलै, तौ पीछैं सतगुर तारै॥

[क० ग्रं० १३]

चरषा चित जिनि जरै बिकारूं मैं। हजारी ऊंची भगति। नणद का भइया पीव सो परमेस्वर। टेक। जल बूंद की काया। थल माता कौ ग्रभ। नगर संसार। बेटी बुधि। बाबुल

१. स. मादल। २. दा. ग्रांन।

माया मिथ्या ब्रह्म सति या जांणि सुभ क्रिया लई। लरके इंद्री परके प्रकीरति। जागत चेतनि हम घर हम घट मैं चोर पसारा परमेस्वर प्रवेस किया। दूजा चोर नांव भी कहिए। नांव प्रवेस कीया। संसार सूं सूंज तन ता लई। बांण संसार सूं बनाव बनाव (?) तासौं लिया। कठउवा कंवल की कठोरता सो लई। मांड चलवना। माया के चल चलेव। करता मन सो लिया। ए सब संसार तें बैंचि आप मैं बंणाव प्रमेस्वर सूं। एक पग एक गुंण दोई गुण त्रीए गुण तीन्यूं गुंण जीति। संधि संधि सब सूंज प्रमेस्वर आप सूं मिलाइ करि प्रपंच पांचूं इंद्री हाथि करि प्रमेस्वर भजि। मोह बंध परमेस्वर। किलि किलि सब करम मिटे। ताना संसार तैं बैंचि परमेस्वर मैं बनाया सोई बचा कहिए ठाकुर सांईं सूं ध्यान लागा। सिराना चौरासी कही।

[१४]

तननां बुननां तज्या कबीर। रांम नांम लिखि लिया सरीर ॥ टेक ॥
जब लग भरौं नली का वेह। तब लग टूटै रांम सनेह ॥
ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ। ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ।
कहै कबीर सुनहु री माई। पूरणहारा त्रिभुवन राई ॥

[क० ग्रं० २१]

तननां बुननां कहिए संसार सूं सुरति सहित तानि बुनावना सो तज्या। रांम नांम सूं सुरति लागी। नली काया वेह नौ द्वारे भरै था स्वाद सूं रांम सनेह मैं भंग था। माई मनसा ठाढ़ी किराड़ै। किराड़ा संसार की कृतब ता ऊपरि ठाढ़ी लरिका इंद्री। क्यूं जीवैं क्यूं पोष पावैंगी। कबीर जी कहै छैं सुमिरण सूं संतोषैंगे।

[१५]

एक अंचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई ॥
तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै ॥

[क० ग्रं० ११]

सिंघ ग्यांन। गाइ मनसा सहित इंद्री। पूत ग्यांन सुष माया पाछैं पड़ी। चेला चित मन ऊजल। चित मन बसि किया। जल माया मंछली मनसा। तरवर ब्रह्म बिलाई दुरमति। मुरगा ग्यांनी मन। बैल बप अस्थांन छोड्या। गूंनि गुन घर आत्मा अस्थांन। कुत्ता काल लै लागी बिलाय गया। साषा इंद्री तले दई। मूल प्रांण जीति बैठा। जड़ सुरति ऊंची दसा। फूल भाव भगति।

[१६]

जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ।
घर जाजरौ बलींडौ टेढ़ौ, औलौती डरराइ ॥ टेक ॥
मगरी तजौ प्रीति पापे सूं, डांडी देहु लगाय।
छींकौ छोडि उपरहिड़ौ बांधौ, ज्यूं जुगि जुगि रहौ समाइ ॥

नेह। गगन मंडल आत्मा कंवल मौर भाव भगति। दोऊ कुल लोक प्रलोक आगरी अधिकारी। दूजा दोऊ पष तिनतैं आगै। अरध उरध उठंती बैठंती बांणी। वाही गंगा जमुना। मूल कंवल ब्रह्म असथांन सोई हिरदा। षट चक्र पांच इंद्री छठां मन सोई गागरीं। इनकी नाव बांणी। त्रिवेणी मन पवन सुरति संग मिलाप घाट। नाद सबद अरु बिंद। तिनकी नाव सोई काया। रांम नाम सोई पेवै। किनहार कहिए मल्लाह सोई नांम।

[१२]

को बीनैं प्रेम लागौ री, माई को बीनैं।
रांम रसांइण माते री, माई को बीनैं॥ टेक॥
पाई पाई तू पुतिहाई,
पाई की तुरियां बेंचि खाई री, माई को बीनैं॥
ऐसें पाई पर बिथुराई,
त्यूं रस आंनि बनायौ री, माई को बीनैं॥
नाचै तांनां नाचै बांनां,
नाचै कूंच पुराना री, माई को बीनैं॥
करगहि बैठि कबीरा नाचै,
चूहै काट्या तांनां री, माई को बीनै॥

[क० ग्रं० १६]

कबीर जी कहै छैं को बीनै कूंण बुणै। बुणना कहिए माया बणावा छोड्या। प्रेम लागौ परमेस्वर सूं यूं छोड्या। टेक। पाई पाई मैं जांणी माया। पुतिहाई कहिए पापणी पुत्र घांणी। माया सांपणि सब डंसे। कनक कामिनी होइ तुरीया तीन गुंण। बेंचि त्यागि नाम लिया। ऐसें कहिए अब की जांणी। पर बिथुराईं परैं दूरि छांडी। त्यूं रस कहिए गोविन्द सूं ध्यान लागा। माया सूं बणै नाहीं। परमेस्वर आगैं नाचै। बनाया परमेस्वर सूं बनाव तहां नाचै। कूंच पुराना काम निरबल पड़्या सो नाचैं। करगहि कहिए कबीर जी सब कूंच हाथि करी बसि करी। नांचै परमेस्वर आगैं। चूहा चित्त ताना चौरासी गुण।

[१३]

मैं बुनि करि सिरांनां हो रांम, नालि करम नहीं ऊबरे॥ टेक॥
दखिन खूंट जब सुनहां भूंका, तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम॥
तांनां लीन्हां बांनां लीन्हां, लीन्हें गोड के पऊवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हां, मांड चलवनां डऊवा हो रांम॥
एक पग दोइ पग त्रेपग, संधे संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बंधि आयो, किलि किलि सबै मिटाई हो रांम॥
तांनां तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहिं ध्यांनां।
कहै कबीर मैं बुंनि सिरांना, जांनत है भगवांनां हो रांम॥

[क० ग्रं० २०]

बुनि सिरावना संसार बनाव तें थक्या। नालि काया करम गया थिर हूवा। दक्षिण दाहिना कान। सुनहां गुर का सबद। गुर सबद सुणाया। सुगन बिचारा सबद बिचारा।

माया मिथ्या ब्रह्म सति या जांणि सुभ क्रिया लई। लरके इंद्री परके प्रकीरति। जागत चेतनि हम घर हम घट मैं चोर पसारा परमेस्वर प्रवेस किया। दूजा चोर नांव भी कहिए। नांव प्रवेस कीया। संसार सूं सूंज तन ता लई। बांण संसार सूं बनाव बनाव (?) तासौं लिया। कठउवा कंवल की कठोरता सो लई। मांड चलवना। माया के चल चलेव। करता मन सो लिया। ए सब संसार तें षैंचि आप मैं बंणाव प्रमेस्वर सूं। एक पग एक गुंण दोई गुण त्रीए गुण तीन्यूं गुंण जीति। संधि संधि सब सूंज प्रमेस्वर आप सूं मिलाइ करि प्रपंच पांचूं इंद्री हाथि करि प्रमेस्वर भजि। मोह बंध परमेस्वर। किलि किलि सब करम मिटे। ताना संसार तैं षैंचि परमेस्वर मैं बनाया सोई बचा कहिए ठाकुर सांई सूं ध्यान लागा। सिराना चौरासी कही।

[१४]

तननां बुननां तज्या कबीर। रांम नांम लिखि लिया सरीर ॥ टेक ॥
जब लग भरौं नली का बेह। तब लग टूटै रांम सनेह ॥
ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ। ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ।
कहै कबीर सुनहु री माई। पूरणहारा त्रिभुवन राई ॥

[क० ग्रं० २१]

तननां बुननां कहिए संसार सूं सुरति सहित तानि बुनावना सो तज्या। रांम नांम सूं सुरति लागी। नली काया बेह नौ द्वारे भरै था स्वाद सूं रांम सनेह मैं भंग था। माई मनसा ठाढ़ी किराड़ै। किराड़ा संसार की कृतब ता ऊपरि ठाढ़ी लरिका इंद्री। क्यूं जीवैं क्यूं पोष पावैंगो। कबीर जी कहै छैं सुमिरण सूं संतोषैंगे।

[१५]

एक अंचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई ॥
तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै ॥

[क० ग्रं० ११]

सिंघ ग्यांन। गाइ मनसा सहित इंद्री। पूत ग्यांन सुष माया पाछैं पड़ी। चेला चित मन ऊजल। चित मन बसि किया। जल माया मंछली मनसा। तरवर ब्रह्म बिलाई दुरमति। मुरगा ग्यांनी मन। बैल बप अरस्थांन छोड्या। गूंनि गुन घर आत्मा अरस्थांन। कुत्ता काल लै लागी बिलाय गया। साषा इंद्री तले दई। मूल प्रांण जीति बैठा। जड़ सुरति ऊंची दसा। फूल भाव भगति।

[१६]

जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ।
घर जाजरौ बलींडौ टेढ़ौ, औलौती डरराइ ॥ टेक ॥
मगरी तजौ प्रीति पापे सूं, डांडी देहु लगाय।
छींकौ छोड़ि उपरहिड़ौ बांधौ, ज्यूं जुगि जुगि रहौ समाइ ॥

बैसि परहडा हार मुंदावौं, ल्यावौं पूत घर घेरी।
जेठी धीय सासरै पठवौं, ज्यूं बहुरि न आवै फेरी॥
लहुरी धीइ सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलि किलि सबै चुकाई॥
[क० ग्रं० २२]

जोगी जीव मरै ममता मैं। घर घट। जाजरा पांपरा बलींडौ मन। टेढ़ौ परमेस्वर सूं बांकौ ओलौती इंद्री दरराईं झरै बिषै ओर। टेक। मगरी माया। पाग्रा परमेस्वर। मगरी दोऊ। दोऊ ओर ढरै तैसें माया तें दोऊ गुंण ऊपजैं। पाया इकतरफा[1] तैसैं सैं परमेस्वर एक रस। दूजी मगरी ऊंची रुप। पाग्रा नीची रुप गरीबी। डांडी सुरति ऊंची दसा लावै ब्रह्म सूं। छींका पांच इंद्री छठां मन। ऊपरिहीडौ ऊंची दिसा बांधि राषै। परहिंडी प्रांण अस्थांन द्वारे नौ रोकै बिषै तैं। पूत ग्यांन घर हिरदा मैं ल्यावौ जेठी धीय कुमति सासरै संसार मैं त्यागि देहु। लहुरी धीय सुबुधि कुल पोयौ[2] करम दूरि करै। तब ढिंग परमेस्वर कनै बैठी। किल किल चौरासी का कलेस करम चूका।

[१७]

अपनैं बिचारि असवारी कीजै, सहज कै पाइड़ै पाव जब दीजै॥ टेक॥
दे मुहरा लगांम पहिरांऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं॥
चलि बैकुंठ तोहि लै तारौं, थकहि त प्रेम ताजनैं मारूं॥
जन कबीर ऐसा असवारा, वेद कतेब दहूं थैं न्यारा॥
[क० ग्रं० २५]

अपनै विचार अपनी आत्मा उपजन कौ विचार ताकरि गुणां ऊपरि असवारी करै। सहज कहिए दुंद रहित ब्रह्मभाव पाइड़ो सो पठगौ (?) पांव दीजै तहां निह्चै राषै। लगाम लै मुंहरा मुष रांम नांम। सिकली जीन सकेलि काया करि गगन ऊंची दसा ब्रह्म और दौराऊं मन घोरा कूं। बैकुंठ साध संग। मन कूं प्रांण कहै छै। ऐसा असवार साध सो वेद कतेब द्वैत तें आगैं।

[१८]

अपनैं मै रंगि आपनपौ जानूं।
जिहि रंगि जांनि ताही कूं मांनूं॥ टेक॥
अभि अंतरि मन रंग समानां, लोग कहै कबीर बौरानां॥
रंग न चीन्हैं मूरिख लोई, जिहि रंगि रंग रह्या सब कोई॥
जो रंग कबहूं न आवै न जाई, कहै कबीर तिहिं रह्या समाई॥
[क० ग्रं० २६]

अपनौ रंग परमेस्वर ताकौ रंग लागौ। तब अपनपौ आपनीं आत्मा पिछानीं। सब घटि। अब तिस रंगि हूं जानूं। उसही कूं मानूं। अभि अंतरि अपनैं अंतरि। तिस रंग मन राता। सो रंग परमेस्वर मूरप नर न जानै। सो रंग आवै न जाइ। मरै न जीवै ता ंग मैं कबीर जी समाए रहैं।

---

[1] दा० इकरतरफा।　　[2] स० पोटौं।

[१६]

झगरा एक नबेरौ रांम। जे तुम्ह अपनैं जन सूं कांम ॥ टेक ॥
ब्रह्मा वड़ा कि जिनि रु उपाया। वेद वड़ा कि जहां थैं आया ॥
यहु मन बड़ा कि जहां मन मानैं। रांम वड़ा कि रांमहिं जानै ॥
कहै कबीर हूं खरा उदास। तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥

[क० ग्रं० २७]

ब्रह्मा मुषि वेद तौ ब्रह्मा वड़ा कि वेद बड़ा। कि जहाँ उपना सो ठौर बड़ी। यहु मन बड़ा कि मन रत सो ठौर बड़ी। रांम बड़ा कि रांम जांननहार बड़ा। टेक। तीरथ बड़े कि दास। उत्तर ब्रह्मां तें उपावनहार बड़ा जिन ब्रह्मा उपाया। वेद तैं ब्रह्मा बड़ा तातैं वेद उपज्या। सो उपावनहार साध के हिरदै समाया। तातैं साध बड़ा।

श्लोक—साधुनां दर्सनं पुन्यं तीरथ भूतेपु साधवा।
कोटि काले फलं तीर्थं सिध साध समागमं ॥ १ ॥
असमेध जाप कीएं कोटि तीरथ के न्हाएं।
जेता ततफल पृथीनाथ साध के दरसन पाएं ॥ २ ॥
(पृथीनाथ) जिन अपना मन वस किया, तासनि वड़ा न कोइ।
अठसठि तीरथि कोटि जिग, ताके दरसन ही फल होइ ॥ ३ ॥

[२०]

मैं डोरै डोरै जाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥ टेक ॥
सूत बहुत कछु थोरा, ताथैं लाइ लै कंथा डोरा।
कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा ॥
जहां सूत कपास न पूनीं, तहां बसै इक मूनीं।
उस मूनीं सूं चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
मेर डंड इक छाजा, तहां बसै इक राजा।
तिस राजा सूं चित लाऊंगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
जहां बहु हीरा धन मोती, तहां तत लाइ लै जोती।
तिस जोतिहिं चित लाऊंगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
जहां ऊगै सूर न चंदा, तहां देष्या एक अनंदा।
उस आनंद सूं चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
मूल बंध इक पावा, तहां सिध गणेस्वर रावा।
तिस मूलहिं मूल मिलाऊंगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
कबिरा तालिब तोरा, तहं गोपत हरि गुर मोरा।
तहां हेत हरी चित लाऊंगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥

[क० ग्रं० ३१]

डोरा नांउं की डोरी। भौजलि संसार तामैं बहुरि न आऊंगा। सूत स्वांस बहुत कुछ थोरा कहिए। निपटै थोरा गिण्यां स्वांस सोई डोरा। कंथा काया मैं थिर करि। भजन करि ले ॥ १ ॥ सूत स्वांस नहीं कपास काया नहीं। पूंनी परकीरति नांहीं। तहां किरतम कुछ नहीं। पूंनी गोविंद। मेर डंड माया डंड जीति करि आगैं छाया ब्रह्म अस्थान राजा परमेस्वर ताका

ध्यान। ब्रहुहीरा मोती कहिए ब्रह्म प्रकास तेज। दूजा हीरा साध। मोती मन तत आत्मा। जोति जगदीस। जोतिहिं जोति आत्मा परमात्मा एक। चंद सूर ताता सीला उदै नहीं। आनन्द आप सब को मूल परमेस्वर। बंधे जनही सब काहू जा ब्रन्द ध्यांन लागा। सिध गणेसिर गोविंद। पूजा सिधां का अरु गणेसर का राव गोविंद। मूल परमेस्वर तासूं मन मूल मिला।

[२१]

संतौ धागा टूटा गगन विनसि गया, सबद जु कहां समाई।
ए संसा मोहि निसदिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई॥ टेक॥
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नांहीं, पंचतत्त भी नांहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं, ए गुंण कहां समांहीं॥
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहिं तहियां, रचनहार पुनि नांहीं।
जोवनहार अतीत सदा संगि, ए गुंण तहां समांहीं॥
तूटै बंधै बंधै पुनि तूटै, जब तब होइ बिनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमांनां।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहिं समांनां॥

[क० ग्रं० ३२]

धागा स्वांस गगन घट फूटा। सबद बोलणहार कहां समायौ यह संसा। ब्रह्मंड में नहीं दीसै। पिंड में नहीं दीसै। पांच तत मैं भी नहीं दीसै। इला मनु पिंगुला पवनु सुषमना सुरति भी नांहीं। तौ कहां गया। ग्रह मैं नांहीं रचनहार। ब्रह्मा न जानै। जोवनहार परमेस्वर ताके आसिरे छैं। अतीत ईस्वर कै साथि। गुण पांच तत अंत्य उसमें लीन। तूटै बंधै उपजै विनसै तौ काइं। यौ नेह बंदगी बिन रस छैं। ठाकुर चाकर बिसास भागा गगन। घट न विनसै जे धागा स्वांस उनमनि रहै। गोविंद सूं पद परमेस्वर।

[२२]

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहां समाई॥ टेक॥
सनक सनंदन जैदेव नामा, भगति करी मन उनहुं न जानां॥
सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यांनीं, मन की गति उनहूं नहीं जानीं॥
ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहुं न देषा॥
ता मन का कोइ जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव॥
गोरप भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा॥
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा॥

[क० ग्रं० ३३]

ता मन को मन प्रमेस्वर पोजौ। तन छतां तन छूटै बिन पोज्यां। बिन परचै कहां बिलंबैगे। टेक। दरियाव दृष्टांत समाधि लेना। को कनारे बैठे पीवै। को घूंटां को गल सरै। को कसर कौ। अथाह मैं जाइ कूलै[1] पीवै। तैसे कबीर जी अति ऊंचे अस्थांन बोलें हैं।

---

१. स. भूलै।

[२३]

भाई रे विरले दोस्त कबीर के, यहु तत बार बार का सों कहिए।
भांनण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूं रापै त्यूं रहिए ॥ टेक ॥
आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयांनां।
छह दरसन छ्यानवे पाषंड, आकुल किनहूं न जानां ॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मन ही मन न समानां ॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसाद रटौ चात्रिग ज्यूं, निहचै भगति निवासा ॥

[क० ग्रं० ३४]

विरले दोस्त साध ता ज्ञान के जाननहार। कै आगें गया कै पीछैं आवैगा। तौ त्यूं रजाइ आलम दुनियां षोजी छः दरसन षोज्या छ्यानवे पापंड षोज्या। ए सब पषापषी अभिमान मैं भूलि रहे। आकुल परमेस्वर कुल रहित। तिस कूं न जानैं। आलम तुक (=तुरुक) कहै हम बड़े दुतिया हिंदू कहै हम बड़े। छः दरसन कहिए। जोगी जंगम सेवड़े बोध सन्यासी सेष सब आपणी पछि की कहैं अभिमान भूले। जप तप संजम पूजा अरचा एते जाननहार परमेस्वर सूं प्रीति न बांधी। जोगी जंगम सेष भरोसा झूंठा। प्रीति सूं रटै सो पावै।

[२४]

कितेक सिव संकर गए ऊठि।
रांम संमाधि अजहूं नहीं छूटि ॥ टेक ॥
प्रलै काल कहूं कितेक भाष, गए इन्द्र से अगणित लाष।
ब्रह्मा खोजि परषौ गहि नाल, कहै कबीर वै रांम निराल ॥

[क० ग्रं० ३५]

संकर ध्यान धरि धरि गए ब्रह्म समाधि न षुली अटल है। टेक। प्रलय काल में अगिन तन पाया। इंद्र केई हुइ गए। ब्रह्मा कंवलनाल का षोज न पाया। रमता राम सबथैं न्यारा।

[२५]

अच्यंत च्यंत ए माधौ, सो सब मांहि समांनां।
ताहि छांड़ि जे आंन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलांनां ॥ टेक ॥
ईस कहैं मैं ध्यान न जांनूं, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि कैसौ, नांव धरणि कौं तोहीं ॥
कहौ धौ सबद कहां थैं आवै, अरु फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जांनैं, भ्रंमि भूली दुनियाई ॥
प्यंड मुकति कहां ले कीजै, जौ पद मुकति न होई।
प्यंडै मुकति कहत हैं मुनि जन, सबद अतीत था सोई ॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट, सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमानंद मनाए, अकथ कथ्यौ नहिं जाई ॥

[क० ग्रं० ३६]

अचिंत कहिए निहचिंत होइ। माया चिंतवन छांड़ि च्यंतइए माधौ। माया धरणहार। दूजा अचिंत कहिए मन सूं अच्यंत होइ सब चिंत मिटि जाइ। तीजे अचिंत कहिए निरफल चितवनि। सब परमेस्वर बिनां। चिंतए त चिंता याही[1]। जो माधौ चिंते सो परमेस्वर सब ठौर छैं। सबद श्रों श्रोंकार अविगत तैं उतपना। ताकरि सब पसारा। फिर उसी मैं सब लीन। सबद अतीत परमेस्वर जांणे। भ्रमि भूले पसारा मैं। आंन सेवा मैं। दूजा स्वांस नाभी तैं उठै तहां न षोजै। पाथर पांणी भेष भरोसै न भूलै। पिंड मुक्ति भेष आसिरा देह मुक्ति किस काम पद मुक्ति बिनां। दूजा पिंड मुक्ति कहत हैं। मुनिजन जीवति मुक्ति तिस कूं कहै। जो सबद अतीत कहिए गुणां अतीत होइ। तिसका भेस पहिर्‌यां प्रवांन।[2] परगट गुप्त थावर जंगम। जल थल व्यापक सो कबीर जी मनायौ छैं।

[२६]

सो कछू बिचारहु पंडित लोई।
जाकै रूप न रेष बरण नहीं कोई॥ टेक॥
उपजै प्यंड प्रांन कहां थैं आवै, मूवा जीव जाइ कहां समावै।
इंद्री कहां करहि विश्रांमां, सो कत गया जो कहता रांमां॥
पंच तत तहां सबद न स्वादं, अलष निरंजन विद्या न बादं।
कहै कबीर मन मनहिं समांनां, तब आगम निगम झूठ करि जांनां॥

[क० ग्रं० ३७]

पंडितौ बिचारौ आत्मा कवन बरण। टेक। पिंड कहां तैं उपजा। प्रांन कहां आया। इंद्री मुवां पीछै कहां राषिस्यौ। प्रांण कहां गया। पांचूं तत्त नहीं सबद न स्वादं। निरंजन अंजन तैं रहत छै। ते असैं आत्मा बरन आसरम तैं रहत छै। ते ए मन परम मन परमेस्वर मैं समाया। तब बरन आसरम झूठ जानै।

[२७]

जौ मैं बीज रूप भगवाना।
तौ पंडित का कथिसि गियाना॥ टेक॥
नहीं तन नहीं मन नहीं अहंकारा, नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा॥
विष अंमृत फल फले अनेक, वेद रू बोधक हैं तरु एक॥
कहै कबीर इहै मन माना, कहि धूं छूट कवन उरझाना॥

[क० ग्रं० ३८]

तौ पंडित का कहैं। टेक। तन नहीं मन नहीं अहंकार नहीं। सत रज तम तीनि गुण नहीं ब्रह्म विषै। जे विष अंमृत तर आपही वेद बोध कहै छैं तो प्रमोध झूठ। उलझ्यौ तौ ब्रह्म सुलझ्यौ तौ ब्रह्म। जाति बरण झूठ।

[२८]

कौन मरै कौन जनमै आई, सरग नरक कौंने गति पाई॥ टेक॥
पंचतत अविगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा॥

---

१. दा. वाही।
२. दा. प्रमांनां।

जल मै कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समांनां, यहु तत कथौं गियानी॥
आदैं गगनां अंतै गगनां, मधे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई॥
[क० ग्रं० ४४]

मरण जीवन झूंठ। सुरग नरक झूंठ। जहां आसा तहां वासा। माया का माया मैं ब्रह्म का ब्रह्म मैं। टेक। पांच तत का घट। एक चेतन प्रांण निवास किया बिछुरे तत कहिए। तहां की तासीर मैं निरवासीक हूवा। सहज दुंद रहित ब्रह्म मैं। तब रेष सहनाणी[१] नहीं। जल ब्रह्म कुंभ घट। कुंभ के जल को कुंभ ही पटल। आत्मा परमात्मा घट पटल फूटा। कुंभ कहिए निरवासीक हूवा। तब आत्मा परमात्मा एक। ज्यूं कुंभ फूटा जल एक। आदैं गगना आदि ब्रह्म। अंति ब्रह्म मधि ब्रह्म। घट मठ बिनस्या। गगन परचै करि मनहीं। तैसैं ब्रह्म परिचय करि मनहीं।

[२६]

मैं सबहिन मैं औरनि मैं हूं सब,
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर, कोई कहौ रांम राई हो॥ टेक॥
नां हम बार बूढ़ नांहीं हम, नां हमरै चिलकाई हो।
पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं, सहजि रहूं हरिआई हो॥
ओढ़न हमरे एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो।
जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांईं हो॥
त्रिगुंन रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नांउं रांम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहिं, इहि कबीर कछु पाई हो॥
[क० ग्रं० ५०]

मैं सब मैं यूं जो सब घट मेरा स्वरूप देखत हूं औरन मैं हूं। सब अरु नहीं मैं सब मैं नहीं। यूं जो निरमोह सब तैं। सब तैं न्यारौ। मेरी बिलगि बिलगि मेरी अटक अटक थी। बिलगि कहौ भावै। बुरी कहौ मैं मेरी गई आया नहीं। तब कबीर रांम एक हूवा। टेक। बारा बाल नहीं बूढ़े नहीं। चिलकाई हो। माया भावै तर नापाक हौं इनसे गुण नहीं। पठ्यां न जाऊं करमां का। भेज्या न जाऊं। अउठा आऊं नहीं संसार मैं। देह धरि सहज दुंद रहित हरि आई। हरि की गति आई। ओढ़न आसिरा पछेवरा परमेस्वर का लोक बोलै अकुताई। तब लोक अकुताए। साषी—

दादू जब तैं हम निरपष भए, सबै रिसाए लोक।
सतगुरु के परसाद तैं, मेरै हरष न सोक॥ ३॥

तिन संसार तैं तानि सुरति सहित सब सौंज। बुनि परमेस्वर सूं बनाई। माया प्रीति नहीं। प्रेम पांन लाई। दस इंद्री दसूं दिसा तें फारि संसार सूं तोड़ि परमेस्वर मैं बुनी। बुनाई त्रिगुण रहित फल गोबिंद राख्यौं हिरदै तब कबीर राम एक।

१. स. सहनांवणी

[३०]

सोहं हंसा एक समांन, काया के गुण आंनहिं आंन ॥ टेक ॥
माटी एक सकल संसारा, वहु विधि भांड़ै घड़ै कुंभारा ॥
पंच वरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखौ पतियाइ ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भरपूर ॥

[क० ग्रं० ५३]

सोहं हंसा जीव सीव एक। काया भिन्य। टेक। माटी पांच तत। भांडे घट कुम्हार करता। पांच बरन गऊ दूध एक रंग तैसैं घट पटादि अनंत सब मैं ब्रह्म एक।

[३१]

प्यारे रांम मनहीं मनां।
कासूं कहूं कहन कौं नांहीं दूसर और जनां ॥ टेक ॥
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए, आप दवा सूं सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै, महा प्रलै जब होई ॥
जौं रिझऊं तौ महा कठिन है, बिन रिझयैं थैं सब खोटी।
कहै कबीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी ॥

[क० ग्रं० ५४]

ग्यांन गांस मन ही मैं बिचारि। दूजा समझावना थोड़ा। टेक। दरसण बांका बांकौ सूधां सूधौ। महा परलय कहिए जाकी। बासना मिटी। प्रकीरति परलै भई। ताकूं महाप्रलय होइ चूकी[१]। परमेस्वर अरीझ बिन रीझिए मिलै नहीं। तौ तरक दोइ पप मेरा तेरा राग दोप। इनतैं न्यारौ होइ ताकी मति बड़ी। तापरि रीझै परमेस्वर।

[३२]

बागड़ देस लुवन का घर है,
तहां जिनि जाइ दाझन का डर है ॥ टेक ॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिर कहत अबीरा ॥
न तहां सरवर न तहां पांणीं, न तहां सतगुर साधू बांणीं ॥
न तहां कोकिल न तहां सुवा, ऊंचै चढ़ि चढ़ि हंसा मुवा ॥
देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर घर ही मन मांनां, गूंगे का गुड़ गूंगे जांनां ॥

[क० ग्रं० ६८]

बागड़ बप देह गुणां सूं मिल्यौ। लू लोभ लाइ तिस्ना। ताती सीली। तिनमैं दाझै जीव। न धीरा। किसी कैं धीरज संतोप नहीं। धूरि पोटे क्रम। कहे अंमृत सरवर संत संगम नहीं। पांनी प्रेम नहीं। सतगुरु सूं साध सबद सूं रुचि नहीं। कोकिल उत्तम मनसा। मीठा बोल नहीं। सूवा ऊजल मन नहीं। ऊँचा अभिमान सोई टीबा। हंसा जीव मन मनसा। ए तीन्यूं मुए। नीर नांव बिना। बागड़े देह बप अस्थान। तिप्ना त्रिषा करि

---

१. [illegible]

मालवा माहिली भगति। गहर गंभीर सब सुष तामैं। डग डग सब द्वारे। रोटी रटणि। पल पल नीर पल पल प्रेम। घर घर ही मैं जान्यूं।

[३३]

संतो घर मैं झगरा भारी।
रैनि दिवस मोकूं उठि उठि लागै, पंच टोटा एक नारी॥ टेक॥
न्यारो न्यारो भोजन मांगै, जूवा जूवा स्वादी।
कह्यां सुनां की कछू न मानै, चालै आप मुरादी॥
घर की टाबर कह्यो न मानै, काकूं कहि समझाऊं।
यो घर मांहिं सहज घर आवै, तवही भल सुख पाऊं॥
दुरमति कूं तौ करै दुहागनि, पांचूं पकड़ि चपेड़ै।
कहै कबीर सोइ गुर मेरा, जो घर की रार निवेड़ै॥

[क० ग्रं० में यह पद नहीं है]

घर घट इंद्री स्वाद चाहैं। छोटा बालक सो पांचै इंद्री। नारी मनसा भोजन स्वाद। जूवा जूवा नेत्र चाहै भोग पांचूं। टेक। टाबर इंद्रियां। सहत परकीरति। और दुरमति कुटुंब काम क्रोध लोभ मोह। यहु घर काया के गुण छोड़ि। सहज घर दुंद रहित। आत्मा अस्थान। खेलै ब्रह्म ध्यांन थाप ग्यांन सूं हटावै इंद्री।

[३४]

सांई मेरे साजि दई एक डोली,
हस्त लोक अरु मैं तैं बोली॥ टेक॥
इक झंझर सम सूत खटोला,
त्रिस्नां बाव चहूँ दिस डोला॥
पांच कहार का मरम न जांनां,
एकै कह्या एक नहीं मांनां॥
भूभर घांम उहार न छावा,
नैहरि जात वहुत दुख पावा॥
कहै कबीर वर बहु दुख सहिए,
राम प्रीति करि संग ही रहिए॥

[क० ग्रं० ६०]

डोली काया मैं तैं पुसी हैं। टेक। झंझर करै न्यौछावर। सूत स्वांस। षटोला पांचौ इंद्री छठा मन काया। भूभर भरम करम। घांम तमोगुण। चौरासी उहार न। आसिरा नहीं ब्रह्म का। छाया संत सरणि नहीं। नैहरि संसार का नेह करि बहु दुख पाया।

[३५]

धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नांऊ मिलै बहोरि॥ टेक॥
उरझ्यो सूत पांन नहीं लागै, कंच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरौ कहा बसाई॥

सुरझ्यो सूत गुढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा ।
पंचूं भइया भए सनमुखा, तब यहु पान करीला ॥
नांन्हीं मैदा पीसि लई है, छांड़ि लई द्वै बारा ।
कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा ॥
[क० ग्र० १०६]

धागा स्वांस परमेस्वर सूं तोड़ै मति । नांव सूं जोड़ि । नांव सूं सुरति तूटां तूटणि परमेस्वर सूं बिमुष होइगा । अरु जम की मार मनिष जनम बहोरि न मिलसी । टेक । सूत सुरति उर की इंद्री बिषै में । पांण प्रेम[1] लागै नहीं परमेस्वर सूं । कूंच कामना कहिए । सबल बहरमुष । पवन बिषै बाइ तार स्वांस । सुमति सुरझी सब द्वार तैं । गुढ़ी गांठि क्रम की पवन बिषै बाइ थांमी । पांचूं इंद्री सनमुष परमेस्वर सूं । तब पांण प्रेम लागी । नांन्ही मनसा मैदा मन सौं पीस्या । गरीब हुवा छांडि लई बिचारि करि । तुष पोटे करम दूरि किए । दोइ बार दोइ दोइ गुंण दूर किए । तेल तत ग्यान । बुंणावत परमेस्वर सूं । बणावता बार लागी ।

[३६]

काहे कूं बटवा मारिए बटवा भाई बीर रे ।
सास पवाई हम पई, नणदल रांध्यौ साग ।
जबहीं बटवा जेवैं चाले, हमकूं अपजस लाग रे ॥
ओस भरी तेरी पानहीं, रकत बरन तरवारि रे ।
मेरौ माथौ जबहीं ठमक्यौ, आयौ बटवहिं मारि रे ॥
मटिया बिकनि करि कठिया लैंहूं, कठिया बिकनि करि आगि ।
सगौ भईया लै हूं सत रचिहूं, जरिहूं गौना लागि रे ॥
जे तूं बटवा साझिली रे, तौ राष्यौ पांचूं मारि रे ।
जनम जुवा नहिं हारिए, कहै कबीर बिचारि रे ॥
[क० ग्रं० में यह पद नहीं है]

अर्थ—बटवा प्रांण मार्‌या ब्रह्म तें । टेक । सुरति स्वांस पवाई परकीरति । रोटी रटणि माया की । काया कहै छै नणद मनसा साग स्वाद । ओस माया । पानही पिंड रक्त बरन लोभ रत जिम्या । मठिया काया । कठिया करनी । आगि बिरह गोहनि साथि । पांचूं इंद्री मारि गुण तैं ।

[३७]

कबीरौ संत नदी गयौ बहि रे ।
ठाढ़ी माइ कराड़ै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे ॥ टेक ॥
बादल बांनीं राम घन उनयां, बरिषै अंमृत धारा ।
साखी नीर गंग भरि आई, पीवै प्रांन हमारा ॥
जहां बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे ।
सुयं प्रकास आनंद बमेक मैं, घन कबीर ह्वै पैठे ॥
[क० ग्रं० १५१]

१. स० परमे

कबीर जी नदी नांव की प्रेम प्रवाह तामैं बहे । माइ माया किराड़ै संसार पुकारै टेरै छै । टेक । ब्रह्म बांनी सोई बादल । रांम नांम सोई घन । जल संत मुष्य उचार । सोई बरिषा अंमृत धारा । अनभै बांणी । साषी सुरति नीर नांव । गंग उठती बांणी । जिस नांव नदी मैं सैन्यकादिक बहे । लागे ब्रह्म सूं । रुद्र ध्यांन धरि बैठा । स्वयं प्रकास सुतह प्रकास । सोई आनंदवंत । घन जल मैं जल है मिले कबीर जी ।

[३८]

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नांद न षंडै धारा ॥ टेक ॥
बसै गगन मैं दुनी न देखै, चेतनि चौंकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसण नहिं छांड़ै, पीवै महारस मीठा ॥
परगट कंथा मांहैं जोगी, दिल मैं दरपन जोवै ।
सहंस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै ॥
ब्रह्म अगिनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥
[क० ग्रं० ६९]

जोगी जीव जगतैं न्यारा । तासीर तिनतैं न्यारा । निरंतरि निगाह ध्यांन सोई मुद्रा । नाद अनाहद सबद अषंड धुनि । गगन ऊंची दसा । ब्रह्म अस्थांन सो हिरदा । दुनियां तैं बेपरवाह । आकास ऊंची दसा । माया गुण तलै छांड़ै । आसण असथिर ध्यांन महारस नांम । कंथा काया जोगी जीव द्रपण । उजल हिरदा । इक्कीस हजार छ सै धागा । सांस प्रमाण निहचल नाकै । निहचल सुरति करि पोवै नांम । काया गुण बोलै । त्रिकुटी मन पवन सुरति संगम एकत्र । जागै चैतन्य तहां । सहज सुंनि ब्रह्म लौ लावै ।

[३९]

कोई पीवै रे रस रांम नांम का, जो पीवै सो जोगी रे ।
संतौ सेवा करौ रांम की, और न दूजा भोगी रे ॥ टेक ॥
यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे ।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, रांम तनीं मतवारी रे ॥
चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे ।
अंमृत कुंपी सांचा पुरया, मेरी त्रिष्णा भागी रे ॥
यह रस पीवै गूंगा गहिला ताकी कोई न बूझै सार रे ।
कहै कबीर महा रस महंगा, कोई पीवैगा पीवणहार रे ॥
[क० ग्रं० ७१]

इहु रस माया रस फीका लागा । जब रांम रस पिया । प्रजारी प्रकीरति । ईस्वर मन गोरी[१] मनसा । चंद सूर मन पवन सो भाठी । सुषमनि सुरति सोई चूवै । अंमृत कूपी आत्मां कंवल । सांचा तहां सांचा किया । राम रस का त्रिसना माया की गई । गूंगा संसार मता सूं अबोल । गहिला संसार ब्यौहार तैं रहित ।

१. दा. एरी ।

[४०]

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा॥ टेक॥
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव माठी करि भारा।
सुषमन नारी सहज समांनीं, पीवै पीवनहारा॥
दोइ पुड़ जोडि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।
कांम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी॥
सुंनि मंडल में मंदला बाजै, तहां मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अंमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै॥
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहिं जोति समानी॥
[क० ग्रं० ७२]

अवधू अणठग्या। मन इंद्रियां पै न ठगावै सो अवधू। मतिवारा रांम रस माता। उनमनि ऊंची दसा। मगन रांम रस सूं। त्रिभुवन उजियारा। त्रिगुणी काया तामैं ब्रह्म ग्यांन प्रकास्या। दूजा तीनि भवन प्रकास। टेक। गुड़ मन सुरति सहज दुंद रहत। ब्रह्म भाव मैं। पीवणहार प्रांण। दोइ पुड़ दोइ गुंण जोड़ि कहिए समि करि। भाठी भाव की महारस राम रस संसार कुल मरजाद।

दूजा जोग मैं—पांन अपांन बाई मिलाई। सुंनि मंडल दुंद रहित ब्रह्म अस्थांन सो हिरदा। जोग मैं सुंनि मंडल दसवां द्वार। मदला अनाहद सबद। मन नाचै प्रमेसुर आगैं। अमर फल परमेसुर दरसन। सुषमना सुरति काछैं भाव भगति। पूरा सुष पाया। तब त्रिस्ना बुझी। जोतिहिं जोति परमात्मा मैं आत्मा समाई।

[४१]

बोलौ भाई रांम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूं न अघाई॥ टेक॥
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लगी जोग जुग तारी॥
मन मतिवाला पीवै रांम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अंमृत धार चुवाई॥
पंच जने सो संग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनि जागी॥
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहीं रसि माता, कबहूं उछकि न जाई॥
[क० ग्रं० ७४]

रांम की दुहाई रांम नांम वांणी बोलौ। सिव सनकादिक रत हूवा। अजहूं चाहैं छै। टेक। मन पवन इला पिंगुला। ब्रह्म अगनि करि प्रकीरति जारी। सिसमन पवन सूर ए मिलाइ करि दसौं दुवार। काया के मूंदे बिषै रस तें। तब ताली समाधि गोबिंद सूं लागी। गंगा वांणी उलटी ब्रह्म ओर। नीर नांव आया हिरदा मैं। अंमृत धार अषंड नांम।

पंच जने पंच इंद्री बसि करी। चले ब्रह्म दिसि पुमारी हरि रस की। नागनी मनसा चेतन हुई। सहज सुंनि दुंद रहित अस्थांन। नांम रस कबहूं उछकि न जाई। कबहूं छाक उतरै नहीं।

[४२]

रांम चरन मनि भाए रे।
अस ढरि जाहु रांड के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लाए रे॥ टेक॥
आंब चढ़ी अंबली रे अंबली, बबूर चढ़ी नग वेली रे।
द्वै थर चढ़ि गयौ रांड़ कौ करहा, मनह पाट की सैली रे॥
कंकर कुई पतालि पानियां, सोनैं बूंद बिकाई रे।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे॥
एक दहिंड़िया दही जमायौ, दुसरी परि गई साई रे।
न्यूंति जिमाऊं अपनौं करहा, छार मुनिस की दाढ़ी रे॥
इहिं बनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बंनि बाजै तूरा रे।
इहि बंनि खेलै राही रुकमनि, उहिं बंनि कान्ह अहीरा रे॥
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, मांहिं द्वारिका गांऊं रे।
तहां मेरौ ठाकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नांऊं रे॥

[क० ग्रं० ७६]

रांड माया करहा मन। माया बोझ तलै बहि मुवा अनंत जन्म। तातैं कहिए रांड कौ करहा। कबीर जी कहत हैं अस ढरि जाउं। ऐसैं प्रेम प्रीति ल्यौ लाइ प्रमेस्वर ओर ढरौं। तौ माया बोझ बहन तें छूटौं। आंब आयौ वेलि आत्मां आपा दिसा फूली है। तौंलौं अमली कहिए अणमिली। ब्रह्म सूं नांहीं मिली। बंबूर बप चढ़ी कहिए। तेह गुणां ऊपरि असवारी करी। तब नग वेली हुई। दूजा नग कहिए वेलि कौ तांतू नसे आत्मा के नसे नग निहचै बंधी। तब मिला ब्रह्म सूं। दोइ थर दीठै[1] सो दोइ गुण राग दोष। मेरा तेरा सो चढ़ि गयौ। जीति गयौ करहा मन। तब मन कठोर था सो नरम हुवा। कंकर करम कुई कंवल। पताल करमां तें परे। पांनी प्रेम नाम सोनै बूंद सिर कै सांटै। वा प्रेम बूंद न पाइए। बज्र बीजली मथुरा काया। सो बीजली परौ या काया परि। जो कान्ह जीव था सो चला। नीर नांव न पीया। दूजा बज्र। काल चोट बार बार नांव बिना। एक दहड़िया ब्रह्म भाव की। एकता लीए दही दया धरम भाव भगति सील संतोष। दूसरी दहड़िया माया की दुतीया भाव लीए तातैं दूसरी कहिए। दही दुबिधा। दुरमति लोभ मोह। सारी सिष्टि परी तामैं। दूजा सारी कहिए सुसनी फिरी दूध बिगड्या। सुसनी सो संक्या। दूध अंतहकरन। आत्मा सूंज परवेस बिगड़ी। आत्मा मैं ग्यांन नास। एक दहड़ी एक ब्रह्म सूं लै लागी। तब अंतहकरन जमीति हुई निहचै बंधी। एक दहड़ी दूध मैं घृत प्राति आत्मा मैं ज्ञान प्राप्ति। न्यूंतिनि (?) बिगरी बहोइ। करहा मन जिमाऊं भाव भजन[2] सूं। मुनस माया मनोरथ छोड़े सो छार दई। बन दोइ एक काया एक ब्रह्म बन। आत्मां अस्थांन मदन कांम काया अस्थांन। काम का बल अहं बाजा। आत्मा अस्थान अनाहद सबद सोई तूरा। राही रुकमिनि माया मनसा गोविंद राह तें रोकै मन कूं। कान्ह निरंजन अहीर संत तुरसी पंच तत थिर भए। द्वारिका हिरदा तिसी मैं ठाकुर निरंजन।

---

१. दा. मे 'दीठै' शब्द नहीं है। २. दा. मन सूं।

[४३]

थिर न रहै चित थिर न रहै, च्यंतामणि तुम कारणि हो।
मन मैले मैं फिरि फिरि आहौं, तुम सुनहु न दुख बिसरावन हो ॥टेक॥
प्रेम खटोलवा कसि कसि बांध्यौ, बिरह बांन तिह लागू हो।
तिहि चढ़ि इंदऊ करति गवंसिया, अंतर जमवां जागू हो ॥
महरू मछा मारि न जानैं, गहरै पैठा धाई हो।
दिन इक मगर मछ लै खैहै, तब को रखि है बंधन भाई हो ॥
महरू ना महरइये जानैं, सबद न बूझै बौरा हो।
चारै लाइ सकल जग खायौ, तऊ न भेटि निसहुरा हो ॥
जो महाराज चाहौ महरईए, तौ नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइकै सिष्टि बिचारौ, तब गहि भेटि निसहुरा हो ॥
टिकुटी भई कांन्ह के कारणि, भ्रंमि भ्रंमि तीरथ कीन्हां रे।
सो पद देहु मोहिं मदन मनोहर, जिहि पद हरि मैं चींन्हां हो ॥
दास कबीर कीन्ह अस गहरा, बूझै बोई महरा हो।
यहु संसार जात मै देखौं, ठाढा रहौ कि निहुरा हो।

[क० ग्रं० ७७]

चिंतामणि परमेस्वर सूं लागै नहीं। मन मैले मही मनोरथ। तिनमैं फिरि फिरि आवै। षटोलवा कहिए पांच इन्द्री छठां मन। माया प्रेम सूं बंध्या। माया कौ बिरह सोई बान। इंदऊ आत्मा। गवसिया गवन करै माया सूं। तहां तैं जम जाग्या। महरू भीवर सो प्राण। मछ मन गहरै गुण मैं पैठौ। मगर मछ काल। सबद गुर का पौजै नहीं। चारै लाइ स्वाद लाइ। जगत षाया मछ मन तऊ न भेंटि निसरा हौ। तऊ न हाथि आवै मन। निसहरा निकसि जाइ पोटी दसां। जो महराजि परमेस्वर चाहौ महरइया प्रांन तौ नाथौ ए मन बौरा हो। तौ मन बीस करौ ताली ध्यांन लाइ सिष्टि काया षोजौ। तब हाथि आवै निसहरा। निसरि जाणां मन। टिकुरी टेरी बहुत प्रमेस्वर कारणि। तीरथ सतसंग सो पद भगति देहु। दास कबीर कीन अस गहरा। संतों मैं श्रेष्ठ महरमी साध सो महरा। संसार सो पर नहीं। राव रंक दोऊ नास।

[४४]

कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरुष बिचपन नारी ॥ टेक ॥
बैल बियाइ गाय भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मांसु पसारि चील्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींढक सोवै सांप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोइ बिरला बूझै ॥

[क० ग्रं० ८०]

कैसैं काया नगर मैं नीति राषौं। चंचल पुरुष मन। बिचपन नारी मनसा। टेक। बैल त्रप। गुण प्रसूति गाइ। आत्मा ग्यान नहीं बछरा इंद्री करै। विषै मैं दूझै। तीनि सांझ तीन्यूं गुणां मैं। मकरी माया माषी मनसा। छाछि स्वादि चाहै। मांस ममता पसारि। चील्ह च्यंतवन सूं सुरति। मूसा मन बिलाई दुरमति मैं पैठी। मीडक मन सोवै अचेत। सांप संसार जागै। स्याल जीव ग्यांन हीन। सिंघ काल बली।

[४५]

भाई रे चूंन बिलूंटा खाई।
बाघनि संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ॥ टेक ॥
सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जानै भेव।
खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड न देई लेव ॥
पाड़ोसनि पुनि भइ बिरांनीं, मांहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिलि मंगल गावैं, यहु दुख वाकौं सालै ॥
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मंदिर सदा अंधारा।
घर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि किया पसारा ॥
होत उजाड़ सबै कोई जानैं, सब काहू मनि भावै।
कहै कबीर मिलै जे सतगुर, तौ यहु चूंन छुड़ावै ॥
[क० ग्रं० ८१]

चूंन चित कौ बिलूंटा बिकार पाइ गए। बाघिणी माया नारी। षसम जीव कूं समझ नहीं। सब घर फोड़ि सब घट फोड़ि बिलूंटा बिकारां षाया। षसम जीव निपूता ग्यांन। पूत बिना। आंगण असथूल। गुणां मैं सूता अचेत जीव। रांड मनसा लै लगावै नहीं नांम सूं। पाड़ौसिनि मनसा बिरानी बसि नहीं। पंच सषी पांच इंद्री। मंगल मनमता। दुषी जीव। दोइ दीप गमां थैं आंषि सब कै मंदिर हिरदै अंधेरे। ग्यान नहीं। घर घेहर घट की तासीर। आप सवारथ आपणां सवारथ चाहैं। पसारा बहरमुष बाहरि। मनकी वृत्ति पसरि गई। उजाड़ बिकार सब कूं लूटै हैं। अरु सब कूं बिकार भावै हैं। सतगुरु चूंन छुड़ावै बिकारां सूं।

[४६]

काहे रे मन दह दिसि धावै,
बिषिया संग संतोष न पावै ॥ टेक ॥
जहां जहां कलपै तहां तहां बंधना,
रतन कौ थाल कियौ तैं रंधना ॥
जौ पैं सुख पईयत इन मांहीं,
तौ राज छांड़ि कत बन कौं जांहीं ॥
आनंद सहित तजौ विष नारी,
अब क्या झीषै पतित भिषारी ॥
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि,
तजि बिषिया भजि चरनि मुरारि ॥
[क० ग्रं० ८७]

कलपै जहां जहां इच्छ्या राजै है तहां तहां केवल बन्धन है। रतन पांच इंद्री। सोना का थाल काया। कांम अगनि परि धर्‌या। रांधै पलि सो बिषै करम।

[४७]

मन रे कागद कीर पराया।
कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारे, कल तर वढ़ै सवाया ॥ टेक ॥
वडैं बौहरै सांठो दीन्हौं, कल तर काट्यौ खोटै।
चार लाप अरु असी ठीक दे, जनम लिष्यौ सब चोटै ॥

अब की बेर न कागद किरयौ, तौ धर्मराइ सूं तूटै।
पूंजी बितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौन कै छूटै॥
गुरदेव ग्यांनी भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौ हीरा।
बड़ी निसरनी नांम रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा॥

[क० ग्र० १०८]

कागद धरमराइ। कृत लिख्यौ सो कीर। छैंके भजन करि ब्यौपार पोटा करम कलपतर ब्याज बवै छैं। टेक। बड़ौ बौहरौ गोविंद। सांठा स्वांस सूं जतन की। पोटी करणी कागद षोटा निकस्या। चारि अरु असी चौरासी पड़ै न कीरी कलष्या (?) मांथैं जीव कै। अब कै नर तन पाइ कै। जो सुमिरन करै। धरमराइ कौ कागद न छेक्यौ तौ धरमराइ डंड करैगा। पूंजी स्वांस निषूटै। बंदि जमकी पड़ैगा। गुर साह भयौ सुमिरन हीरा दिया। कीर छैंकि कागद पोटा कबीर जी चढ़ि गयौ ऊंची दसा।

[४८]

गोव्यंदे तुम्ह थैं डरपौं भारी।
सरणाई आए क्यूं गहिए, यहु कौन बात तुम्हारी॥ टेक॥
धूप दाझ तैं छांह तकाई, मति तरवर सचि पाऊं।
तरवर माहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊं॥
जे बन जलै त जल कूं धावै, मति जल सीतल होई।
जलही मांहिं अगनि जे निकसै, और न दूजा कोई॥
तारण तिरण तिरण तूं तारण और न दूजा जांनौं।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नहीं मांनौं॥

[क० ग्रं० ११२]

सरन आया की बांह पकड़ौ। क्यूं गहिए क्यूं कसिए सो क्या आग्यां। टेक। धूप चौरासी छांह गोबिंद सरणि। तरवर गोविंद। ज्वाला बिरहा। बन काया जलै कामना करि जल गोबिंद। अगनि बिरह।

[४६]

दूभर पनियां भरा न जाई।
अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई॥ टेक॥
ऊपरि नीर लेज तलि हारी,
कैसैं नीर भरै पनिहारी॥
ऊधर्यौ कूप घाट भयौ भारी,
चली निरास पंच पनिहारी॥
गुर उपदेस भरीले नीरा,
हरषि हरषि जल पीवै कबीरा॥

[क० ग्रं० १४०]

दूभर पनियां प्रेम नांम दुलभ। त्रिषा त्रिष्ना। ऊपरि नीर। नाव नीर अरध गुणां तैं परैं। लेज तलैं। लेज लै सोई छोरी गुणां तलै। पणिहारी आतमा। नीर नांम लै न सकै।

टेक। उधर्‍यौ ऊंधौ कूप कंवल। घट भाई दोइ ए पांचूं इंद्री। नीर नांम तैं निरास चलीं। गुरु उपदेस करि नीर नांम भर्‍या।

[५०]

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत की रचनां, तब हम रांमहिं पावहिंगे॥ टेक॥
पृथी का गुण पाणी सोष्या, पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे॥
जैसैं बहु कंचन के भूषन, एकहि गालि तवावहिंगे।
ऐसै हम लोक वेद के बिछुरें, सुंनहिं मांहिं संमावहिंगे॥
जैसैं जलहिं तरंग तरंगनी, ऐसैं हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे॥

[क० ग्रं० १५०]

पांच तत की रचना बिछुरे कहिए तन की तासीर परकीरति जीत्या निरबासीक हूवा। बहोरि देह काहे कूं धारैंगे। रांम पद पावैंगे। तब दूजा पांच तत की रचना काया। काया गुंण जीत्यां न आवैंगे जग मैं। ज्यूं उतपति त्यूं ही लीन। प्रथमैं ब्रह्म तैं सबद। अंति पृथवी। त्यूं ही पृथ्वी तासीर जीत्या। सबद कूं जीति दुंदरहित ब्रह्म मैं समाहिंगे। जैसें कंचन का अनेक आभूषण। गाल्यां एक सोना। तैसें माया ब्रह्म तैं मूल एक। भ्रम करि अनेक जीव सुभाव। माया भ्रम मिट्यां लोक लाज कुल बासना मिट्यां आत्मा परमात्मा एक। जैसे एक जल तैं तरंग अनेक पवन संजोग करि। पवन थक्यां जल तरंग दोइ नहीं। तैसे बासना मिट्यां जीव सीव एकत्र। हंस जीव परम हंस ब्रह्म मिल्या एक हूवा।

[५१]

अवधू कामधेन गहि बांधी रे।
भांड़ा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे॥ टेक॥
ज्यौं ब्यावै तौ दूध न देई, ग्याभण अंमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै॥
तिहिं धेन थैं इछ्या पूगी, पाकड़ि खूंटै बांधी रे।
ग्वाड़ा माहैं आनंद उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे॥
साईं माइ सास पुनि साईं, साईं याकी नारी।
कहै कबीर परम पद पायां, संतौ लेहु बिचारी॥

[क० ग्रं० १५२]

कामधेन मनसा बंधी बिकारां तैं। बसि कियां दूझै भांडा हिरदा कंवल। दूजा भाव भांड़ा। आंधी अग्यांन। टेक। ब्यावै बहरमुष गुणां मैं। दूध रांम नांम नहीं ग्याभणि गुण पसरैं। तनकी तासीर अंतरि जरैं। तौ अंमृत राम रस सरवै। कोली स्वाद पोष्या बहरमुष दौड़ै। घेरिबौ कसौटी षूंटे बांधी ग्यांन कै। ग्वाड़ा काया तामैं सुष भयौ षूंटौ ग्यांन दोऊ दोइ दोइ गुण जार्‍या।

[५२]

जगत गुर अनहद कींगरी बाजै, तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै ॥टेक॥
त्री अस्थांन अंतर मृगछाला, गगन मंडल सींगी बाजै।
तहुआं एक दुकांन रच्यो है, निराकार व्रत साजै॥
गगन ही भाठी सींगी करि चूंगी, कनक कलस एक पावा।
तहुवां चवै अंमृत रस नीझर, रस ही मैं रस चुवावा॥
अब तौ एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन मैं एकै जोगी, कहौ कहां बसै राजा॥
बिन रे जांनि परणऊं परसोतम, कहै कबीर रंग राता।
यहु दुनियां कांइ भ्रमि भुलानी, मैं रांम रसाइन माता॥
[क० ग्रं० १५३]

ब्रह्म अस्थांन की चरचा कहै छैं। जगतगुरु परमेस्वर बिराजमान तहां अनहद गुण-रहित नाद किंगुरी काया। दीरघ नाद। ब्रह्म का सबद सूं बड़ौ। तीनि गुणां मैं आगैं। तहां ल्यौ लागै जन की। टेक। त्री अस्थांन मन पवन एकत्र सोई अस्थांन। वहां अंतरिष रमता रांम। गगन मंडल ब्रह्म अस्थांन सो हिरदा। सींगी सुरति बाजै। दुकान दुरस भाव। ब्रह्म सूं बनिज अपणी सुरति उहां ल्यौ लागी। तहां तैं प्रेम पियाला लेणां। निराकार साजै छैं उहाँ सब। गगन अंतहकरण। भाठी भाव की सींगी करि चूंगी। सुरति करि चुई। कनक कलस आत्म कंवल अंमृत रांम रस नीझर। अखंड रसै रस अधिक अधिक प्रीति। पवन पियाला सांसि सांसि सुमिरण। तीनि भवन त्रिगुणी काया मैं। जोगी एक परमेस्वर बिराजै। तौ राजा रजगुण अहंकार कहां पाइए। बिन रे जांनि ग्रांन तैं रहित होइ। एक प्रांन पति जानूं।

[५३]

ऐसा ग्यांन बिचारि लै, लै लाइलै ध्यांनां।
सुंनि मंडल मैं घर किया, जैसै रहै सिचांनां॥ टेक॥
उलटि पवन कहां राखिए, कोई मरम बिचारै।
साधै तीर पताल कूं, फिरि गगनहिं मारै॥
कंसा नाद बजाव ले, धुंनि निमसिले कंसा।
कंसा फूटा पंडिता, धुनि कहां निवासा॥
प्यंड परे जीव कहां रहै, कोई मरम लखावै।
जीवत जिस घरि जाइए, ऊंधै मुषि नहीं आवै॥
सतगुर मिलै त पाईए, ऐसी अकथ कहांणीं।
कहै कबीर संसा गया, मिले सांरगपांणी॥
[क० ग्र० १५४]

सुंनि मंडल ब्रह्म अस्थांन दुंद रहित सो हिरदा। घर निहचां सिचानां सुरति उरध ऊंची दसा। उलटि पवन सांस उलटि संसार तैं। परमेस्वर मैं राषै। तीर सांस पाताल पाप मारग तैं फेरि करि गगन ऊंची दसा ब्रह्म अस्थांन सो हिरदा तहां राषै। कंसा काया मैं। सबद करि नांम रटि ल्यौ। धुनि ध्यांन निमसिले कंसा। निग्रह करि काया छतां। कंसा काया

फूटां धुनि नहीं। पछितावोगे पंडित पिंड परै चौरासी तब कहाँ मिलै ब्रह्म कूं। जीवता जीव सीव मैं थिर रहै। चौरासी न आवै फेरि। अकथ कहांणी अचरज कथा।

दूजा जोग मैं—साधै तीर पताल कूं। तीर अपान बाई रोकि पांन बाई सूं मिलावै। पांन अपांन दोऊ मिलि करि मेर द्वार करि। गगन दसवैं द्वारि चढ़ावै।

[५४]

है कोई संत सहज सुख ऊपजै, जाकौं जप तप देउं दलाली।
एक बूंद भरि देइ रांम रस, ज्यूं भरि देइ कलाली॥ टेक॥
काया कलाली लाहनि करिहूं, गुरु का सबद गुड़ कीन्हां।
कांम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हां॥
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी।
मूंदे मदन सहज धुनि उपजी, सुषमन पोतनहारी॥
नीझर झरै अमी रस निकसै, तिहिं मदि रावल छाका।
कहै कबीर यहु बास बिकट अति, ग्यांन गुरु ले बांका॥

[क० ग्रं० १५५]

कोई औसा संत मिलै जा मिल्यां सहज सुप उपजै। सहज सुष दुंद रहित। पांच इंद्री न पसरै। बिषै बासनां मिटि जाइ। गुण का नास। एक ब्रह्म भाव हिरदै। ताकूं सहज सुष कहिए। ता सुप कै बदलै जप तप दलाली मैं दीजै। सो सुष सति और झूठा। टेक। काया कलाली मटकी। लाहनि लै लावै। चतुरदस इंद्री चतुष्ट अंतहकरन ये चौदह भवन भाठी भाव। ब्रह्म अगिनि परकीरति जारी मूंदे मदन कांम द्वार। मूद्यां सहज दुंद रहित ब्रह्म धुनि सुषमनि सुरति। प्रेम पोता करै। नीझर अषंड धार अमी रस। रावल मन छक्या। बास बिकट सूंघी न जाइ। तेज छै। गुर कै ग्यांन कोई सूरिवां झेलै जरै। दूजा बास ऊंचा अस्थांन बिकट छै।

[५५]

अकथ कहांणीं प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई॥ टेक॥
भौमि बिना अरु बीज बिन, तरवर एकै भाई।
अनंत फल प्रकासिया, गुर दिया बताई॥
मन थिर बैसि बिचारिया, रांमहिं ल्यौ लाई।
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई॥
कहैं कबीर सकति कछु नांहीं, गुर भया सहाई।
आंवण जाणी मिटि गई, मन मनहिं समाई॥

[क० ग्रं० १५६]

भोमि काया। काया बिन बीज बासनां बिन तरवर प्राण अनंत फल गोबिंद दरसन। झूठी अनभै प्रमेस्वर बिन जो करणी। मन परम मन में समाया।

[५६]

संतौ सो अनभै पद गहिए।
कला अतीत आदि निधि निरमल, ताकूं सदा विचारत रहिए ॥ टेक ॥
सो काजी जाकौं काल न व्यापै, सो जोगी पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म विचारै, सो जोगी जग सूझै ॥
उदै न अस्त सूर नहीं ससिहर, ताकौं भाव भंजन करि लीजै।
काया थैं कछू दूरि विचारै, तास गुरू मन धीजै ॥
जार्‍यौ जरै न काट्यौ सूखै, उतपति प्रलै न आवै।
निराकार अषंड मंडल मैं, पांचो तत्त समावै ॥
लोचन अछित सबै अंधियारा, बिन लोचन जग सूझै।
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकूं, जो या अरथहिं बूझै ॥
आदि अनंत उभै पख निरमल, दिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई ॥
एकनि गंध बासनां प्रगट, जग थैं रहै अकेला।
प्रांन पुरिस काया कैं बिछुरै, राखि लेहु गुर चेला ॥
भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा मोह नसांनां।
घट की जोति जगत प्रकास्या, माया सोक बुझाना ॥
वंकनालि जे संमि करि राखै, तौ काल गमन न होई।
कहै कबीर लहरि धुनि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई ॥

[क० ग्रं० १५७]

अनभै पद भै रहित ब्रह्म पद। कला अतीत माया तैं रहित। टेक। काजी सोई जिन काया क्रम तें राषी। ब्रह्म पद बूझै सो पंडित। ब्रह्म बिचार करै सो ब्रह्मा। सोई जोगी घट प्रकास जग देषै। ब्रह्म कै उदै अस्त नहीं सूर ससि ज्यूं ताता सीला गुण नहीं। काया थैं दूरि आकार रहित ब्रह्म बिचारै। सो गुर सति। अषंड पांचूं मंडल ग्रैसा जो ब्रह्म अरथांन पांचूं तत समावै तामैं। पांच ततां की तासीर लीन करै जन। दूजा पांच तत वाही तैं। उतपति वोही समाइले। लोचन देह दिष्ट अंधारा। बिन लोचन अंतर्ध्यांनी आत्म दृष्टि देषै अरथ बूझै कहिए अंतर्ध्यान बूझै। आदि परमेस्वर। अनंत अनंत ही। उभै पषै त्रिमल। द्वै पषैं तैं त्रिपष। दिष्टि करि वाका पार न पाइए। दूजा देह दिष्टि देषा न जाई। ज्वाला ब्रह्म अगिनि आकास अंतहकरण अहं प्रकीरति नारी। तदि सीत दुंदरहित स्वांति हिरदै समाई। एक निगंध परमेस्वर निरवासीक बासना। प्रगट ताकी महिमा प्रगट साध वेद गावै छैं। जग तें रहै अकेला निरलेप। प्रांण काया कै गुणां तैं न्यारा होई। तदि गुरु परमेस्वर सरणैं राषै। दूजा एक गोबिंद हिरदै निरगंध आंन वै निरवासीक प्रगट बासना अनभै जग थैं अकेला। घट की तासीरां थैं न्यारा। प्रांण गुरु चेला चित राष्या थिर। भरम भागा मन थिर भया। निद्रा नेह अग्यांन का नास। घर की ज्योति काया ग्यांन तैं जगत भासै था। सो काया कौ हरष सोग व्यापै था। सो बुझाना मिथ्या। दूजा घर की ज्योति ग्यांन प्रकास देष्या। वंकनालि सुरति संगि श्वांव सूं। धुनि ध्यांन रटणि लागी। सहज दुंद रहित ब्रह्म में मिलैगा।

[५७]

जाइ पूछौ गोबिंद पढ़िया पंडिता, तेरा कौन गुरू कौन चेला।
अपणें रूप कौं आपहिं जांणै, आपैं रहै अकेला॥
बांझ का पूत बाप बिना जाया, बिन पांऊं तरवर चढ़िया।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन पंडै संग्रामैं जुड़िया॥
बीज बिन अंकुर पेड़ बिन तरवर, बिन साखा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पुहुप बिन तरवर, बिन नीरैं सरवर भरिया॥
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पांषां भंवरा बिलंबिया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया॥
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद वागा।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंग लागा॥

[क० ग्रं० १५८]

बांझ का पूत आतम ग्यांन। बाप बिन बप बिन। आकार नहीं बिना पाऊं बिना गुण। तरवर ब्रह्म अस इंद्री पाषर परकीरति नहीं। गज मन। गुड़िया बिन काया। बिना षांडे बचन रहित। ग्यांन संग्राम माड्या बासना नहीं संसार की। अंकूर ऊंची उपजणि उपजी। पेड़ बिन धस्या गुणां सूं अधर तरवर प्रांण। फल दरसन नारी मन समाया रंग नहीं। पहोप बिन घट बिन। प्रमल ब्रह्म बास भाव भगति। बिन नीर माया नीर बिना। हिरदा सरोवर प्रेम जल सूं भरिया। देव गोविंद छैं। बिन देहुरा देह नहीं। पत्र बिन घट नहीं। पूजा भाव की। बिन पाषां परकीरति नहीं। भूंरा मन परम पद सूं बिलंब्या। कीर पतंग नीच नर। माया दीपक सूं जरे। दीपक बिना घर बिना। जोति जगदीस की हरि माया। अनहद ब्रह्म सबद।

[५८]

पंडित होइ सु पदहिं बिचारै, मूरिष नाहिंन बूझै।
बिन हांथनि पाइन बिन कांननि, बिन लोचन जग सूझै॥ टेक॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौड़ नहीं छाड़ै, दह दिसिहीं फिरि आवै॥
बिन ही तालां ताल बजावै, बिन मंदल पट ताला।
बिन ही सबद अनाहद बाजै, तहं निरतत हैं गोपाला॥
बिना चोलनैं बिनां कंचुकी, बिनही संग संग होई।
दास कबीर अवसर भल देख्या, जानैगा जन कोई॥

[क० ग्रं० १५९]

पंडित सोई तीनि गुन रहित चौथा पद बूझै। आत्मा परमात्मा परिचै। तहां की कहे छैं। उहाँ अस्थूल सूंज नहीं। आकार रहित भाव की सूंज छै। हेत हाथ की सेवा परमेस्वर की। पांव बिन प्रेम पांव करि चलै छैं। बिन श्रवन सुरति श्रवन करि सुनैं छैं। बिन लोचनि अंतर्ध्यान देषै छैं। बिन मुष अंतर्गति भजन। चरन बिन चेतन चितवनि करि चलै। बिन जिभ्या हिरदै गुण गावै। दहदिसि दसूं दिसा तैं फिरि हिरदै अंतरै आया। बिन तालां ब्रह्म

बांणी ताल। बिन मंदल मन बाजै छै। गुण रहित अनाहद सबद। निरति गोपाल आगैं। बिन लोचन माहिली आंषि[1] ब्रह्म दृष्टि देषैं। कंचली काया बिन बिनही संग असथूल संग। बिन आतम परमातम संग।

[५९]

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहिं व्यापै, देही जुरा न छीजै॥ टेक॥
उलटी गंग समुद्रहिं सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यंब प्रकासै॥
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि सरप कौं लागी, धरणि महारस खावा॥
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्यौं, यहु अचिरज कोइ बूझै॥
औंधा घड़ा न जल में डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौ यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसाद निस्तरिया॥
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जानै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई॥
गावणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बेन बजावै॥
कहणीं रहणीं निज तत जांणै, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहिं ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं॥
बाझ पियालै अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राष्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाष्या॥

[क० ग्रं० १६२]

जागत रहौ ग्यांन चेतनि नींद अग्यांन निवारौ। टेक। गंगा बाणी उलटी ब्रह्म ओर। तब समुद्र सरीर की तासीर सोषी। ससिहर सूर ताता सीला गुण ग्रास्या। नौ ग्रह नौ द्वार की लहरि जीती। रोगी जीव। ज्याया तब। जल बूंद की काया में बिंब ब्रह्म प्रकास्या। डाल आंन देव मूल ब्रह्म। दूजा डाल इंद्रियां। स्वादि लागा मूल मन बसि नहीं। मूल मन थिर कीया तब दरसन फल पाया। बंबई देह सप संसार। धरणि या धारणां। रस नांम लीया। गुफा हिरदा। बाहरि बहरमुष इंद्री भरमै। धनक ध्यांन धरि पारधि काल मार्या। ऊंधा घड़ा हिरदा कंवल ऊंधा तौलूं प्रेम जल मैं न डूबै। सूधा भर्या। घिन कहिए देह तैं। गिलाणि हंस उड्या नाक मूंदै। ता प्रसादि सो तन धरि निसतर्या। अंबर अंतहकरण आत्मा सूंज। बरसै सरबै बहरमुष इंद्री। धरती काया नौ द्वार जल विषै रस सूं। या गति सबै कै छै। फिर धरती बरसै काया सूंज। इंद्री बहिरमुष तैं समेटि। अंतहकरण थिर होहि। अंबर आत्मा भीजै प्रेम जल सूं या गति कौं संत बूझै। न गावै काया अस्थांन अनबोल्या अंतरधुनि गावै। नटवर गोबिंद अकथ अचरज कथा। धरती काया आकास अंतहकरन आया

[1] दा. में 'आंषि' शब्द नहीं है।

ग्रास्या। बिन प्यालै। पवन प्याला। अंमृत नांम नदी। नौ द्वार नीर नांम। धरणि तन धरि महारस नांम लीया।

[६०]

है कोई जगत गुर ग्यांनी उलटि वेद बूझै।
पांणी में अगनि जरै, अंधरे कौं सूझै॥ टेक॥
एकनि दादुरि खाए पंच भवंगा, गाइ नाहर षायो काटि काटि अंगा॥
बकरी बिघार षायो, हरिन षायो चीता।
कागि लंगर फांदिया, बटेरै बाज जीता॥
मूंसै मंजार षायौ, स्यालि षायौ स्वांनां॥
आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यांनां॥

[क० ग्र० १६०]

पानी जल बूंद की, काया। तामैं ब्रह्म अगनि प्रगटी। अंधरा सो जो अंतर्यांनी। दृष्टि की विषै रहत। दादुर मन पांच भवंग कहिए पांच इंद्री। गाइ मनसा नाहर कांम। बकरी बुधि बिघार मैं खाया। हिरन मन चीता चित। काग मन लंगर लोभ। बटेर बप। बाज बिघन। मूसा मन मंजार काल। स्याल जीव स्वांन संसा। आदि परमेस्वर।

[६१]

ऐसा अदभुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै।
मूसा हसिती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै॥ टेक॥
मूसा बैठा बांबि मैं, लारै सांपणि धाई।
उलटि मूसै सांपणि गिली, यहु अचिरज भाई॥
चींटी परवत ऊषण्यां, लै राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणी दौड़ै॥
सुरही चूंपै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहिं मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहिं बिचारै॥

[क० ग्रं० पद १६१]

उभेषै अचंभै रह्या। हस्ती कांम। मूसा मन। टेक। मूसा मन बांबी काया मैं। थिर भया। सांपणि माया छल किया। उलटि मूसै सांपिणि गिली। मन माया जीती। चींटी मनसा परवत पाप। मुरगा मन। मिनकी दुरमति पेदी। झल ब्रह्म जोति पांणी माया नाटी। सुरही सुरति। बछा बांणी। दूध रांम रस। नौल मन दूजा नौल ग्यांन। नौल सारदूलहिं मारै संसा दूरि किया। भील भयानक रूपी काल। बन संसार मैं लीन हुवा। ससा जीव सर सबद गुर का। ताकरि मारै बिचारै जो या करणी करै।

[६२]

राम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरषनाथ जानीं ।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पांणीं ॥ टेक ॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूंती गगन पहूंती सैली ।
सहज बेलि जब फूलन लागी, डाली कूंपल मेल्ही ॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या, सतगुर बाही बेली ।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही ॥
काटत बेली कूंपल मेल्ही, सींचतड़ा कुम्हिलानीं ।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जांणीं ॥

[क० ग्रं० पद १६३]

आतम बेलि तामैं रांम जानन का ग्यांन । सोई गुण ताकी महिमा । गोरषनाथ जांणी । रूप माया के रंग सुभाव नहीं । छाया माया बल नहीं । बिरध भाव भगति बंधै । पानी माया जल बिना । टेक । दोइ अणी मन पवन सुरति तब गगन ब्रह्म अस्थान सैल भई । दूजा सैली साध संग । सहजि बेलि दुंद रहित । आत्म फूल । भाव भगति सोई डाली कूंपल । मन कुंजर बाड़ी काया थिर भया । बेलि आत्मा गुर रोपी । पांच सषी पांचै इंद्री । पवन सांसि सांसि सुमिरण करी । काया बाड़ी सींची । काटत क्रमां तैं काटी । तब कूंपल कोमल भाव उपज्या । माया जल सींचत सूकै । सहज निरंतर दुंद रहत अपनी अंतरि जांणी वो ।

[६३]

राजा राम कवन रंगै, जैसे परिमल पुहुप संगैं ॥ टेक ॥
पंच तत ले कीन्ह बंधान, चौरासी लष जीव समांन ॥
बेगर बेगर राषिले भाव, तामैं कीन्ह आपकौ ठांव ॥
जैसें पावक भंजन का बसेष, घट उनमानि किया प्रवेस ॥
कह्या चाहूं कछु कह्या न जाइ, जल जीव ह्वै जल नहीं बिगराइ ॥
सकल आतमा बरतै जे, छल बल कौं सब चीन्ह बसे ॥
चीनियत चीनियत ता चीन्हिलै से, तिहि चीन्हिअत धूंका करके ॥
आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबाण ॥
कहै कबीर मनि भया संतोष, मिले भगवंत गया दुख दोष ॥

[क० ग्रं० पद १६७]

जैसे पहौप मैं बास तैसै सब मैं रमता राजा राम । पांच तत पृथ्वी अप तेज बार अकास ताकरि कै प्यंड ब्रह्मण्ड रच्यौ । चौरासी लष जीवा जूनि तामैं आप बिराजमान छै । भाजन कहिए घट लघु दीरघ सब । जैसे घर मैं दीपक धरयौ तैसो ही प्रकास भयौ । कह्यो चाहूं बरण्यौ चाहूं अबरण कौ बरणि न जाइ । जल का जीव जल सूं न्यारा नहीं । जल बिना और नहीं । तैसे ब्रह्म बिना और नहीं । सकल आत्मा मैं बरति रह्यौ छै । छल कहा जु बिचार करिकैं । छल साधन करिकैं प्रमेस्वर मैं बास करौ । बार बार चीहि ल्यौ । बिनां चीन्ह्यां आगैं कहा करौगे । अपणी पराई आत्मा एक करि जांणी । तब हम निर्वाण पद कूं प्रात भए । कबीर जी कहत हैं हमारे मन मैं संतोष भए । परमेस्वर मिले तासूं । जन्म मरण के दुख गए । अंतहकरण की बासना गई ।

[शेष अगले अंक में]

सम्पादकीय :—

हिन्दी भाषा की एक समस्या

हिन्दी भाषा के सामने आज अनेक समस्याएँ हैं। उसका विकास तथा प्रसार ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा है, उसके सामने अनेक प्रकार की समस्याएँ आती जा रही हैं। न केवल देश के विभिन्न प्रदेशों में जीवन के कुछ स्तरों पर उसका प्रयोग-विस्तार हो रहा है, वरन् ज्ञान के विविध क्षेत्रों का वाङ्मय इसमें रचा जा रहा है। ऐसी स्थिति में भाषा की शक्ति और सामर्थ्य का अधिकाधिक विकसित होना परम आवश्यक है। परन्तु इसके साथ ही भाषा का एक ऐसा परिनिष्ठित रूप भी सामने आना चाहिए जिसको ग्रहण करने में किन्हीं नियमों का सहारा लिया जा सके। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का प्रश्न यदि जीवन की व्यापक समस्याओं तथा ज्ञान की विविध दिशाओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तो नियमन का प्रश्न उसके प्रसार से सम्बद्ध है। अनेक बार इन दोनों बातों को एक ही समस्या के दो पहलू माना जाता है, और इस कारण एक ही समाधान से दोनों का हल भी ढूँढने का प्रयत्न किया जाता है।

इस दिशा में विचार करने वालों में एक महत्त्वपूर्ण वर्ग का मत है कि इस समस्या का समाधान हिन्दी भाषा के संस्कृत भाषा से प्रेरणा ग्रहण करने तथा उसके आदर्श स्वीकार करने में है। इस मत के अनुसार भाषा में शुद्ध तत्सम शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग तथा संस्कृत के व्याकरण से यथासंभव अनुरूपता वांछनीय है। इस दृष्टि से इस मत के लोग हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दों को अशुद्ध मानते हैं और संस्कृत के नियमों से सिद्ध न हो सकने के कारण अनेक शब्दों में सन्धि, समास तथा कृदंत के प्रयोग सम्बन्धी दोष बतलाते हैं। इनके अनुसार हिन्दी भाषा के ज्ञान के लिए संस्कृत व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। इससे उनका तात्पर्य यह रहता है कि भाषा का शुद्ध प्रयोग संस्कृत व्याकरण के ज्ञान से ही संभव हो सकेगा।

हिन्दी भाषा के बहुमुखी विकास के इस प्रयोग काल में समस्या के इस पक्ष पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है। हिन्दी और संस्कृत का सम्बन्ध किस स्तर का होना चाहिए, किस प्रकार का होना चाहिए और वह किस सीमा तक वांछित है, ये प्रश्न ऐसे है जिन पर कई पहलुओं से चिन्तन करना अपेक्षित है। एकाएक कुछ कहना अथवा निर्णय लेना ख़तरनाक है। इस प्रसंग में भावावेश तथा अस्थान उत्साह शुद्ध चिन्तन की दिशा में उतनी ही बड़ी बाधाएँ हैं जितनी रूढ़िवादी दृष्टि। हमारा उद्देश्य यहाँ समस्या को प्रस्तुत करके चिन्तन की दिशाओं का निर्देशन कर देना मात्र है।

१. पहली विचारणीय बात है कि क्या भाषा की व्यंजना-शक्ति और उसका नियमन समस्या के दो पहलू मात्र हैं? नियमन, आदर्शीकरण तथा एकरूपता आदि के प्रश्न भाषा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं, पर भाषा की व्यंजना-शक्ति के विकास का प्रश्न न तो उससे जुड़ा हुआ माना जा सकता है और न उसके साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। क्या भाषा की दृष्टि से सर्वोपरि प्रश्न व्यंजना-शक्ति का ही नहीं है?

२. भाषा की दृष्टि से संस्कृत तथा हिन्दी का सम्बन्ध क्या इतना घनिष्ठ है, जितना मान लिया जाता है? अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व संस्कृत किसी प्रचलित (मध्यदेशीय) भाषा के आधार पर विकसित साहित्यिक भाषा (परिनिष्ठित रूप में) स्वीकृत हुई थी। और हिन्दी ने इतने लम्बे युगों में प्रवाहित, जन-भाषाओं (मध्यदेशीय) के आधार पर व्यापक साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया है। उसका सीधा सम्बन्ध संस्कृत से किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है?

३. सांस्कृतिक चेतना और एकसूत्रता का प्रश्न एक अलग प्रश्न है। उसको भाषा के साथ उलझा देना क्या वांछनीय हो सकता है? संस्कृत भाषा और साहित्य ने भारतीय सांस्कृतिक चेतना का वहन हज़ारों वर्षों के इतिहास में किया है। उससे प्रेरणा ग्रहण करने की दृष्टि से, उसकी सम्पत्ति से अपने योग्य सामग्री प्राप्त करने के लिए संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन तथा अनुशीलन अनिवार्य रूप से करना एक अलग बात हो सकती है।

४. आज हमारी संस्कृति का जो विकसित रूप सामने आ रहा है उसमें प्राचीन संस्कृति का योग हो सकता है, उसकी परम्परा हो सकती है, पर क्या वह एक भिन्न तथा नवीन संस्कृति नहीं होगी? क्या प्राचीन भारतीय सामन्ती संस्कृति के मानदंडों को आज की जन-संस्कृति में उसी रूप में ग्रहण किया जा सकता है? भाषा संस्कृति का अंग है, साहित्य उसका वाहक माना जाता है। ऐसी स्थिति में क्या हिन्दी भाषा अपनी मौलिक प्रकृति में संस्कृत से भिन्न नहीं होगी?

५. भाषा की समृद्धि की दृष्टि से प्राचीन क्लैसिकल भाषाओं से तथा अन्य विभिन्न भाषाओं से शब्द-समूह ग्रहण करना तथा उन शब्दों के प्रयोग में एकरूपता बरतना एक बात है और आधुनिक भाषाओं के प्रचलित शब्दों और प्रयोगों को क्लैसिकल भाषा के व्याकरण से सिद्ध करने की प्रवृत्ति बिल्कुल भिन्न बात है। क्या हिन्दी भाषा में जो शब्द वर्षों के प्रयोग से सिद्ध हो चुके हैं उनके प्रयोग पर संस्कृत व्याकरण से विचार करना संगत होगा?

६. अन्त में प्रश्न उठता है कि हिन्दी भाषा की मौलिक प्रकृति क्या है? क्या उसकी प्रकृति के अनुशीलन द्वारा हम उसके नियमों को खोज नहीं सकते जिनके द्वारा भाषा संबंधी समस्याओं के समाधान पर विचार किया जा सके। गत्यात्मक तथा जीवित भाषाओं के भी अपने नियम होते हैं, केवल उनमें लोच अधिक होती है जो उनकी जीवनी-शक्ति का ही परिचायक है।

प्रस्तुत समस्या पर विचारकों का ध्यान पहले से आकर्षित रहा है, पर हम चाहते हैं कि उपर्युक्त व्यापक संदर्भ में चिन्तन की दिशाएँ प्रशस्त हों। 'अनुशीलन' उनके विचारों का स्वागत करेगा।

हिन्दी-अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष ११] अक्तूबर–दिसम्बर १९५८ ई० [अंक ४

'सुर्जनचरित महाकाव्य' और 'पृथ्वीराज रासो'

माताप्रसाद गुप्त एम. ए., डी. लिट्, प्रयाग विश्वविद्यालय

चंद्रशेखरकृत 'सुर्जनचरित महाकाव्य'[१] की रचना अकबर के समकालीन और उसके अधीनस्थ हाड़ा राय सुर्जन की प्रेरणा से प्रारंभ हुई थी।[२] किन्तु उसकी समाप्ति उनके उत्तराधिकारी राय भोज के समय में हुई थी।[३] कवि ने ग्रन्थ का रचना-काल नहीं दिया है किन्तु इसमें उसने राय सुर्जन के देहान्तोपरान्त राय भोज के राज्यारोहण का वर्णन मात्र किया है, उसके शासन-काल की घटनाओं का कोई विवरण नहीं दिया गया है, इसलिए समझना चाहिए कि ग्रंथ उसके राज्यारोहण के कुछ ही बाद समाप्त हुआ था। 'आईन-ए-अकबरी' में अकबर के शासन से संबंधित व्यक्तियों की नामावली देते हुए राय सुर्जन (संख्या ९६) तथा राजा भोज (संख्या १७५) दोनों के नाम दिए गए हैं, और राय सुर्जन के सम्बन्ध में 'आईन-ए-अकबरी' के योग्य संपादक ने टिप्पणी देते हुए लिखा है कि 'तबकात-ए- अकबरी' (रचना-काल १००१ हि०-१६४९ वि०) से स्पष्ट है कि राय सुर्जन सं० १६४९ वि० के कुछ पूर्व ही दिवंगत हो चुका था।[४]

राय सुर्जन के एक पूर्वज होने के नाते इसमें चौहान पृथ्वीराज का भी वृत्त

---

१. सुर्जनचरित महाकाव्य, हिन्दी अनुवाद सहित— संपादक और प्रकाशक डॉ० चन्द्रधर शर्मा, प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९५२। २. वही, सर्ग १, श्लोक ७, तथा २०.६४। ३. वही, २०.६३। ४. आइने-ए-अकबरी, संपादक एच० ब्लॉचमैन, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, पृ० ४५०।

आया है। यह रचना के दसवें सर्ग में है। नीचे इस सर्ग के श्लोकों का उल्लेख करते हुए उस वृत्त का सार दिया जा रहा है—

श्लोक १-१० : गंगदेव का पुत्र सोमेश्वर हुआ जिसने कुल परंपरागत राज्य का शासन किया। सोमेश्वर ने कुंतलेश्वर की पुत्री कर्पूरदेवी से विवाह किया और कर्पूरदेवी से उसके दो पुत्र पृथ्वीराज तथा माणिक्यराज हुए। पिता के दिए हुए राज्य को आपस में बाँट कर श्रेष्ठ बाहुबल से दोनों भाइयों ने शासन किया। पृथ्वीराज ने अपने पराक्रम से राज्य का विस्तार किया।

११-५२ : एक दिन जब पृथ्वीराज नगर के बाहर एक उद्यान में था, कान्यकुब्ज से कोई महिला आकर पृथ्वीराज से मिली और कान्यकुब्जेश्वर की पुत्री कांतिमती के सौन्दर्य की प्रशंसा करने के अनंतर उससे कहने लगी कि कांतिमती पिता के चारणों से उसका हाल सुनकर उस पर अनुरक्त हो चुकी थी और उसने एक रात स्वप्न में एक सुन्दर पुरुष को देखा, तब से वह सर्वथा काम के वश में हो रही थी; उन्हीं दिनों उसने यह भी सुना कि कान्यकुब्जेश्वर उसे और किसी से ब्याहना चाहते थे। इससे वह बहुत व्यथित थी और इसीलिए उसने पृथ्वीराज के पास संदेश लेकर उसे भेजा था। यह सुनकर पृथ्वीराज ने कहा कि वह उसके गुणों को बार-बार सुन चुका था, और उसके इस संताप को दूर करने का उपाय अवश्य करेगा। दूती यह आश्वासन लेकर चली गई।

५३-११२ : इसके अनंतर अपने बंदी को आगे कर पृथ्वीराज कान्यकुब्ज गया। वेश बदलकर और १५० सामंतों को साथ लेकर उसने उस वैतालिक का अनुसरण किया। जयचंद की सभा में वह उस वैतालिक का पार्श्वचर बनकर रहता। वह प्रतिदिन घोड़े पर गंगातट पर चक्कर लगाता। एक दिन चाँदनी रात में वह घोड़े को नदी में पानी पिला रहा था। घोड़े के मुख से निकलते हुए फेन की गंध से मछलियाँ जब ऊपर आईं, वह उन्हें अपने कंठहार के मोती निकाल-निकाल कर चुगाने लगा। कान्यकुब्जेश्वर की कन्या ने उसका यह कृत्य देखा, तो उसे उसके संबंध में जानने की उत्सुकता हुई। उस दासी ने, जिसने उसका संदेश पृथ्वीराज को पहुँचाया था, उसे पहचानकर बताया कि यह तो पृथ्वीराज ही था, और यदि उसे इस विषय में संदेह था तो वह उसकी परीक्षा कर सकती थी। यह सुनकर राजकुमारी ने मुक्तामाल देते हुए एक दासी को वहाँ भेजा। वह जाकर पृथ्वीराज के पीछे खड़ी हो गई। कंठहार के मोतियों के समाप्त होते ही राजा ने पीछे हाथ बढ़ाया तो दासी ने वह मुक्तामाल उसके हाथों पर रख दिया। जब वे बिना गुँथे हुए मोती भी समाप्त हो गए तब उस दासी ने अपना कंठहार उतार कर राजा के हाथों पर रक्खा। स्त्रियों के उस कंठभूषण को देख-कर राजा विस्मित हुआ और पीछे मुड़कर देखा तो वह दासी वहाँ मिली। पूछने पर उसने बताया कि कान्यकुब्जेश्वर की कन्या की वह परिचारिका थी। राजा ने उससे कहा कि वह अपनी स्वामिनी से कुछ प्रहर और धैर्य रखने के लिए कहे, दूसरे दिन रात्रि में उसके हृदय को निश्चय हो जावेगा। दूसरे दिन रात्रि में वह राजकुमारी से मिला और उसने कहा कि वह अपने सामंतों को बिना बताए वहाँ आया था, इसलिए उसे लौटना ही था, और उनसे मिलकर वह पुनः आ सकता था। किन्तु राजकुमारी

को भावी विरह से व्यथित देखकर उसने उसे साथ ले लिया, और घोड़े पर उसके साथ सवार होकर अपने शिविर को चला गया।

११३-१२८: इस समय एक सामंत आकर कहने लगा कि पृथ्वीराज को नव-वधू के साथ दिल्ली के लिए प्रस्थान कर देना चाहिए। जब तक वह चार योजन आगे जावेगा, वह शत्रु सेना को रोकेगा। एक दूसरे सामंत ने उसे छः गव्यूति (तीन योजन) आगे बढ़ाने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार इंद्रप्रस्थ तक का सारा मार्ग सामंतों ने परस्पर बाँट लिया। तब तक शत्रु-सेना आ पहुँची थी। उसने पीछा किया, किन्तु संघर्ष होते-होते पृथ्वीराज इन्द्रप्रस्थ पहुँच गया। जब तक पृथ्वीराज इन्द्रप्रस्थ पहुँचा उसके पराक्रमी वीरगण इने-गिने ही बच रहे थे। पृथ्वीराज से हार कर कान्यकुब्जेश्वर यमुना के जल में डूब मरा।

१२६-१३२: दिग्विजय करके पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को बाँधा। इक्कीस बार उसे बंदी करके छोड़ा। किंतु उसने उपकार नहीं माना और छल-बल से एक युद्ध में पृथ्वीराज को बंदी करके उसे अपने देश ले गया और वहाँ उसे नेत्र-हीन कर दिया।

१३३-१६८: घूमता-फिरता पृथ्वीराज का मित्र चंद नामक बंदी भी वहाँ पहुँच गया और उसने पृथ्वीराज को प्रतिशोध के लिए प्रोत्साहित किया। राजा ने कहा उसके पास न सेना थी, और न नेत्र थे; प्रतिशोध लेना किस प्रकार संभव था? किंतु बंदी ने जब उसे उसके शब्द-वेध कौशल का स्मरण कराया, पृथ्वीराज ने उसका आग्रह स्वीकार कर लिया। तदनंतर वह बंदी यवनराज की सभा में गया और कुछ ही दिनों में उसके मंत्रियों का तथा उसका विश्वास उसने अपने विद्या-कौशल से प्राप्त कर लिया। किसी प्रसंग में एक दिन उसने कहा कि नेत्रहीन होते हुए भी पृथ्वीराज बाण-द्वारा लोहे के कड़ाहों को वेध सकता था, और उसका यह कौशल दर्शनीय होता। यवनराज उसकी बातों में आ गया। एक सुवर्ण स्तंभ पर लोहे के कड़ाह रखे गए और पृथ्वीराज को बाण चलाने की आज्ञा हुई। तब बंदी ने कहा कि यवनराज के तीन बार स्वयं कहने पर वह लक्ष्यवेध करेगा। इस पर शहाबुद्दीन के मुख से बाण चलाने की आज्ञा के निकलते ही पृथ्वीराज का बाण छूटकर उसके तालुमूल से जा लगा और यवनराज का प्राणांत हुआ। वहाँ हलचल देखकर बंदी ने राजा को घोड़े पर बिठाया और कुरु जांगल देश ले गया जहाँ पृथ्वी को यशपूर्ण करके राजा परलोक सिधारा।

'महाकाव्य' के लेखक ने यह नहीं बताया है कि पृथ्वीराज की उपर्युक्त कथा उसे कहाँ से प्राप्त हुई, अतः इस प्रसंग में पहली विचारणीय बात यह है कि इस कथा का आधार क्या हो सकता है? इस कथा में प्रतिशोध-प्रकरण में बंदी चंद का नाम आता है जिसके बारे में यह भी कहा गया है कि वह उसका मित्र था। चंद के 'पृथ्वीराजरासो' में जो कथा आती है उससे उपर्युक्त कथा का पर्याप्त साम्य भी है यह सुगमता से देखा जा सकता है; और 'पृथ्वीराजरासो' 'सुर्जनचरित महाकाव्य' से काफ़ी पहले की रचना है, यह इस बात से प्रमाणित हो चुका है कि उसके छंद पुराने जैन प्रबंधों में मिलते हैं जिनमें से एक की

प्रति सं० १५२८ की है।[१] अतः प्रश्न वास्तव में इतना ही रह जाता है कि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में यह कथा सीधे 'पृथ्वीराज रासो' से ली गई है, अथवा 'रासो' पर आधारित किसी रचना से।

नीचे उदाहरण के लिए 'रासो' से कुछ ऐसे छंद दिए जा रहे हैं जिनमें वे ही कथा-विस्तार मिलते हैं जो 'सुर्जनचरित महाकाव्य' की उपर्युक्त कथा में आए हैं[२] :—

(१) तिहि पुत्तिय सुनि गन इतउ तात वचन तजि काज।
कइ बहि गंगहि संचरउं कइ पानि गहउं प्रथीराज॥
(नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण, सर्ग ५०, छंद २७)

(२) सुनत राइ अचरिज भयउ हियइ मन्यउ अनुराउ।
नृप वर अनि उर अंगमइ दैवहि अवर स भाउ॥
(वही, ५०.२८)

(३) चलउं भट्ट सेवग होइ सथ्थह।
जउ बोलउं न हथ्थु तुह मथ्थह।
जबइ राइ जानइ संमुह हुअ।
तब अंगमउं समर दुहुनि भुअ॥
(वही, ५७.३१०)

(४) कनवज्जिय जयचंद चलउ ढिल्लियसुर पेषन।
चंद विरदिआ साथि बहुत सामंत सूर घन।
चहू आन राठवर जांति पुंडीर गुहिल्ला।
वडगूजर राठवर कुरुंभ जांगरा रोहिल्ला।
इत्ते सहित्त भुअपति चलउ उडी रेन किन्नउ नुभउ।
एकु एकु लष्ष वर लष्षवइ चले सथ्थ रजपुत्त सउ॥
(वही ६१.१०५)

(५) करिग देव दक्खिन नयर गंग तरंगह कुल्ल।
जल छंडइ अछूछइ करह मीन चरित्तनु भुल्ल॥
(वही, ६१.११३६)

(६) भूलउ नृप तिहि रंग तहि जुध्ध विरुद्ध सहु।
मूगति मीननु मुत्ति लहंति जु लष्ष दह।
होइ तुछूछ तु तंमोर सरंत जु कंठ लहु।
वंक प्रवेस हसंत तु झरंत ज गंग मह॥
(वही, ६१.११४४)

---

१. देखिए प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित : (१) पुरातन प्रबंध संग्रह, चंद वरदाई और जल्ह का समय, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं २०१२, अंक ३-४, पृ० २३४ तथा (२) 'पुरातन प्रबंध-संग्रह' और 'पृथ्वीराज रासो', वही, सं० २०१४, अंक २-३, पृ० १। २. छंदों का पाठ लेखक द्वारा सपादित 'पृथ्वीराज रासो' से दिया जा रहा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा; स्थल-निर्देश मात्र सुविधा के लिए काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संस्करण से किया जा रहा है।

(७) पंगुराइ सा पुत्तिय मुत्तिय थार भरि।
यो त्रिय जउ प्रथीराज न पुछ्छइ तोहि फिरि।
जउ इन लष्षन सब सहित विचार न सोइ करि।
हइ व्रत मोहि नृ जीव सु लेउं सजीव वरि॥
(वही, ६१.११७१)

(८) सुंदरि आइ स धाइ विचार न बोलइय।
जउ जल गंगह लोल प्रतीत प्रसंगु लिय।
कमलति कोमल पांनि कलिकुल अंगुलिय।
मनहु अघ्घ दुजदान सु अप्पति अंजुलिय॥
(वही, ६१.११७४)

(९) अपंति अंजुलीय दान जान सोभ लग्गए।
मनउ अनंग रंग वस्य रंभ इंद पुज्जए।
जु पानि बाहु वार थक्कि थार मुत्ति वित्तए।
पुनेपि हथ्थ कंठ तोरि पोति पुंज अप्पए।
निरष्षि नयन टेरि वयन ता त्रिपत्ति चाहियं।
तरप्पि दासि पासि पंक (पक्क) संकियं न वाहियं।
अनेक (अनिक ?) संग रंग रूप जूप जानि सुंदरी।
उछंग गंग मज्झि धुक्कि सर्गपत्ति अछ्छरी।
हउं अछ्छरी नरिंदु नाहि दासि गेह राय पंगुरे।
तास पुत्ति जंम छाडि ढिल्लि नाथ आदरे।
सा जंम सूर चाहुवान मान इंम जानए।
करेन केहरीन पीन इंदु मीन थानए।
प्रतष्षि हार जुध्ध धीर यो सु वीर संचही।
परंतु प्रान मानिनी चलंति देत गंठही।
सुनंत सूर अस्व फेरि तेजि ताम हंक्कियं।
मनउ दलिद्द रिध्धि पाय जाय कंठ लग्गियं।
कनक्क कोटि अंग घात रास वास माल ची।
रहंत भउंर भौंर भौंर साह छत्र कांम ची।
सुधा सरोज मोज मंग अलक रंक हल्लए।
मनउ सयन्न फंद पासि काम केलि वल्लए।
करिस्य कांम कंकनं सुपानि वंध वंधए।
जु भावरी सषी सलज्ज रुंभ्भ तुरंयं वज्जए।
आचारु चारु देव सव्व दोइ पष्य जंपही।
गंठि दिढ्ढ इक्क चित्त लोक लोक चंपही।
अनेक सुष्ष मुष्प सीस जुध्ध साध लग्गियं।
सु कंत कंत अंत ता तमोरि मोरि अप्पियं॥
(वही, ६१. ११७७-११८५)

(१०) मिले सव्व सामंत वोल मग्गहि त नरेसर।
अप्प मग्ग लग्गिअइ मग्ग रष्षिइ ति इक्क भर।
एक एक झूझंति दंति दंती ढंढोरइ।
जिके पंग राय भिच्च मारि मारिक्कइ मोरइ।
हम बोल रहइ कलि अंतरि देहि स्वामि पारथ्थिअइ।
अरि असीइ लष्प को अंगमइ परणि राय सारथ्थिअइ॥
(वही, ६१. १५६१)

(११) वेद कोस हरसिंध उभय त्रियत वड गुज्जर।
काम वान हर नयन निडर नीडर सोइ सुभ्झर।
छगन पटन पल्लानि कन्ह पंची दिगपालह।
अल्हन द्वादस सकल अचल विद्या गनि कालह।
सिंगार विंभ सलषह सुकथ लषन पाहार आहार सुउ।
इत्तनइ सूर झूझंति ही ढिल्लियपति प्रथिराज भउ॥
(वही, ६१. २४०३)

(१२) गहि चहुआंन नरिंद गयउ गज्जने साहि घरि।
सा ढिल्ली हय गय भंडार तोहि तनय अप्पि धर।
वरस एक तिहि अध्ध मुध्ध किन्हउ नयन्न विनु।
जंम जंम जुग अवरुध्ध जाइ प्रथिराज इक्क पिनु।
सुनत श्रवन्नु धरि परउ हरि हरि हरि हरि देव सु कह।
तजि पुत्त मित्त माया सकल गहिग चंद गजनेव रह॥
(वही, ६६.१६२६, ६७.१८)

(१३) अंषिहीन दोऊ भयउं तुं चहु अंषिन चूक।
असुर वध्धु किम विन सुरह मइ सुर वंधउ अलूक॥
(वही, ६७-४०५)

(१४) भयउ एक फुरमान एक वानह गुन संधउ।
सोइ सवद्द अरु वांन अग्ग अग्गइ षल वंधउ।
भयउ वीअ फुरमान पंचि रष्षिअउ श्रवन पर।
तीअउ सवद सुनंत सुनउ सुरतान परउ धर।
लगि दसन रसन दस रुंधिअउ विहु कपाट वंधे सघन।
धरि परउ साहि षां पुकरउ भयउ चंद राजहि मरन॥
(वही, ६७.५४६)

यदि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' के विवरण और 'रासो' से ऊपर उद्धृत पंक्तियों को मिलावें तो देखेंगे कि साम्य प्रायः छोटे से छोटे विस्तारों तक में है। यथा:—

(१) दोनों में पृथ्वीराज को यह समाचार मिलता है कि जयचन्द की पुत्री उस पर अनुरक्त है, और जयचन्द उसे किसी अन्य से व्याहना चाहता है, इसलिए वह बहुत व्यथित है।

(२) दोनों में पृथ्वीराज अपने वंदी के साथ उसके अनुचर के वेश में कन्नौज जाता है, और उसके साथ १०० या कुछ अधिक शूर-सामंत हैं।

(३) दोनों में ठीक एक ही प्रकार से जयचंद-पुत्री उसे गंगातट पर रात्रि में मछलियों को मोती चुगाते हुए देखती है, और एक ही उपाय से इस बात का निश्चय करती है कि वह व्यक्ति पृथ्वीराज ही है।

(४) जयचंद-पुत्री का अपहरण वह दोनों में एक ही प्रकार से करता है।

(५) दोनों में एक ही समान यह योजना स्थिर होती है कि वह जयचंद-पुत्री को लेकर दिल्ली की ओर बढ़े और उसके सामंतगण एक-एक करके जयचंद की पीछा करने वाली सेना को रोकें; इस योजना का निर्वाह भी दोनों में एक ही सा होता है।

(६) दोनों में वह शहाबुद्दीन के साथ के अंतिम युद्ध में वंदी होता है और ग़ज़नी ले जाया जाकर नेत्रविहीन किया जाता है।

(७) दोनों में एक ही प्रकार से चंद की युक्ति से पृथ्वीराज शहाबुद्दीन से प्रतिशोध लेने में कृतकार्य होता है।

अंतर दोनों में बहुत साधारण है और मुख्यतः इतना ही है कि—

(१) 'रासो' में पृथ्वीराज के जयचंद-पुत्री के अनुरक्त होने का समाचार मात्र मिलता है, 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में उसकी एक दूती पृथ्वीराज से उसका संदेश लेकर मिलती है।

(२) 'रासो' में उस जयचंद-पुत्री का नाम संयोगिता है, और 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में कान्तिमती।

(३) 'रासो' में पृथ्वीराज जयचंद-पुत्री से पहचाने जाने पर ही जा मिलता है, यद्यपि उसे लिवा जाता है बाद में; 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में वह उसे मिलता है दूसरे दिन और उसी समय उसे लिवा जाता है।

(४) 'रासो' में पीछा करता हुआ जयचंद पृथ्वीराज के दिल्ली पहुँच जाने पर कन्नौज लौट जाता है, 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में वह यमुना में डूब मरता है।

(५) 'रासो' में पृथ्वीराज ग़ज़नी में ही शाह-वध के अनंतर मृत्यु को प्राप्त होता है, 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में उसे चंद कुरु जांगल प्रदेश भगा ले आता है, जहाँ वह पीछे मृत्यु को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सन्निकट साम्य की पृष्ठभूमि में जब हम इस अंतर पर विचार करते हैं तो लगता है कि ये अन्तर 'सुर्जनचरित महाकाव्य' के रचयिता की कल्पना अथवा किन्हीं जनश्रुतियों के परिणाम हैं—जयचंद का यमुना में डूब मरना अथवा पृथ्वीराज का ग़ज़नी से सकुशल कुरु जांगल लौट आना 'रासो' की पूर्वकल्पित दिशा में एक क़दम आगे बढ़े हुए विस्तार मात्र प्रतीत होते हैं; यह किसी भी अन्य प्राप्त प्राचीन रचना में नहीं मिलते हैं, यह भी इस अनुमान की पुष्टि करता है। फलतः यह प्रकट है कि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' की उपर्युक्त कथा का आधार सीधा 'पृथ्वीराज रासो' है।

अब दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' की उपर्युक्त कथा का आधार 'रासो' का कौन-सा पाठ है। 'रासो' के चार मुख्य पाठ प्राप्त हैं—(१) लघुतम, जिसमें लगभग ४२० रूपक (छन्द) हैं, (२) लघु, जिसमें लगभग १,१०० रूपक (छन्द)

हैं, (३) मध्यम, जिसमें लगभग ३,४०० रूपक (छन्द) हैं, और (४) बृहत्, जिसमें लगभग १०,००० रूपक (छन्द) हैं। इनमें से कौन सा पाठ 'सुर्जनचरित महाकाव्य' की उपर्युक्त कथा का आधार हो सकता है ?

इस प्रसंग में द्रष्टव्य यह है कि—

(१) 'रासो' के जो छन्द ऊपर उद्धृत हुए हैं, वे लघुतम से लेकर बृहत् तक 'रासो' के समस्त प्राप्त पाठों में समान रूप से पाए जाते हैं।

(२) 'सुर्जनचरित महाकाव्य' का एक भी मुख्य विस्तार उपर्युक्त को छोड़कर ऐसा नहीं है जो 'रासो' के समस्त पाठों में न पाया जाता हो, और अन्तरवाले उपर्युक्त विस्तार 'रासो' के किसी भी पाठ में नहीं मिलते हैं।

(३) ऐसे कोई भी प्रसंग या विस्तार 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में नहीं हैं जो 'रासो' के लघुतम पाठ में न मिलते हों और उसके अन्य किसी पाठ में मिलते हों।

अंतिम विशेषता के उदाहरण में निम्नलिखित प्रसंगों और विस्तारों को लिया जा सकता है, जो कि लघुतम पाठ को छोड़कर 'रासो' के समस्त पाठों में पाए जाते हैं—

(१) गुर्जराधिपति भीम चौलुक्य और पृथ्वीराज का युद्ध।

(२) उसी के साथ-साथ हुआ पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध।

(३) शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज के अंतिम युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज के एक सामंत धीर पुंडीर और शहाबुद्दीन का युद्ध।

(४) शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज के अंतिम युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से चित्तौड़ के रावल समरसी का सम्मिलित होना।

(५) उसी युद्ध में पृथ्वीराज के एक सामंत जंबूपति हाहुलीराय हम्मीर का शहाबुद्दीन से जा मिलना।

(६) हाहुलीराय हम्मीर के पास जाकर उसे पृथ्वीराज के पक्ष में लाने के लिए चंद का प्रयत्न करना।

ये प्रायः ऐसे प्रसंग या विस्तार हैं जो यदि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' के लेखक के सामने होते तो उसके द्वारा सबके सब कदाचित् छोड़े न गए होते।

अतः यह स्पष्ट है कि उसकी उपर्युक्त कथा का आधार 'रासो' का लघुतम या उससे मिलता जुलता ही कोई पाठ हो सकता है।

अब विचारणीय यह है कि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' के उपर्युक्त विवरण का आधार-भूत 'रासो' का पाठ उसके प्राप्त लघुतम पाठ से भी किन्हीं बातों में तो लघुतर नहीं था।

'सुर्जनचरित महाकाव्य' की उपर्युक्त कथा का 'रासो' के प्राप्त लघुतम पाठ से तुलना करने पर निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य ज्ञात होती हैं—

(१) 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में कथा जयचंद-पुत्री कांतिमती के प्रेम-प्रसंग से प्रारम्भ होती है, पृथ्वीराज का कोई वृत्त इसके पूर्व नहीं आता है।

(२) उसमें पृथ्वीराज के पूर्व-पुरुषों की जो नामावली आती है वह उस नामावली से बहुत भिन्न है जो 'रासो' के लघुतम पाठ तक उसके समस्त पाठों में मिलती है।

(३) अनंगपाल तोवँर द्वारा पृथ्वीराज को दिल्ली प्राप्त होने की जो बात 'रासो' के

प्राप्त लघुतम पाठ तक उसके समस्त पाठों में आती है, वह भी 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में नहीं आती है।

(४) पृथ्वीराज के प्रधान अमात्य कयमास अथवा उसके वध का कोई उल्लेख 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में नहीं है, जो कि 'रासो' के प्राप्त लघुतम पाठ तक उसके समस्त पाठों में पाया जाता है।

(५) 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में वे तिथियाँ भी नहीं आती हैं जो 'रासो' के प्राप्त लघुतम पाठ तक उसके समस्त पाठों में पाई जाती हैं।

असम्भव नहीं है कि इनमें से कुछ प्रसंग या विस्तार संक्षेप-क्रिया के कारण 'सुर्जनचरित महाकाव्य' में छोड़ दिए गए हों, किन्तु यह भी असम्भव नहीं है कि उसकी कथा के आधारभूत 'रासो' के पाठ में उपर्युक्त में से कुछ न भी रहे हों। यह बात ठीक इसी प्रकार 'सुर्जनचरित महाकाव्य' की समकालीन रचना 'आईन-ए-अकबरी' में भी दिखाई पड़ती है।[१] इसलिए यह विषय गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना उपयोगी होगा कि 'सुर्जनचरित महाकाव्य' की रचना सं० १६४९ के लगभग हुई थी, और 'रासो' के प्राप्त सभी पाठों की प्रतियाँ उसके बाद की हैं: लघुतम की प्राचीनतम प्राप्त प्रति जो धारणोज (गुजरात) की है, सं० १६६४ की है, लघु की प्राचीनतम प्राप्त प्रति जो बीकानेर की है, जहाँगीर के समकालीन किसी भागचंद के लिए लिखी गई थी, मध्यम की प्राचीनतम प्राप्त प्रति रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन की है और सं० १६९२ की लिखी है, वृहत् की प्राचीनतम प्राप्त प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की है और सं० १७४७ की है।

---

१. देखिए 'उत्तर भारती' में प्रकाशनीय प्रस्तुत लेखक का 'आईन-ए-अकबरी और पृथ्वीराज रासो' शीर्षक लेख।

'सूरसागर' का संशोधन और संपादन

प्रभूदयाल मीतल, मथुरा

महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास हिंदी-साहित्याकाश के माने हुए सूर्य-चन्द्र हैं। उनके उज्ज्वल प्रकाश से हिन्दी काव्य-जगत् जगमगा रहा है। हर्ष की बात है कि गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के अनेक सुसंपादित और सटीक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं; किन्तु खेद है कि महात्मा सूरदास की रचनाओं के सटीक तो क्या, सुसंपादित संस्करण भी अभी तक नहीं निकले। हिन्दी साहित्य में सूरदास का जो गौरवपूर्ण स्थान है, उसे देखकर यह स्थिति निस्संदेह शोचनीय है।

सच बात तो यह है कि हमने अभी तक सूरदास के महान् काव्य का वास्तविक रूप में मूल्यांकन ही नहीं किया। उन्होंने भक्ति-भारती को जो महत्त्वपूर्ण देन दी है, उसके कारण हिन्दी ही नहीं वरन् भारत की समस्त भाषाओं के कवियों में उनका प्रमुख स्थान बन गया है। इस प्रकार सूर-काव्य का सुसंपादन एक राष्ट्रीय कार्य समझना चाहिए। किसी भी राष्ट्र के पुनर्निर्माण में साहित्यिक, सांस्कृतिक और कला-सम्बन्धी नवीन जागरण का विशेष महत्त्व होता है। इसलिए 'सूरसागर' के सम्पादन का आयोजन राष्ट्र-निर्माण की महत्त्वपूर्ण योजनाओं का ही एक अंग मानना होगा।

सूरदास के नाम से तीन रचनाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम 'सारावली,' 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' हैं। इनमें 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' को अब कुछ विद्वान् सूरदास की प्रामाणिक रचनाएँ मानने में संदेह करते हैं। 'सूरसागर' को सभी विद्वान् निश्चित रूप से सूरदास की रचना मानते हैं। वैसे भी उनकी प्रमुख रचना 'सूरसागर' ही है, जिस पर उनका समस्त काव्य-महत्त्व आधारित है। इधर २०-२५ वर्षों में सूर-साहित्य का जो अनुसंधान और अध्ययन हुआ है, उसके आधार पर अब अंतिम रूप से यह निश्चय हो जाना आवश्यक है कि 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' सूरदास की रचनाएँ हैं या नहीं। यदि वे नहीं हैं, तब उनके रचयिता कौन से सूरदास हैं?

'सूरसागर' के नाम से अब तक अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से अधिकतर सूरदास-कृत पदों के छोटे-बड़े संकलन ही हैं। इनको 'सूरसागर' की अपेक्षा 'सूर-पदावली' कहना उचित होगा। 'सूरसागर' के रूप में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई और नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के प्रकाशन विशेष प्रसिद्ध हैं; किन्तु इनको भी 'सूरसागर' कहना उचित है या नहीं, यह विचारणीय है।

इस सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि 'सूरसागर' की रचना किस प्रकार हुई। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से विदित होता है कि वल्लभाचार्य जी की

शरण में आने से पूर्व सूरदास विनय सम्बन्धी पदों की रचना किया करते थे। वल्लभाचार्य जी ने उनको 'भागवत्' दशम स्कंध की स्वरचित 'अनुक्रमणिका' और 'सुबोधिनी' का ज्ञान कराया। इससे सूरदास को लीला वर्णन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने सर्वप्रथम श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव और उनकी बाल-लीला के पदों की रचना की। ऐसे पदों में 'ब्रज भयौ महरि कैं पूत' और 'सोभित कर नवनीत लिएँ' विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके उपरांत आचार्य जी ने सूरदास को स्वरचित 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' की शिक्षा दी। इससे सूरदास को समस्त 'भागवत' के सार का ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके फलस्वरूप उन्होंने 'भागवत के अनुसार' पदों की रचना की।

जब सूरदास को श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा दी गई, तब उन्होंने पुष्टि सम्प्रदायी सेवा-विधि के अनुसार प्रातःकाल से शयन-पर्यंत नित्योत्सवों और विविध वर्षोत्सवों के बहु-संख्यक पदों की रचना की। इस प्रकार स्थूल रूप से सूरदास के पदों के निम्नलिखित तीन विभाग हुए—

१—पुष्टि सम्प्रदाय में आने से पूर्व के	विनय सम्बन्धी पद।
२—पुष्टि सम्प्रदाय में आने के पश्चात् के	भागवतानुसार पद।
३—पुष्टि सम्प्रदाय में आने के पश्चात् के	कीर्तन सम्बन्धी पद।

वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा का आरम्भिक आयोजन किया था। उसका व्यवस्थित और विस्तृत रूप गोसाईं विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ। कृष्णदास अधिकारी के सहयोग से विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की सेवा-विधि का विशेष विस्तार किया था। इसके अनुसार नित्योत्सवों और वर्षोत्सवों में नवीनता और विशेषता आई। उसी समय रथ-यात्रा आदि अनेक नए वार्षिक उत्सव भी प्रचलित हुए। पुष्टि सम्प्रदायी सेवा में प्रत्येक उत्सव का एक आवश्यक अंग '*राग*' होता है। सूरदास का मुख्य कर्त्तव्य श्रीनाथ जी का कीर्तन करना था, अतः उन्होंने विभिन्न राग-रागनियों में नित्योत्सवों और वर्षोत्सवों के अगणित कीर्तन-पदों की रचना की। इन उत्सवों की अनेक लीलाओं का संबन्ध भागवत् से है, और शयन के अनंतर दीनता-आश्रय के रूप में विनय-सम्बन्धी पद गाए ही जाते हैं, इसलिए भागवतानुसार रचे हुए पद और विनय सम्बन्धी पद भी कीर्त्तन के अंग बन गए। इस प्रकार आरंभ में सूरदास के पदों की जो तीन धाराएँ पृथक् रूप में प्रवाहित हुई थीं, वे श्रीनाथ जी की विस्तृत सेवा-विधि के तीर्थराज में एकाकार हो गईं।

श्री वल्लभाचार्य जी कृत दशमस्कंध की 'अनुक्रमणिका', 'सुबोधिनी' और 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के मर्म को भलीभाँति समझ लेने पर सूरदास के हृदय में भगवल्लीलाओं का विशाल सागर उमड़ पड़ा, जिसकी अनंत लहरों के रूप में सूरदास के लीला-सम्बन्धी असंख्य पद निर्मित हुए। इससे प्रसन्न होकर वल्लभाचार्य जी ने उनको 'सागर' उपाधि प्रदान की, जिससे वे '*सूर सागर*' कहलाने लगे। कालांतर में उनकी रचनाओं का संकलन भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह 'सूरसागर' के नामकरण की कथा है। इसका स्वरूप क्या था, इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि सूरदास ग्रंथकार नहीं, कीर्तनकार थे। वे लीला-गान के कवि और अपनी रचनाओं के स्वयं गायक थे। नेत्रहीन होने के कारण उनको

अपने गाए हुए पदों को स्वयं लिखने की सुविधा नहीं थी। यह कार्य उनके सहकारी गायकों एवं वल्लभ संप्रदायी भक्तों ने किया था। वे उनके पदों को कंठस्थ कर लेते थे, फिर सुविधानुसार उनको लिख लेते थे। जब वल्लभ संप्रदाय के विस्तार के साथ उसकी सेवा-विधि का व्यापक प्रचार हुआ, तब उसके एक आवश्यक अंग '*राग*' की पूर्ति के लिए सूरदास के पदों की माँग होने लगी। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के समय तक इस संप्रदाय के देव-विग्रह व्रज में ही थे, किन्तु उनके बाद वे विभिन्न स्थानों में ले जाए गए। वहाँ पर उनकी सेवा के लिए सूरदास आदि भक्त-कवियों के कीर्तन-पदों की आवश्यकता होने लगी। इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों और उसके अनुयायियों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए सूरदास के पदों की अनेक लिपिबद्ध प्रतियाँ तैयार की गईं। इन प्रतियों में उनके पद दो क्रमों में संकलित किए गए थे। पहला क्रम उत्सव-संबंधी था, जिसके अनुसार नित्य एवं वर्ष के समस्त उत्सवों के पदों का संकलन किया गया था। दूसरा क्रम कथा-संबंधी था, जिसके अनुसार 'भागवत' में वर्णित कथाओं, विशेषकर दशमस्कंध की कृष्णावतार विषयक कथाओं के पदों का संग्रह किया गया था। प्रथम प्रकार की प्रतियाँ वल्लभ संप्रदायी मंदिरों और देवालयों में कीर्त्तन के लिए तथा द्वितीय प्रकार की प्रतियाँ उक्त संप्रदाय के भक्तों में कथा-वार्ता के उपयोग में आती थीं। चूँकि सूरदास की रचनाओं के बृहत संकलन उनके उपाधि सहित नाम के कारण 'सूरसागर' कहलाने लगे थे, अतः उनके दोनों प्रकार के पदों के संग्रह की प्रतियाँ स्वरूप में भिन्न होते हुए भी 'सूरसागर' नाम से ही प्रसिद्ध हुईं। यह 'सूरसागर' के स्वरूप का स्पष्टीकरण है। इसे समझे बिना उसके संपादन की समस्या हल नहीं हो सकती।

'सूरसागर' के संपादन की प्रामाणिकता के लिए सबसे महत्त्व की बात यह निश्चय करना है कि 'सूरसागर' का सूर-सम्मत रूप क्या है। इसका निश्चय सूरदास की रचनाओं की प्राचीनतम प्रतियों के अवलोकन और अध्ययन से ही हो सकता है। ये प्रतियाँ दो रूपों में मिलती हैं। एक रूप नित्योत्सव एवं वर्षोत्सव संबंधी पदों का है तथा दूसरा 'भागवत' के अनुसार रचे हुए पदों का है। श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी ने 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियों के अनुसंधान करने में पर्याप्त परिश्रम किया है। उन्होंने 'पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ' में एक लेख लिख कर 'सूरसागर' की अनेक उपलब्ध प्रतियों का परिचय दिया है। उन्होंने 'सूरसागर' की दोनों प्रकार की प्रतियों के नाम क्रमशः '*संग्रहात्मक*' और '*स्कंधात्मक*' लिखे हैं। हमारे विचार से ये नाम सार्थक नहीं हैं। यह निश्चित है कि दोनों में से किसी भी क्रम को वह रूप स्वयं सूरदास ने प्रदान नहीं किया था। वल्लभ संप्रदायी भक्तों ने अपनी-अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार उनके पदों को दो रूपों में संग्रहीत कर लिया था, अतः किसी एक क्रम को संग्रहात्मक नहीं कहा जा सकता है—संग्रहात्मक तो दोनों क्रमों की पोथियाँ हैं। इसी प्रकार दूसरे क्रम को स्कंधात्मक इसलिए कहना उचित नहीं है कि उसमें 'भागवत' के द्वादश स्कंधों का अनुसरण ठीक तरह से नहीं हो पाया है। इस क्रम की पोथियों में अधिकांश पद केवल दशमस्कंध के हैं, अन्य स्कंधों के तो नाममात्र को है। हमारे मतानुसार 'सूरसागर' की दोनों प्रकार की पोथियों के क्रमों को '*उत्सव-क्रम*' और '*कथा-क्रम*' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

अब तक की खोज में दोनों ही क्रमों की पर्याप्त हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। इनमें अनेक प्रतियों पर लिपि-काल का भी उल्लेख है। बहुत सी प्रतियों पर लिपि-काल

नहीं दिया गया है, किन्तु ये भी काफ़ी पुरानी मालूम होती हैं। यहाँ पर कुछ ऐसी प्रतियों की तालिका दी जाती है, जिन पर लिपि-काल का उल्लेख हुआ है—

उत्सव-क्रम की प्रतियाँ	कथा-क्रम की प्रतियाँ
१. जयपुर की प्रति सं० १६३० में लिपिबद्ध।	१. काशी की प्रति, सं० १७५३ में लिपिबद्ध।
२. मथुरा की प्रति, सं० १६४४ में लिपिबद्ध।	२. पेरिस की प्रति, सं० १७६९ में लिपिबद्ध।
३. नाथद्वारा की प्रति, सं० १६५८ में लिपिबद्ध।	३. लंदन की प्रति, सं० १६८० में लिपिबद्ध।
४. कोटा की प्रति, सं० १६७० में लिपिबद्ध।	४. लखनऊ की प्रति, सं० १८६६ में लिपिबद्ध।
५. कुचामन की प्रति, सं० १६७५ में लिपिबद्ध।	५. महावन (मथुरा), सं० १८६८ में लिपिबद्ध।
६. झालरापाटन की, सं० १६७८ में लिपिबद्ध।	६. केसवाँ (अलीगढ़), सं० १८७६ में लिपिबद्ध।
७. बूँदी की प्रति, सं० १६८१ में लिपिबद्ध।	७. कलकत्ता की प्रति, सं० १८९६ में लिपिबद्ध।
८. बीकानेर की प्रति, १६८१ में लिपिबद्ध।	
९. शेरगढ़, मथुरा की प्रति, सं० १६८२ में लिपिबद्ध।	
१०. मथुरा की प्रति, सं० १६८८ में लिपिबद्ध।	
११. बीकानेर की प्रति, सं० १६९५ में लिपिबद्ध।	
१२. उदयपुर की प्रति, सं० १६९७ में लिपिबद्ध।	
१३. बीकानेर की प्रति, सं० १६९८ में लिपिबद्ध।	

दोनों प्रकार की प्रतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उत्सव-क्रम की प्रतियाँ प्राचीनता, प्रामाणिकता और प्रचुरता की दृष्टि से कथा-क्रम की प्रतियों की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उत्सव-क्रम की प्राचीनतम प्रति सं० १६३० में लिखी हुई जयपुर के पोथीखाने में है। इसके लिपि-काल से ज्ञात होता है कि वह सूरदास के समय में ही लिपिबद्ध की गई थी। इसके अतिरिक्त १७ वीं शती के मध्यकाल से अब तक की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जो ब्रज, राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र आदि राज्यों के देवालयों, संग्रहालयों और कीर्त्तन-प्रेमी प्राचीन घरानों में सुरक्षित हैं। कथा-क्रम के 'सूरसागर' की प्राचीनतम प्रति सं० १७५३ की लिखी हुई उपलब्ध हुई है, जो उत्सव-क्रम की प्रति से १२३ वर्ष बाद की है। इस क्रम की हस्तलिखित प्रतियाँ उत्सव-क्रम की प्रतियों की अपेक्षा कम संख्या में मिलती हैं। जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकतर पूर्वांय भाग में प्राप्त हुई हैं; जहाँ पर वल्लभ संप्रदाय के प्राचीन स्थल कम हैं। इन प्रतियों में प्रक्षिप्त पद अधिक हैं। इनमें 'भागवत' का क्रम मिलाने के लिए स्थान-स्थान पर ऐसी रचनाएँ मिली हुई हैं, जो सूरदास की नहीं कही जा सकती हैं। इसलिए प्राचीनता, पाठ-शुद्धि और संख्या-बाहुल्य सभी दृष्टियों से उत्सव-क्रम की प्रतियों का महत्त्व कथा-क्रम की प्रतियों से अधिक सिद्ध होता है।

वल्लभ संप्रदाय का प्रसार पहिले पश्चिम, फिर दक्षिण-पश्चिम और बाद में उत्तर एवं पूर्व की ओर हुआ था। पश्चिम एवं दक्षिण-पश्चिम की दिशाओं में इस संप्रदाय का विशेष प्रचार रहा है। इसके प्रधान देवालय भी वहाँ पर ही हैं। इसलिए उत्सव-क्रम के 'सूरसागर' की प्रतियाँ अधिकतर पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में मिलती हैं, जो काल-क्रम के

अनुसार प्राचीन और संख्या में अत्यधिक हैं। उत्तर और पूर्व में इस संप्रदाय का अपेक्षाकृत कम प्रचार रहा है। वहाँ पर देवालयों की संख्या भी अधिक नहीं है, अतः भक्तगण ठाकुर जी की सेवा-पूजा और दर्शन-झाँकी की अपेक्षा कथा-वार्ता द्वारा अपनी भक्ति-भावना की पूर्त्ति करते हैं। इसलिए वहाँ पर कथा-क्रम की प्रतियाँ मिलती हैं, जो न तो काल-क्रम के अनुसार प्राचीन हैं और न संख्या में अधिक। वल्लभ संप्रदाय में विविध उत्सवों और उनमें गाए जानेवाले पदों की एक सुनिश्चित व्यवस्था है, अतः उत्सव-क्रम की पोथियों में प्रक्षिप्त पद अधिक नहीं मिलते हैं। इसके विरुद्ध कथा-क्रम की पोथियों में कथा के निर्वाह और विस्तार के लिए प्रक्षिप्त पद पर्याप्त संख्या में सम्मिलित किए गए हैं।

उत्सव-क्रम के 'सूरसागर' का आरंभ कृष्ण-जन्मोत्सव की बधाई के पदों से होता है। फिर इसमें श्रीकृष्ण की विविध बाल-क्रीड़ाएँ, माखनचोरी, गोचारण, गोवर्धन-धारण, गोपी-प्रेम, पनघट, अनुराग, दान, मान, मुरली, रास, राधा-कृष्ण-विहार, मथुरा-गमन, उद्धव संदेश, गोपी-विरह, आदि के पद होते हैं। इनके बाद राम, नृसिंह, वामन की जयंतियों के पद और अंत में विनय संबंधी दीनता-आश्रय के पद दिए जाते हैं।

कथा-क्रम के 'सूरसागर' में भागवत के द्वादश स्कंधों संबंधी पदों का संकलन होता है। इसमें अधिकांश पद दशमस्कंध के और कुछ थोड़े से पद अन्य स्कंधों के होते हैं।

सूरदास की रचनाओं के संपादन और प्रकाशन का सिलसिला पिछले ११७ वर्षों से चल रहा है। उनकी रचनाएँ सर्वप्रथम 'रागकल्पद्रुम' की एक जिल्द में सं० १८९८ में कलकत्ता से प्रकाशित हुई थीं। 'रागकल्पद्रुम' की यह जिल्द ही बाद में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा 'सूरसागर-रागकल्पद्रुम' के नाम से प्रकाशित हुई। इससे पूर्व आगरा, मथुरा, दिल्ली से लीथों में छपी हुई 'सूरसागर' के नाम से कई और पोथियाँ भी प्रकाशित हुई थीं, किंतु वे योग्य विद्वानों द्वारा संपादित न होने से पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकीं। ये सभी प्रतियाँ उत्सव-क्रम की हैं। इससे ज्ञात होता है कि हस्त-लिखित प्रतियों की तरह प्राचीनतम मुद्रित प्रतियाँ भी उत्सव-क्रम की ही हैं।

कथा-क्रम के 'सूरसागर' की जो प्रतियाँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई और नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के संस्करण विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका 'रत्नाकर' जी और बाबू राधाकृष्णदास जी जैसे योग्य विद्वानों ने सम्पादन किया था। यद्यपि इनसे 'सूरसागर' के अभाव की किंचित् पूर्ति हुई है, पर इनकी अनेक त्रुटियों के कारण इनको वास्तविक 'सूरसागर' के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ के 'सूरसागर' का प्रथम संस्करण सं० १९२० में लीथों में छपा था। इसका दूसरा संस्करण सं १९३१ में टाइप में छापा गया। इसके बाद अब तक इसके कई संस्करण हो चुके हैं। यह उत्सव-क्रम का है, किन्तु योग्य व्यक्तियों द्वारा संपादित न होने से इसमें संपादन संबंधी बड़ा भारी दोष है। इसमें अन्य कवियों की रचनाओं का भी समावेश है। इसके अतिरिक्त इसमें संकलित लीला विषयक पद असम्बद्ध हैं। वास्तव में यह ग्रंथ 'सूरसागर' के रूप में प्रकाशित ही नहीं किया गया। 'रागकल्पद्रुम' में सबसे पहिले सूरदास के जिन पदों का प्रकाशन हुआ था, वे ही इसमें क्रम और प्रसंग का ध्यान रखे बिना छाप दिए गए हैं। इसलिए 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता की पूर्त्ति इसके द्वारा होने का प्रश्न ही नहीं है।

वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई के 'सूरसागर' का प्रथम संस्करण अब से ६२ वर्ष पूर्व सं० १६५३ में प्रकाशित हुआ था। इसके संपादन में बाबू राधाकृष्णदास जी ने 'सूरसागर' की किन-किन प्रतियों का उपयोग किया था, यह ज्ञात नहीं होता है। इसके अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि इसकी आधार प्रतियाँ अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक नहीं थीं। प्रथम संस्करण के प्रकाशित होते ही बाबू राधाकृष्णदास जी को इसकी अनेक त्रुटियों का अनुभव हुआ। उन्होंने इसकी सूचना प्रेसाध्यक्ष को दी, जिन्होंने कुछ त्रुटियों का सुधार भी किया, किन्तु इसका मूल ढाँचा अपनी त्रुटियों और कमियों के सहित वही रहा, जो बाबू राधाकृष्णदास जी ने अब से ६२ वर्ष पूर्व निश्चित किया था। इसमें कितने ही पदों का पाठ अशुद्ध है और उनके क्रम में भी गड़बड़ी है। सूरदास जी के जीवन-वृत्तांत के रूप में इसकी विस्तृत भूमिका की अनेक बातें नवीन अनुसंधानों से अप्रामाणिक और भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। मुखपृष्ठ पर इसका निम्न प्रकार से परिचय छपा हुआ है, जो भ्रमात्मक है—

"सूरदास रचित श्रीमद्भागवत बारहों स्कंधों का ललित राग-रागनियों में अनुवाद।"

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी का 'सूरसागर' हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री जगन्नाथ-दास जी 'रत्नाकर' के अदम्य उत्साह और प्रचुर परिश्रम का परिणाम है। उन्होंने 'सूरसागर' की अनेक प्रतियों का संकलन कर पाठांतर के साथ इसके संपादन और प्रकाशन की व्यवस्था सं० १६६० में की थी। इसके ८ खंड प्रकाशित भी हुए, किन्तु उनके असामयिक निधन से यह कार्य स्थगित हो गया। फिर वर्षों बाद सभा ने श्री नंददुलारे जी वाजपेयी द्वारा संपादित करा कर इसके छोटे संस्करण का प्रथम खंड सं० २००५ में और द्वितीय खंड सं० २००७ में प्रकाशित किया। इसमें न तो पाठांतर हैं और न भूमिका आदि। फिर भी सूरसागर की मुद्रित प्रतियों में यह संस्करण सर्वोत्तम है।

बम्बई और काशी से प्रकाशित दोनों संस्करणों में 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार द्वादश स्कंध हैं। चूँकि ये संस्करण अधिक प्रसिद्ध रहे हैं, अतः लोगों ने समझ लिया है कि 'सूरसागर' की रचना 'भागवत' के अनुवाद रूप में हुई थी। इस धारणा के साथ जब वे 'भागवत' और 'सूरसागर' के स्कंधों की आकार सम्बन्धी विषमता और कथाओं के व्यतिक्रम पर ध्यान देते हैं, तब उनको बड़ी निराशा होती है। इसके साथ ही 'सूरसागर' के इन संस्करणों में कई स्थलों पर जो शिथिल और नीरस रचनाएँ मिलती हैं, उनसे उनको सूरदास के काव्य-महत्त्व पर शंका होने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि ये दोनों ही प्रकाशन 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता-पूर्त्ति नहीं कर पाते हैं।

वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण की बात तो जाने दीजिए, किन्तु नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत संस्करण की कमियाँ खलनेवाली हैं। इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि इसके सम्पादन में प्राचीनतम प्रामाणिक प्रतियों का उपयोग नहीं किया गया। इसके कारण इसका क्रम, पाठ और इसकी लिपि-प्रणाली सूर-सम्मत नहीं है। इसमें अन्य कवियों के अनेक पद सूरदास के नाम से छप गए हैं और सूरदास के सैकड़ों पद इसमें सम्मिलित होने से रह गए हैं।

प्रामाणिक प्रतियों का उपयोग किए बिना किसी भी कवि की रचना के सम्पादन में भूलों के रह जाने की सम्भावना रहती ही है। इस प्रकार की सम्भावना सूरदास की रचनाओं

में सबसे अधिक है। उनकी रचनाएँ पिछले चार सौ वर्षों से समस्त उत्तर भारत के गायकों को रुचिकर रही हैं। उन्होंने भ्रमवश अथवा जानबूझ कर अन्य कवियों के अनेक पदों को भी सूरदास की नाम-छाप से प्रचलित कर दिया है। सूरदास के कतिपय पद भी इसी प्रकार अन्य कवियों के नाम से चल रहे हैं। इस धाँधलेबाजी को दूर करना साधारण बात नहीं है। इसके लिए सूरदास तथा अन्य कवियों की रचनाओं का गहन अध्ययन करना आवश्यक होगा। यह कार्य कई मान्य विद्वानों की सम्मिलित चेष्टा से ही भली प्रकार हो सकता है।

सबसे पहिले हम उन पदों पर विचार करते हैं जो अन्य कवियों के रचे हुए हैं, किंतु भ्रमवश इन्हें सूरदास-कृत मानकर 'सूरसागर' में सम्मिलित कर लिया गया है। कांकरौली विद्या-विभाग के संचालक श्री कंठमणि जी शास्त्री ने 'सूरसागर' के पदों का अनुशीलन करते हुए इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।[१] उनके मतानुसार इसके मूल पाठ में ३४४ और परिशिष्टों में ६ पद निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं। शास्त्रीजी के इस कथन पर अन्य विद्वानों को विचार करना चाहिए।

सूरदास के समकालीन सूरदास मदनमोहन नामक एक अन्य भक्त कवि हुए हैं। उनकी नाम-छाप के साथ ही साथ उनकी रचनाएँ भी सूरदास की रचनाओं से मिलती हुई हैं। इसलिए भ्रमवश अथवा जानबूझकर जहाँ सूरदास के पद-संग्रहों में सूरदास मदनमोहन की रचनाएँ मिल गई हैं, वहाँ सूरदास मदनमोहन की रचनाओं के संकलन में सूरदास के पद भी मिलते हैं। हमने सूरदास मदनमोहन के पदों का संकलन किया है।[२] उससे ज्ञात होता है कि सूरदास मदनमोहन के निम्नलिखित पद सभा के 'सूरसागर' में सूरदास की नाम-छाप से मुद्रित हुए हैं। सूर-पदावली की प्राचीन प्रतियों से मिलान करने पर सम्भव है, इनमें से दो-एक पद सूरदास के ही सिद्ध हों, किन्तु अधिक पद सूरदास मदनमोहन के जान पड़ते हैं। ऐसे पद १८ हैं, जिनमें से १७ 'सूरसागर' में और १ परिशिष्ट में हैं। इनकी आरम्भिक पंक्तियाँ और पद-संख्याएँ इस प्रकार है—

क्रम संख्या—	पदों की प्रथम पंक्ति	सूरसागर की पद संख्या
१	अरुभयौ कुंडल लट बेसरि सों...............	१७६७
२	आधौ मुख नीलाम्बर सौं ढाँकै...............	२८०६
३	गुरुजन मैं दूरि बैठी स्यामा (परिशिष्ट २)......	२६१
४	चटकीलौ पट लपटानौ कटि...............	२०१६
५	ठाढ़ी कुँवरि राधिका, अँखियाँ मूँदी है.........	१२६३
६	नंदनंदन सुघर राय मोहन बंसी बजाय.........	१७६६
७	पाछे ललिता, ता आगे स्याम.................	३२३४
८	पिय सौं खेलति तोहि अधिक श्रम भयौ........	१७७०
९	[illegible] बार सु एकिनि परसत...............	३२३५
१०	बरन-बरन बादर मनहरन उदै करन..........	२७६५
११	ब्रज की पौरि ठाढ़ौ साँवरो.................	२५३६

१२.	बाँहि जोरि निकसे कुंज तैं प्रात................	२७६६
१३.	मया करिए कृपाल प्रतिपाल..................	८७०
१४.	मोरन के चँदवा माथे धरें राजत...............	१८२२
१५.	मोहनलाल के संग ललना यों सोहै..........	१७६८
१६.	लाल अनमने कतहिं होत हौ.................	३३७८
१७.	सखियन संग राधिका कुँवरि बीनति..........	३२३८
१८.	सीतल छहियाँ स्याम ठाढ़े हैं जान भोजन की बिरियाँ...	१०८८

अष्टछाप के कवियों में परमानंददास के पद शैली और भावना दोनों दृष्टियों से सूरदास के पदों से बहुत मिलते हुए हैं। उनके पदों की संख्या भी बहुत है, अर्थात् अष्टछाप के कवियों में सूरदास के अतिरिक्त सबसे अधिक। सूरदास की तरह 'परमानंददास भी 'सागर' कहलाते थे। उनकी रचना का संग्रह 'परमानंदसागर' के नाम से विख्यात है। इन कारणों से इन दोनों की रचनाओं में एक-दूसरे के पद पर्याप्त संख्या में मिल गए हैं।

कांकरौली विद्या विभाग में परमानन्ददास के पदों की कई प्राचीन प्रतियाँ हैं। उनके आधार पर वहाँ 'परमानन्दसागर' का सम्पादन किया गया है। 'परमानन्दसागर' के संपादन के समय ज्ञात हुआ कि उनके अनेक पद सभा के 'सूरसागर' में सूर के नाम से छप गए हैं। ऐसे पद दशम् स्कंध में ८८ हैं। इनमें ६८ पद निश्चित रूप से परमानन्ददास के हैं। २० पदों के विषय में संदेह है कि वे सूरदास कृत हैं अथवा परमानन्ददास कृत। अन्य स्कंधों में भी कुछ ऐसे ही पद मिलते हैं। इन पदों की तालिका विस्तार भय से नहीं दी गई है।

निम्नलिखित पद कुंभनदास के हैं, जो सभा के 'सूरसागर' में सूरदास के नाम से छापे गए हैं—

क्रम-संख्या	प्रथम पंक्ति	'सूरसागर' की पद-संख्या	कुंभनदास पद-संग्रह की संख्या
१.	जानि जु पाए हौ हरि नीके		१२६
२.	तुम्हारे पूजिए पिय पाँइ		३२६
३.	नैन धन घटत न एक घरी		३४५

'सूरसागर' के परिशिष्टों में दिए हुए संदिग्ध पदों में कम से कम ४ पद कुंभनदास के और हैं। हित हरिवंश जी के ८४ पद 'हित चतुरासी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसके निम्नलिखित ३ पद 'सूरसागर' में और १ पद उसके परिशिष्ट में हैं—

क्रम संख्या	प्रथम पंक्ति	सूरसागर की पद-संख्या
१.	चलौ किन मानिनि कुंज कुटीर	३०७०
२.	नन्द के लाल हर्यो मन मोर	२४८६
३.	नागरता की रासि किसोरी	१८१६
४.	दोऊ जन भीजत अटके बातनि (परि०)	११३

भक्त कवि हरिराम जी व्यास के भी निम्नलिखित दो पद 'सूरसागर' में मुद्रित हो गए

हैं, जिनके कारण सूरदास की सांप्रदायिक भावना के संबंध में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया है—

१.	ऐसैं बसिऐ ब्रज की बीथिन	११०८
२	सरद सुहाई आई रात	१७६८

दूसरा पद 'रास पंचाध्यायी' का अत्यन्त प्रसिद्ध पद है, जो व्यास जी के प्रामाणिक पदों के संकलन में मिलता है। उक्त पद की भावना सूरदास जी की सांप्रदायिक मान्यता के अनुकूल नहीं है। सूर-साहित्य के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने इसमें उल्लिखित "हरिबंसी हरिदासी जहाँ। प्रभु करुना कर राखौ तहाँ॥" से सूरदास की सांप्रदायिक भावना के सम्बन्ध में ऐसा निष्कर्ष निकाला है, जो उचित नहीं मालूम होता है। यदि उनको यह ज्ञात होता कि उक्त पद सूरदास का है ही नहीं, तो वे इस प्रकार का कथन कदापि नहीं करते।

सभा के 'सूरसागर' में कुछ पद ऐसे हैं, जो गीतावली में भी मिलते हैं। उनके विषय में यह जानने की इच्छा प्रत्येक साहित्य प्रेमी को होगी कि वे पद महात्मा सूरदास के हैं, अथवा गोस्वामी तुलसीदास के। आश्चर्य यह है कि इन दोनों महाकवियों के उक्त ग्रन्थ नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किए हैं और उनका संपादन हिंदी के सर्वमान्य विद्वानों ने किया है। अब से कई वर्ष पूर्व हमने 'सूर-निर्णय' में इस विषय की चर्चा की थी, किंतु उसके बाद भी उनके संशोधन की शायद कोई व्यवस्था नहीं की गई है। निम्नलिखित तीन पदों में बहुत अधिक समानता है, जबकि थोड़ी समानता के भी कई अन्य पद हैं—

क्रम-संख्या	प्रथम पंक्ति	'सूरसागर' पद-संख्या	'गीतावली' पद-संख्या
१.	हरिजू की बाल छबि कहाँ बरनि	७२७	२४
२.	आँगन खेले नंद के नंदा	७३५	२८
३.	छोटी छोटी गोड़िया, अंगुरिया छबीली छोटी	७६६	३०

जहाँ सभा के 'सूरसागर' में अन्य कवियों के पद मिल गए हैं, वहाँ सूरदास के सैकड़ों पद इसमें छपने से भी रह गए हैं। अष्टछाप के कवियों की रचनाओं और वल्लभ संप्रदायी कीर्त्तन की पोथियों में से ऐसे सैकड़ों पद एकत्र किए जा सकते हैं। लल्लूभाई छगनलाल देसाई द्वारा प्रकाशित कीर्तन-संग्रह भाग १, २, ३ के ही सूरसागर कृत १५३ पद सभा के संस्करण में मुद्रित नहीं हुए हैं।

सभा के संस्करण की पद-संख्या विषयक इस गड़बड़ी के अतिरिक्त पदों का पाठ भी पूरी तरह शुद्ध नहीं है। कतिपय पदों का पाठ तो इतना अशुद्ध है कि उसके कारण अर्थ में भी गड़बड़ी हो जाती है। इसमें ब्रजभाषा लिखने की जो प्रणाली अपनाई गई है, वह कहाँ तक वैज्ञानिक और व्याकरण-सम्मत है, यह भी विचारणीय है। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि सभा के संस्करण का स्वरूप सूर-सम्मत न होने से वह 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता-पूर्त्ति नहीं करता है; बल्कि जिस रूप में वह इस समय उपलब्ध है, उसमें भी कई प्रकार की गड़बड़ियाँ हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि सभा के इस संस्करण का शीघ्र संशोधन कराया जाय और 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण के संपादन की यथोचित व्यवस्था की जाय।

'सूरसागर' के सूर-सम्मत रूप के विषय में हमारा मत है कि वह द्वादश स्कंधात्मक

नहीं हो सकता है। उसे वर्षोत्सव, नित्यकीर्तन और भागवत् दशमस्कंध से संबंधित पदों का संग्रह होना चाहिए। सूरदास ने भागवत् के द्वादश स्कंधों का अनुवाद तो किया ही नहीं, बल्कि उन्होंने उनके अनुसार प्रचुर पदों की भी रचना नहीं की। उन्होंने वर्षोत्सव और नित्योत्सव के कीर्तन तथा भागवत् दशमस्कंध में वर्णित श्रीकृष्ण लीला से संबंधित बहु-संख्यक पदों की रचना की थी। इसलिए सूर-सम्मत 'सूरसागर' का प्रारंभ श्रीकृष्ण जन्मोत्सव की बधाई के पदों से होना चाहिए, जैसा कि उत्सव-क्रम की प्रतियों में होता है। फिर उसमें श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के पदों का संकलन भागवत् दशमस्कंध के लीला-क्रम के अनुसार होना चाहिए। नित्योत्सव की आठों झाँकियों में गाए जाने वाले प्रायः समस्त पद और वर्षोत्सव के बहुसंख्यक पद, जो सूरदास ने समय-समय पर रचे थे, श्रीकृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं के विविध प्रसंगों के अंतर्गत आ जावेंगे। वर्षोत्सव के वे पद, जो वस्तुतः अवतारों की जयंतियों में कीर्त्तन के लिए अथवा भगवान् की भक्त-वत्सलता के गायन के लिए रचे गए थे और जिनको भ्रमवश भागवत् के अन्य स्कंधों का अनुवाद समझा जाता है, सूरसागर के विभिन्न परिशिष्टों में रखा जा सकता है।

भागवत् के प्रथम स्कंध में द्रौपदी की तथा चतुर्थ स्कंध में ध्रुव की कथाएँ हैं। उसके सप्तम स्कंध में नृसिंह, अष्टम में वामन और नवम में राम के अवतारों का वर्णन है। इनसे संबंधित सूरदास के बहुसंख्यक पद उपलब्ध हैं, विशेषकर राम-संबंधी पद। इन पदों की रचना सूरदास ने भागवत् के उक्त स्कंधों का अनुवाद करने के लिए नहीं, बल्कि भगवान् की भक्त-वत्सलता के गायन और विविध अवतारों की जयंतियों के कीर्त्तन के लिए की थी। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि वल्लभ संप्रदायी वर्षोत्सव की सेवा-विधि में नृसिंह चौदस, वामन द्वादशी और रामनवमी के उत्सव भी सम्मिलित हैं। उक्त तिथियों को वल्लभ संप्रदायी मंदिरों में क्रमशः प्रहलादलीला, बलिलीला और रामलीला के पदों द्वारा कीर्तन किया जाता है। इसलिए इस प्रकार के समस्त पदों को 'सूरसागर' के परिशिष्टों में रखना उचित होगा।

अब सूरदास के विनय संबंधी पद रह जाते हैं। इस प्रकार के अधिकांश पदों की रचना सूरदास ने वल्लभ संप्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व की थी। इन पदों का न तो उत्सव-क्रम से संबंध है और न भागवत्-क्रम से ; किंतु सूरदास के समस्त पदों को 'सूरसागर' में सम्मिलित करने के विचार से दोनों ही क्रमों की प्रतियों में इनको संकलित करने का आग्रह दिखलाई देता है। सभा के द्वादश स्कंधात्मक सूरसागर में इनका संकलन प्रथम और द्वितीय स्कंधों के अंतर्गत किया गया है, जहाँ वे बिल्कुल असंगत हैं। कीर्तन की प्रतियों के अंत में इस प्रकार के पद संकलित किए जाते हैं, जहाँ उनकी कुछ संगति हो सकती है। कारण यह है कि वल्लभ संप्रदायी मंदिरों में शयन के अनंतर इस प्रकार के पद गाए जाते हैं। हमारे विचार से 'सूरसागर' में विनय-संबंधी पदों के रखने की आवश्यकता नहीं है। उनका पृथक् संकलन होना चाहिए। यदि 'सूरसागर' में उन्हें भी रखने की आवश्यकता समझी जाय, तो वे उनके आरंभ में दिए जा सकते हैं। रचना-काल के विचार से वे उनकी आरंभिक रचनाएँ हैं, अतः उनका आरंभ में ही संकलन करना सार्थक समझा जा सकता है।

हैं, जिनके कारण सूरदास की सांप्रदायिक भावना के संबंध में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया है—

१.	ऐसैं बसिऐ ब्रज की बीथिन	११०८
२	सरद सुहाई आई रात	१७६८

दूसरा पद 'रास पंचाध्यायी' का अत्यन्त प्रसिद्ध पद है, जो व्यास जी के प्रामाणिक पदों के संकलन में मिलता है। उक्त पद की भावना सूरदास जी की सांप्रदायिक मान्यता के अनुकूल नहीं है। सूर-साहित्य के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने इसमें उल्लिखित "हरिवंसी हरिदासी जहाँ। प्रभु करुना कर राखौ तहाँ॥" से सूरदास की सांप्रदायिक भावना के सम्बन्ध में ऐसा निष्कर्ष निकाला है, जो उचित नहीं मालूम होता है। यदि उनको यह ज्ञात होता कि उक्त पद सूरदास का है ही नहीं, तो वे इस प्रकार का कथन कदापि नहीं करते।

सभा के 'सूरसागर' में कुछ पद ऐसे हैं, जो गीतावली में भी मिलते हैं। उनके विषय में यह जानने की इच्छा प्रत्येक साहित्य प्रेमी को होगी कि वे पद महात्मा सूरदास के हैं, अथवा गोस्वामी तुलसीदास के। आश्चर्य यह है कि इन दोनों महाकवियों के उक्त ग्रन्थ नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किए हैं और उनका संपादन हिंदी के सर्वमान्य विद्वानों ने किया है। अब से कई वर्ष पूर्व हमने 'सूर-निर्णय' में इस विषय की चर्चा की थी, किंतु उसके बाद भी उनके संशोधन की शायद कोई व्यवस्था नहीं की गई है। निम्नलिखित तीन पदों में बहुत अधिक समानता है, जबकि थोड़ी समानता के भी कई अन्य पद हैं—

क्रम-संख्या	प्रथम पंक्ति	'सूरसागर' पद-संख्या	'गीतावली' पद-संख्या
१.	हरिजू की बाल छवि कहौं बरनि	७२७	२४
२.	आँगन खेले नंद के नंदा	७३५	२८
३.	छोटी छोटी गोड़िया, अंगुरिया छबीली छोटी	७६६	३०

जहाँ सभा के 'सूरसागर' में अन्य कवियों के पद मिल गए हैं, वहाँ सूरदास के सैकड़ों पद इसमें छपने से भी रह गए हैं। अष्टछाप के कवियों की रचनाओं और वल्लभ संप्रदायी कीर्त्तन की पोथियों में से ऐसे सैकड़ों पद एकत्र किए जा सकते हैं। लल्लूभाई छगनलाल देसाई द्वारा प्रकाशित कीर्तन-संग्रह भाग १, २, ३ के ही सूरसागर कृत १५३ पद सभा के संस्करण में मुद्रित नहीं हुए हैं।

सभा के संस्करण की पद-संख्या विषयक इस गड़बड़ी के अतिरिक्त पदों का पाठ भी पूरी तरह शुद्ध नहीं है। कतिपय पदों का पाठ तो इतना अशुद्ध है कि उसके कारण अर्थ में भी गड़बड़ी हो जाती है। इसमें ब्रजभाषा लिखने की जो प्रणाली अपनाई गई है, वह कहाँ तक वैज्ञानिक और व्याकरण-सम्मत है, यह भी विचारणीय है। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि सभा के संस्करण का स्वरूप सूर-सम्मत न होने से वह 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता-पूर्त्ति नहीं करता है; बल्कि जिस रूप में वह इस समय उपलब्ध है, उसमें भी कई प्रकार की गड़बड़ियाँ हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि सभा के इस संस्करण का शीघ्र संशोधन कराया जाय और 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण के संपादन की यथोचित व्यवस्था की जाय।

'सूरसागर' के सूर-सम्मत रूप के विषय में हमारा मत है कि वह द्वादश स्कंधात्मक

आचार्य कवि गोकुलप्रसाद 'ब्रज'

भोलानाथ एम. ए., डी. फिल्.

सन् १६२६ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित 'सेलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिटरेचर' के सम्पादक लाला सीताराम, बी० ए० ने इनका परिचय देते हुए लिखा था, 'गोकुलप्रसाद, वन आफ़ दि ग्रेटेस्ट हिन्दी पोयट्स इन अपर इंडिया, वाज़ अटैन्ड टु दि कोर्ट आफ़......बलरामपुर'। अस्तु, उस युग में ही ये उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवियों में गिने जाते थे।

गोकुलप्रसाद का जन्म बलरामपुर में अखौरी कुल के दूसरे श्रीवास्तव कायस्थों के एक श्रेष्ठ परिवार में सन् १८१६ ई० अर्थात् संवत् १८७६ वि० में हुआ था। इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार है:—
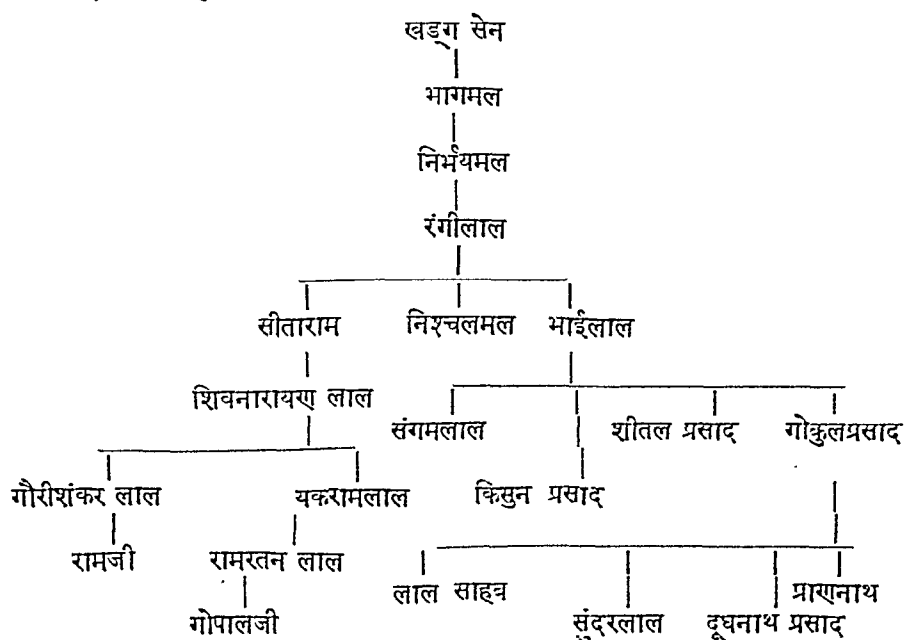
श्री रामरतन लाल जी प्रथम श्रेणी के डिप्टी कलक्टर थे। इन्होंने ही लाला सीताराम को गोकुलप्रसाद का कुछ वृत्तांत दिया था।

गोकुलप्रसाद जी के परबाबा श्री निर्भयमल जी अवध के नवाबों के दरबार में वकील थे और बाद में बहराइच सरकार के चकलेदार हो गए थे। कालांतर में वहाँ से ये लोग

हमारे मतानुसार 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण की यह प्रस्ताविक रूप-रेखा है। इस प्रकार संपादित 'सूरसागर' का स्वरूप बहुत कुछ अंशों में सूर-सम्मत कहा जा सकता है। संपादन का कार्य सूर-साहित्य, व्रजभाषा, व्रज-संस्कृति और वल्लभ संप्रदाय के मर्मज्ञ विद्वानों की एक समिति द्वारा होना चाहिए। यह समिति नागरीप्रचारिणी सभा अथवा व्रज-साहित्य-मंडल जैसी साहित्यिक संस्थाओं द्वारा संगठित की जा सकती है। इसके संपादन-व्यय की व्यवस्था केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को आवश्यक अनुदान द्वारा करना उचित है।

आचार्य कवि गोकुलप्रसाद 'व्रज'

भोलानाथ एम. ए., डी. फिल्.

सन् १९२९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित 'सेलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिटरेचर' के सम्पादक लाला सीताराम, बी० ए० ने इनका परिचय देते हुए लिखा था, 'गोकुलप्रसाद, वन आफ़ दि ग्रेटेस्ट हिन्दी पोयट्स इन अपर इंडिया, वाज़ अटैन्ड टु दि कोर्ट आफ़......बलरामपुर'। अस्तु, उस युग में ही ये उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवियों में गिने जाते थे।

गोकुलप्रसाद का जन्म बलरामपुर में अखौरी कुल के दूसरे श्रीवास्तव कायस्थों के एक श्रेष्ठ परिवार में सन् १८१९ ई० अर्थात् संवत् १८७६ वि० में हुआ था। इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार है:—

श्री रामरतन लाल जी प्रथम श्रेणी के डिप्टी कलक्टर थे। इन्होंने ही लाला सीताराम को गोकुलप्रसाद का कुछ वृत्तांत दिया था।

गोकुलप्रसाद जी के परबाबा श्री निर्भयमल जी अवध के नवाबों के दरबार में वकील थे और बाद में बहराइच सरकार के चकलेदार हो गए थे। कालांतर में वहाँ से ये लोग

इस प्रकार है। महाराज दिग्विजयसिंह से पुरस्कार पाने के लिए एक बार एक कवि महोदय ने उनके सम्मुख निम्नलिखित छंद पढ़े—

छुधा सिंहिनी, उदर गिरि, ग्रसे जीव वृप भेस,
दागहु दान दुनालिका श्री दिग्विजय नरेस ॥
× × × ×
दारिद दराज मृगराज के ललाट बीच,
दागौ दिग्विजयसिंह दानिका दुनाली सों।

यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि महाराज दिग्विजयसिंह शेर के शिकार के बड़े शौकीन थे और अपने जीवनकाल में उन्होंने सैकड़ों शेरों का शिकार किया था। अस्तु, महाराज प्रसन्न हो गए और उन्होंने आज्ञा दी कि कवि जी को एक घोड़ा, एक दुशाला और पाँच सहस्र रुपए दे दिए जायँ। कवि महोदय को ये सभी वस्तुएँ मिल गईं, परन्तु दुर्भाग्य कि घोड़ा जो मिला वह कमरिहा था। मस्त-मगन कवि जी घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे। रास्ते में सुजाँव नदी पड़ी। कुछ दूर नदी में चलने के बाद घोड़ा पानी में बैठ गया। कवि जी बहुत क्षुब्ध हुए। उल्टे पाँव लौट पड़े। भीगे ही वस्त्र पहने ड्योढ़ी पर आए। पुरानी ड्योढ़ी के ठीक सामने सड़क की दूसरी ओर एक बरगद का पेड़ था (जो आज भी है), वहीं घोड़ा बाँध दिया और उच्च स्वर में महाराज को सुनाकर एक सवैया पढ़ा:—

सदा सुन्दर चाल चलै मग मैं कतहूँ पिछड़ै बिगड़ै न अरै।
पर-बाजि बिलोकत ही निकरै अरु पौन के गौन तें बेगि लरै॥
दिग भूपति दिग्विजय सिंह के परसादु, सुकेतिक लोग डरै।
तहाँ अवगुन एक कहा कहिए जल देखै जहीं वहीं लोटि परै॥

अपने सेवकों की असावधानी से महाराज को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने आचार्य की ओर देखा। आचार्य तुरन्त बोल उठे—

कमर कलाई कान कल्ला छबि छोट छाती,
सीना सुम चकले हैं सिगरे बखानी मैं।
बेगि पावै मन आसमान को करै पयान,
सीखे सिक्खताई हरियान गति जानी मैं।
'गोकुल' तुरंग ऐसे कहैं मतिमंद लोग,
जल में प्रवेस, ताहि हेतु अनुमानी मैं।
असुचि सवार को बिसुचि करिबे के हेतु,
यारो, बाजि बैठि गयो पैठि गयो पानी मैं।

इस छंद को सुनने वाले 'यारों' के बीच इस 'असुचि सवार' की स्थिति कितनी दयनीय एवं उपहासास्पद हो गई होगी !!

महाराजा साहब प्रत्येक वर्ष चौमासा मनाते थे जिसमें दूर-दूर से साधु-महात्मा आ-आकर चार महीने तक भजन भाव में लीन होकर निश्चिंतता और सुख से अपने दिन बिताते थे। राजकवि [illegible] की ही संस्तुति पर इसमें [illegible] सम्मिलित किया जाता था।

रामकुमार कवि और एक नानकशाही कवि से काव्य-विवाद-प्रतियोगिता हुई किन्तु वे सब इनसे हार गए। यह विवाद इतना रोचक रहा कि उस समय महाराज के दरबार में जो लोग उपस्थित थे उनको इसकी याद बहुत दिनों तक आनन्द-मग्न करती रही। जगह-जगह के कवि आते थे और हार मानकर चले जाते थे और फिर जहाँ-जहाँ वापस जाते थे, वहाँ-वहाँ गोकुल का यश फैलाते थे। इस प्रकार समस्त उत्तर भारत के हिन्दी-केन्द्रों में गोकुल का नाम आदरपूर्वक लिया जाने लगा।

इस स्थान पर इन प्रतियोगिताओं में से एकाध का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। दरियाबाद से एक कवि महाशय बलरामपुर पधारे। वे संस्कृत में एक संहिता लिख लाए। संभवतः उसका सम्बन्ध 'घटकर्पर संहिता' से था। उन्होंने दावा किया कि यदि इसी छन्द में कोई कविता लिख दे तो मैं उसके घर पर पानी भरने का काम करूँगा। महाराज दिग्विजय सिंह ने कहा कि यह तो बाद में तय होगा मगर अभी मेरी इच्छा है कि राजकवि गोकुल काव्य-सम्बन्धी कोई प्रश्न करें और आप उसका उत्तर दें। हम पहले आपकी योग्यता से परिचित हो लें तब चुनौती स्वीकार की जाय। गोकुल ने यह पंक्ति पढ़ी—

लोचन बचाय लै डबा सों पान खायँ आप,
कैधौं सौंहैं खात न खवाए सौंहैं खाति हैं।

और इसका अर्थ पूछा। कवि महोदय संतोषजनक उत्तर न दे पाए और इज्ज़त बचाने की प्रार्थना की। पानी उतर गया था; पानी भरने की बात कहाँ रह गई!

एक बार एक कवि जी आए और उन्होंने कहा कि मैं एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ जिसमें कविता और वनिता का सादृश्य हो। यदि कोई कवि इसकी भूमिका बता दे तो मैं उसका बड़ा उपकार मानूँगा। इनका नाम संभवतः 'राम' कवि था। महाराज ने गोकुल की ओर देखा। इन्होंने कहा कि यद्यपि इस पुस्तक का लिखा जाना असंभव है और यह केवल मेरी परीक्षा ली जा रही है फिर भी कल प्रातःकाल इनकी इच्छा पूरी की ही जायगी। दूसरे दिन भरे दरबार में आचार्य ने यह छंद पढ़ा :—

सब्द देह, पाणि-पगु छंद, मुख व्यंजना सो,
व्यंग्य जीव, मंजु ध्वनि वाणी निकसतु है।
लच्छणैं दुविध अच्छ, हाव-भाव है कटाच्छ,
श्रवण है विभाव, गुण गुणैं सरसतु है।
नासिका बिसद वृत्त, रीति कुल कानि वानि,
भूषणानि भूषण वसन बिलसतु है।
कविता दसांग वर वनिता को कविपति,
'ब्रज' पुण्य पुंजहि सों दोनो सरसतु है॥

बलदेव नाम के एक प्रसिद्ध कवि ने दूसरे की एक कविता अपने नाम से पढ़ दी। गोकुल ने तत्काल ही बता दिया कि आप 'हरिकेश' जी की कविता पढ़ रहे हैं। गोकुल का अध्ययन इतना व्यापक, स्मृति इतनी तीव्र और कल्पनाशक्ति इतनी प्रखर थी!

गोकुल की सूझ एवं प्रत्युत्पन्नमति का दिग्दर्शन कराने वाली एक अन्य रोचक घटना

बलरामपुर चले आए। गोकुलप्रसाद जी के पिता का नाम भाईलाल था। ये बलरामपुर के गर्ल्स स्कूल के दक्षिण ओर बलुहा मुहल्ले में सड़क की बाईं ओर लगभग ५० गज़ की दूरी पर रहते थे। आज वहाँ एक साधारण सी वाटिका है और आस-पास कई मकान हैं। इनकी तीन शादियाँ हुई थीं—एक बहराइच में और दूसरी एवं तीसरी बलरामपुर परगने के गाँवों में। ये राजा बहादुर की अमलदारी में कटरा और पहाड़ापुर में कई साल तक कोतवाल रहे। राजा दिगराजसिंह साहब बहादुर के समय में कुछ दिनों तक तुलसीपुर रियासत के बाँकी इलाके में इनकी नियुक्ति हुई थी। सन् १८४८ ई० में ये बलरामपुर रियासत में नौकर हुए। फूलपुर के भवन-निर्माण का कार्य भी कुछ दिनों तक इनकी देख-रेख में हुआ। इसके बाद ये अफ़सर सीरज़ात बना दिए गए। सुहागिनपुरवा और छितौनी नाम के गाँव इनको ठेके में मिले थे। इनको बलरामपुर राज्य से पेंशन भी मिली थी। बहुत दिनों तक ये बलरामपुर नगरपालिका के सदस्य भी रहे। सन् १६०५ ई० में ८६ वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हुआ।

गोकुलप्रसाद जी की बचपन की शिक्षा यहीं बलरामपुर में हुई थी। हिन्दी के अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी का भी अध्ययन किया था और इन भाषाओं के साहित्य से परिचित हो गए थे। 'दिग्विजय भूषण' के अनुसार इन्होंने श्री गदाधर शर्मा से विद्या पढ़ी थी। इनके एक शिष्य श्री महावीरसिंह 'वीर' का कहना है कि ये काशी के गोसाईं श्री दीनदयाल 'गिरि' के शिष्य थे। इन्हीं श्री महावीर सिंह के द्वारा गोकुल के जीवन की निम्नलिखित बातें मुझे ज्ञात हो पाई हैं।

गोकुल ने आचार्य केशव की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बेनी से पढ़ी थी। कहा जाता है कि जब बेनी से इन पुस्तकों को पढ़ने की बात चली तब कविवर बेनी ने कहा कि चूँकि मुझे इन पुस्तकों के एक-एक छन्द को पढ़ाने के लिए एक-एक अशर्फ़ी मिल चुकी है इसलिए वही मूल्य अब भी मैं लूँगा। महाराज दिग्विजयसिंह ने आज्ञा दे दी। योग्य गुरु को योग्य शिष्य मिला। गोकुल रीतिशास्त्र में पारंगत हो गए। सरस्वती का आशीर्वाद था। कवि-हृदय पाया था। प्रतिभा थी। कविताएँ भी लिखने लगे। उपनाम था 'ब्रज'। स्वयं महाराज दिग्विजयसिंह भी कवि थे और 'भूप बिजै' उपनाम से कविताएँ लिखते थे। गुणज्ञ और गुणग्राहक का मणि-कांचन संयोग आ उपस्थित हुआ और शीघ्र ही बलरामपुर का राज-दरबार हिन्दी काव्य-चर्चा का सक्रिय केन्द्र बन गया। बिलग्राम से, राजस्थान के विभिन्न दरबारों से एवं हिन्दी काव्य के अन्य प्रसिद्ध केन्द्रों से कविगण प्रायः बलरामपुर आया करते थे। साहित्यिक वाद-विवादों एवं काव्य-प्रतियोगिताओं की धूम मची थी। ये आयोजन आए दिन हुआ करते थे। बलरामपुर राजदरबार की ओर से आचार्य गोकुल इसमें प्रमुख भाग लिया करते थे और ऐसा कभी नहीं हुआ कि गोकुल निरुत्तर हुए हों। ऐसे अवसरों पर गोकुल प्रायः यह घोषित कर दिया करते थे कि आप लोग जो कुछ जानते हों उसे पहले कह लीजिए तब मैं कुछ नई बातें कहूँगा। रीति-ग्रन्थों का इन्होंने पूर्ण अध्ययन किया था और इस सम्बन्ध में उनका कुछ अपना मौलिक दृष्टिकोण भी था।

डिप्टी रामरतन लाल ने लिखा है कि आचार्य गोकुल का काशीवासी बच्चन कवि,

रामकुमार कवि और एक नानकशाही कवि से काव्य-विवाद-प्रतियोगिता हुई किन्तु वे सब इनसे हार गए। यह विवाद इतना रोचक रहा कि उस समय महाराज के दरबार में जो लोग उपस्थित थे उनको इसकी याद बहुत दिनों तक आनन्द-मग्न करती रही। जगह-जगह के कवि आते थे और हार मानकर चले जाते थे और फिर जहाँ-जहाँ वापस जाते थे, वहाँ-वहाँ गोकुल का यश फैलाते थे। इस प्रकार समस्त उत्तर भारत के हिन्दी-केन्द्रों में गोकुल का नाम आदरपूर्वक लिया जाने लगा।

इस स्थान पर इन प्रतियोगिताओं में से एकाध का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। दरियाबाद से एक कवि महाशय बलरामपुर पधारे। वे संस्कृत में एक संहिता लिख लाए। संभवतः उसका सम्बन्ध 'घटकर्पर संहिता' से था। उन्होंने दावा किया कि यदि इसी छन्द में कोई कविता लिख दे तो मैं उसके घर पर पानी भरने का काम करूँगा। महाराज दिग्विजय सिंह ने कहा कि यह तो बाद में तय होगा मगर अभी मेरी इच्छा है कि राजकवि गोकुल काव्य-सम्बन्धी कोई प्रश्न करें और आप उसका उत्तर दें। हम पहले आपकी योग्यता से परिचित हो लें तब चुनौती स्वीकार की जाय। गोकुल ने यह पंक्ति पढ़ी—

> **लोचन बचाय लै डबा सों पान खायँ आप,**
> **कैधौं सौंहैं खात न खवाए सौंहैं खाति हैं।**

और इसका अर्थ पूछा। कवि महोदय संतोपजनक उत्तर न दे पाए और इज्ज़त बचाने की प्रार्थना की। पानी उतर गया था; पानी भरने की बात कहाँ रह गई!

एक बार एक कवि जी आए और उन्होंने कहा कि मैं एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ जिसमें कविता और बनिता का सादृश्य हो। यदि कोई कवि इसकी भूमिका बता दे तो मैं उसका बड़ा उपकार मानूँगा। इनका नाम संभवतः 'राम' कवि था। महाराज ने गोकुल की ओर देखा। इन्होंने कहा कि यद्यपि इस पुस्तक का लिखा जाना असंभव है और यह केवल मेरी परीक्षा ली जा रही है फिर भी कल प्रातःकाल इनकी इच्छा पूरी की ही जायगी। दूसरे दिन भरे दरबार में आचार्य ने यह छंद पढ़ा :—

> **सब्द देह, पाणि-पगु छंद, मुख व्यंजना सो,**
> **व्यंग्य जीव, मंजु ध्वनि वाणी निकसतु है।**
> **लच्छनै दुविध अच्छ, हाव-भाव है कटाच्छ,**
> **श्रवण है विभाव, गुण गुणै सरसतु है।**
> **नासिका विसद वृत्त, रीति कुल कानि वानि,**
> **भूपणानि भूपण वसन विलसतु है।**
> **कविता दसांग वर वनिता को कविपति,**
> **'ब्रज' पुण्य पुंजहि सों दोनो सरसतु है॥**

बलदेव नाम के एक प्रसिद्ध कवि ने दूसरे की एक कविता अपने नाम से पढ़ दी। गोकुल ने तत्काल ही बता दिया कि आप 'हरिकेश' जी की कविता पढ़ रहे हैं। गोकुल का अध्ययन इतना व्यापक, स्मृति इतनी तीव्र और कल्पनाशक्ति इतनी प्रखर थी!

गोकुल की सूझ एवं प्रत्युत्पन्नमति का दिग्दर्शन कराने वाली एक अन्य

इस प्रकार है। महाराज दिग्विजयसिंह से पुरस्कार पाने के लिए एक बार एक कवि महोदय ने उनके सम्मुख निम्नलिखित छंद पढ़े—

छुधा सिंहिनी, उदर गिरि, ग्रसे जीव वृष भेस,
दागहु दान दुनालिका श्री दिग्विजय नरेस ॥

× × × ×

दारिद दराज मृगराज के ललाट बीच,
दागौ दिग्विजयसिंह दानिका दुनाली सों।

यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि महाराज दिग्विजयसिंह शेर के शिकार के बड़े शौकीन थे और अपने जीवनकाल में उन्होंने सैकड़ों शेरों का शिकार किया था। अस्तु, महाराज प्रसन्न हो गए और उन्होंने आज्ञा दी कि कवि जी को एक घोड़ा, एक दुशाला और पाँच सहस्र रुपए दे दिए जायँ। कवि महोदय को ये सभी वस्तुएँ मिल गईं, परन्तु दुर्भाग्य कि घोड़ा जो मिला वह कमरिहा था। मस्त-मगन कवि जी घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे। रास्ते में सुजाँव नदी पड़ी। कुछ दूर नदी में चलने के बाद घोड़ा पानी में बैठ गया। कवि जी बहुत क्षुब्ध हुए। उल्टे पाँव लौट पड़े। भीगे ही वस्त्र पहने ड्योढ़ी पर आए। पुरानी ड्योढ़ी के ठीक सामने सड़क की दूसरी ओर एक बरगद का पेड़ था (जो आज भी है), वहीं घोड़ा बाँध दिया और उच्च स्वर में महाराज को सुनाकर एक सवैया पढ़ा:—

सदा सुन्दर चाल चलै मग मैं कतहूँ पिछड़ै बिगड़ै न अरै।
पर-बाजि बिलोकत ही निकरै अरु पौन के गौन तें बेगि लरै॥
दिग भूपति दिग्विजय सिंह के परसादु, सुकेतिक लोग डरै।
तहाँ अवगुन एक कहा कहिए जल देखै जहीं वहीं लोटि परै॥

अपने सेवकों की असावधानी से महाराज को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने आचार्य की ओर देखा। आचार्य तुरन्त बोल उठे—

कमर कलाई कान कल्ला छबि छोट छाती,
सीना सुम चकले हैं सिगरे बखानी मैं।
वेगि पावै मन आसमान को करै पयान,
सीखे सिक्खताई हरियान गति जानी मैं।
'गोकुल' तुरंग ऐसे कहैं मतिमंद लोग,
जल मैं प्रवेस, ताहि हेतु अनुमानी मैं।
असुचि सवार को बिसुचि करिबे के हेतु,
यारो, बाजि बैठि गयो पैठि गयो पानी मैं।

इस छंद को सुनने वाले 'यारों' के बीच इस 'असुचि सवार' की स्थिति कितनी दयनीय एवं उपहासास्पद हो गई होगी !!

महाराजा साहब प्रत्येक वर्ष चौमासा मनाते थे जिसमें दूर-दूर से साधु-महात्मा आ-आकर चार महीने तक भजन भाव में लीन होकर निश्चिंतता और सुख से अपने दिन बिताते थे। राजकवि गोकुल की ही संस्तुति पर इसमें साधुओं को सम्मिलित किया जाता था।

गोकुल को अफ़ीम खाने की आदत थी। रबड़ी इन्हें बहुत प्रिय थी। उसे ख़रीदने ये प्रायः स्वयं बाज़ार जाया करते थे। इनकी वृद्धावस्था की बात है। एक बार ये रबड़ी ख़रीद

रहे थे कि एक व्यक्ति इनके पास आया। बातचीत में उसने इनका नाम सुन लिया। निकट पहुँचकर उसने कविता में कुछ कहा। इन्होंने मुड़कर देखा। जैसे बिजली चमक गई। बुढ़ापे में जवानी आ गई। झुकी हुई कमर पर दोनों हाथ रखकर ये तनकर खड़े हो गए और तत्काल ही कविता में ऐसा उत्तर दिया कि भरे बाजार में वह इनके पैरों पर गिर पड़ा।

आचार्य गोकुल के दो प्रधान शिष्य थे—भैया सरकार बख्शसिंह और मुसई तिवारी। आचार्य गोकुल के एक मात्र जीवित शिष्य श्री महावीरसिंह 'वीर' की आयु इस समय ७३ वर्ष की है।

आचार्य गोकुल का रीतिकालीन कविता की भाषा-शैली और विषय पर पूर्ण अधिकार था। अलंकार, रस, भाव-विभाव, हाव, नायक, नायिका, दूती इत्यादि विषयों पर आप कभी भी किसी भी समय रचना कर सकते थे। दूती-वर्णन में ये विशेष रूप से कुशल थे। इसमें इनकी मौलिकता भी है। इन्होंने ३६ दूतियों का वर्णन किया है। मालिन, तमोलिन, ग्वालिन, बारिन, पनिहारिन, नाइन, धोबिन, बढ़इन, रंगरेजिन, तेलिन आदि दूतियों का वर्णन श्लेष के सहारे किया गया है। ये दूतियाँ अपने व्यवसाय से संबंध रखने वाली वस्तुओं का नाम लेती हैं और सन्देश कह जाती हैं। चिड़ीमारिन कहती है—

मैना कछु बोलै तोते प्रीति पारावत पेखि झगर बगेरी स्यामा बेसरि सो जाने मैं।
लाल जो हरेवा बड़े बाज आए तीतिर सों सारस बिहाय ब्रज मुरग हे साने मैं॥
काक हैं बटेर सुन करवत कही कूर पिकहि पियार बानी हारिल हे माने मैं।
बरही अगिन चूनै चिनगी चकोर चख तूती मिलै आजु ब्रजराज चिरीखाने मैं॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें चिड़ियाघर में जाकर श्रीकृष्ण जी से मिल आने की बात कही गई है। एक और दूती है। वह बेचारी केवल नगरों का नाम लेती है—

चलै *ग्वालियार* पास नेह *नयपाल* करि *बनारस आजमेर* करै *औध* वार है।
कही हो *दिली* की बात *कान्हपूर* प्रेम कीन्हें *मगहरि* हेरै *करनाटक* बहार है।
पटना पहिन चीन्ह *बेतिया* चवाई ब्रजनिसि *गुजरात* करै मन में विचार है।
बेस *बैसवारे असनी* के नंदलाल प्यारे *मोहबे* न दूजै कीजै बेगि ही *बिहार* है।

सन्देश यों समझिए:—"चलै ग्वालि (न) यार पास, कान्हपूर प्रेम कीन्हें, मग हरि हेरैं......, इत्यादि।"

अनुभावों के चित्र देखिए—

आप दई तनी टाँकिबे को, हरि भोरहिं आय गए धौं कहाँ तैं।
कौन की आँगी है ? मैं तैं कही, सुनि रावरी की हँसि लीनी हहा तैं।
'गोकुल' फूलि पसीजि गयौ बड़ी देर लगाए रह्यौ हियारा तैं।
भीजि गई थी सुखावती याहि अबार भई ठकुराइनि या तैं।

आचार्य गोकुल केवल शृंगार संबंधी कविताओं में ही पटु नहीं थे। अन्य रसों में भी वे सिद्धहस्त थे। वीर रस का यह दोहा देखिए—

ढपि ढपि झपि जाती नजर डरि डरि शत्रु बेहाल।
भूप दिग्विजयसिंह की कढ़त जबै करवाल।

वर्णन कला में गोकुल अत्यंत कुशल थे। दिन भर के कार्य-कलापों का वर्णन,

मृगया का वर्णन, घटनाओं का वर्णन, राज्याभिषेक का वर्णन इत्यादि इस कुशलता से होते थे कि दोनों पक्षों में किसी की भी हानि न हो। चित्रकाव्य और चमत्कारिक कविताओं का प्रणयन भी गोकुल ने किया है। नीति, उपदेश एवं आध्यात्मिक विषयों पर भी आचार्य के छंद पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। इन्होंने संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए हैं। जीवन का एक भाव-चित्र इस एक पंक्ति में कितनी सुन्दरता के साथ उपस्थित किया गया है—

देह सराइ में प्रान मुसाफिर साँझ मुकाम पयान सवेरे।

इसी प्रकार निम्नलिखित अर्द्धाली में उपमा की सुन्दरता देखिए—

तेरी ममता तोहिं दुखदाई, कीर मूस सम उभय बिलाई।

निम्नलिखित दो दोहे कबीर की याद दिलाते हैं—

तौं सुत तन से होत है, स्वेदजहू तन जात।
सुतहि खेलावै प्यार करि, स्वेदज सों नहिं नात॥
आपु बिसार्यौ आपु कौं, आपुइ परो कवात।
आपुहि तौं दूलह बन्यौं, आपुहि बन्यौ बरात॥

आत्म-विस्मृति का एक रूपक देखिए—

भेड़िन में जिमि सिंह को, सावक रहै भुलाइ।
तिनके संग मैं मैं करै, निज पौरुष बिसराइ।
निज पौरुष बिसराइ, सिखै तिन ही के लच्छन।
यह समुझै नहिं नैकु, सकल यह मेरे भच्छन।
तैसे गोगन संग फिरत, मन भ्रम बस बेड़ी।
आपु अपनपौ भूलि भए भेड़िन मैं भेड़ी॥

'दिग्विजयभूषण' उनका श्रेष्ठतम और अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उस समय के श्रेष्ठतम हिंदी कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं। यह लक्षण ग्रंथ के रूप में संपादित किया गया है और एक प्रकार से इतिहास का भी काम करता है। 'शिवसिंह सरोज' में भी इसके उद्धरण लिए गए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह हिंदी का अनमोल ग्रंथ है। इसी ग्रन्थ में छन्दों की टीका करते हुए गोकुल ने गद्य भी लिखा है जिसका उदाहरण इस प्रकार है—

"इहाँ दूती नायक के मिलिबे के अर्थ नगर के नाम वर्णन में नायिका सों कहै है.........."इत्यादि।

उनके लिखे हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम ये हैं:—(१) अष्टयाम प्रकाश (२) चित्र कलाधर (३) दिग्विजयभूषण (४) नीतिमार्तण्ड (५) सुतोपदेश (६) शोक-विनाश (७) चौबीस अवतार (८) अद्भुत रामायण (९) मृगयामयंक (१०) दिग्विजयप्रकाश (११) गद्दीप्रकाश, (१२) नामविनोद (१३) पंचदेवपंचक (१४) कृष्णदत्त भूषण और (१५) अचलप्रकाश। इन्होंने मनुस्मृति का भी अनुवाद किया है। डा० भगवतीसिंह, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० ने इनके विषय में विशेष खोज की है और इनकी पुस्तकों का संग्रह किया है।

———

'प्रबोध-पचासा' में 'पद्माकर' का व्यक्तित्व

भारतेंदु सिन्हा, एम० ए०, बड़ौदा विश्वविद्यालय

पद्माकर की रचनाओं में 'विरुदावली', 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' में कवि की दृष्टि बहिर्मुखी है; 'गंगालहरी' स्तुति काव्य है; केवल 'प्रबोध-पचासा' में ही कवि की अंतर्मुखी, स्वानुभूति व्यंजक दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक प्रबलता से झलकती है। अतः कवि की जीवनानुभूति और व्यक्तित्व के अध्ययन में 'प्रबोध-पचासा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया गया है। इसमें किसी आश्रयदाता की स्तुति या ग्रंथ-प्रणयन के लिए उसके आदेश का उल्लेख नहीं है। इसलिए इस ग्रंथ का निर्माण कवि की आश्रय-निरपेक्ष अवस्था में हुआ होगा। ग्रंथ में 'जगद्विनोद' के पाँच छंद (प्र० प० छं० ४-२७-३७-४२-४६, क्रमशः 'जगद्विनोद' छं० ६०२-५६५-४६२-४७३-६६०; प० पं०) ग्रंथित हैं। अतः इसका निर्माण 'जगद्विनोद' के बाद ही हुआ होगा। जयपुर नरेश जगतसिंह की मृत्यु सन् १८१८ ई० में हुई। 'जगद्विनोद' उसके पहले ही बन चुका होगा। 'जगद्विनोद' की ही सामग्री में यत्किंचित परिवर्तन-परिवर्धन करके बनाया गया ग्रंथ 'आलीजाह प्रकाश' ग्वालियर के नरेश दौलतराव सिंधिया के आश्रय में सन् १८२१ ई० में समाप्त हुआ (प० पं०, पृ० १७)। सिंधिया के बाद पद्माकर के किसी आश्रयदाता का उल्लेख नहीं मिलता। ग्वालियर दरबार छोड़ने के समय उनकी अवस्था ६८ वर्ष की हो चुकी थी। अनुमानतः इसके बाद कवि ने बाँदा में निवास किया जहाँ उसकी अचल संपत्ति थी। इसी निवासकाल में 'प्रबोध-पचासा' रचा गया होगा। इस ग्रंथ में कवि की वृद्धावस्था के संकेत (छं० १६-३४-४५) मिलते हैं। मनुष्य के हृदय में जीवन के अंतिम चरण में पहुँचकर निज-स्वभाव-चिंतन, विगत जीवन के सिंहावलोकन की वृत्ति, अपनी भूलों, भ्रांतियों, स्खलनों, प्रमादों, कुकृत्यों, मृगतृष्णाओं आदि पर पश्चात्ताप, होनहार की अटलता पर विवश, करुण आस्था तथा आसन्न मृत्यु का आतंक एवं निर्वेद आदि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं। 'प्रबोध-पचासा' में पद्माकर की इस मनोदशा के संकेत मिलते हैं, यथा—

(क) सिंहावलोकन तथा पश्चात्ताप (छं० ४-१८-४१-४२-४८)
(ख) निज स्वभाव चिंतन तथा ग्लानि (छं० १३-१४-१५-१६-३४)
(ग) निर्वेद (छं० २३-२६-२७-३५-५०)
(घ) होनहार या प्रारब्ध की दृढ़ता में आस्था (छं० २०-३७)
(ङ) राम की शरण में जाने से उनके द्वारा रक्षित हो जाने का भरोसा (छं० १७-२१-२४-२५)

ये अंतःसाक्ष्य इस रचना को जीवन के अंतिम चरण में निर्मित प्रमाणित करते

है। अतः इसका रचनाकाल सन् १८२१ और १८३३ ई० के बीच में मानना चाहिए। तिथि विषयक इससे अधिक स्पष्ट निष्कर्ष प्राप्त करने का कोई साधन संप्रति उपलब्ध नहीं है।

'प्रबोध-पचासा' ५१ मुक्तक छंदों का संग्रह है। इन छंदों का विश्लेषण करने पर कवि के व्यक्तित्व-संबंधी निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं।

अपने जीवन के सिंहावलोकन से कवि को विदित होता है कि वह सार वस्तु को छोड़कर जीवन भर असार की ही सेवा करता रहा और कष्ट झेलता रहा। पुरुषार्थ के मूल्यांकन अथवा जीवनोद्देश्य के निर्वाचन की इस भूल से उसे गहरा पश्चात्ताप होता है (छं० ४)। कभी वह अपने को यही सोचकर समझाता है कि चलो, और कुछ नहीं कर सके तो कम से कम 'अधम' बनकर ही राम को 'अधम उधारन' तो कहलवा सके (छं० १८)। पेट के लिए कष्ट सहे, स्वार्थपरायण होने से परमार्थ न कर पाया, मन के दंभ और द्रोह ने भक्ति की वृत्ति को स्थायी या पुष्ट होने न दिया, कलियुग की प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण योग, यज्ञ, जप, तप की सम्यक् साधना न हो सकी (छं० ४१)। लगभग ७० वर्षों में फैले हुए अपने दीर्घकालीन विगत जीवन की उपलब्धि के रूप में कवि क्या पाता है—

> एकन सों बैर करि प्रीति करि एकन सों,
> एकन सों बैर है न प्रीति कछु गाढ़ी है।
> कहै 'पदमाकर' न होत चितचाही बात,
> बात करिबे को अनचाही मीच ठाढ़ी है॥
> एते पै न चेत, फेरि केते बाँध बाँधत है,
> दंत लागे हिलन सपेद भई दाढ़ी है।
> बाढ़ी कहूँ राम की न भगति हिए में देखौ,
> तृसना बिसासिनी या बिलई सी बाढ़ी है॥
> (छं० १६)

> बस बिसासिनि जाति बही, उमही छिन ही छिन गंग की धार सी।
> त्यों 'पदमाकर' पेखनि या, अजहूँ न भजै दसरत्थ कुमार सी॥
> बार पके, थके अंग सबै, मढ़ि मीच गरेई परी हर हार सी।
> देखै दसा किन आपनी तू, अब हाथ के कंगन को कहा आरसी॥
> (छं० ४५)

अनुभवों ने उसे बता दिया है, "ह्वै रहै होनी प्रयास बिना, अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई। जो विधि भाल में लीकि लिखी, सो बढ़ाई बढ़ै न घटै न घटाई॥" (छं० ३७) होनहार अज्ञेय है, "कौन दिन, कौन छिन, कौन घरी, कौन ठौर, कौन जानै कौन को कहा धौं होनहार है॥" (छं० २०) होनहार को काटनेवाली केवल भगवत्कृपा ही है (छं० ७)। यद्यपि कभी-कभी कवि के मन में शंका उठती है, "सीता-सी सती को तज्यो झूठोई कलंक सुनि, साँचोई कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे?" (छं० १५) फिर भी सामान्यतः वह यही सोचने लगा है, "राखत हैं, राखैंगे, रखैया रघुनाथ जन, आपने की बात सदा

राखतेई आए हैं ॥" (छं० २४) । राम के सहारे वह अब आश्वस्त हो गया है। उसकी जीवन-दृष्टि में संतुलन, गंभीरता, निर्द्वन्द्वता तथा संयम आ गए हैं (छं० १७) । कवि की सामान्यतः बहिर्मुखी दृष्टि भक्ति की तीव्र भावानुभूति में सहज ही स्वानुभूति-व्यंजक हो जाती है और उसका अपने रघुरैया में अमित भरोसा उत्कृष्ट काव्य में गूँज उठता है—

प्रलै के पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं,
लहरा लग्यो त्यों होन पौन पुरवैया को।
भीर भरी झाँझरी बिलोकि मँझधार परी,
धीर न धरात 'पदमाकर' खेवैया को ॥
कहा वार कहा पार जानी है न जात कछु,
दूसरो दिखात न रखैया और नैया को।
बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहै, ऐसो
अमित भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को ॥
(छं० २१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रबोध-पचासा' के ये छंद उन मार्मिक क्षणों के भावोच्छ्वास हैं जब जीवन की गोधूलि में कवि विगत प्रमादों और मृगतृष्णाओं की स्मृति से सिहर उठता है, सिर पर मँड़राती हुई मृत्यु की विभीषिका से आतंकित हो जाता है, प्रचलित धारणानुसार मरणोत्तर नरक-यातना की कल्पना से संत्रस्त हो उठता है, वर्तमान में जीवन-नैया को मँझधार में फँसी और रक्षकहीन देख कातर हो जाता है। उसके भय-विह्वल निरावलंब चित्त को पतित-पावन शरणागत-वत्सल भगवान राम की अमोघ करुणा के स्मरण में आशा की किरण फूटती दीखती है, और डूबते को सहारा मिलता है। जिन्हें रामनाम ने निरपवाद और अचूक उबारा उन पतित शरणागतों से अपनी तुलना करता है तो यह आशा आस्था और निष्ठा में परिणत हो जाती है। राम का आसरा उसे अभिनव जीवनोन्मेष और धैर्य प्रदान करता है। ग्रंथ के एकाधिक पचास छंदों में कवि के मन के इसी प्रबोध की गाथा सहज भावानुभूति के स्वरों में आडंबरहीन काव्य-सौष्ठव में फूट पड़ी है।

सांस्कृतिक अध्यन :—

केशव-कृत 'वीरसिंहदेव चरित' में उल्लिखित अस्त्र-शस्त्र

टीकमसिंह तोमर, एम० ए०, डी० फिल्०, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा

केशव ने (१५५५-१६१७ ई०) 'वीरसिंह देव चरित' की रचना १६०८ ई० में की थी। इस ग्रंथ में बुन्देलखण्ड के महाराज वीरसिंह देव के विविध युद्धों का वर्णन किया गया है। इस काव्य के चरित्र-नायक ने ये युद्ध बुन्देलखण्ड के अन्य राजाओं तथा अकबर की विशाल सेना से किए थे। केशव ओड़छा-दरबार के आश्रित थे। उन्हें उक्त युद्धों का पूर्ण ज्ञान था। इसीलिए केशव ने इन लड़ाइयों का इतना विस्तृत, सूक्ष्म और तथ्यपूर्ण वर्णन किया है। इन युद्धों के प्रसंग में केशव ने विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख किया है। इन्होंने हथियार के लिए 'सार' शब्द का प्रयोग किया है। नीचे इन्हीं हथियारों का विवरण उपस्थित किया जा रहा है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे हथियार हैं जो निकट से प्रयुक्त किए जाते थे, द्वितीय वर्ग में दूर से प्रयोग में आने वाले हथियार संम्मिलित हैं।

१. निकट से प्रयुक्त होने वाले हथियार

तलवार—केशव ने तलवार का सबसे अधिक उल्लेख किया है। इस शब्द के तीन रूप—तलवार, तरवारि तथा तरवार—मिलते हैं। इनमें से 'तरवारि' इस कवि को अधिक प्रिय ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय बुन्देलखण्ड के सैनिक समुदाय में 'तरवारि' शब्द ही अधिक प्रचलित था, क्योंकि तलवार के अन्य नाम 'असि' का केवल दो बार प्रयोग हुआ है।

करवारि—'तलवार' के पश्चात् 'करवारि' शब्द का 'वीरसिंह देव-चरित' में प्रयोग हुआ है जो तलवार के लिए प्रयुक्त संस्कृत 'करवाल' का परिवर्तित रूप प्रतीत होता है।

खग्ग, खंग—तलवार के अन्य नाम खड्ग के लिए 'खग्ग' का प्रयोग किया गया है। इसके दूसरे रूपों—'खर्ग' और 'खंग'—का भी उल्लेख मिलता है। खड्ग दोनों ओर धारवाली तलवार को कहते हैं। 'वीरसिंह देवचरित' में तलवार के इस नाम का अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया गया है।

खड़िहरा—केशव ने केवल एक स्थल पर 'खड़िहरा' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'खांड़ा' से बना है। सीधी और कुछ चौड़ी तलवार 'खांड़ा' कहलाती थी, उसी के छोटे आकार के लिए सम्भवतः 'खड़िहरा' नाम का प्रयोग हुआ है, जैसे—

लोगनि लपकि खड़िहरा गहे[१]

---

१. वीरसिंह देव-चरित, पृ० २७।

तेग—केशव ने तलवार के लिए 'तेग' शब्द का भी प्रयोग किया है। यह अरबी भाषा के 'तेग़' का तद्भव रूप है। बड़ी तलवार तेग कहलाती थी। 'वीरसिंह देव-चरित' में यह शब्द केवल एक ही स्थल पर आया है।

खपुवा—इस काव्य में 'खपुवा' शब्द का एक ही बार प्रयोग हुआ है। 'वीरसिंह-देव-चरित' के काशी नागरीप्रचारिणी सभा वाले संस्करण की पाद टिप्पणी में इसे एक प्रकार की तलवार माना गया है।[२] विलियम इरविन ने खपुवा के सम्बन्ध में लिखा है कि 'खपुवा एक प्रकार की कटार थी। यह जमवाह (जमधार) के समान होती थी। इसकी व्युत्पत्ति हिन्दी क्रिया 'खपना', 'भरना', 'पूरा करना' से सिद्ध होगी। अतः 'खपुवा' का अर्थ हुआ समाप्त कर देने वाला, मार डालने वाला हथियार। इसके लिए फारसी शब्द 'दशनाह' का प्रयोग हुआ है। 'अकबरनामा' में अकबर के शासनकाल के १७ वें वर्ष के विवरण के उत्तरार्द्ध में लिखा है कि मदिरा पान करके अकबर मालवा के शाहनवाज खाँ पर झपटा और उसे 'दशनाह', जिसे हिन्दी में खपुवा कहते हैं, नामक हथियार से मारने का प्रयत्न किया, क्योंकि उसने गाने के लिए मना कर दिया था।[३] कुछ भी हो, इतना निर्विवाद है कि खपुवा तलवार से भिन्न हथियार था जैसा कि केशव के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

गिरि गिरि सुभटनि उठि उठि लरैं। धरैं खंग *खपुवा* जमधरैं[४]।

जमधरैं, जमधार—केशव द्वारा प्रयुक्त 'जमधरैं' शब्द 'जमधार' का रूप है। संस्कृत 'यमधर' या 'यमधार' से 'जमधार' शब्द बना है। दोनों ओर धार वाली एक प्रकार की तलवार या कटार को 'जमधार' कहते थे। इरविन ने इसे एक प्रकार की कटार माना है।[५] केशव ने इसका प्रयोग कटार के लिए ही किया है, जैसा कि ऊपर 'खपुवा' शब्द के प्रसंग में दिए हुए उद्धरण से सिद्ध होता है।

कटरा, कटार—केशव ने 'कटरा' शब्द का प्रयोग कटार अथवा कटारा नामक हथियार के लिए किया है, यथाः—

कटरा कटि दावैं तरवारि।[६]

इरविन ने मुग़लों की सेना द्वारा प्रयुक्त हथियारों का वर्णन करते हुए 'कटार', 'कटाराह' तथा 'कटारी' नामों का उल्लेख किया है।[७] इससे केशव द्वारा प्रयुक्त 'कटरा' शब्द की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। कटरा अथवा कटारा बड़ी कटार को कहते थे।

कृपान—केशव ने कृपाण के लिए 'कृपान' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अर्थ सामान्यतः तलवार, छुरी तथा कटारी होता है।

किरवान, किरवार—'वीरसिंह देव-चरित' में 'किरवानैं', 'किरवारौं' शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये क्रमशः 'किरवान' और 'किरवार' के रूप प्रतीत होते हैं। ये दोनों

---

२. पाद-टिप्पणि १, पृष्ठ ७५। ३. दी आर्मी एड्मिनि- स्ट्रेशन आव दी इंडियन मुग़ल्स, पृ० ८८। ४. वीरसिंह देव-चरित, पृ० ७५। ५. दी आर्मी एड्मिनिस्ट्रेशन आव दी इंडियन मुग़ल्स, पृ० ८६। ६. वीरसिंह देव-चरित, पृ० ५८। ७. दी आर्मी एड्मिनिस्ट्रेशन आव दी इंडियन मुग़ल्स, पृ० ८५।

शब्द 'कृपाण' अथवा 'कृशान' के परिवर्तित रूप हैं। इनसे तलवार और कटार दोनों हथियारों के अर्थ का बोध होता है।

नेजा—यह फ़ारसी शब्द 'नेज़ा' का तद्भव रूप है। नेज़ा भाला को कहते थे। केशव ने इसका केवल एक ही बार उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि राजपूतों की सेना में इस हथियार का प्रचलन कम था। मुग़लों की सेना में सवार सेना का यह एक प्रमुख हथियार था।

बरछा—यह भाला का नाम है। इरविन का मत है कि यह नेज़ा की अपेक्षा बड़ा और भारी होता था। इसका प्रयोग पैदल सेना में अधिक होता था।[1]

बरछी—यह बरछा से छोटी होती थी।

सहिथी, सौंहथी—ये नाम संस्कृत सैंथी, सैंहथी, सौंही आदि शब्दों से बने हैं। इसका अर्थ शक्ति, भाला, बरछी आदि होता है।

सांग—संस्कृत 'शक्ति' से 'सांग' शब्द बना प्रतीत होता है। यह हथियार सम्पूर्ण लोहे का बना हुआ होता था। यह बरछी से छोटा होता था।

सेल, सेलहनि—केशव ने इन शब्दों का प्रयोग भाला अथवा सांग के लिए किया है।

गदा—यह लोहे का बना हुआ एक अत्यन्त प्राचीन हथियार था जिसमें एक सिरे पर नोकदार बड़ा लट्टू होता था। मुगल सेना में यह गुर्ज़ नाम से विख्यात था। 'वीरसिंह देव-चरित' में इसका केवल एक ही बार उल्लेख हुआ है। इससे विदित होता है कि गदा-युद्ध का प्रचलन उस समय बहुत कम था।

खोलनि—तलवार के प्रसंग में म्यान के लिए केशव ने फ़ारसी शब्द 'खोल' से बने हुए 'खोलनि' शब्द का प्रयोग किया है।

ख. दूर से प्रयुक्त होने वाले हथियार

कमान, चाप,—धनुष के लिए फ़ारसी शब्द 'कमान' और संस्कृत शब्द 'चाप' का केशव ने प्रयोग किया है। इन दोनों शब्दों का दो दो बार उल्लेख आया है।

तीर, सर—बाण के लिए 'तीर' और 'सर' शब्दों का केशव ने प्रयोग किया है। यह दोनों संस्कृत के शब्द हैं। तीर का अनेक बार उल्लेख हुआ है। कालांतर में तीर का प्रयोग गोली, गोला तथा एक प्रकार की बन्दूक और तोप के लिए होने लगा था।

धनुष और बाण की लड़ाई भारत में प्राचीन समय से चली आ रही थी। मुगलों की सेना में भी इन हथियारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था। केशव के द्वारा प्रयुक्त इन अस्त्रों से ज्ञात होता है कि उनके समय में हिन्दू इस प्रकार के युद्ध में विशेष रुचि रखते थे।

तरकस—तीरों के प्रसंग में तूणीर के लिए फ़ारसी 'तरकश' शब्द से बने हुए तरकस शब्द का प्रयोग मिलता है।

नारि—संस्कृत के 'नाल' शब्द का यह परिवर्तित रूप है। बन्दूक की नली को नाल कहते हैं। नारि का अर्थ एक प्रकार की बन्दूक है। केशव ने इस शब्द का इसी अर्थ में

प्रयोग किया है। इस प्रसंग में श्री रामचन्द दिक्षितार का मत भी उल्लेखनीय है। वह लिखते हैं कि 'कौटिल्य ने इस प्रसंग में नाल-दीपिका शब्द का उल्लेख किया है। नालिका एक प्रकार का अस्त्र (मिजाइल्स) होता था। कालान्तर में इसका अर्थ बन्दूक हो गया। यह दो प्रकार की होती थी—छोटी और बड़ी। छोटी ६० अंगुल लम्बी होती थी। प्रयोग करने पर यह अग्नि की वर्षा करती थी। आकार में बड़ी नालिका तोप कहलाती थी। इसका प्रचलन प्राचीन काल में था। इसके कई प्रमाण मिलते हैं।'[१]

तुपक—'तुपक' फ़ारसी 'तुफ़ंग' से बना है। 'तुफ़ंग' का अर्थ है बन्दूक अथवा छोटी तोप। इसके सम्बन्ध में दीक्षितार का कथन है कि सर ए० एम० इलियट के अनुसार अरब-निवासियों ने गोला-बारूद का प्रयोग भारतवर्ष से सीखा। भारत के सम्पर्क में आने के पूर्व वे 'लाख' जैसे पदार्थ के बाणों का प्रयोग करते थे। यद्यपि फ़ारस में शोरा का आधिक्य था तथापि बारूद का प्रारम्भ भारत में ही हुआ। कुछ विद्वानों का कथन है कि तुरुकी 'तोप' और फ़ारसी 'तुफ़ंग' या 'तुपंग' की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'धुप्' धातु से सिद्ध हो सकती है, जिसका अर्थ है जलाना। अग्निपुराण में प्रयुक्त 'धुप' शब्द का अर्थ सम्भवतः अग्नि-गोला ही है।[२] 'वीरसिंहदेव-चरित' में इस शब्द का छः बार प्रयोग हुआ है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक यह हथियार अधिक प्रचलित हो चुका था। इरविन का मत है कि 'ईसा की १८ वीं शताब्दि के मध्य तक तुपक नामक अस्त्र मुग़ल सेना में उतना प्रिय नहीं हो सका था जितने कि धनुष-बाण प्रचलित हैं। तुपक का प्रयोग विशेषकर पैदल सेना द्वारा होता था।'[३] इससे भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

अराबो—यह शब्द अरबी 'अराबा' से बना है जिसका अर्थ है तोप लादने की गाड़ी। कालान्तर में इसका प्रयोग तोपखाना के लिए भी होने लगा था। केशव ने 'अराबो' शब्द का प्रयोग केवल एक ही बार किया है। इससे विदित होता है कि उस समय तक हिन्दू दरबारों में इसका कम प्रचार हो पाया था।

गोला—लोहे की बड़ी गोली, जिसे भरकर तोप दागी जाती थी, गोला कहलाती थी। 'वीरसिंहदेव-चरित' में यह शब्द तीन बार प्रयुक्त हुआ है।

'वीरसिंहदेव-चरित' में प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन युद्धों में तलवार का प्रमुख स्थान था। हिन्दू और मुसलमान सभी तलवार के युद्ध में दक्ष होते थे। वीरसिंह देव के साथ युद्ध करते समय अबुलफ़ज़ल ने तलवार का प्रयोग किया था, यथा—

काढ़े तेग सोह यों सेख। जनु तनु धरे धूम-धुज देख॥[४]

अथवा—दौर्‌यौ सेख काढ़ि तरवारि।[५]

तलवार के अतिरिक्त कृपाण तथा कटार का धारण करना भी सैनिक के लिए आवश्यक होता था, यथा—

कटरा कटि दावें तरवारि, साहि समीप रहे सुखकारि।[६]

---

१. वार इन एन्शेंट इण्डिया, पृ० १०३-१०४। २. वही, पृ० १०३। ३. दी आर्मी एडमिनिस्ट्रेशन आव दी इण्डियन मुग़ल्स, पृ० १०३। ४. वीरसिंह देव-चरित, पृ० ३६। ५. वही, पृ० वही। ६. वही, पृ० ५८।

साथ ही नेज़ा, बरछा, बरछी, सौंहथी आदि का भी प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था।

धनुष और बाण के द्वारा युद्ध करने में भी यह सैनिक प्रवीण होते थे। बन्दूक और तोप का प्रचलन होने लगा था। पर राजपूत राजदरबारों में इनकी संख्या बहुत कम थी। अराबो या तोपखाना सेना के सामने रक्खा जाता था, जैसा कि राव भूपाल के सैन्य-प्रयाण-वर्णन की इस पंक्ति से सिद्ध होता है—

आगे सबै अराबो कियौ। तिहि पाछे पैदल दल दियौ।[1]

वीरसिंह देव की सेना तोपों का प्रयोग करती थी। अबुफ़ज़ल की मृत्यु गोला लगने से हुई थी, यथा—

नारि कमान तीर असरार। चहुँ दिसि गोला चले अपार॥
परम भयानक यह रन भयो। सेखहिं उर गोला लगि गयो॥[2]

इन प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू राजदरबारों का ध्यान बन्दूक, गोला, बारूद तथा तोप के प्रयोग की ओर जाने लगा था। वे इस दिशा में अग्रसर होने का प्रयास भी कर रहे थे। पर उस समय तक इसमें वे अधिक उन्नति नहीं कर पाए थे। इसके मूल में आर्थिक अभाव सर्वोपरि था। हिन्दू राजागण अपने सीमित साधनों से इन बहुमूल्य एवं व्यय-साध्य आयुधों का, इच्छा रहते हुए भी, अधिक प्रयोग नहीं कर सकते थे।

इसके अतिरिक्त तलवार, कटार, भाला आदि परम्परागत हथियारों के प्रयोग के लोभ को भी भारतीय वीर त्यागने में असमर्थ थे। इन आयुधों की सहायता से शत्रु से आमने-सामने युद्ध करके व्यक्तिगत वीरता-प्रदर्शन का अधिक अवसर रहता था। शौर्य की अभिव्यक्ति ही इन वीरों का मुख्य लक्ष्य होता था। यही कारण था कि इन्होंने तोप आदि को अधिक नहीं अपनाया। तोप आदि के प्रयोग से शत्रु-संहार सम्भव था पर व्यक्तिगत वीरता दिखलाने के लिए कोई अवसर नहीं था।

इतिहास-वेत्ताओं ने मुग़लों की विजय का प्रमुख कारण गोला-बारूद का प्रयोग बतलाया है। उनका यह कथन बहुत कुछ सत्य भी है। पर उनका सैनिक बल, सुलभ साधन और बहुत से हिन्दू राजाओं द्वारा उनकी सहायता ही वस्तुतः इनकी विजय के प्रमुख कारण थे। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध हो जाता है कि इन वीरों ने अपने सीमित सैन्य साधनों से शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिए थे। इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि युद्ध-शैली में भारतीय प्राचीन परम्परा और रूढ़िवादिता से आबद्ध थे। तुरकी आदि देश गोला-बारूद का प्रयोग कर रहे थे पर भारतीय अपने व्यक्तिगत शौर्य को ही अधिक प्रश्रय देने में व्यस्त थे। साथ ही भारतीयों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की भावना भी इनकी पराजय का मूल कारण थी।

केशव ने अपने इस ग्रंथ में नाम गिनाने की कृत्रिम शैली का बहिष्कार करके केवल उन्हीं हथियारों का उल्लेख किया है जो उस समय वस्तुतः प्रयुक्त होते थे। 'वीरसिंह देव-चरित' में प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों के इस अध्ययन के समान ही वीरकाव्य धारा के अन्य ग्रंथों का अध्ययन करके भारत की सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों का मूल्यांकन किया जा सकता है।

---

१. वही, पृ० ७२। २. वही, पृ० ३६।

कुछ काश्मीरी शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन

हरिहरप्रसाद गुप्त एम० ए०, डी० फ़िल, जम्मू काश्मीर विश्वविद्यालय

[संक्षेप—अप० = अपभ्रंश, ओ० = ओड़िया, का० = काश्मीरी, गु० = गुजराती, ग्रा० श० = ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली—लेखक द्वारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; ता० = तामिल, ते० = तेलुगु, दे० = देशीनाममाला, द्रा० = द्राविड़, ने० = नेपाली; पं० = पंजाबी, पा० = पालि, पा० भा० = पाणिनिकालीन भारतवर्ष—वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रा० = प्राकृत, प्रा० हिं० को० = प्रामाणिक हिंदी कोश—रामचंद्र वर्मा, म० = मराठी, रा० = राजस्थानी, सं० = संस्कृत, सिं० = सिंधी, प० च० = पउमचरिउ, सिंह० = सिंहली, हिं० = हिंदी ।]

(१) काश्मीरी में **अंदिहीर** हिंदी के **अंधेर** का समानार्थी है—जैसा स्पष्ट है इन दोनों का ही संबंध सं० 'अंधकार', पा० 'अंधकारो' प्रा० 'अंधार' से है । मराठी, बंगला तथा उड़िया में अब भी **अंधार** ही प्रचलित है, गुजराती में यह **अंधारु** और सिंधी में **अंधारू** है । अवधी बोली में यह **अन्हार, अन्हियार** तथा **अंधियार** रूप में व्यवहृत होता है, खड़ीबोली में यह **अंधेरा** और प० पंजाबी में **अन्हेरा** है ।

(२) संस्कृत का **अरघट्ट** (प्रा० अरहट्ट) लगभग सभी वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं में प्राप्त है । भोजपुरी बोली में इसे **रहँट** (दे० ग्रा० श०, पृ० २४७ कहते हैं । मराठी में यह **रहाट** है, गुजराती में **रेंट**, सिंधी में **अरटु** तथा पंजाबी में **रट्ट** अथवा **रट** है । किंतु काश्मीरी में इसका प्रयोग यंत्र के लिए नहीं (क्योंकि इस यंत्र का उपयोग इस क्षेत्र में नहीं है) वरन् एक विशेष परिस्थिति के लिए होता है जिसे हम हिंदी में, 'चक्कर में पड़ना' कहते हैं । चक्कर का भाव उस यंत्र के चक्कर से ही आया है ।

(३) सं० अस्थि, पा० अत्थी, प्रा० अट्ठि से ही विकसित का० **अडिज्** है ।

(४) हिं०, बं०, ओ०, पं० का **आंगन** काश्मीरी में **आंगुन** है, गुजराती में यह **आंगुणु** तथा सिं० में **अङ्गणु** है—ये सभी सं० व प्रा० **अंगण** से विकसित हैं ।

(५) हिंदी में **कहार** शब्द एक वर्ण विशेष के लिए आता है जो घर में पानी भरने आदि का काम करता है तथा विवाह आदि के अवसर पर पालकी ढोता है, का० में पालकी ढोनेवाले को **कहर** कहा जाता है । 'देशीनाममाला' में हेमचंद्र ने **काहारो** (२-२७) जलादिवाही कर्मकर के अर्थ में दिया है (दे० लेखक का 'देशीनाममाला में कृषि-शब्दावली' शीर्षक निबंध, हिंदुस्तानी, सितम्बर १९५८) ।

(६) हिंदी तथा ओड़िया में **कोट** किले के अर्थ में आता है, काश्मीरी में यह **कुठ** है। संस्कृत कोषों में **कोटः** तथा **कोट्टः** दो शब्द मिलते हैं। दे० ना० मा० में **कोट्ट** (२.४५) नगर के अर्थ में दिया गया है (दे० 'दे० ना० मा० में कृषि शब्दावली' निबंध)। इस संबंध में प्रा० **कोट** (नगर) शब्द भी ध्यान देने योग्य है। हिं० में **कोतवाल** पुलिस सुपरिन्टेंडेंट के अर्थ में आता है, तामिल और तेलुगू में भी यह शब्द पुलिस अधिकारी के अर्थ में प्रचलित है; मराठी में **कोतवाल** किले अथवा नगर दोनों के रक्षक को कहते हैं (दे० मराठी व्युत्पत्ति कोश, डा० कुलकर्णी)। यह सं० 'कोट्ट+पाल' का ही विकसित रूप है।

(७) काश्मीरी में **क्रोछ**, हिं० करछी, कलछुल, करछुल अथवा कड़छुल के अर्थ में व्यवहृत होता है। हेमचन्द्र ने 'कडच्छू' (२.७.) को अयोदर्वी के अर्थ में देश्य शब्द बतलाया है (दे० उक्त निबंध)। धनपाल ने भी 'कडुच्छुओ' का प्रयोग किया है।

(८) काश्मीरी में '**खल**' शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत होता है १. हिं० खलिहान २. खली ३. खाल।

युजुर्वेद में **खलम्** तथा पाणिनि के व्याकरण में **खल्या** खलिहान के अर्थ में आया है। मराठी में भी '**खल**' शब्द ज्यों का त्यों है, गु० में यह **खत्रुं** है, बं० में भी '**खल**' है, राजस्थानी में **खलां** है तथा सिं० में **खरु** है। ओड़िया में **खलिनी** प्रचलित है—पाणिनि ने **खलिनी** खलिहानों के समूह के अर्थ में दिया है (दे० पा० भा० पृ० २०३)। हिं० **खलिहान, खलियान** या **खरियान, खरिहान** तथा नेपाली **खलियान**, सं० **खलिधान्यम्** (दे० आप्टे की 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी') से विकसित हैं।

खली के अर्थ में सं० **खलि, खली** शब्द मिलते हैं, हेमचन्द्र ने भी **खली** (२.६६ दे० ना० मा०) को तिलपिण्डिका के अर्थ में दिया है।

खाल (चमड़ा) के लिए हेमचंद्र के समय में **खल्ला** (२-६६ दे० ना० मा०) शब्द था (दे० उक्त निबंध)।

(९) घड़े के लिए का० में **गागुर** है; गु० तथा मराठी में यह क्रमशः **गागर** व **घागर** है। हिं० तथा ओड़िया में **गगरा** है। बं० में **गगरी** है। हिं० में **गगरी** मिट्टी के छोटे घड़े को कहते हैं और **गगरा** साधारणतः लोहे के घड़े के लिए आता है। हेमचंद्र ने दे० ना० मा० (२.८९) में **गग्गरी** व **गायरी** दो शब्द दिए हैं—सं० में **गर्गरी** जलपात्र के अर्थ में मिलता है तथा **गर्गर** पानी के भवँर का बोधक है; पा० में **गग्गरो** का प्रयोग है, अतः का० गागुर, गु० **गागर**, म० **घागर**, हिं० **गगरा** आदि पा० गग्गरो से ही विकसित हैं। सं० 'गर्गर' व 'गर्गरी' रई (मथानी) के अर्थ में भी आता है, अतः ज्ञात होता है कि ये ध्वनिमूलक शब्द हैं—घड़े को पानी में डुबाने पर भी एक प्रकार की ध्वनि निकलती है।

(१०) सं० **गृध्र** का० में **ग्रद** के रूप में है, पा० और प्रा० में इसके रूप क्रमशः **गिद्धो** व **गिद्ध** हैं जिनसे हिं० **गिद्ध** या **गीध** म० **गीध** या **गिधाड**, पं० **घिद्ध**, सिं० **गिढु** प्रचालित हैं; प० पंजाबी में यह **गिरिज** रूप में है।

(११) हिं० में **चौक** शहर के चौकोर मुख्य स्थान को तथा **चौका** भोजन-स्थान को कहते हैं। म० में भी **चौक** चौकोर स्थान या चौराहा के लिए आता है। गु० में **चोक** चौकोर के लिए तथा **चोको** भोजन-पाक-स्थान को कहते हैं, का० में भी **चौक** चौराहा तथा **चोकु** भोजन के विशेष स्थान के लिए आता है। चौराहे के अर्थ में उड़िया में **चौंका** व सिं० में **चउकु** या **चौको** है। हेमचन्द्र ने **चउक्क** (३.२. दे०) का रूप दिया है। अप० में भी **चउक्कय** मिलता है; इनका विकास सं० 'चतुष्क' से स्वाभाविक है। ता० में 'चवुक्कम्' चौकोर को तथा ते० में 'चौक' शहर के चौकोर खुले स्थान को कहते हैं और ते० 'चौका' भोजन के विशेष स्थान के लिए आता है।

(१२) हिं० **झंडा** शब्द का० में **जंड** है। इसके समानान्तर रूप न केवल वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं में ही हैं वरन् द्राविड़ परिवार में भी हैं। पं०, बं०, ओ० तथा नेपाली में भी **झंडा** है। गु० में **झंडो**, सिं० में **झंडो**, म० में **झेंडा** है। तेलुगू और तामिल में यह क्रमशः **झंडा** और **जंडा** है।

रामचन्द्र वर्मा 'प्रामाणिक हिंदी कोश' में इसे सं० जयंत से संबंधित करते हैं। प्रा० में हमें **झअ-य** शब्द मिलता है, इसलिये इसका संबंध सं० 'ध्वज' से अधिक समीचीन है। डॉ० कुलकर्णी 'मराठी व्युत्पत्ति कोश' में इसे 'ध्वज+दण्ड' (पा० धजोदण्ड) दो शब्दों के सम्मिलित रूप का फल बतलाते हैं जो उपयुक्त जान पड़ता है। हिं० डंडा सं० दण्ड का ही विकसित रूप है।

(१३) काश्मीरी में **जर्य** निरंतर वृष्टि के लिए आता है, प्रा० परिवार में भी **जडि** इसी अर्थ में मिलता है, हिं०, म०, गु०, सि० तथा पं० में भी **झडी** है। हेमचन्द्र ने भी **झडी** (३.५३ दे०) का निर्देश किया है (दे० उक्त निबंध)। संभव है, यह द्राविड़ का ही मूल शब्द हो।

(१४) सं० जामातृ का० में **जामातुर** के रूप में है। म० में यह जामात तथा हिं० में दामाद या दमाद है।

(१५) हिं० **झोली** शब्द का० में **जूल्य** है, पं० में **झोली** ही है, गु० तथा म० में इसका उच्चारण **झोली** है। इस शब्द पर भी प्रकाश 'देशीनाममाला' से पड़ता है— हेमचंद्र लिखते हैं, "झोलिका शब्दो अपि संस्कृते न रूढस्तदायमपि देश्यः (३.५६)। आप्टे ने अपनी 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी' में **झौलिक** शब्द दिया है—ऐसा जान पड़ता है कि यह प्राकृत का ही शब्द है जिसे संस्कृत ने बाद में अपना लिया हो।

(१६) सं० **यूका** का० में **ज्यन** या **ज्यून** है जो हिं० में **जूँ** या **जुआँ** तथा म० में ऊ या ऊँ के रूप में प्राप्त है। हेमचंद्र ने भी **ऊआ** (१.१३६) शब्द का प्रयोग बतलाया है (दे० उक्त निबंध)।

(१७) हिं० में **डंगर** या **डांगर** (दे० ग्रा० शब्दा० पृ० २०४) ढोर या पशु के लिए आता है, यह शब्द का० में भी **डगरु** के रूप में है। राजस्थान में **डंगर** बैल के अर्थ में आता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ० २१५) द्वारा इस प्रकार प्रकाश पड़ता है—"पशुओं के खाने के लिए भुस और

कडङ्कर या कुट्टी दी जाती थी, उसे 'कडङ्करीय' कहते थे (५।१।६९, हिंदी 'डंगर')।"

हिं० डकार, डेकार अथवा ढेकार का० में डाकुर है। म० में यह ढेकर है। अपभ्रंश महाकाव्य 'पउम चरिउ' (२४.१३.३) में ढेक्कार का प्रयोग हुआ है, इसे सं० द्रेक् अथवा ध्रेक् (ध्वनि करने के अर्थ में) से संबंधित किया जा सकता है।

द्रा० में तेगुनिके क्रिया इसी अर्थ में आती है जिसे तुलना के लिए सोचा जा सकता है।

(१९) हिं० डोम भी का० में डुंब या डूम के रूप में है, राजस्थान में यह डूमड़ो है। सं० कोष में डोम तथा डोंब दो शब्द इसी अर्थ में मिलते हैं। हेमचंद्र ने डुंबो (४.११) श्वपच के अर्थ में दिया है। (दे० उक्त निबंध)। इस संबंध में द्रा० डुंवा राक्षस) भी स्मरण करने योग्य है।

(२०) का० डूलि हिं० डोला, डोली म० डोली का ही समानार्थी है—हेमचंद्र ने भी डोला (४.११ दे०) शब्द अंकित किया है—इसका विकास सं० दोला से सहज ही है।

(२१) सं० स्तन का० में थन के रूप में प्राप्त है, हिं० में यह थन, म० में थान, पं० में थण तथा सिं० में थाणु है। अप० में भी थण (पउम चरिउ १४.७८) प्रयुक्त होता था। मराठी में थान केवल स्त्रियों के स्तन के लिए आता है जब कि हिं० आदि में पशुओं के स्तन के लिए। हिं० में 'थनैली' (थन का एक रोग दे० ग्रा० श०, पृ० २०९) स्त्री और पशु दोनों के स्तन रोग के लिए व्यवहृत होता है।

(२२) काश्मीरी में नाभि को तून् कहते हैं जो सं० तुंद अथवा तुंदि (१. पेट, २. नाभि) से विकसित है। निकले हुए पेट के लिए हिंदी में तोंद आता है और गु० में तुंद।

(२३) हिं० टीका का० में तयोक है और हिं० टिकुली की जगह टिकुँ है। म० में यह टिका या टिक्का तथा गु० में टीका है। हेमचंद्र ने टिक्कं (४.३ दे०) को देश्य शब्द बतलाया है।

(२४) मध्य एवं वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं तथा द्राविड़ भाषाओं दोनों में ही मामा शब्द थोड़े बहुत ध्वनि परिवर्तन से मिलता है। हिं०, गु०, म० तथा ओ० का मामा तेलुगू में भी मामा ही है। हेमचंद्र ने भी मामा-मामी तथा मम्मी व मल्लाणी (६.११२ दे०) का प्रयोग सूचित किया है।

(२५) हेमचंद्र ने रोट्टं (७.२ दे०) शब्द चावल की पीठी के लिए दिया है। इसी से संबंधित हिं० रोट तथा का० रोठ है। उत्तर प्रदेश में रोट घी में निकाली हुई एक छोटी-मोटी रोटी को कहते हैं जिसमें साधारणतः शक्कर भी पड़ी रहती है—यह हनुमान जी तथा देवी जी को विशेष रूप से चढ़ाया जाता है। का० में भी रोठ इसी भाव का द्योतक है, म० में रोट मोटी भाकरी (रोटी) के लिए आता है।

(२६) 'शतपथ' में लुनन्तः शब्द आया है, इसके विकसित रूप हमें आज भी प्राप्त हैं। का० में इसे लोनुन हिं० में लवनी (दे० ग्रा० श०, पृ० ३३) कहते हैं। पाणिनि-

काल में इससे संबंधित लावक, तथा अभिलाव शब्द प्रचलित थे (दे० पा० मा० पृ० २०१-३)। हेमचन्द्र ने लुअं (७-२३ दे०) का निर्देश किया है (दे० उक्त निबंध)।

(२७) सं० वृश्चिक का० में व्युच् है जिसके हिं० बिच्छी, बिच्छू, बीछी, म० विचुं, गु० बिंछी, रा० बिचु, ओड़िया बिचा, सि० विचु रूप हैं। पा० और प्रा० में यह क्रमशः विच्छिको और विच्छिआ है।

(२८) हिं० ऊँट, म० उँट, गु० ऊँट अप० उट्ट सं० उष्ट्र का० में वूंठ है।

(२९) हिं० बूढ़ा, गु० बूढ़ो का० में बुडुँ है। 'पउमचरिउ' (१४-१३६) में बुड्ढ प्रयुक्त हुआ है जो सं० वृद्ध से विकसित है।

(३०) हिं० में जिस प्रकार ओढ़ना (बिछौना-ओढ़ना) आता है उसी प्रकार का० में वुरुन। गु० में यह ओढणुं है। हेमचंद्र ने ओड्ढणं (१.१५५ दे०) को देश्य शब्द बतलाया है। 'पउमचरिउ' में भी उड्ढण (४४-३३) शब्द प्राप्त है। प्रा० हिं० को० में ओढ़ना की उत्पत्ति सं० उपवेष्ठन से बतलाई गई है।

(३१) हिं० सोनार, ओ० सुनारि, सोणार, पं० सुनिआरा, सिं० सोनारो म०, गु० सोनार का० में स्वनुर कहे जाते हैं—यह सं० स्वर्णकार, पा० सुवण्णकारो, प्रा० सुवण्णआर से विकसित हैं।

(३२) सं० शूर्प का० में शुप है जो हिं० में सूप, सि० में सुपु, गु० में सुपंडु तथा म० में सूप है।

(३३) सं० शूकर का० में सोर है जो हिं० में सुअर या सूअर है।

(३४) हिं० हथउड या हथोड़ा (दे० ग्रा० श० पृ० २९८) का० में हथोडुँ है। बं० में यह हातुडी, ओ० में हातुडा, पं० में हाथऊडा, म० में हातोडा तथा हाथोडा है। इन्हें सं० हस्त+कूट से विकसित माना जा सकता है।

(३५) हिं० ससुर बं० ससर, ओ० ससुर, पं० सहुरा, सि० सहुरो, गु० ससरो, म० सासरा, का० में तिहुर है—ये सं० श्वसुर, प्रा० ससुर से विकसित हैं। इसी प्रकार हिं०, सासु, म० सासू, ओ० सासु, बं० सासुरी, सिं० ससु, गु०, ने० सासु, का० में हाश् है। ये सं० श्वश्रू, पा०, प्रा० सस्सू से विकसित हैं।

ग्रंथ-परिचय :—

माधवानल-कामकंदला कथा संबंधी कुछ अन्य रचनाएँ

अगरचंद नाहटा, बीकानेर

'हिंदी-अनुशीलन' वर्ष ११ अंक २ में श्री श्याममनोहर पांडेय का 'माधवानल-कामकंदला कथा का उद्गम' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें इस कथा से संबद्ध जिन रचनाओं का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त भी कुछ का परिचय पहले ही प्रकाशित हो चुका है जिनसे उक्त लेखक अनभिज्ञ ज्ञात होता है।[१]

मैंने अपने लेख में यह दिखलाया है कि आलम-रचित 'माधवानल कथा' से भी कुछ पूर्ववर्ती लालकृत 'माधवानल कथा' है। जिसकी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। दूसरी अज्ञात रचना जैसलमेर निवासी जोशी गंगाराम के पुत्र जगन्नाथ रचित 'माधवचरित्र' का विवरण मैंने अपने लेख में प्रकाशित किया था, जिसकी रचना संवत् १७४४ में हुई है। १७ वीं शताब्दी के प्राचीन 'गुर्जर-काव्य-संग्रह' में डा० भोगीलाल सांडेसरा संपादित अज्ञात कवि कृत 'माधवानल कथा' प्रकाशित हो चुकी है। शान्ति गुप्त वैश्य कृत 'माधवानल-कामकंदला' नाटक का भी मैंने उल्लेख किया था। इनके अतिरिक्त कुछ और भी रचनाओं का पता हाल ही में चला है, जिनका परिचय इस लेख में प्रकाशित किया जा रहा है।

डा० भोगीलाल सांडेसरा ने अपने 'लोकवार्ता विषयक प्राचीन साहित्य' नामक निबंध में श्री छगनलाल विद्याराम रावल को प्राप्त 'माधव चरित्र' का उल्लेख किया है। 'जैन गुर्जर कवियो' (भाग ३ पृष्ठ १०३८ और २१५६) में अज्ञात कवि रचित 'मनोहर माधव-विलास' नामक रचना की दो प्रतियों का विवरण प्रकाशित किया है। उनमें से एक प्रति पालमपुर के जैन भंडार में सं० १६८६ की लिखी हुई है, और दूसरी मुनि जिनविजय जी के संग्रह में होने का उल्लेख किया गया है, यद्यपि इन दोनों प्रतियों में काफ़ी पाठभेद है। इनके अतिरिक्त जोधपुर के केसरिया जी नामक जैन मंदिर के भंडार में मुझे ऐसी ही एक

---

१. उदाहरण के लिए देखिए—'हिन्दी अनुशीलन', वर्ष ४ अंक २ में प्रकाशित 'माधवानल-कामकंदला प्रेमकथा संबंधी दो अज्ञात हिंदी ग्रंथ' शीर्षक मेरा लेख तथा सन् १९०५ की खोज रिपोर्ट में संवत् १८१२ में रचित हरिनारायण 'माधवानल कथा' का विवरण और सन् १९०९ से ११ की खोज रिपोर्ट में रघुराम नागर कृत 'माधवविलास शतक' नामक ग्रंथ का विवरण। रघुराम रचित 'माधवविलास नाटक' की प्रति मेरे संग्रह में है।

रचना की संवत् १६३० में लिखी हुई प्रति मिली है, जिसका परिचय आगे दिया जा रहा है। इस रचना में भी आदि और अंत का पद्य तो वही है जो कि जैन 'गुर्जर कवियो' में प्रकाशित दो प्रतियों के विवरण में है; किंतु, एक तो प्रथम पद्य के बाद ही इन दोनों रचनाओं में पद्यों की एकदम भिन्नता है और दूसरे 'जैन गुर्जर कवियो' में इस रचना को अज्ञात कवि-कृत बतलाया है अर्थात् उन्हें प्राप्त दोनों प्रतियों में कवि का उल्लेख नहीं मिला। परन्तु मुझे उक्त प्रति में 'पुरुषोत्तमवत्स' नामक कवि का उल्लेख प्राप्त हुआ है और देसाई को प्राप्त दोनों प्रतियों की अपेक्षा यह प्रति पुरानी भी लगती है। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि पुरुषोत्तमवत्स वाली रचना १६ वीं शताब्दी की है और उसी को सामने रखते हुए किसी अन्य कवि ने दूसरी रचना की, जिनकी प्रतियाँ देसाई को प्राप्त हुईं।

पुरुषोत्तम वत्स रचित 'माधवानल कथा चुपई' ३२८ पद्यों में है, जिसके पद्यांक ७ में 'गुरुजी वत्स' का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'गुरु जी वत्स पसाइं करी। माधव कथा कहुं विस्तरी।' इसमें कवि ने अपने गुरु का उल्लेख करते हुए उनकी कृपा से 'माधव कथा' विस्तार से कहने का उल्लेख किया है, गुरु का नाम जीवत्स था। अपने नाम का उल्लेख कवि ने ३२७ वें पद्य में इस प्रकार किया है—

माधव कथा सरस निदान। सांभलइ ते नर सही प्रधान॥
'पुरुषोत्तम वत्स' कविकहि। ईसी कथाइं उचित फल लहि॥ २७॥

इसके बाद ही जो एक अंतिम दोहा इसमें मिलता है, वह थोड़े पाठभेद के साथ देसाई को प्राप्त संवत् १६८६ की प्रति में भी मिलता है। दोनों का पाठ इस प्रकार है—

न्याइं भोग सुख भोगवइ, अविहड़ नारी रंग।
रति पति तीणे पूजीयो, पुहवी मांहि सुरंग॥ ३२८॥
इति माधवानल कथा चौपइ संपूर्णम्॥

'जैन गुर्जर कवियो' भाग ३ पृष्ठ ३३८ में अंतिम पद्य इस प्रकार है—

न्याईं भोग संभोगवी, निश्चई नारी रंग।
इति पति इणी परिण पूजउ, चउविह थाइव अंग॥
इति श्री मनोहर माधव विलास काम कंदला वर्णने दुग्ध घटा समाप्तः॥

उन्होंने जो इसी की दूसरी प्रति का विवरण पृष्ठ २१५६ में दिया है, उसमें रचना का नाम 'माधवानल कथा' और पद्य-संख्या ३३८ बताई है, जबकि पृष्ठ १३८ में, जिस रचना का विवरण प्रकाशित हुआ है, उसमें रचना का नाम 'मनोहर माधव विलास काम-कंदला दुग्ध घटा' दिया है और पद्य-संख्या १८६ है। उसमें जो अंतिम दोहा है, वह पृष्ठ २१५६ में वर्णित प्रति में आधा तथा पाठभेद के साथ है। वैसे भी दोनों में काफ़ी पाठभेद हैं। अतः उन दोनों के जितने पद्य प्रकाशित हुए हैं, वे नीचे दिए जा रहे हैं। पृष्ठ १०३८ में संवत् १६८६ में लिखी हुई प्रति के आदि-अंत के ३ पद्य इस प्रकार दिए गए हैं—

आदि— सरसती सामिणि वीनऊं, लाभुं तुम तणैं पाइ।
माधव गुण अम्हे जंपिसुं, मुझ मति वर दिउ माइ॥ १॥
नागरी पुष्फावती रुपड़ी, रुपड़ा वाढ़ प्राकार।
रुपड़ा मंदिर मालिया, रुपड़ा तोरण सार॥ २॥

अंत—न्याइ भोग संभोगवी, निश्चई नारी रंग।
रति पति इण पणि पूजउ, चउविह माहव अंग ॥ १८६ ॥

पृष्ठ २१५६ में प्रकाशित आदि अंत के पद्य—

आदि—सरसति सामिणी वीनवुं, लागुं तुम्ह चे पाय।
माधव गुण अम्हें बोलि सुं, मझ मति दिऊ वर माय ॥ १ ॥
पुष्पावती नगरी भली, भला ति मढ़ प्राकार।
भला ति मंदर मालियां, रुड़ा ति तोरण सार ॥ २ ॥
तिण नयरि राजा भलु, चालइ निरति आण।
नामि गोव्यंद चंद नर, अरि दल भंजण माण ॥ ३ ॥

अंत—गाहा—जिम सरि रमइति हंसो, कोकिल कुजंति वसंत मासेहिं।
नेहो दिन अर चकि, सारभयंति वंम सो कामा ॥ ३३५ ॥
आइ भोगस भोगवइ, निश्चल नारी रंग।
हर हरि वंभ पूजिउ वली, तू विह माहव अंगि ॥ ३३६ ॥
परदुख कातर विक्रमह, परदुख भंजण ईह।
ते राजा थिर थइ रहिउ, जां मेदिनी रहइ एह ॥ ३३७ ॥
कथा आ स्वजय कारिणी, कीधू रंग रसाल।
ते भेगी न वोलीउ, लाधइ मनि चीत चाल ॥ ३३८ ॥

इति माधवानल कथा समाप्त।

अब पुरुषोत्तम वत्स रचित 'माधवानल कथा चुपई' नामक रचना की जो प्रति मुझे प्राप्त हुई है उसका विवरण दिया जा रहा है—

आदि—सरसति सामिणि वीनवुं, लागुं तुम्ह तणे पाय।
माधव गुण अम्हें जंपिसु, मुझ मति दिउ वर माय ॥ १ ॥

चुपई—कर जोड़ी नइ प्रणामूं पाय। सरसति सामिनि बुद्धि उपाय।
करि मोदक नइ निज खाटरा। प्रथमइ प्रणामू लंबोदरा ॥ २ ॥
आसन वाली बइठा वीर। सिंदूर अरचीउं शरीर।
गज वदन करी फरशी धरी। जयमाला कंठि विस्तरी ॥ ३ ॥
वीर विहुपति सिद्धि बुधिसार। ते त्रीस कोडि देवह प्रतिहार।
सकल सभा ना दुरित उपहरू। विघ्नहरण तुम्ह रक्षा करू ॥ ४ ॥
सरसति सामिनि प्रणमूं पाय। अविरल वाणी आपू माय।
चांपे से वंत्र स्युं करी। पूजूं चंदति कचोलां भरी ॥ ५ ॥
काशमीर कोइल गिरि ठाहि। इन्द्रादिक तुम्ह पुजइ माय।
पहिरणि श्वेत पटउली झलइ। उदिवर एकाउलि झलहलइ ॥ ६ ॥
करि वीणा पुस्तक धारती। भणाइ कविजन मति दिउ भारती।
गुरू जीवत्स पसाइं करी। माधव कथा कहूं विस्तरी ॥ ७ ॥
उत्तम देश नइं उत्तम ठांम। *पुष्पावती* नगर नुं नाम।
गोपचंद राय पाट भोगवइ। सुख संयोग सदा योगवइ ॥ ८ ॥

तीणइ नयरि *माधव* विप्र वसइ । सोइ दीठइ अच्छी गव्भं सिसइ ।
वीणा धरइ करइ वहु गान । माधव रूप नहीं समान ॥ ६ ॥

अंत—माधव सुंदरि हुइ संयोग । ऊजेणी मांहि टलीओ रोग ।
जेणइ पापीइं करिउ विछोह । तेह घरि हुयो विक्रमी मोह ॥ २४ ॥
अलजइ आलिंगम दीधां घाणां । मोटा कर्म्म जे आपणि दोइ मिल्यां ।
माधव कामिनि एक शरीर । राज करे तूं विक्रम वीर ॥ २५ ॥
माधव कथा कही सणगार । सकल सभा मइं दुरित निवारि ।
कामी पुरुष सुणइ मनि धरी । सुख संयोग मिलइ सुंदरी ॥ २६ ॥
माधव कथा सरस निदान । सांभलइ ते नर सही प्रधान ।
पुरुषोत्तमवत्स कवि कहि । ईणी कथाइं उचित फल लहि ॥ २७ ॥

दुहु—त्याइं भोग सुख भोगवइं, अविहड़ नारी रंग ।
रतपति तीणे पूजीओ, पुहवी मांहि सुरंग ॥ ३२८ ॥

॥ इति माधवानल कथा चुपई संपूर्णम् ॥

॥ छः ॥ श्रीरस्तु ॥ लेखक पाठकयो कल्याणमस्तु ॥ संवत् १६३७ वर्षे आषाढ़ मासे शुक्ल पक्षे त्रयादश्यां तिथौ शनिवासरे श्री नगेन्द्र गच्छे व० श्री श्री जयसागर शिष्य रत्नसागर लिखित श्री ॥ श्री ॥

सरस्वती चरणदास रत्नसागर केन ।
रत्तु दिणयर ऊगमइ, रत्तुं दाडिम फूल ॥
दत्तुदोइ जण प्रीति रस, कवण करइ तसु मुल्ल ॥ १ ॥

इस रचना में प्रधानतया दोहा और चौपई ही हैं, पर बीच-बीच में कुछ संस्कृत श्लोक व प्राकृत गाथाएँ भी मिलती हैं। जिस प्रति में यह रचना मिली है, उसमें भीम रचित 'सदयवत्स रास, और कवि असाइत कृत 'हंसाउली' नामक प्राचीन रचनाएँ भी साथ ही ५२ पत्रों में लिखी हुई हैं। प्रति के बीच के १७-२२ संख्या वाले पत्र प्राप्त नहीं हैं। प्रस्तुत रचना १६ वीं शताब्दी की अवश्य है। इसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में हैं।

समुचित व्याख्या के लिए उपयोगी है। इसके पूर्व साहित्य की व्याख्या और अनुशीलन की पद्धतियाँ प्रायः साहित्य के बाह्य शैलीगत सौन्दर्य के परीक्षण में अथवा अधिक से अधिक उसके प्रभावोत्पादक पक्ष के उद्घाटन में संलग्न रही थीं। अतः आधुनिक युग में साहित्य को उसके व्यापक संदर्भ में देखने-समझने की प्रवृत्ति बढ़ी है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर साथ ही साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी जड़ता भी प्रवेश कर रही है जिससे हमको सतर्क हो जाना चाहिए।

आज साहित्य की समुचित व्याख्या करने के लिए ऐतिहासिक, दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक न जाने कितनी भूमिकाओं में हम उतरना चाहते हैं। और इन भूमिकाओं को स्वीकार कर लेने से, जैसा कहा गया है, हम साहित्य की समग्र दृष्टि को ग्रहण करने में समर्थ होते भी हैं। परन्तु देखा यह जा रहा है कि अधिकतर इन भूमिकाओं और संदर्भों को संगठित अथवा प्रस्तुत करने में साहित्य की व्याख्या की दृष्टि गौण हो जाती है और इनका स्वतंत्र अध्ययन प्रस्तुत करना प्रमुख हो जाता है। साहित्य इन भूमिकाओं के अध्ययन का साधन मात्र रह जाता है और यह भुला दिया जाता है कि इनके माध्यम से साहित्य के जीवन संबंधी समग्र दृष्टिकोण को ग्रहण करना हमारा ध्येय था। आज सूर और तुलसी के काव्य के अनुशीलन में हम दार्शनिक वादों की निश्चित स्थिति देखना चाहते हैं, साम्प्रदायिक व्यवस्था का इतिहास खोजना चाहते हैं, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक जीवन का इतिहास संकलित करना चाहते हैं। ऐसा नहीं कि उनके काव्य में ऐसे तत्त्व नहीं हैं, पर पहली बात तो है कि काव्य की दृष्टि इतिहास की दृष्टि नहीं है, इस कारण इस प्रकार के अनुशीलन में सतर्कता की अपेक्षा है। काव्य अपने समसामयिक जीवन का आश्रय लेकर भी न जाने कितनी गत परम्पराओं को आत्मसात् कर लेता है और न जाने कितने आगत स्वप्नों का भविष्य छिपाए रहता है। इस प्रकार के ऐतिहासिक युग को प्रधानता देने वाले तथा शास्त्रीय ज्ञान का संकलन करने वाले अध्ययन अथवा अनुशीलन का क्षेत्र विभिन्न शास्त्रों का है, साहित्य का प्रमुख क्षेत्र नहीं। साहित्य का अध्यापक तथा विद्यार्थी साहित्य की सामग्री के आधार पर इस प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत कर सकता है, पर उसके मन में उपर्युक्त धारणा स्पष्ट होनी चाहिए।

दूसरी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है, साहित्य की अपनी जीवन को समग्रता से ग्रहण करने की दृष्टि। उसमें जीवन के विविध पक्ष, रूप और स्थितियाँ एक साथ उपस्थित होती हैं। इस कारण मानव जीवन के आधार पर विकसित सभी शास्त्रों के विषय साहित्य में एक साथ तो उपस्थित होते हैं, पर उनकी स्थिति, शास्त्र जिस वस्तुपरक रूप में अपने विषय को स्वीकार करता है, उस रूप में नहीं होती। साहित्य में जीवन स्पन्दित प्रक्रिया में उपस्थित होता है, और साथ ही यह प्रक्रिया हमारे सामान्य जीवन से भिन्न भी है। यह साहित्यकार की सर्जन प्रक्रिया से ग्रहण किया हुआ जीवन—चाहे अपनी साधारणीकरण की स्थिति के कारण, चाहे अपनी व्यंजकता के कारण, अथवा अपनी असम्पृक्त सक्रिय सहभोग की स्थिति के कारण—हमारे साधारण जीवन के अनुभव से भिन्न है।

हमारे साहित्य के अध्ययन तथा अध्यापन के अन्तर्गत अनेक शास्त्रीय अध्ययन इधर सम्मिलित होते जा रहे हैं। भाषाविज्ञान, पाठ-विज्ञान तथा लोकवार्ता आदि कुछ ऐसे ही

सम्पादकीय :—

साहित्य का अध्ययन तथा अध्यापन

समस्त भौतिक विज्ञानों और मानवीय शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन के बीच सहित्य की स्थिति विशिष्ट है। वैसे तो भौतिक विज्ञानों तथा मानवीय शास्त्रों की दृष्टि में मौलिक अन्तर है, भौतिक विज्ञान जिस निश्चय के साथ अपरिवर्तनीय नियमों पर अपने ज्ञान को अग्रसर करने का दावा करते हैं, मानवीय शास्त्रों के नियम उतने निश्चित और अपरिहार्य नहीं हो सकते। इसका मूल कारण है कि भौतिक पदार्थों और वस्तुओं की स्थिति तथा क्रिया-प्रतिक्रियाओं का भविष्य जितना निश्चित है, मानव की इच्छाओं, भावनाओं तथा क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ भी भविष्यवाणी करना उतना ही कठिन है। फिर भी अध्ययन, अध्यापन तथा अनुशीलन की दृष्टि से दोनों क्षेत्रों में समान पद्धति का अनुसरण बहुत बड़ी सीमा तक हो सकता है, क्योंकि अनुभव, पर्यवेक्षण, परीक्षण द्वारा समान स्थितियों के समान व्यवहार की खोज और उसके आधार पर निश्चित नियमों का अनुसंधान, यही इन दोनों ज्ञान-क्षेत्रों की पद्धति है। यह बात दूसरी है कि विज्ञानों की अपेक्षा इन शास्त्रों में नियम के अपवाद अधिक हैं और उनकी व्याख्या मानव के मानसिक जीवन की विषमता के आधार पर की जा सकती है। परन्तु साहित्य की स्थिति ज्ञान-विज्ञान के इन क्षेत्रों से अलग है।

साहित्य को उपर्युक्त अर्थ में ज्ञान कहना उचित नहीं है। साहित्य को जीवन का दर्पण कहा जाय, जीवन की अभिव्यक्ति माना जाय अथवा जीवन की उपलब्धि और प्रेषणीयता स्वीकारा जाय, उसकी केथारसिस के सिद्धान्त से व्याख्या की जाय, रस सिद्धान्त के आधार पर उसे ब्रह्मानन्द माना जाय, अथवा आज की दृष्टि से उसे सक्रिय सहभोग (Active participation) कहा जाय, पर इतना स्पष्ट है, साहित्य जीवन की व्यापक समग्रता पर प्रतिष्ठित है। उसमें जीवन और जगत् का कुछ भी ऐसा नहीं है जो समेटा न जा सके। इतिहास, भूगोल, पुरातत्त्व, नृतत्व, समाजशास्त्र, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि मानव जीवन की व्याख्या करने वाले जितने भी शास्त्र के विषय हैं वे सब साहित्य के संदर्भ में अपनी सार्थकता रखते हैं।

आधुनिक युग के आरम्भ से जिस प्रकार विभिन्न मानवीय शास्त्रों के अन्तर्गत मानवीय जीवन के विभिन्न पक्षों का गम्भीर अध्ययन किया गया है, उसी प्रकार इन विभिन्न दृष्टियों से साहित्य को देखने की शैलियाँ भी चल निकली हैं। एक सीमा तक इन दृष्टियों की आवश्यकता भी थी, क्योंकि साहित्याकाश के विस्तृत क्षितिज को स्पष्ट करना साहित्य की

समुचित व्याख्या के लिए उपयोगी है। इसके पूर्व साहित्य की व्याख्या और अनुशीलन की पद्धतियाँ प्रायः साहित्य के बाह्य शैलीगत सौन्दर्य के परीक्षण में अथवा अधिक से अधिक उसके प्रभावोत्पादक पक्ष के उद्घाटन में संलग्न रही थीं। अतः आधुनिक युग में साहित्य को उसके व्यापक संदर्भ में देखने-समझने की प्रवृत्ति बढ़ी है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर साथ ही साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी जड़ता भी प्रवेश कर रही है जिससे हमको सतर्क हो जाना चाहिए।

आज साहित्य की समुचित व्याख्या करने के लिए ऐतिहासिक, दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक न जाने कितनी भूमिकाओं में हम उतरना चाहते हैं। और इन भूमिकाओं को स्वीकार कर लेने से, जैसा कहा गया है, हम साहित्य की समग्र दृष्टि को ग्रहण करने में समर्थ होते भी हैं। परन्तु देखा यह जा रहा है कि अधिकतर इन भूमिकाओं और संदर्भों को संगठित अथवा प्रस्तुत करने में साहित्य की व्याख्या की दृष्टि गौण हो जाती है और इनका स्वतंत्र अध्ययन प्रस्तुत करना प्रमुख हो जाता है। साहित्य इन भूमिकाओं के अध्ययन का साधन मात्र रह जाता है और यह भुला दिया जाता है कि इनके माध्यम से साहित्य के जीवन संबंधी समग्र दृष्टिकोण को ग्रहण करना हमारा ध्येय था। आज सूर और तुलसी के काव्य के अनुशीलन में हम दार्शनिक वादों की निश्चित स्थिति देखना चाहते हैं, साम्प्रदायिक व्यवस्था का इतिहास खोजना चाहते हैं, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक जीवन का इतिहास संकलित करना चाहते हैं। ऐसा नहीं कि उनके काव्य में ऐसे तत्त्व नहीं हैं, पर पहली बात तो है कि काव्य की दृष्टि इतिहास की दृष्टि नहीं है, इस कारण इस प्रकार के अनुशीलन में सतर्कता की अपेक्षा है। काव्य अपने समसामयिक जीवन का आश्रय लेकर भी न जाने कितनी गत परम्पराओं को आत्मसात् कर लेता है और न जाने कितने आगत स्वप्नों का भविष्य छिपाए रहता है। इस प्रकार के ऐतिहासिक युग को प्रधानता देने वाले तथा शास्त्रीय ज्ञान का संकलन करने वाले अध्ययन अथवा अनुशीलन का क्षेत्र विभिन्न शास्त्रों का है, साहित्य का प्रमुख क्षेत्र नहीं। साहित्य का अध्यापक तथा विद्यार्थी साहित्य की सामग्री के आधार पर इस प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत कर सकता है, पर उसके मन में उपर्युक्त धारणा स्पष्ट होनी चाहिए।

दूसरी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है, साहित्य की अपनी जीवन को समग्रता से ग्रहण करने की दृष्टि। उसमें जीवन के विविध पक्ष, रूप और स्थितियाँ एक साथ उपस्थित होती हैं। इस कारण मानव जीवन के आधार पर विकसित सभी शास्त्रों के विषय साहित्य में एक साथ तो उपस्थित होते हैं, पर उनकी स्थिति, शास्त्र जिस वस्तुपरक रूप में अपने विषय को स्वीकार करता है, उस रूप में नहीं होती। साहित्य में जीवन स्पन्दित प्रक्रिया में उपस्थित होता है, और साथ ही यह प्रक्रिया हमारे सामान्य जीवन से भिन्न भी है। यह साहित्यकार की सर्जन प्रक्रिया से ग्रहण किया हुआ जीवन—चाहे अपनी साधारणीकरण की स्थिति के कारण, चाहे अपनी व्यंजकता के कारण, अथवा अपनी असम्पृक्त सक्रिय सहभोग की स्थिति के कारण—हमारे साधारण जीवन के अनुभव से भिन्न है।

हमारे साहित्य के अध्ययन तथा अध्यापन के अन्तर्गत अनेक शास्त्रीय अध्ययन इधर सम्मिलित होते जा रहे हैं। भाषाविज्ञान, पाठ-विज्ञान तथा लोकवार्ता आदि कुछ ऐसे ही

अध्ययन हैं। एक सीमा तक इनका अध्ययन साहित्य के अध्ययन की दृष्टि को व्यापक और आधार को स्पष्ट करता है। पर कभी-कभी स्थिति विचित्र दिखाई पड़ती है। साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा अनुशीलन के अन्तर्गत जान पड़ने लगता है कि सब कुछ स्वीकृत है—दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और इनके साथ भाषाशास्त्र, पाठ-विज्ञान तथा लोकवार्ता, पर साहित्य स्वतः निष्कासित है।

साहित्य का अपना शास्त्र होता है। साहित्यशास्त्र की परंपरा सभी समुन्नत साहित्यों के साथ चली आ रही है। पर साहित्यशास्त्र शास्त्रीयता की दृष्टि से बहुत अस्थिर शास्त्र रहा है और उसका कारण साहित्य की अपनी प्रकृति तो है ही, साथ ही युग-युग में साहित्य के मूल्यों का परिवर्तन भी है। जीवन के विभिन्न पक्षों को अलग अलग रख कर उनके नियमों का अन्वेषण करना अलग बात है, पर समग्र जीवन को नियमों में शासित कर लेना संभव कार्य नहीं है। और साहित्य में तो जीवन विशिष्ट स्थिति में अभिव्यक्त होता है। उसमें जीवन की जटिलता तो रहती ही है, सर्जनात्मक प्रक्रिया की जटिलता बढ़ जाती है। यही कारण है कि प्राचीन साहित्यशास्त्री की दृष्टि प्रायः अभिव्यक्ति की प्रणालियों पर रही है, और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य-बोध की विवेचना करने का प्रयत्न किया गया है। ये दोनों प्रश्न साहित्य के संदर्भ में बहुत सार्थक हैं, पर साहित्य के विकसित होते आधुनिक भावबोध के साथ यह अनुभव किया गया कि साहित्य की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं। इसी स्थिति में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टियों से साहित्य की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है।

वस्तुतः आधुनिक युग में साहित्य को विस्तृत संदर्भ में जीवन के गहन दायित्व के साथ रखकर देखने की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। ऐसी स्थिति में एक ओर प्राचीन साहित्यशास्त्र हमको संकुचित जान पड़ते हैं और नए साहित्यशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव होता है। दूसरी ओर साहित्य को मानवीय मूल्यों के साथ उनकी उपलब्धि की प्रक्रिया में समझने की दृष्टि का विकास हुआ है। और क्योंकि कोई भी साहित्यशास्त्र साहित्य में उपलब्ध जीवन तथा उसके सक्रिय सहभोग की व्याख्या करने में पूर्णतः समर्थ नहीं हो सकता है, इस कारण साहित्य का अध्ययन तथा अध्यापन—और एक सीमा तक अनुशीलन भी—शास्त्रीय नियम की मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण करके ही सार्थक होता है।

भारतीय हिन्दी परिषद्

पंचदश वार्षिक अधिवेशन, प्रयाग

का

कार्य-विवरण

ता० २५, २६, २७ दिसम्बर १९५७

कार्यानुक्रम

बुधवार ता० २५ दिसम्बर, १९५७

कार्यसमिति की बैठक : प्रातः ८।। बजे
प्रतिनिधि-मण्डल की बैठक : प्रातः ९।। बजे
साधारण सभा की बैठक : प्रातः १० बजे

उद्घाटन समारोह : अपराह्न २।। बजे (सीनेट हाल)

मंगलाचरण : सरस्वती वंदना (छात्राओं द्वारा)
स्वागत भाषण : स्वागताध्यक्ष डॉ० श्रीरंजन, उपकुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय
उद्घाटन भाषण : माननीय श्री कमलापति त्रिपाठी, शिक्षा, गृह तथा सूचना मंत्री, उत्तर प्रदेश

सभापति का भाषण : डा० विनयमोहन शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर

सन्देश पाठ : डा० श्रीकृष्णलाल, प्रधान मंत्री, भारतीय हिन्दी परिषद्
धन्यवाद प्रकाशन :

गुरुवार ता० २६ दिसम्बर, १९५७

निबन्ध गोष्ठी : प्रातः ८।। बजे (लॉ कालेज)
सभापति : डा० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय

निबन्ध पाठ—

१—**मराठी कवि मोरोपन्त पराड़कर और उनकी १०८ रामायणें**—श्री इन्दुप्रकाश पाण्डेय, बम्बई
२—**कवि गोविंद गिल्ला भाई**—श्री जयेन्द्र त्रिवेदी, भावनगर
३—**तुलसी में श्रेष्ठीकरण**—श्री सु० शंकरराजू नायडू, मद्रास
४—**'उज्वल नीलमणि' में मधुर रस का निरूपण**—श्री रमाशंकर तिवारी, बलिया
५—**उर्मिला की नींद**—श्री चा० सूर्यनारायण मूर्ति, मद्रास
६—**नन्ददास के काव्य पर श्रीमद्भागवत के काव्य संबंधी अंशों का प्रभाव**—डॉ० शशि अग्रवाल, प्रयाग
७—**संत लछमीसखी और उनकी कृति 'अमर फराश'**—प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, छपरा
८—**संस्कृति और साहित्य में श्री राधा**—प्रो० माधवाचार्य, बम्बई
९—**संत सिंगाजी की 'परचुरी'—एक परिचय**—श्री रमेशचन्द्र गंगराड़े, जबलपुर
१०—**'पद्मावत' में दंगवै और भीम**—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग
११—**'सूर सागर' का संशोधन और सम्पादन**—श्री प्रभुदयाल मीतल, मथुरा

१२—**कबीर की उन्मनी क्या है?**—श्री संगमलाल पाण्डेय, प्रयाग

१३—**छंद और संगीत**—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल

१४—**भोज की शृंगार रस संबंधी मान्यता**—डॉ० मनोहरलाल गौड़, अलीगढ़

विचार गोष्ठी : अपराह्न २॥ बजे (सीनेट हाल)

सभापति—डॉ० विश्वेश्वरप्रसाद, दिल्ली

विषय—देश की भावी समाजवादी व्यवस्था में भारतीय भाषाओं की स्थिति

विषय प्रवर्त्तक : आचार्य श्री काका कालेलकर, दिल्ली

वक्ता : श्री मोहनलाल भट्ट, वर्धा

श्री पृथ्वीनाथ पुष्प, श्रीनगर

श्री ना० नागप्पा, मैसूर

श्री शंकर राजू नायडू, मद्रास

डॉ० बाबूराम सक्सेना, इलाहाबाद

सांस्कृतिक प्रदर्शन—रात्रि ६ बजे से

१—उसने कहा था का अभिनय

२—कामायनी का भावाभिनय

३—लोकगीत

(विश्वविद्यालय के छात्र, छात्राओं द्वारा डा० लक्ष्मीनारायण लाल के संयोजकत्व में)

शुक्रवार, दिनांक २७ दिसम्बर १९५७

निबन्ध गोष्ठी : प्रातः ८॥ बजे (लॉ कालेज)

सभापति : डॉ० राजबली पाण्डेय, अध्यक्ष, पुरातत्त्व और प्राचीन इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विषय—मध्य देशीय संस्कृति

निबन्ध पाठ—

१—**मध्यदेश—शिष्ट देश से ब्राह्मणों का देशान्तर गमन**—डॉ० वासुदेव उपाध्याय, पटना

२—**बंगाल का आर्यकरण**—डॉ० रमानाथ त्रिपाठी, कानपुर

३—**हिंदी वीर काव्य में नारी**—डॉ० टीकमसिंह तोमर, आगरा

४—**मध्य देशीय संस्कृति का सूत्र**—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी

५—**प्राचीन पाटलिपुत्र : एक ऐतिहासिक परिचय**—डॉ० उदय नारायण राय, प्रयाग

६—**कन्नड़ में यक्षगान और उसका स्वरूप**—डॉ० हिरण्यमय, बंगलोर

७—**भारतीय कथा-साहित्य में सिंहल द्वीप**—श्री रवीन्द्र भ्रमर, आरा

८—**'माधवानल कामकन्दला' कथा का उद्गम**—श्री श्याममनोहर पाण्डेय, प्रयाग

९—**रीति ग्रन्थों के नए प्रणेता महाकवि व्रजेश**—श्री कृष्णचन्द्र वर्मा, रीवाँ

१०—'प्रबोध पचासा' में पद्माकर का व्यक्तित्व—श्री भारतेन्दु सिनहा, बड़ौदा

विचार गोष्ठी—अपराह्न १ बजे

सभापति—डा० हरवंशलाल शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी संस्कृत विभाग, मुसलिम विश्व-विद्यालय, अलीगढ़

विषय—हिन्दी अध्यापन की समस्याएँ

वक्तागण—

१—श्री जयेन्द्र त्रिवेदी, भावनगर

२—श्री ना० नागप्पा, मैसूर

३—श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रयाग

४—श्री माधवाचार्य, बम्बई

५—डॉ० रामधन शर्मा, दिल्ली

६—श्री गोपालशरण तिवारी, कोल्हापुर

७—डॉ० उदयभानु सिंह, दिल्ली

८—डॉ० श्रीकृष्णलाल, वाराणसी

९—श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल, रीवाँ

१०—श्री प्रो० कपिल, मुंगेर

११—डॉ० हरिहरनाथ टण्डन, आगरा

समापन गोष्ठी : अपराह्न ३ बजे

सभापति—डॉ० विनय मोहन शर्मा

प्रस्ताव—

प्रस्तावक—१. डॉ० विनयमोहन शर्मा, जबलपुर
२. श्री ना० नागप्पा, मैसूर
३. श्री कपिलदेव नारायण सिंह, मुंगेर
४. डॉ० विनयमोहन शर्मा, जबलपुर

धन्यवाद—डॉ० श्री कृष्णलाल, वाराणसी
डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग

स्वागताध्यक्ष डॉ० श्रीरंजन का

स्वागत-भाषण

माननीय पं० कमलापति जी त्रिपाठी, परिषद् के सदस्यगण, देवियो और सज्जनो,

भारतीय हिन्दी परिषद् के इस पन्द्रहवें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर मैं परम आदर और स्नेहपूर्वक इस अधिवेशन के उद्घाटनकर्ता, माननीय पं० कमलापति जी त्रिपाठी, तथा इस अधिवेशन में सम्मिलित होने वाले विद्वान् प्रतिनिधियों, सदस्यों तथा अन्य सभी आमंत्रित महानुभावों का हार्दिक स्वागत करता हूँ। इलाहाबाद यूनीवर्सिटी की ओर से यह दायित्व मुझे सौंपा गया, इससे मैं अत्यन्त आनन्द और गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। हम लोग आप सब का जैसा स्वागत करना चाहते थे, संभवतः वैसा नहीं कर सके। किन्तु आप सब महानुभावों की उदारता का मुझे पूरा भरोसा है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप हमारी त्रुटियों पर कृपा कर ध्यान न देंगे।

आज हम जिस पवित्र भूमि पर एकत्र हुए हैं वह भारतीय इतिहास के आदि काल से सम्पूर्ण भारत के लिए सांस्कृतिक प्रेरणा की स्रोत रही है। प्रयाग का माहात्म्य अक्षुण्ण बना हुआ है। पुराणों में कहा गया है कि प्रयाग में सभी मनोरथों की सिद्धि होती है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों की सहज ही उपलब्धि होती है। तीर्थराज प्रयाग का गौरव-गान करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है :—

> सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मनकाम।
> बंदी वेद-पुरान-गन, कहहिं विमल गुनग्राम॥

हमारी त्रुटियों की पूर्ति इस पवित्र भूमि से हो जाती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

सांस्कृतिक समृद्धि का प्रयाग वह केन्द्र है जहाँ ब्रह्मा ने यज्ञ किया था और तब से भारतीय इतिहास के सब कालों में उसका गौरवपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ अनेक महापुरुषों का आगमन हुआ है और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और संत यहाँ निवास कर चुके हैं। वाल्मीकि और तुलसी ने इसका गुणगान किया है। भरद्वाज ऋषि का आश्रम भी यहीं था, जहाँ मर्यादापुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण और सीता-सहित पधारे थे। अक्षयवट और त्रिवेणी ने प्रयाग का माहात्म्य और भी बढ़ाया है। महात्मा गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, हर्षवर्द्धन, अकबर, शेरशाह, आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अधिनायकों के जीवन-सूत्र के साथ सम्बद्ध होने का गौरव भी इस पवित्र नगर को मिल चुका है। प्रतिष्ठानपुर, कौशाम्बी और भीटा जैसे ऐतिहासिक स्थलों का सामीप्य भी इसे प्राप्त है जिनके ध्वंसावशेषों से भारतीय इतिहास पर प्रचुर प्रकाश पड़ रहा है और आगे पड़ने की संभावना है। प्रयाग की अशोक की धर्म लिपि और समुद्रगुप्त का अभिलेख भी हमारा ध्यान आकृष्ट किए बिना नहीं रहते। इतना ही नहीं, आधुनिक भारत की राजनीतिक चेतना की पृष्ठभूमि का बहुत कुछ निर्माण प्रयाग में ही हुआ। अन्य अनेक महापुरुषों के अतिरिक्त महामना मालवीय जी, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, सर सी० वाई० चिन्तामणि, सर तेजबहादुर सप्रू आदि प्रयाग की कुछ ऐसी विभूतियाँ हैं जिन पर अपना देश ही नहीं, संसार के सारे देश गर्व का अनुभव कर सकते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में तो प्रयाग अग्रणी है। हिन्दी गद्य के सर्वप्रथम निर्माताओं में मुंशी सदासुखलाल प्रयाग निवासी ही थे। हिन्दी के सर्वप्रथम साहित्यिक निबंध-लेखक बालकृष्ण भट्ट का कार्यक्षेत्र भी प्रयाग ही था। 'सरस्वती' और उसके माध्यम द्वारा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बिना तो हिन्दी साहित्य का इतिहास ही अधूरा माना जायगा। फिर हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवं राजर्षि टण्डन और हिन्दुस्तानी एकेडेमी को कौन हिन्दी-प्रेमी भूल सकता है? यहीं से उत्तरप्रदेश की शिक्षा का संचालन होता है और राज्य की उच्चतम शिक्षा का केन्द्र भी यहीं है। कलाकारों और साहित्यिकों का तो यह नगर अक्षय भाण्डार है। यहाँ का हाईकोर्ट भारत के न्याय-क्षेत्र में उच्च स्थान रखता है। प्रयाग की अनन्त और अवर्णनीय विभूतियाँ हैं। उनकी ये समस्त ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गरिमाएँ आपकी भेंट करता हुआ मैं फिर आप सब महानुभावों का स्वागत करता हूँ। आपने अपने अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य छोड़कर यहाँ पधारने की कृपा की, इसके लिए मैं आप सबका आभारी हूँ। आशा है इससे हमें और भी अधिक कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

भारतीय हिन्दी परिषद् से तो आप सब परिचित ही हैं। उसके पिछले पन्द्रह वर्षों के इतिहास की पुनरावृत्ति कर मैं आपका बहुमूल्य समय नष्ट करना नहीं चाहता। इस अल्प समय में परिषद् ने जो कार्य किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए भी वह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता गया है, यह उसकी मूलभूत शक्ति का परिचय देने वाली बात है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि परिषद् का संचालन कर्मठ व्यक्तियों के हाथ में है। परिषद् की ओर से अँगरेजी-हिन्दी वैज्ञानिक कोश और 'हिन्दी अनुशीलन' का प्रकाशन विज्ञान और साहित्य को बहुत बड़ी देन हैं। परिषद् के तत्वावधान में हिन्दी साहित्य का जो इतिहास प्रकाशित होने वाला है, और जिसके एक खंड की पाण्डुलिपि प्रेस भी जा चुकी है, वह निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन होगा। भाषा के स्थिरीकरण तथा पाठ्य-क्रम संबंधी अनेक समस्याओं पर भी भारतीय हिन्दी परिषद् ने समय-समय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह सारा कार्य हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए विशेषतः और सारे देश के लिए सामान्यतः अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। इतना ही नहीं आगे आने वाले कार्यकर्ताओं का यह कार्य मार्ग-प्रदर्शन करेगा।

इस अधिवेशन में भी आप भाषा, साहित्य और तत्संबंधी अन्य अनेक समस्याओं पर विचार करेंगे। आप जो विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पठन-पाठन करते हैं उसका गहन अनुभव उन समस्याओं के सुलझाने में सहायक होगा। स्वतंत्र भारत में विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के हिन्दी-अध्यापकों का उत्तरदायित्व तो और भी बढ़ गया है। लेकिन हिन्दी जितनी हिन्दी-अध्यापकों की भाषा है उतनी ही उन अध्यापकों की भी भाषा है जो हिन्दी के अतिरिक्त अन्य ज्ञान-विज्ञान संबंधी विषयों का पठन-पाठन करते हैं। उन सबके सामूहिक प्रयत्नों द्वारा हिन्दी का भाण्डार भरा जाना है। तभी हिन्दी समृद्ध हो सकेगी। जब मैं हिन्दी को समृद्ध बनाने की बात कहता हूँ तो साहित्य की दृष्टि से ऐसा नहीं कहता। हिन्दी साहित्य तो एक हजार वर्ष के लगभग प्राचीन है और काफ़ी समृद्ध है। जिस साहित्य में जायसी, कबीर, सूर, तुलसी, मीरां, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, भारतेन्दु, रत्नाकर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', पंत, निराला, महादेवी आदि कवि, कलाकार और लेखक हों उस साहित्य को किसी के सामने सिर झुकाने

की ज़रूरत नहीं है। हिन्दी को तो विविध ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से पुष्ट बनाना है। यह कार्य तो उन्हीं हिन्दी-प्रेमी विद्वानों द्वारा सम्पन्न हो सकता है जो विविध ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देते और उनका अध्ययन करते हैं। हिन्दी की जो परमुखापेक्षिता है वह उन्हीं के द्वारा दूर हो सकती है। राष्ट्रीयता तथा निजभाषा-प्रेम का यह तकाज़ा है कि वह दूर होनी ही चाहिए। मैं रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, जन्तुविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भूगोल आदि विविध विषयों के अध्यापकों से अनुरोध करता हूँ कि वे शीघ्राति-शीघ्र इस ओर ध्यान दें।

भारतीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित अँगरेज़ी-हिन्दी वैज्ञानिक कोष एक बड़ा सही और ठोस क़दम है। आशा है अन्य विषयों के कोष भी यहाँ से शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। लेकिन पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई अनुलंघनीय कठिनाई नहीं है। हिन्दी के माध्यम द्वारा विविध ज्ञान-विज्ञान-संबंधी विषयों का पठन-पाठन, उसमें उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन हमारी इच्छा-शक्ति पर निर्भर है। हम चाहें तो सब कुछ हो सकता है। भाषा की समृद्धि या निर्धनता उसके बोलने वालों की समृद्धि या निर्धनता पर आश्रित है। भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ हैं और उन भाषाओं का संस्कृत जैसी गरिमामयी भाषा से संबंध है। क्या भारतीय भाषाओं के विद्वान् एक साथ बैठकर एक ऐसी सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली को जन्म नहीं दे सकते जो सारे देश में प्रचलित हो जाय। हमारी राष्ट्रीय एकता की भी यह माँग है, और मुझे भारतीय मनीषा में पूर्ण विश्वास है। हाँ, यदि कुछ दुर्लभ विदेशी शब्द भी ग्रहण करने पड़ें तो हमें उन्हें सहर्ष ग्रहण करना चाहिए। यह हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की ऐतिहासिक परम्परा और जीवित भाषाओं के आदर्श और मर्यादा के अनुरूप ही होगा। यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न होना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि विश्वविद्या-लयों और कॉलेजों में शिक्षा-माध्यम की भी एक जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, त्यों-त्यों समस्या जटिल से जटिलतर होती जा रही है। हमारे देश के जीवन और यहाँ की शिक्षा-व्यवस्था में अँगरेज़ी का जो स्थान है उससे तो आप परिचित ही हैं। किन्तु अँगरेज़ी का वह स्थान तो नहीं रह सकता जो अँगरेज़ी राज्य में था। उसे कब और किस प्रकार हटाया जाय, यह एक समस्या है जिसने देश के बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर रखा है। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही यह समस्या सुलझेगी और आप सब विद्वानों के विचार इस समस्या के सुलझाने में सहायक होंगे। भारतीय भाषाओं को तो उनका अधिकार मिलना ही चाहिए। उस अधिकार-भोग के साथ-साथ अँगरेज़ी ही नहीं फ्रेंच, स्पेनिश, इटैलियन, रूसी, चेक, जर्मन, चीनी, जापानी आदि संसार की सभी भाषाओं के गंभीर अध्ययन की भी आवश्यकता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। अन्य देशों के ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात् कर अपनी भारतीय भाषाओं द्वारा जनजीवन को पुष्ट करना हमारा परम धर्म है। देश का शिक्षित समुदाय इस धर्म का पालन कर ही ऋषि-ऋण से मुक्त हो सकता है।

इधर कुछ दिनों से देश का बहुत बड़ा जनमत तो नहीं, किन्तु एक प्रभावशाली जनमत फिर अँगरेज़ी की ओर झुक रहा है। यह चिंत्य विषय है। इस पर हम सब लोगों को देश के अपार जनसमूह और देश की भावी सन्तान को दृष्टिपथ में रखते हुए गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। बड़े खेद का विषय है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी को अब राजनीति के

दलदल में घसीटा जा रहा है। यह न केवल हमारे राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के लिए घातक है, वरन् इससे भारतीय भाषाओं के पारस्परिक संघर्ष की भयावह संभावना भी उत्पन्न होती जा रही है जो नितान्त अवांछनीय है। 'हिन्दी-साम्राज्यवाद' का नारा ज़बरदस्ती पैदा किया जा रहा है और उसके पीछे भी राजनीति है, व्यक्तिगत स्वार्थ (vested interests) हैं। मुझे तो स्मरण नहीं पड़ता कि किसी भी हिन्दी-भाषा-भाषी ने बलपूर्वक हिन्दी को किसी पर लादने की बात स्वप्न में भी कही हो। हिन्दी को यह पद तो उसकी सहज-स्वाभाविक सरलता और व्यापकता के कारण मिला है। अँगरेज़ी से उसका संघर्ष तो समझ में आता है, किन्तु अन्य भारतीय भाषाओं से उसका क्या संघर्ष है, या हो सकता है, यह समझ सकना कठिन है। राजभाषा आयोग (Official Language Commission) की रिपोर्ट का अवलोकन करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्र के व्यापक जीवन में, शिक्षा-क्षेत्र में, न्यायालयों में, प्रशासकीय क्षेत्रों में तथा राष्ट्र के अन्य क्षेत्रों में, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में संघर्ष का कोई स्थान नहीं है, और जो कुछ कठिनाइयाँ हैं भी उन्हें पारस्परिक सद्भावना और आदान-प्रदान से दूर किया जा सकता है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता इसी सद्भावना और आदान-प्रदान की है। आशा है भाषाओं की आड़ में भारतीय जन-जीवन को विषाक्त न बनने दिया जायगा। हमें इस बात की प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए कि भाषा को लेकर देश के अन्य स्थल 'पंजाब' न बनें।

इन ज्वलन्त विषयों के अतिरिक्त हमारे सामने अन्य समस्याएँ भी हैं—विशेषरूप से मुद्रण और टंकन की समस्याएँ हैं। इन समस्याओं से सम्बद्ध लिपि की समस्या भी है। परम्परा और भविष्य दोनों को ध्यान में रखते हुए इन पर विचार किया जाना चाहिए। आधुनिक आणविक और उद्जन शक्तियों तथा कृत्रिम उपग्रहों के युग में अनेक ऐसी सयस्याएँ हैं, और भविष्य में होंगी, जिनका समाधान हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा होना अनिवार्य है। नहीं तो हमारे देश का जन-जीवन पिछड़ा हुआ रहेगा। इसके लिए हमें अभी से कटिबद्ध होकर तैयारियाँ करनी चाहिए। खड़ीबोली हिन्दी तो आधुनिकता का प्रतीक बनकर वैसे ही अवतरित हुई थी। नवीनतम वैज्ञानिक प्रगति का सन्देश घर-घर पहुँचाने में उसे समर्थ होना चाहिए।

देवियो और सज्जनों! मैंने प्रासंगिक रूप में अपने कुछ विचार आपके सामने रखने की धृष्टता की है। भारतीय हिन्दी परिषद् तो विद्वानों की संस्था है, और उसका प्रमुख कार्यक्रम अनुसंधान और अनुशीलन है ही। इस कार्यक्रम को अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाने में आप सब विद्वान् पूर्ण समर्थ हैं। मैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों—'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'—की ओर आपका ही नहीं सभी भारतवासियों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। भारतीय हिन्दी परिषद् इसी दृष्टि से अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में सचेष्ट है, और इसके प्रयत्न अनेकांश में सफल भी हुए हैं।

अब मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। आप माननीय पं० कमलापति जी त्रिपाठी के विचार सुनने के लिए उत्सुक होंगे। मैं आप सबकी सफलता की मंगल-कामना करते हुए फिर एक बार आप सबका स्वागत और अभिनन्दन करता हूँ।

माननीय श्री पं० कमलापति त्रिपाठी का उद्घाटन-भाषण

हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित हो जाने से ही हमारे कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाते। हिन्दी सेवा का गुरुतर दायित्व तो हमें अब निबाहना है। इसे सही अर्थों में राष्ट्रभाषा और सर्वमान्य बनाने के लिए आवश्यक है कि इसे राष्ट्र के कोने-कोने में पहुँचाया जाय और प्रत्येक भारतवासी के जीवन के निकट इसे लाया जाय ताकि वह उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख सके। यह तभी सम्भव है जब हमारी भाषा का द्वार सबके लिए खुला हो और किसी अन्य भाषा को स्वप्न में भी यह सोचने का अवसर न मिले कि हिन्दी एक प्रतिद्वन्दी के रूप में आई है। अहिन्दी भाषियों को हमें बता देना है कि हिन्दी में कोई विजातीयता नहीं है।

हिन्दी भाषा भाषियों पर महान उत्तरदायित्व है कि वे तमाम वाद-विवादों को भूल कर हिन्दी के शब्द-भाण्डार को समृद्ध करें और उसे इस योग्य बनावें कि वह उच्च शिक्षा का माध्यम बन सके।

हिन्दी के विरुद्ध शंकाएँ एवं भ्रम फैलाए जा रहे हैं। हिन्दी भाषा-भाषियों का कर्त्तव्य है कि वे उसका उदारतापूर्ण निराकरण करें। देश के किसी भी कोने में अगर हिन्दी के प्रति शंकाएँ उत्पन्न हो रही हैं तो इस समय उनका निराकरण करना हिन्दी के प्रति हिन्दी वालों की सबसे बड़ी सेवा है। जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो गया है, तो उसे उसके योग्य बनाना हम हिन्दी वालों का कर्त्तव्य है।

देश में अनेक प्रादेशिक भाषाएँ हैं, जो अधिक समुन्नत हैं, उनका साहित्य अन्य भाषाओं की तुलना में कम नहीं है। फिर भी हम हिन्दी को किसी प्रादेशिक भाषा की तुलना में नहीं रखना चाहते। हमें उदार एवं सहिष्णु बनने की आवश्यकता है। केवल प्रस्ताव पास करने अथवा हिन्दी को संविधान में स्थान दिला देने से वह समृद्ध नहीं हो सकती। हमें राष्ट्रभाषा को इस योग्य बनाना है, जिससे समूचा राष्ट्र उसे अंगीकार कर ले।

भाषा का प्राण शब्द और शब्दावलियाँ हैं। हमें विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को आवश्यकतानुसार हिन्दी भाषा में ले लेना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रचलित शब्दों को अपने में पचा लें। ऐसा करने से ही हिन्दी का शब्द-भाण्डार समृद्धि-शाली हो सकता है। विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाना है। तभी वह राष्ट्रभाषा का सही स्थान ले सकती है।

संस्कृत भाषा हमारी हिन्दी भाषा का मूलाधार है, एक समय था जबकि वह हमारी संस्कृति और शिक्षा का माध्यम थी। उसमें भारतीय एकता की अपूर्व शक्ति है, वही हिन्दी का स्रोत है, उसका हिन्दी से सीधा सम्बन्ध है।

आज हिन्दी के सामने अनेक संकट उपस्थित हैं। एक हिन्दी के उपासक होने के नाते मैं हिन्दी भाषा-भाषियों का ध्यान उन समस्याओं की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनके कारण हिन्दी संकट में पड़ी है। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा हो गई है, यह हमारे लिए गौरव की बात है। वह एक ऐसी भाषा है, जिसे अधिकांश जनसंख्या बोलती है। हमारा देश इतने दिनों तक गुलामी में जकड़ा होने के बाद भी जीवित रहा। इसका कारण यह है कि हिन्दी ने राष्ट्र को एकता क़ायम रखने की प्रेरणा प्रदान की है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। हिन्दी वह भाषा है जिसने देश को अमरता का संदेश दिया है। ऐसे वाङ्मय की सृष्टि इस देश ने की है, उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठापित कर हम गौरवान्वित हुए हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर हमने किसी अन्य भाषा-भाषी के प्रति दुर्भावना या अनादर नहीं किया है। यदि कोई कहे कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने से साम्प्रदायिकता की भावना फैलाई गई है तो वह हिन्दी के साधकों के प्रति अन्याय करता है। हमने यदि उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया है तो उसके मौलिक और तात्विक कारण हैं। जिन लोगों ने उसे राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है, हम उनके आभारी हैं।

हिन्दी लगभग देश के २० करोड़ लोगों की मातृभाषा है। उसे हम ३६ कोटि जनता की भाषा बनाने को उत्सुक हैं। वह इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। किसी अन्य भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं है। राष्ट्रभाषा होने के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो अधिक जनसंख्या की हो। हिन्दी ऐसी ही भाषा है। यदि हम हिन्दी के सारे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि उसका उद्भव उस भाषा से हुआ है जिसमें समूचे राष्ट्र की जीवन धारा व्यक्त हुई है। उसका मूल संस्कृत है। वह संस्कृत जिसमें जीवन में उचित और अनुचित की, आचार-विचार की और सांस्कृतिक धारा की अभिव्यक्ति हुई है। उसी संस्कृत भाषा की सीधी शृंखला में हिन्दी आती है। उसे इस दृष्टि से राष्ट्रनेताओं को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि वही एक ऐसी भाषा है जिसमें अन्तरप्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित करने की शक्ति है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि किसी भारतीय भाषा से उसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। वे सभी हमारी भाषाएँ हैं। यदि हम इस भावना से कार्य न करेंगे तो हमारा ध्येय थोथा हो जाएगा। हमारी समस्त प्रादेशिक भाषाएँ फूलें-फलें और अपनी सम्पन्नता से राष्ट्रभाषा को परिपुष्ट करें। भाषा का प्रश्न साधारण प्रश्न नहीं है। वह राष्ट्र के जीवन के साथ जुड़ा है। इसे हमें उदारता और विवेक के साथ हल करना है। (संक्षेप)

सभापति डॉ० विनयमोहन शर्मा का भाषण

मित्रो,

भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन ऐसे क्षणों में हो रहा है, जब हिन्दी की स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल प्रतीत होती है। यों तो उसका जीवन आरम्भ से ही संघर्षमय रहा है पर ऐसा समय कदाचित् ही कभी आया हो जब उसे अपने ही अभिभावकों, सेवकों तथा देशवासियों द्वारा इतना अधिक तिरस्कृत और अपमानित होना पड़ा हो। यह मैं जानता हूँ कि उसे इस संकटमयी परिस्थिति से मुक्त कराने के उपाय सुझाने की मुझमें क्षमता नहीं है। फिर भी आपने मुझे यहाँ आसीन कर मेरे प्रति जो सहज विश्वास और स्नेह प्रदर्शित किया है उसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ।

इन अस्थिर घड़ियों में मैं मध्यप्रदेश के प्रखर राष्ट्रभक्त मुख्य मंत्री स्वर्गीय पंडित रविशंकर शुक्ल का स्मरण किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने अपने जीवनकाल में हिन्दी भाषा की हर प्रकार से सेवा की और उसकी समुन्नति के प्रत्येक प्रयत्न में सोत्साह योग दिया। नागपुर में होनेवाले भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रयोदश अधिवेशन उन्हीं के आशीर्वाद से सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था। भारतीय संविधान में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार कराने में उन्होंने अथक परिश्रम किया था। उनके ही राज्य मध्यप्रदेश में सर्व-प्रथम हिन्दी और मराठी को राजभाषा का सम्मान प्राप्त हुआ था और उन्हीं की प्रेरणा तथा सहायता से नागपुर विश्वविद्यालय ने सर्वप्रथम हिन्दी और मराठी भाषाओं के माध्यमों को स्वीकार कर अन्य विश्वविद्यालयों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किया था। महात्मा गांधी के समान ही उनका विश्वास था कि राष्ट्र की एकता राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है। अतः उसके प्रचार और उत्कर्ष के लिए वे सदैव सहायक हुआ करते थे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम इस संकट काल में उनके प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन से वंचित हो गए हैं। शुक्ल जी के अतिरिक्त साहित्य-क्षेत्र में हमें तीन वयोवृद्ध सेवियों का भी वियोग सहना पड़ा है। एक तो यहीं के अधिवासी साधु-प्रकृति भगवानदास जी केला हैं जिनका उनहत्तर वर्ष की आयु में हाल ही में शरीरांत हो गया है और दूसरे मध्यप्रदेश के ९० वर्षीय अत्यन्त वृद्ध लेखक पंडित सुखराम जी चौबे 'गुणाकर' हैं। तीसरे ग्वालियर के स्वर्गीय रामचन्द्र जी भालेराव हैं। स्वर्गीय केला जी ने हिन्दी में सर्वप्रथम अर्थशास्त्र और राजनीति की दर्जनों पुस्तकें लिखीं और जीवन के संध्याकाल में सर्वोदय पर भी सर्वप्रथम लेखनी उठाई। यह संतोष का विषय है कि इसी वर्ष बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने उन्हें उनके सर्वोदय अर्थशास्त्र पर अखिल भारतीय पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया था। स्वर्गीय 'गुणाकर' जी हरिश्चन्द्र युगीन परम्परा के जीवित उदाहरण थे। वे तुलसी-काव्य के मर्मज्ञ, हास्यरस के परिष्कृत लेखक, कवि तथा प्रभावी वक्ता थे। उन्होंने बाल-साहित्य की विशेष सेवा की है। भालेराव जी हिन्दी के प्राचीन लेखक थे। उन्होंने इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य आदि पर अनेक लेख शोधपत्रिकाओं में लिखे हैं। मराठी भाषी होते हुए भी सदैव हिन्दी-सेवा में तत्पर रहे। मैं

आज हिन्दी के सामने अनेक संकट उपस्थित हैं। एक हिन्दी के उपासक होने के नाते मैं हिन्दी भाषा-भाषियों का ध्यान उन समस्याओं की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनके कारण हिन्दी संकट में पड़ी है। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा हो गई है, यह हमारे लिए गौरव की बात है। वह एक ऐसी भाषा है, जिसे अधिकांश जनसंख्या बोलती है। हमारा देश इतने दिनों तक गुलामी में जकड़ा होने के बाद भी जीवित रहा। इसका कारण यह है कि हिन्दी ने राष्ट्र को एकता क़ायम रखने की प्रेरणा प्रदान की है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। हिन्दी वह भाषा है जिसने देश को अमरता का संदेश दिया है। ऐसे वाङ्मय की सृष्टि इस देश ने की है, उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठापित कर हम गौरवान्वित हुए हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर हमने किसी अन्य भाषा-भाषी के प्रति दुर्भावना या अनादर नहीं किया है। यदि कोई कहे कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने से साम्प्रदायिकता की भावना फैलाई गई है तो वह हिन्दी के साधकों के प्रति अन्याय करता है। हमने यदि उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया है तो उसके मौलिक और तात्विक कारण हैं। जिन लोगों ने उसे राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है, हम उनके आभारी हैं।

हिन्दी लगभग देश के २० करोड़ लोगों की मातृभाषा है। उसे हम ३६ कोटि जनता की भाषा बनाने को उत्सुक हैं। वह इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। किसी अन्य भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं है। राष्ट्रभाषा होने के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो अधिक जनसंख्या की हो। हिन्दी ऐसी ही भाषा है। यदि हम हिन्दी के सारे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि उसका उद्भव उस भाषा से हुआ है जिसमें समूचे राष्ट्र की जीवन धारा व्यक्त हुई है। उसका मूल संस्कृत है। वह संस्कृत जिसमें जीवन में उचित और अनुचित की, आचार-विचार की और सांस्कृतिक धारा की अभिव्यक्ति हुई है। उसी संस्कृत भाषा की सीधी शृंखला में हिन्दी आती है। उसे इस दृष्टि से राष्ट्रनेताओं को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि वही एक ऐसी भाषा है जिसमें अन्तरप्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित करने की शक्ति है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि किसी भारतीय भाषा से उसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। वे सभी हमारी भाषाएँ हैं। यदि हम इस भावना से कार्य न करेंगे तो हमारा ध्येय थोथा हो जाएगा। हमारी समस्त प्रादेशिक भाषाएँ फूलें-फलें और अपनी सम्पन्नता से राष्ट्रभाषा को परिपुष्ट करें। भाषा का प्रश्न साधारण प्रश्न नहीं है। वह राष्ट्र के जीवन के साथ जुड़ा है। इसे हमें उदारता और विवेक के साथ हल करना है। (संक्षेप)

लें तो देश की अनेक वर्तमान समस्याओं का अंत हो जायगा और देश का प्रत्येक भाग एक सूत्र में बँध जायगा। यदि क्षेत्रीय भाषा के माध्यम पर आग्रह किया गया तो ज्ञान-विज्ञान की प्रगति और उसके प्रसार में बाधा उपस्थित हो जायगी। विशिष्ट विषय के विद्वानों की प्रतिभा का प्रकाश क्षेत्र विशेष को ही आलोकित कर पायगा। समस्त राष्ट्र तक पहुँचने में उसे समय लगेगा। मैं जानता हूँ कि भाषावार प्रान्त-रचना से निर्मित मनोवृत्ति में इस आदर्श तक पहुँचना अभी सम्भव नहीं है। इस समय तो अधिक से अधिक यही हो सकता है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में क्षेत्रीय भाषा के साथ-साथ राजभाषा के माध्यम की भी सुविधा हो जिससे प्रत्येक भारतीय नागरिक को अखिल देशीय स्थान प्राप्त करने का अवसर मिल सके, और वह देश के किसी भी कोने में स्थित विश्वविद्यालय से ज्ञान उपलब्ध कर सके। हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में अभी प्रत्येक विषय में हिन्दी माध्यम के रूप में स्थापित नहीं हो पायी है। आशा है हमारे शिक्षा-शास्त्री शीघ्र ही इस ओर ध्यान देंगे क्योंकि हिन्दी को माध्यम के रूप में हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालय अधिक सरलता से अपना सकते हैं। जब तक हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालय हिन्दी के प्रति अपने उत्तरदायित्व का भलीभाँति पालन न करेंगे तब तक अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी को माध्यम बनाने का प्रश्न ढिलाई में ही पड़ा रहेगा।

आज समस्त भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों में हिन्दी किसी न किसी रूप में अध्ययन का विषय बन गई है। उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्यापन बी० ए० और एम० ए० के वर्गों तक सीमित है। मध्यप्रदेश तथा दक्षिण के विश्वविद्यालयों में इन्टर का अध्ययन भी विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ही होता है, परन्तु उपर्युक्त सभी वर्गों की परीक्षाओं के प्रश्नपत्रों की संख्या और पाठ्यक्रम के स्तर में एकरूपता नहीं है। कहीं इन्टरमीडिएट परीक्षा में हिन्दी निबन्ध के अनिवार्य प्रश्नपत्र के अतिरिक्त ऐच्छिक विषय के तीन प्रश्नपत्र हैं और कहीं दो हैं। इसी प्रकार बी० ए० में कहीं अनिवार्य निबन्ध के अतिरिक्त ऐच्छिक विषय के तीन और कहीं छः प्रश्नपत्र हैं। उस्मानिया तथा नागपुर विश्वविद्यालयों को छोड़कर दक्षिण भारत के कई विश्वविद्यालयों में बी० ए० की परीक्षा में छः प्रश्नपत्र होते हैं और उनमें भाषा-विज्ञान, आलोचनाशास्त्र, अलंकार-छंद-रस-व्याकरण के स्वतंत्र प्रश्नपत्र होते हैं। प्रथम और द्वितीय खंड एम० ए० के कुल प्रश्नपत्रों की संख्या कहीं आठ है और कहीं नौ। कहीं मौखिक परीक्षा अनिवार्य है, कहीं नहीं। क्या ही अच्छा होता यदि हम सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी के प्रश्नपत्रों तथा पाठ्यक्रमों में अधिक से अधिक एकरूपता लाने में सफल हो सकते। अभी दक्षिण के समस्त विश्वविद्यालयों में उत्तर-स्नातक (एम० ए०) वर्ग स्थापित नहीं हो पाए हैं। दक्षिण में केवल केरल विश्वविद्यालय में इस वर्ष हिन्दी में एम० ए० का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया गया है और प्रसन्नता की बात है कि इसका अपना स्वतंत्र हिन्दी-अध्यापन-विभाग भी है। उत्तर भारत में अभी भी ऐसे विश्वविद्यालय हैं जहाँ हिन्दी को प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं हो पाया। उसका स्वतन्त्र-अध्यापन-विभाग तक स्थापित नहीं किया गया। जब हिन्दी-क्षेत्रों में ही हिन्दी अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाई तब हम किस नैतिक बल पर अन्य स्थानों में हिन्दी की उपेक्षा और उस पर होनवाले अन्याय की ओर अंगुलि-निर्देश कर सकते हैं? हमें सर्वप्रथम अपने घर को ही सम्हालने की आवश्यकता है।

इन सब हिन्दी-प्रेमियों और सेवियों के प्रति अपनी सजल श्रद्धांजलि अर्पित कर आशा करता हूँ कि इनके कार्य और आदर्श हमें निरन्तर अनुप्राणित करते रहेंगे।

हमारे राष्ट्रप्रेमी नेताओं ने जबसे हिन्दी को भारतीय संविधान में राजभाषा के रूप में अंगीकृत किया है तब से समय-समय पर उसके विरोध में आवाजें उठती रही हैं पर इधर भाषा-आयोग-प्रतिवेदन के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् से तो विरोधियों का स्वर अधिक ऊँचा, अधिक तीखा और अधिक असंतुलित-सा हो गया है। परम आश्चर्य तो यह है कि उनमें ऐसे महान् मनीषी भी सम्मिलित हैं जिनका हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भाषा के इस सामयिक और राजनीतिक प्रश्न पर मैं बाद में विचार करूँगा। सर्वप्रथम मैं विश्वविद्यालयों में हिन्दी की स्थिति का सिंहावलोकन कर लेना उचित समझता हूँ।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रश्न माध्यम तथा अध्ययन-अध्यापन के रूप में उपस्थित होता है। अंग्रेजों के शासन-काल में विश्वविद्यालयीन और बहुकाल तक माध्यमिक शिक्षा का भी माध्यम अँग्रेजी रहा क्योंकि शासकों का ध्येय मेकाले के अनुसार देश में ऐसी जाति तैयार करना था जो रंग में तो भारतीय पर आचार-विचार में अंग्रेज हो। देश को अँग्रेजों के शासन से मुक्त हुए दस वर्ष व्यतीत हो गए पर अभी तक हमारे नेता शिक्षा की इस महत्त्वपूर्ण समस्या को हल करने में समर्थ नहीं हो पाए। उनका मन प्रादेशिक भाषा, संघीय भाषा, हिन्दी और विदेशी भाषा अंग्रेजी के मध्य झूल रहा है। अतः निश्चित नेतृत्व के अभाव में कुछ विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषा स्वीकार की गयी है और कुछ विश्वविद्यालयों ने अभी अँग्रेज़ी को ही जारी रखा है। जिन्हें देश के भविष्य की आतुर चिन्ता है वे क्षेत्रीय भाषा को माध्यम के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। मुझे स्मरण है कि तीन वर्ष पूर्व मेरे ही सम्मुख केरल विश्वविद्यालय में जब एक प्राध्यापक ने वहाँ की क्षेत्रीय भाषा मलयालम को केरल विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव किया था तब उसके प्रो-वाइसचान्सलर श्री पणिकर ने कहा था कि "मलयाली होने के नाते मुझे अपनी मातृ-भाषा से प्रेम है पर मैं अपनी भावी संतति को केरल की सीमा में ही सिसकते रहने का अभिशाप नहीं झेल सकता। जब तक राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रत्येक विषय का माध्यम बनने योग्य नहीं हो जाती तब तक इस विश्वविद्यालय का माध्यम अंग्रेज़ी ही रखना उचित होगा।" श्री पणिकर के इस तथ्यनिरूपक भाषण के उपरान्त प्रस्तावक ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया था। कुछ समय पूर्व उत्कल के मुख्य मंत्री श्री हरेकृष्ण मेहताब तथा आन्ध्र राज्य के शिक्षा मंत्री श्रीराव ने भी क्षेत्रीय भाषा के माध्यम का विरोध किया था। श्रीराव ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "यदि प्रत्येक राज्य में विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा बनाया गया तो भावी पीढ़ी की अपार क्षति होगी। शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को अंतर-विश्वविद्यालयीन बोर्ड तथा केन्द्रीय सरकार पर छोड़ देना चाहिए और समस्त विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम एक ही भाषा होना चाहिए।" यह तो निश्चित ही है कि विदेशी भाषा अंग्रेज़ी सदा के लिए हमारे विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम नहीं बनी रह सकती। हमें राजभाषा और क्षेत्रीय भाषा में से ही किसी एक को चुनना होगा। यदि हमारे शिक्षा-शास्त्री तथा देश के दूरदर्शी नेता देश की सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से समस्त विश्वविद्यालयों में राजभाषा को ही शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर

उनमें आगरा हिन्दी-विद्यापीठ को छोड़कर किसी में भी हिन्दी पर अनुसंधान नहीं होता। विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय भी पर्याप्त रूप से सम्पन्न नहीं हैं। इनमें शोधोपयोगी सन्दर्भ-ग्रन्थ, प्राचीन पांडुलिपियाँ आदि प्राप्य नहीं हैं। हिन्दी शोध-कर्त्ताओं के लिए काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का पुस्तकालय वरदान-स्वरूप सिद्ध हो रहा है। यदि हिन्दी विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पृथक् शोध पुस्तकालय स्थापित हो सके तो शोधकों की अनेक असुविधाएँ दूर हो सकेंगी।

शोधार्थी को शोध-विषयों के निर्वाचन में भी कठिनाई होती है, क्योंकि अंतर-विश्वविद्यालयीन बोर्ड की ओर से विभिन्न विश्वविद्यालयों में होनेवाले शोध-कार्यों का कोई लेखा प्रकाशित नहीं होता। 'हिन्दी अनुशीलन' में शोध के लिए स्वीकृत विषयों की सूची छपती रहती है परन्तु उसे सभी विश्वविद्यालयों द्वारा सूचनाएँ प्राप्त नहीं हो पातीं इसलिए वह अधूरी ही रहती है। ऐसी स्थिति में कई बार एक ही विषय दो-तीन विश्व-विद्यालयों में शोध के लिए स्वीकृत हो जाता है। एक विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से कार्य हो सकता है पर यदि शोधार्थी विषय के विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचित हो तो वह अपने विषय को सीमित कर सकता है और अपने कार्य की निश्चित दिशा निर्धारित कर सकता है।

भाषा और साहित्य के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य भी शोध की उपाधि के लिए मान्य होना चाहिए। इससे कई महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों के वैज्ञानिक रीति से सम्पादित संस्करण प्रकाश में आ सकेंगे। प्रयाग, बम्बई, नागपुर आदि कुछ विश्वविद्यालयों ने प्राचीन ग्रन्थ-सम्पादन-कार्य को भी शोध-उपाधियों के उपयुक्त माना है।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी-अध्यापन और शोध-कार्य पर विचार करने के उपरान्त मैं देश के कतिपय शिक्षित नेताओं द्वारा उठाए गए हिन्दी-विरोध पर, जो समाचार-पत्रों में देशव्यापी आंदोलन-सा जान पड़ता है, दो शब्द कह देना चाहता हूँ। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यह तथाकथित आंदोलन देश के एक-दो प्रान्तों के विशिष्ट जनों तक ही सीमित है। हिन्दी-विरोधियों में सर्वप्रथम द्राविड़स्तान की माँग करनेवाले द्राविड़-कजगाम आंदोलनकारी हैं जो कभी भारतीय संविधान को जलाते हैं, कभी महात्मा गांधी की तस्वीरों का अपमान करते हैं, कभी जातिवाद के जोश में ब्राह्मणों की हत्या की धमकी देते हैं और कभी संस्कृत भाषा की उत्तराधिकारिणी हिन्दी के विरुद्ध नारे लगाते और स्टेशनों पर अंकित हिन्दी अक्षरों को डामर से पोतते हैं। हमारे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इन आंदोलकों को देश-द्रोही कहा है, इससे अधिक कड़ी आलोचना इस आंदोलन की नहीं हो सकती। इस आन्दोलन के प्रति दक्षिण में सहानुभूति नहीं है।

हिन्दी-विरोधियों में दूसरे व्यक्ति वे आते हैं जो आजीवन अंग्रेज़ी अथवा अंग्रेज़ों के भक्त रहे हैं। इनमें एक दो नए पुराने नेता, अंग्रेज़-काल के कतिपय सरकारी कर्मचारी और एंग्लोइंडियनों की गणना की जा सकती है। एंग्लो-इंडियनों ने अंग्रेज़ों के शासन-काल में सदा भारी वेतन और आराम की ज़िंदगी बिताई। स्वाधीनता-संग्राम में उनका योगदान प्रायः शून्य था। वे भारतीय होते हुए भी भारतीय संस्कृति और भावनाओं से अपरिचित ही रहे हैं। अतः उनका विरोध आश्चर्योत्पादक नहीं है। उनके नेता श्री

हमारे अनेक विश्वविद्यालयों में भाषा और साहित्य पर शोध-कार्य हो रहा है। डॉक्टर बाबूराम सक्सेना ने 'अवधी का विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९३१ में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। हिन्दी साहित्य के अध्ययन से संबंधित डॉ० पीताम्बर दत्त बर्थवाल का 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' शीर्षक प्रबंध काशी विश्वविद्यालय से १९३४ में स्वीकृत हुआ था। ये दोनों हिन्दी भाषा तथा साहित्य से संबंधित प्रथम प्रबन्ध थे। तब से इन लगभग पच्चीस वर्षों में विभिन्न विश्वविद्यालयों में भाषा और साहित्य विषयों पर अनुसंधान-कार्य हुआ है। ऐसा अनुमान है कि लगभग डेढ़ सौ प्रबंधों पर शोध-उपाधियाँ प्रदान की जा चुकी हैं और लगभग पचहत्तर शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। इन प्रबन्धों के विषय भाषा-विज्ञान, साहित्य-इतिहास, विशिष्ट कवि, कवि विशेष के युग की सांस्कृतिक, धार्मिक आदि पृष्ठभूमि, साहित्य-धारा, विशिष्ट साहित्य-युग, लोक-साहित्य आदि हैं। सभी शोध-प्रबन्ध आदर्श हैं यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनमें पर्याप्त संख्या में ऐसे प्रबन्ध अवश्य हैं, जिनमें नूतन तथ्यों का उद्घाटन हुआ है और विषय का नवीन दृष्टिकोण से प्रतिपादन भी किया गया है। परन्तु ऐसे प्रबन्धों की संख्या भी कम नहीं है जिन्हें विशुद्ध शोध-कृति नहीं कहा जा सकता। उनमें संकलित मौलिक सामग्री अधिक नहीं है और उनकी प्रतिपादन-शैली भी कभी-कभी अनुसंधान-तंत्र के अनुरूप नहीं है। कदाचित् ऐसे प्रबन्धों को लक्ष्य कर विद्वानों ने हिन्दी-शोध उपाधिधारियों पर व्यंग्य-वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी है। सद्भाव से की गई आलोचनाओं का हमें स्वागत करना चाहिए और विश्वविद्यालयों में होनेवाले शोध-कार्य के स्तर को उच्चतर उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए विश्वविद्यालयों को अपनी शोध-कार्य-प्रणाली में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। उन्हें अपना शोध-विभाग पृथक् ही खोलना चाहिए जिसमें प्रत्येक विषय के कम से कम दो शोधतंत्रज्ञ प्राध्यापक रहें जो केवल शोधार्थियों का निर्देशन करें। प्रत्येक प्राध्यापक के निर्देशन में पाँच-छः शोध-कर्त्ताओं से अधिक न रखे जायँ। प्रत्येक शोध-कर्ता को उसकी योग्यता के आधार पर शोध-विभाग में प्रवेश दिया जाना चाहिए। ऐसा करते समय उसकी लगन, विषय सम्बन्धी योग्यता और हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश की प्रारम्भिक योग्यता की जाँच कर लेनी चाहिए। शोध-काल में शोधार्थी को व्याख्याता के वेतन के बराबर 'वृत्ति' दी जाय जिससे वह अपना कार्य अर्थ-चिन्तामुक्त होकर कर सके। सामान्यतः तीन वर्ष से पूर्व उसे प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुमति न दी जाय। यदि किसी शोधकर्त्ता ने शोध-विभाग में प्रवेश के पूर्व अपने विषय की पर्याप्त तैयारी कर ली हो और कुछ कार्य भी कर लिया हो तो उसका कार्य-काल घटाया जा सकता है। शोधार्थी का पूरा समय शोध-कार्य में व्यतीत होना चाहिए। यदि निरीक्षक की दृष्टि में उसका कार्य संतोषजनक गति से अग्रसर न होता हो तो उसकी 'वृत्ति' बंद करके उसे विभाग से पृथक् कर देना चाहिए। शोध-विभाग में जब केवल शोध-वृत्ति-प्राप्त शोधार्थी प्रविष्ट होंगे, तब शोध-कार्य अधिक व्यवस्थित और अधिक मूल्यवान होगा। इस योजना से विश्वविद्यालयों पर आर्थिक भार तो बढ़ जायगा पर इससे गम्भीर अध्ययन की जो परम्परा प्रारम्भ होगी उससे देश में भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञों का दारिद्र्य नहीं बढ़ पाएगा।

विश्वविद्यालयों से पृथक् किन्तु उनसे सम्बद्ध शोध-पीठों की स्थापना से भी यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। देश में अभी तीन चार ही ऐसे पीठ हैं जो शोध-कार्य में संलग्न हैं।

उनमें आगरा हिन्दी-विद्यापीठ को छोड़कर किसी में भी हिन्दी पर अनुसंधान नहीं होता। विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय भी पर्याप्त रूप से सम्पन्न नहीं हैं। इनमें शोधोपयोगी सन्दर्भ-ग्रन्थ, प्राचीन पांडुलिपियाँ आदि प्राप्य नहीं हैं। हिन्दी शोध-कर्त्ताओं के लिए काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का पुस्तकालय वरदान-स्वरूप सिद्ध हो रहा है। यदि हिन्दी विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पृथक् शोध पुस्तकालय स्थापित हो सके तो शोधकों की अनेक असुविधाएँ दूर हो सकेंगी।

शोधार्थी को शोध-विषयों के निर्वाचन में भी कठिनाई होती है, क्योंकि अंतर-विश्वविद्यालयीन बोर्ड की ओर से विभिन्न विश्वविद्यालयों में होनेवाले शोध-कार्यों का कोई लेखा प्रकाशित नहीं होता। 'हिन्दी अनुशीलन' में शोध के लिए स्वीकृत विषयों की सूची छपती रहती है परन्तु उसे सभी विश्वविद्यालयों द्वारा सूचनाएँ प्राप्त नहीं हो पातीं इसलिए वह अधूरी ही रहती है। ऐसी स्थिति में कई बार एक ही विषय दो-तीन विश्व-विद्यालयों में शोध के लिए स्वीकृत हो जाता है। एक विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से कार्य हो सकता है पर यदि शोधार्थी विषय के विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचित हो तो वह अपने विषय को सीमित कर सकता है और अपने कार्य की निश्चित दिशा निर्धारित कर सकता है।

भाषा और साहित्य के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य भी शोध की उपाधि के लिए मान्य होना चाहिए। इससे कई महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों के वैज्ञानिक रीति से सम्पादित संस्करण प्रकाश में आ सकेंगे। प्रयाग, बम्बई, नागपुर आदि कुछ विश्वविद्यालयों ने प्राचीन ग्रन्थ-सम्पादन-कार्य को भी शोध-उपाधियों के उपयुक्त माना है।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी-अध्यापन और शोध-कार्य पर विचार करने के उपरान्त मैं देश के कतिपय शिक्षित नेताओं द्वारा उठाए गए हिंन्दी-विरोध पर, जो समाचार-पत्रों में देशव्यापी आंदोलन-सा जान पड़ता है, दो शब्द कह देना चाहता हूँ। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यह तथाकथित आंदोलन देश के एक-दो प्रान्तों के विशिष्ट जनों तक ही सीमित है। हिन्दी-विरोधियों में सर्वप्रथम द्राविड़स्तान की माँग करनेवाले द्राविड़-कजगाम आंदोलनकारी हैं जो कभी भारतीय संविधान को जलाते हैं, कभी महात्मा गांधी की तस्वीरों का अपमान करते हैं, कभी जातिवाद के जोश में ब्राह्मणों की हत्या की धमकी देते हैं और कभी संस्कृत भाषा की उत्तराधिकारिणी हिन्दी के विरुद्ध नारे लगाते और स्टेशनों पर अंकित हिन्दी अक्षरों को डामर से पोतते हैं। हमारे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इन आंदोलकों को देश-द्रोही कहा है, इससे अधिक कड़ी आलोचना इस आंदोलन की नहीं हो सकती। इस आन्दोलन के प्रति दक्षिण में सहानुभूति नहीं है।

हिन्दी-विरोधियों में दूसरे व्यक्ति वे आते हैं जो आजीवन अंग्रेज़ी अथवा अंग्रेज़ों के भक्त रहे हैं। इनमें एक दो नए पुराने नेता, अंग्रेज़-काल के कतिपय सरकारी कर्मचारी और एंग्लोइंडियनों की गणना की जा सकती है। एंग्लो-इंडियनों ने अंग्रेज़ों के शासन-काल में सदा भारी वेतन और आराम की ज़िंदगी बिताई। स्वाधीनता-संग्राम में उनका योगदान प्रायः शून्य था। वे भारतीय होते हुए भी भारतीय संस्कृति और भावनाओं से अपरिचित ही रहे हैं। अतः उनका विरोध आश्चर्योत्पादक नहीं है। उनके नेता श्री

फ्रेन्क एन्थोनी राष्ट्रभाषा विरोधियों के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि अंग्रेज़ी हमारी मातृभाषा है इसलिए उसे भी भारतीय संविधान में निर्दिष्ट देश-भाषाओं की सूची में स्थान मिलना चाहिए। वे उसे राष्ट्रभाषा का भी गौरव प्रदान कराना चाहते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि 'अँग्रेज़ी देश की एकता को सुरक्षित रखने में सहायक हुई है और भविष्य में भी होगी। देश के नेताओं के विचार-विनिमय की यही भाषा एकमात्र माध्यम है।' श्री एन्थोनी और उनके समान ही विचार रखनेवाले अन्य भारतीय वे दिन इतने शीघ्र कैसे भूल गए जब देश के कोने-कोने में महात्मा गांधी हिन्दी-भाषा के माध्यम से ही राष्ट्र-जागरण का सन्देश पहुँचा रहे थे। देश की लगभग बयासी प्रतिशत जनता निरक्षर है। शेष अठारह प्रतिशत साक्षर जनता में अंग्रेजी जानने-समझने वालों की संख्या कितनी है? क्या मुट्ठी भर अंग्रेज़ी समझनेवाले लोगों की इच्छा पर विदेशी भाषा अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है?

हमारा अंग्रेज़ी से विरोध नहीं, हम मानते हैं कि अंग्रेज़ी अंतर्राष्ट्रीय भाषा बन रही है, उसके माध्यम से हम संसार के साहित्य और विज्ञान की प्रगति से आसानी से अवगत हो सकते हैं। अतः हम उसका बहिष्कार नहीं करना चाहते, प्रत्युत उसके अध्ययन की आवश्यकता पर बल भी देना चाहते हैं। परन्तु अब वह हमारे देश की भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकती। जब तक संसार में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना का अस्तित्व रहेगा तब तक राष्ट्र की भाषाओं का अनुराग और गौरव कम नहीं होगा। प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक भाषण में कहा था कि जब मैं विदेशों में जाता हूँ तब अपने देशवासियों से हिन्दी में ही बोलता हूँ। सच बात तो यह है कि विदेशों में हम अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में अँग्रेज़ी का प्रयोग कर सम्मानित नहीं हो सकते, नहीं होते। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने जब रूस में अपने राजदूतत्व का प्रमाणपत्र अँग्रेज़ी में दिया था तब वहाँ की सरकार ने उसे लौटा दिया था। उन्हें हिन्दी में ही अपना प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना पड़ा था। इस तथ्य का उद्घाटन उन्होंने स्वयं एक हिन्दी-सभा में किया था। हमारी राष्ट्रीय महासभा ने सन् १६३५ में सोच-समझ कर ही निर्णय किया था कि देश की भाषा हिन्दी रहेगी। उसने यह निर्णय इसलिए नहीं दिया था कि हिन्दी देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं से बहुत उन्नत या समृद्ध है वरन् इसीलिए दिया था कि इसे बोलने और समझनेवालों की संख्या देश में सबसे अधिक है। इसे अहिन्दी भाषी भी सरलता से समझ सकते हैं।

अँग्रेज़ी भक्तों की यह धारणा भी भ्रांतिपूर्ण है कि अँग्रेज़ी के माध्यम से ही देश एक सूत्र में बँधा है। साहित्य और इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि शताब्दियों पूर्व से भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक रहा है और उसमें रहनेवाले अनेक भाषा-भाषियों ने अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए एक भाषा चुन ली थी। दक्षिण के शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्य क्या अपनी स्थानीय भाषाओं के माध्यम से समस्त देश में भ्रमण कर अपने मतों का प्रचार करते थे? क्या कभी उत्तर भारत और दक्षिण भारत में व्यावसायिक सम्बन्ध नहीं रहा? समय-समय पर संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषायें रही हैं। दक्षिण में ईसा सन् की प्रथम शती से पाँचवीं शती तक प्राकृत भाषा

प्रचलित थी। कृष्णा ज़िले के एक स्तूप पर इक्ष्वाकु कुल के राजा का उल्लेख है जिसके अक्षर ईसा सन् की तीसरी शती के हैं और उसकी भाषा प्राकृत है। यदि जनता प्राकृत से परिचित न होती तो लेख प्राकृत में न लिखा गया होता। कांची में पल्लवों का जब राज्य स्थापित हुआ तब वहाँ भी ह्वेनसांग के कथनानुसार पाँचवीं शताब्दी में मध्यदेश की भाषा बोली जाती थी। आज भी दक्षिण में संस्कृत की परम्परा के कारण हिन्दी बिल्कुल अपरिचित भाषा नहीं है। तामिल को छोड़कर शेष सभी द्राविड़ भाषायें संस्कृत-प्रचुर हैं। संस्कृत-प्रचुर हिन्दी दक्षिण भाषा-भाषी अल्प प्रयत्न से समझ लेता है। मलयालम के प्रसिद्ध कवि क्रुप ने एक बार मुझसे कहा था कि मैं 'प्रियप्रवास' की भाषा बड़ी आसानी से समझ लेता हूँ। दाक्षिणात्य संस्कृत भाषा के प्रेमी और विद्वान् हैं। अतः नागरी लिपि से भी वे अपरिचित नहीं हैं। ऐसी दशा में हिन्दी के काठिन्य की चर्चा करना, और वह भी अंग्रेज़ी भाषा के सामने, हास्यास्पद ही है। अंग्रेज़ी का हमारे देश से अधिक से अधिक ढाई सौ वर्षों का सम्पर्क है। इतनी अवधि में वह बड़ी कठिनाई से हमारे देश के मुट्ठी भर लोगों के पल्ले पड़ सकी है। इन मुट्ठी भर लोगों की भाषा को अंग्रेज़ी विशेषज्ञ भारतीय अंग्रेज़ी कहकर हँसी उड़ाते हैं। यदि तटस्थ भाव से देखें तो क्या संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हिन्दी के सम्मुख, जिसकी देश में अत्यंत पुरानी सांस्कृतिक परम्परा है और जिसे मध्यकालीन उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के संतों ने अपने उपदेशों का माध्यम बनाकर देश के कोने-कोने में संचरित कर दिया है, अँग्रेज़ी जो अभी तक राष्ट्र की जीवन-धमनियों में स्पंदित नहीं हो पाई है, राष्ट्रभाषा बनने का दावा कर सकती है? जिस प्रकार हमें अँग्रेज़ों का साम्राज्यवाद असह्य रहा उसी प्रकार राष्ट्र की भाषाओं को अपमानित करनेवाली अँग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव हम कभी भी सहन नहीं कर सकते। हिन्दी-भाषी तो नहीं, अँग्रेज़ी-प्रेमी ही देश में अँग्रेज़ी का साम्राज्यवाद फैलाना चाहते हैं तथा लेखन और भाषण-स्वातंत्र्य के इस युग में मनमाना प्रलाप कर हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं में झूठा संघर्ष पैदा कर रहे हैं।

हिन्दी के चोटी के साहित्यिकों ने बार-बार घोषित किया है कि वे हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानते हैं और इसलिए वे उसमें राष्ट्र की सभी भाषाओं की प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित देखना चाहते हैं। हिन्दी एक क्षेत्र-विशेष की भाषा होते हुए भी अब समस्त देश की राष्ट्र-भाषा भी बना दी गई है, अतएव समस्त राष्ट्र के चिंतक उसे अपनाकर समृद्ध कर सकते हैं। जिन हिन्दी-भाषियों ने राष्ट्र की एकता के लिए अपनी समृद्ध मातृभाषाओं—राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली आदि का सार्वजनिक प्रयोग में त्याग कर दिया है, वे भला साम्राज्यवाद की कल्पना ही कैसे कर सकते हैं? यदि अहिन्दी भाषी बन्धु हिन्दी-प्रचार के लिए उन्हें आमंत्रित करेंगे तो मेरा विश्वास है कि वे इस कार्य को भी राष्ट्र-सेवा का कार्य समझकर उन्हें सदैव सहयोग देने के लिए कटिबद्ध रहेंगे। यों अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी-प्रचार का कार्य उन प्रदेशों के ही लोगों के द्वारा होना चाहिए।

हिन्दी के विरोधी वे व्यक्ति भी हैं, जो यह समझते हैं कि हिन्दी के राजभाषा होने के कारण अहिन्दी भाषियों को केन्द्रीय नौकरियों के प्राधान्य से वंचित होना पड़ेगा। हिन्दी-विरोध का यह आर्थिक पक्ष अधिक प्रबल और अनेक विरोधों के मूल में है। यदि आगामी कुछ वर्षों के लिए केन्द्रीय नौकरियों में 'भाषाकोटा' निर्धारित कर दिया जाय तो हिन्दी-दक्षता प्राप्त न कर सकने के कारण किसी को क्षति नहीं उठानी पड़ेगी। केन्द्रीय सरकार

यदि तत्परता से इस प्रश्न को सुलझाना चाहेगी तो सभी को मान्य होनेवाल
आएगा।

हिन्दी-विरोध में सभी प्रकार की बातें कही जाती हैं। कहा जाता ह
भाषा है, न उसका ललित और उपयोगी साहित्य ही है तथा उसमें भावों औ
को वहन करने की क्षमता ही नहीं है। वह तो एक बाज़ारू बोली मात्र है। य
या शरारतवश किया जाता है। हिन्दी का साहित्य लगभग एक हज़ार वर्ष
को लेकर अग्रसर हो रहा है। उसकी उपभाषाएँ ब्रज, अवधी, राजस्थान
शताब्दियों पूर्व से ही श्रीसम्पन्न हैं। उनके चन्द, विद्यापति, सूर, तुलसी, जाय
नामदेव, बिहारी, रहीम, रसखान आदि कवियों से अहिन्दी भाषा-भाषी चिर
हैं। खड़ीबोली हिन्दी का साहित्य भी बारहवीं शताब्दी से प्राप्त होता है, जि
लेखकों की संख्या अपरिमित है और जिनकी कृतियों से अहिन्दी भाषी स
भाँति परिचित हैं।

खड़ीबोली में इन दिनों साहित्य की विविध विधाओं में सृजनात
दर्शन हो रहे हैं। उसकी कथाकृतियाँ भारतीय और विदेशी साहित्यों में अ
हैं। उसका आधुनिक काव्य चाहे वह जिस वाद का हो, काफी परिष्कृत है
रेखाचित्र, रिपोर्ताज़, निबंध, आलोचना, सभी क्षेत्रों में नई-पुरानी प्रतिभाओं
पड़ता है। हिन्दी में रंग-मंच के योग्य नाटक अवश्य विपुल संख्या में न
कारण यह है कि चलचित्र और रेडियो-रूपकों के चलन के पूर्व हिन्दी में
जम नहीं पाया था, अतः चलचित्र और रेडियो-रूपक के काल में जब
सुष्ठु रंगमंच ही शिथिल पड़ गए हैं तब हिन्दी का रंगमंच, जो पहले से ह
कैसे पनप सकता था? व्यवसायी रंगमंचों में केवल पृथ्वी थियेटर्स का नाम
है। आशा है जब अहिन्दी भाषा-भाषी भी हिन्दी में लिखने लगेंगे, तब
वाङ्मय शीघ्र ही अधिक परिपुष्ट हो जायगा।

हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान का साहित्य भी विकसित हो रहा है। यह प्र
कि बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में स
के शास्त्रीय ग्रंथों के प्रामाणिक अनुवाद हो रहे हैं जिससे साहित्य के शास्त्री
करनेवालों के लिए काफी सुविधा हो गई है। विज्ञान के क्षेत्र में भी हि
नहीं हुआ। दिल्ली में इसी महीने केन्द्रीय शासन के शिक्षा-विभाग के तत
के गत डेढ़ सौ वर्षों में प्रकाशित वैज्ञानिक तांत्रिक ग्रंथों की एक प्रदर्शनी आ
थी। हिन्दी में इतना विपुल वैज्ञानिक, साहित्य देखकर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रस
'अँग्रेज़ी में विज्ञान की शिक्षा सब काल नहीं दी जा सकती—मैं वर्तमान
का अनुभव करता हूँ जो मेरे ही समान अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षित हुई
वातावरण में अपने को ढाल नहीं पा रहे हैं। उनसे यह अपेक्षा भी नहीं
परन्तु भावी पीढ़ी को भी विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाना तो उसके सा
होगा। देशी भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य निर्माण करना असम्भव नहीं

शास्त्र, गणित, कानून, भूगोल, कृषिशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि विषयों पर भिन्न-भिन्न लेखकों के लगभग एक हज़ार ग्रन्थ थे। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे भी थे जो सन् १८०३ और सन् १९०० के मध्य लिखे गए थे। सन् १८०३ में ही एक कानून ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ खड़ी बोली गद्य का आदि-काल माना जाता है। उस समय हिन्दी भाषा विचारों को व्यक्त करने का माध्यम बनी, यह उसमें निहित प्रकृत अभिव्यंजना-क्षमता का ही द्योतक है। अहिन्दी भाषी यदि किसी हिन्दी क्षेत्रीय विशाल पुस्तकालय या हिन्दी की किसी बड़ी पुस्तक की दूकान में जाकर देखें तो उन्हें अपनी राष्ट्रभाषा के साहित्य के संबंध में इतनी निराशा नहीं होगी जितनी कि उन्हें हिन्दी-विरोधियों के नारों को सुनकर हुई होगी। दुर्भाग्य की बात यह है कि हिन्दी साहित्य के दारिद्र्य का ढिंढोरा पीटने वाले कुछ हिन्दी-भाषी भी हैं जिनकी रचनाएँ किन्हीं कारणों से सरकार द्वारा पोषित संस्थाओं से प्रकाशित होती रहती हैं, जिन्हें पढ़कर देश और विदेश के अहिन्दी भाषी हिन्दी के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा बना लेते हैं।

जिस राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन को लेकर कुछ नेताओं ने इतना हो-हल्ला मचा रखा है, उसमें पग-पग पर अहिन्दी भाषियों की सुविधा का ही ध्यान रखा गया है। उसमें हिन्दी लादने की तो कहीं गंध ही नहीं है। उसमें यह संदेह व्यक्त किया गया है कि निर्धारित समय में हिन्दी राजभाषा का पद कदाचित् ही ग्रहण कर सके। इसके लिए उसने शासन की उदासीनता की ओर उचित इशारा किया है। संविधान के निर्देश के अनुसार आयोग ने अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को आसीन करने की कोई व्यावहारिक योजना नहीं सुझाई है। इस प्रतिवेदन से हिन्दी भाषियों को ही थोड़ी बहुत शिकायत हो सकती है। यदि अहिन्दी भाषी भाषा-आवेग से मुक्त हो उसे तटस्थ भाव से पढ़ें तो उन्हें नारेबाज़ों की दलीलें निस्सन्देह निष्प्राण जान पड़ेंगी।

हिन्दी-भाषी भाषा के मामले में सन्तुलन प्रायः नहीं खोता और न अपनी मातृ-भाषा के विषय में कट्टरता दिखलाता है। उसने राष्ट्रीय भावना से अभिभूत हो राष्ट्र की एकता के लिए अपनी क्षेत्रीय भाषाओं का एक प्रकार से बलिदान कर दिया है। विशेषकर अहिन्दी भाषियों को सुविधा देने के लिए उसने अपने क्षेत्रीय राज्यों में भी हिन्दी को पूर्ण रूप से राजभाषा बनाने का आग्रह नहीं किया। इतना होने पर भी हमें दुःख है कि पंजाब में हिन्दी-भाषियों को हिन्दी-रक्षा-आंदोलन व्यापक रूप में चलाना पड़ा। क्या ही अच्छा होता कि देश के नेता मध्यस्थ बनकर इस अप्रिय भाषा-विवाद का अंत कर देते। सिक्खों को हिन्दी से विरोध हो ही नहीं सकता। उनके 'गुरु ग्रन्थ साहब' में हिन्दी सन्तों की वाणियाँ संकलित हैं, स्वयं कई गुरुओं ने हिन्दी में भजन गाए हैं जिनका सिक्ख प्रेम और श्रद्धा से पाठ करते हैं। राष्ट्र-विभाजन के समय जिन सिक्ख और असिक्खों ने साथ-साथ कष्ट झेले, साथ-साथ रक्त-स्नान किया वे क्या अपने राष्ट्र के सीमा प्रदेश का बल भाषा के प्रश्न को लेकर क्षीण कर देंगे ?

जब से संविधान में हिन्दी को राजभाषा का पद प्राप्त हुआ है तब से विदेशों में हिन्दी सीखने और हिन्दी साहित्य के अध्ययन की उत्सुकता बढ़ती जा रही है। रूस में माध्यमिक शालाओं में हिन्दी को एक अनिवार्य ऐच्छिक विषय बनाया गया है। रूसी में

यदि तत्परता से इस प्रश्न को सुलझाना चाहेगी तो सभी को मान्य होनेवाला हल निकल आएगा।

हिन्दी-विरोध में सभी प्रकार की बातें कही जाती हैं। कहा जाता है कि हिन्दी न भाषा है, न उसका ललित और उपयोगी साहित्य ही है तथा उसमें भावों और गहन विचारों को वहन करने की क्षमता ही नहीं है। वह तो एक बाज़ारू बोली मात्र है। यह कथन अज्ञान या शरारतवश किया जाता है। हिन्दी का साहित्य लगभग एक हज़ार वर्ष पुरानी परम्परा को लेकर अग्रसर हो रहा है। उसकी उपभाषाएँ ब्रज, अवधी, राजस्थानी और मैथिली शताब्दियों पूर्व से ही श्रीसम्पन्न हैं। उनके चन्द, विद्यापति, सूर, तुलसी, जायसी, मीराँ, कबीर, नामदेव, बिहारी, रहीम, रसखान आदि कवियों से अहिन्दी भाषा-भाषी चिरकाल से परिचित हैं। खड़ीबोली हिन्दी का साहित्य भी बारहवीं शताब्दी से प्राप्त होता है, जिसके कवियों और लेखकों की संख्या अपरिमित है और जिनकी कृतियों से अहिन्दी भाषी साहित्य-प्रेमी भली-भाँति परिचित हैं।

खड़ीबोली में इन दिनों साहित्य की विविध विधाओं में सृजनात्मक प्रवृत्तियों के दर्शन हो रहे हैं। उसकी कथाकृतियाँ भारतीय और विदेशी साहित्यों में अनूदित होती रहती हैं। उसका आधुनिक काव्य चाहे वह जिस वाद का हो, काफी परिष्कृत है। एकांकी नाटक, रेखाचित्र, रिपोर्ताज़, निबंध, आलोचना, सभी क्षेत्रों में नई-पुरानी प्रतिभाओं का प्रकाश दीख पड़ता है। हिन्दी में रंग-मंच के योग्य नाटक अवश्य विपुल संख्या में नहीं हैं और इसका कारण यह है कि चलचित्र और रेडियो-रूपकों के चलन के पूर्व हिन्दी में व्यवसायी रंगमंच जम नहीं पाया था, अतः चलचित्र और रेडियो-रूपक के काल में जब अन्य भाषाओं के सुष्ठु रंगमंच ही शिथिल पड़ गए हैं तब हिन्दी का रंगमंच, जो पहले से ही शिथिल रहा है, कैसे पनप सकता था? व्यवसायी रंगमंचों में केवल पृथ्वी थियेटर्स का नाम लिया जा सकता है। आशा है जब अहिन्दी भाषा-भाषी भी हिन्दी में लिखने लगेंगे, तब हिन्दी का ललित वाङ्मय शीघ्र ही अधिक परिपुष्ट हो जायगा।

हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान का साहित्य भी विकसित हो रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में संस्कृत और अंग्रेज़ी के शास्त्रीय ग्रंथों के प्रामाणिक अनुवाद हो रहे हैं जिससे साहित्य के शास्त्रीय पक्ष का अध्ययन करनेवालों के लिए काफी सुविधा हो गई है। विज्ञान के क्षेत्र में भी हिन्दी में कम कार्य नहीं हुआ। दिल्ली में इसी महीने केन्द्रीय शासन के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान में हिन्दी के गत डेढ़ सौ वर्षों में प्रकाशित वैज्ञानिक तांत्रिक ग्रंथों की एक प्रदर्शनी आयोजित की गई थी। हिन्दी में इतना विपुल वैज्ञानिक, साहित्य देखकर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था, 'अँग्रेज़ी में विज्ञान की शिक्षा सब काल नहीं दी जा सकती—मैं वर्तमान पीढ़ी की कठिनाई का अनुभव करता हूँ जो मेरे ही समान अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षित हुई है। वे परिवर्तित वातावरण में अपने को ढाल नहीं पा रहे हैं। उनसे यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। परन्तु भावी पीढ़ी को भी विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाना तो उसके साथ अन्याय करना होगा। देशी भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य निर्माण करना असम्भव नहीं होना चाहिए।' जो ग्रन्थ प्रदर्शनी में रखे गए थे उनमें से बहुत से गत बीस वर्षों में ही प्रकाशित हुए हैं। उनमें भौतिकी, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, औषधि-विज्ञान, यांत्रिकी, ज्योतिष-

शास्त्र, गणित, कानून, भूगोल, कृषिशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि विषयों पर भिन्न-भिन्न लेखकों के लगभग एक हज़ार ग्रन्थ थे। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे भी थे जो सन् १८०३ और सन् १९०० के मध्य लिखे गए थे। सन् १८०३ में ही एक कानून ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ खड़ी बोली गद्य का आदि-काल माना जाता है। उस समय हिन्दी भाषा विचारों को व्यक्त करने का माध्यम बनी, यह उसमें निहित प्रकृत अभिव्यंजना-क्षमता का ही द्योतक है। अहिन्दी भाषी यदि किसी हिन्दी क्षेत्रीय विशाल पुस्तकालय या हिन्दी की किसी बड़ी पुस्तक की दूकान में जाकर देखें तो उन्हें अपनी राष्ट्रभाषा के साहित्य के संबंध में इतनी निराशा नहीं होगी जितनी कि उन्हें हिन्दी-विरोधियों के नारों को सुनकर हुई होगी। दुर्भाग्य की बात यह है कि हिन्दी साहित्य के दारिद्रय का ढिंढोरा पीटने वाले कुछ हिन्दी-भाषी भी हैं जिनकी रचनाएँ किन्हीं कारणों से सरकार द्वारा पोषित संस्थाओं से प्रकाशित होती रहती हैं, जिन्हें पढ़कर देश और विदेश के अहिन्दी भाषी हिन्दी के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा बना लेते हैं।

जिस राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन को लेकर कुछ नेताओं ने इतना हो-हल्ला मचा रखा है, उसमें पग-पग पर अहिन्दी भाषियों की सुविधा का ही ध्यान रखा गया है। उसमें हिन्दी लादने की तो कहीं गंध ही नहीं है। उसमें यह संदेह व्यक्त किया गया है कि निर्धारित समय में हिन्दी राजभाषा का पद कदाचित् ही ग्रहण कर सके। इसके लिए उसने शासन की उदासीनता की ओर उचित इशारा किया है। संविधान के निर्देश के अनुसार आयोग ने अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को आसीन करने की कोई व्यावहारिक योजना नहीं सुझाई है। इस प्रतिवेदन से हिन्दी भाषियों को ही थोड़ी बहुत शिकायत हो सकती है। यदि अहिन्दी भाषी भाषा-आवेग से मुक्त हो उसे तटस्थ भाव से पढ़ें तो उन्हें नारेबाज़ों की दलीलें निस्सन्देह निष्प्राण जान पड़ेंगी।

हिन्दी-भाषी भाषा के मामले में सन्तुलन प्रायः नहीं खोता और न अपनी मातृ-भाषा के विषय में कट्टरता दिखलाता है। उसने राष्ट्रीय भावना से अभिभूत हो राष्ट्र की एकता के लिए अपनी क्षेत्रीय भाषाओं का एक प्रकार से बलिदान कर दिया है। विशेषकर अहिन्दी भाषियों को सुविधा देने के लिए उसने अपने क्षेत्रीय राज्यों में भी हिन्दी को पूर्ण रूप से राजभाषा बनाने का आग्रह नहीं किया। इतना होने पर भी हमें दुःख है कि पंजाब में हिन्दी-भाषियों को हिन्दी-रक्षा-आंदोलन व्यापक रूप में चलाना पड़ा। क्या ही अच्छा होता कि देश के नेता मध्यस्थ बनकर इस अप्रिय भाषा-विवाद का अंत कर दें। सिक्खों को हिन्दी से विरोध हो ही नहीं सकता। उनके 'गुरु ग्रन्थ साहब' में हिन्दी सन्तों की वाणियाँ संकलित हैं, स्वयं कई गुरुओं ने हिन्दी में भजन गाए हैं जिनका सिक्ख प्रेम और श्रद्धा से पाठ करते हैं। राष्ट्र-विभाजन के समय जिन सिक्ख और असिक्खों ने साथ-साथ कष्ट भोगे, साथ-साथ रक्त-स्नान किया वे क्या अपने राष्ट्र के सीमा प्रदेश का बल भाषा के प्रश्न को लेकर क्षीण कर देंगे?

जब से संविधान में हिन्दी को राजभाषा का पद प्राप्त हुआ है तब से विदेशों में हिन्दी सीखने और हिन्दी साहित्य के अध्ययन की उत्सुकता बढ़ती जा रही है। माध्यमिक शालाओं में हिन्दी को एक अनिवार्य ऐच्छिक विषय बनाया गया है।

तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त लल्लूजी लाल के 'प्रेम-सागर' तथा प्रेमचन्द, यशपाल, राहुल और अश्क की कृतियों का अनुवाद किया गया है। चेक भाषा में भी हिन्दी के आधुनिक कवि और लेखकों की कुछ कृतियाँ अनूदित हुई हैं। प्रेमचंद, प्रसाद और कुछ अन्य लेखकों की कृतियों का संसार की समृद्ध भाषाओं में अनुवाद किया जा रहा है। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा के सन् १६५७ के प्रतिवेदन में लिखा है, "हमारे पास फ्रांस, जापान, तथा अन्य देशों से पत्र आते रहते हैं जो वहाँ हिन्दी सीखने की सुविधा चाहते हैं। अफ्रीका से समिति की परीक्षाओं में प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। हांगकांग, फ़िजी, इंगलैंड, वेस्ट इंडीज़, स्याम, सीलोन में बड़े उत्साह से हिन्दी सीखने की ओर लोग ध्यान दे रहे हैं।" रंगून में हिन्दी सभाएँ कार्य करती हैं, हिन्दी के पत्र निकलते हैं और हिन्दी की परीक्षाएँ भी ली जाती हैं। लंदन की हिन्दी-परिषद् हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार का गत एक दो वर्षों से कार्य कर रही है, जिसमें हिन्दी प्रेमी अंग्रेज़ अध्यापक हिन्दी सम्बन्धी शोध निबन्ध पढ़ते हैं। परिषद् की एक सायक्लोस्टाइल की हुई पत्रिका भी प्रकाशित होती है। मास्को, टोकियो, बर्लिन, लंदन, पेकिंग आदि विदेशी विश्व-विद्यालयों में हिन्दी साहित्य का अध्यापन विदेशी प्राध्यापकों द्वारा ही हो रहा है। क्या ही अच्छा होता यदि हमारी यह परिषद् इनसे सम्पर्क स्थापित करती और उन्हें अपने बीच आमंत्रित करती।

हिन्दी एक जीवित भाषा है, उसकी सर्वांगीण उन्नति होगी, वह अपनी देश भाषाओं की प्रवृत्तियों, शब्दावली आदि को आत्मसात् कर उत्तरोत्तर देश व्यापक बनेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। आज तूफ़ान के बादल भले ही छाए हों, वातावरण में गड़गड़ाहट भले ही सुन पड़ती हो पर वह समय दूर नहीं है जब बादल छटेंगे, आकाश निर्मल होगा और स्वस्थ वातावरण की शरदकालीन निर्मल सूर्यरश्मियों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का मुख उत्फुल्ल दीख पड़ेगा।

विचार गोष्ठी के विषय प्रवर्त्तक आचार्य काका साहब कालेलकर का भाषण (संक्षिप्त)

हिन्दी साहित्य सब की मदद से बढ़ेगा। हिन्दी का विकास हो, प्रभाव हो, इसकी चिन्ता करने वाले लोगों की कमी नहीं है। कुछ दिशाओं से आज हिन्दी के विरोध के स्वर आ रहे हैं। यह ऐसा लगता है कि आज अंग्रेज़ी की ताकत पराधीनता के ज़माने से अधिक बढ़ गई है और आप अंग्रेज़ी का विरोध करने की क्षमता खो बैठे हैं। आज़ादी के पूर्व महात्मा गाँधी ने हिन्दी के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में गूँथने का प्रयत्न किया था। अंग्रेज़ी की शक्ति काफ़ी दुर्बल हो गई थी किन्तु फिर अंग्रेज़ी को कायम रखने की आवाज़ उठाई जाने लगी है, इसका कारण यही है कि हमने सेवा और आत्मीयता की भावना खो दी है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला, असमिया आदि सभी भाषाएँ एक परिवार की हैं फिर हम आपसी आदान-प्रदान में संकोच क्यों करते हैं? जब तक हिन्दी में सभी भाषाओं से शब्द नहीं आएँगे, उसमें सम्पूर्ण राष्ट्र अपनी आत्मा का दर्शन नहीं करेगा, तब तक हिन्दी सच्चे अर्थ में राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। आप यह भूल जाएँ कि हिन्दी केवल आपकी भाषा है। उस पर सम्पूर्ण देश का अधिकार है। आप यह विश्वास रखें कि जब तक हिन्दी में अन्य क्षेत्रों के लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति नहीं देंगे तब तक उसका उत्थान सम्भव नहीं है, विकास सम्भव नहीं है।

आप अन्य प्रादेशिक भाषाओं से शक्ति ग्रहण करें। यदि हिन्दी देश की अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के समक्ष बड़ी बहन के रूप में जाय तभी सब का हित होगा। यह बात ग़लत है कि हिन्दी में किसी प्रकार का साम्राज्यवाद है। यदि कहीं होगा भी तो वह एक दम अशक्त है। हमें देश को खण्ड-खण्ड करके नहीं देखना है। हमारा राष्ट्र एक है, हमारी राष्ट्रीयता एक है। हमारी संस्कृति एक है। हिन्दी उसका माध्यम बने, यही हमारी कामना है।

विचार-गोष्ठी के सभापति डॉ० हरवंशलाल शर्मा का भाषण

परिषद् के मान्य सभापति महोदय; सदस्यों तथा उपस्थित सज्जनों,

हिन्दी अध्यापन की समस्याओं पर विचार करने के लिए आयोजित यह गोष्ठी बड़े महत्त्व की है। यों तो भारतीय हिन्दी परिषद् के वार्षिक अधिवेशन की सभी गोष्ठियाँ अपना-अपना महत्त्व रखती हैं और विद्वानों तथा विश्वविद्यालय के अध्यापकों को भाषा और साहित्य सम्बन्धी विचार-विनिमय का अवसर प्रदान करती हैं, पर पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार इस प्रकार की परिषदों में विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और हिन्दी साहित्य के कर्णधारों के लिए एक अपना अलग महत्त्व रखता है। यह वास्तव में खेद का विषय है कि आज राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रश्न राजनीति के झमेले में पड़कर वास्तविक हल से दूर होता जा रहा है। नई-नई और अजीब समस्याएँ खड़ी की जा रही हैं और समस्या का मूल दिन-प्रतिदिन दृष्टि से ओझल होता जा रहा है। "छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्" वाली उक्ति के अनुसार हिन्दी-पादप के पल्लवित और पुष्पित होने की सम्भावना दूर होती जा रही है। इस समय भारतवर्ष में हिन्दी साहित्य पर विचार करनेवाली विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की एक मात्र संस्था 'भारतीय हिन्दी-परिषद्' ही है। इसलिए इसके सदस्यों और अधिकारियों का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। मेरी दृष्टि में इस संस्था का स्टेज न तो प्रचार और प्रोपेगैन्डा के लिए है और न ही पदलिप्सु महानुभावों को प्रकाश में लाने के लिए।

आज हिन्दी के सामने एक जटिल प्रश्न है और हिन्दी-अध्यापक के सामने एक विशिष्ट उत्तरदायित्व। कोर्टों, विधान-परिषदों, लोकसभा और न्यायालयों, उच्चस्तरीय सरकारी परीक्षाओं और यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा के माध्यम आदि की भाषा क्या हो, यह प्रश्न राष्ट्रीय महत्त्व का है। पर उस पर विचार करने का उत्तरदायित्व हम पर सीधा नहीं है। राष्ट्र के नागरिक होने की हैसियत से और राष्ट्र-भाषा के पुजारी होने के नाते हमें इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा। पर हिन्दी के अध्यापक का सीधा उत्तर-दायित्व जितना पाठ्य-क्रम के लिए है उतना इस प्रश्न के लिए नहीं। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की समस्याओं पर विचार करना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि हिन्दी के राष्ट्र-भाषा या सरकारी भाषा के रूप में स्वीकार होने पर उसके सामने दोहरी समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं—अर्थात् हिन्दी बनाम अंग्रेज़ी और हिन्दी बनाम प्रादेशिक भाषाएँ। इस समस्या का पहला रूप अर्थात् हिन्दी बनाम अंग्रेज़ी वास्तविक है और देश के सभी कर्णधारों के गम्भीर विचार का विषय है। दूसरा रूप अर्थात् हिन्दी बनाम प्रादेशिक भाषाएँ राजनीतिक अथवा काल्पनिक है, क्योंकि देश की सभी प्रादेशिक भाषाएँ हिन्दी के समान ही राष्ट्रीय भाषाएँ हैं, और राष्ट्र की उन्नति, सांस्कृतिक एकता, साहित्यिक अभिवृद्धि, और परम्पराओं के विकास आदि के लिए सभी भाषाओं और साहित्यों की उन्नति और अभ्युदय आवश्यक है। समस्या

के दोनों रूपों को साथ मिलाने से उसका वास्तविक रूप दृष्टि से ओझल हो जाता है। हिन्दी बनाम अँग्रेज़ीवाले रूप में भी हिन्दी की अँग्रेज़ी से कोई स्पर्धा या वैर-भावना की बात नहीं है। भाषाओं के क्षेत्र में यह भावना उनके मूल को ही चरने वाली होती है। यह तो केवल एक राष्ट्रीय प्रश्न है, नागरिकों की सुप्त और अवरुद्ध चेतना को जगाने की बात है। पर इन समस्याओं से सम्बद्ध हिन्दी-अध्यापन की समस्या भी है। इसलिए वे स्वतः सामने आ जाती हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले इन समस्याओं का कोई स्वप्न भी नहीं था। संविधान बनने के समय भी ये समस्याएँ इस रूप में नहीं थीं, जिसमें आज हमारे सामने हैं। संविधान की ३४३ से ३५१ तक की धाराओं का गम्भीर अध्ययन करने से यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। उनमें राष्ट्रीय चेतना का समवेत स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देता है। इन धाराओं से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि राष्ट्र-भाषा से सम्भावित समस्याएँ इनके निर्माताओं के सामने थीं, और इसीलिए उन समस्याओं के हल करने के उपाय भी इन धाराओं में दे दिए गए हैं, पर कालक्रम ने परिस्थिति को ऐसा बदला कि वे ही साधारण समस्याएँ आज विकराल रूप में हमारे सामने खड़ी हैं। यह दुःख की बात है। भाषा सम्बन्धी समस्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—पारिभाषिक शब्दावली और राष्ट्र-भाषा।
२—शासन-प्रबन्ध और राष्ट्र-भाषा।
३—न्यायालय और राष्ट्र-भाषा।
४—अखिल भारतीय सेवा-आयोग-परीक्षाएँ और राष्ट्र-भाषा।
५—प्रादेशिक भाषाएँ और राष्ट्र-भाषा।
६—शिक्षा और राष्ट्र-भाषा।

इन छः समस्याओं के अतिरिक्त और भी कई छोटी-छोटी समस्याएँ हैं, जो इन्हीं की शाखाएँ और उपशाखाएँ कही जा सकती हैं, जैसे अन्तःप्रादेशिक व्यवहार की भाषा, विदेशों से व्यवहार की भाषा आदि आदि। इन सभी समस्याओं पर सरकारी और गैरसरकारी स्तर पर बराबर विचार हो रहा है। संविधान की धारा ३४४ के निर्देश के अनुसार राष्ट्रपति ने ७ जून सन् १९५५ को एक भाषा आयोग की नियुक्ति की, जिसमें देश के गण्यमान्य विद्वान् और भाषाविद् सदस्य थे। भाषा-आयोग ने इन सभी समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया और अपनी रिपोर्ट जुलाई सन्' ५६ में राष्ट्रपति की सेवा में प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट भाषा आयोग के इक्कीस सदस्यों द्वारा प्रस्तुत की गई, जिनमें उन्नीस सदस्यों की उसके विषय में पूर्ण सहमति थी, और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी और डा० पी० सुब्रायम की असहमति और मगनभाई पी० देसाई की कुछ विशेष स्थलों पर अपनी व्याख्या के साथ सम्मति। यह रिपोर्ट अभी लोकसभा के विचाराधीन है। इसमें विस्तार से इन समस्याओं पर विचार किया गया है। इक्के दुक्के भाषण और लेखों के द्वारा तो प्रतिदिन ही इन समस्याओं के लिए सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं। जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, हिन्दी के अध्यापक को इन पर विचार नहीं करना है। उसकी तो समस्या हिन्दी-अध्यापन की है। भारतीय परिषद् जैसी संस्थाओं का काम राष्ट्र-भाषा के उपयुक्त सामग्री जुटाना भी है, पर आज हम केवल अध्यापन की समस्याओं पर विचार करेंगे। हिन्दी के अध्यापन से सम्बद्ध समस्या यह भी है कि शिक्षा-

संस्थाओं में हिन्दी का क्या स्थान हो, अर्थात् हिन्दी अनिवार्य विषय हो या वैकल्पिक विषय हो, तथा शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो, अँग्रेजी हो अथवा प्रादेशिक भाषाएँ हों। हिन्दी-अध्यापन की दूसरी समस्या भाषा और साहित्य सम्बन्धी है। प्रादेशिक और राष्ट्र-भाषा हिन्दी के दो रूप नहीं हो सकते। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय तो हिन्दी-भाषी प्रदेशों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है और हिन्दी-अध्यापन की समस्याओं पर और भी अधिक गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता उपस्थित होती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा और यूनीवर्सिटी शिक्षा प्रणाली पर विचार करने के लिए कुछ आयोगों की नियुक्ति हुई और उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत किए। इनमें से दो आयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक यूनीवर्सिटी एजूकेशन कमीशन—जिसके अध्यक्ष भारत के उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन थे तथा सैकण्डरी एजूकेशन कमीशन जिसके सभापति डॉ० ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर थे। यूनीवर्सिटी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के पाँचवें अध्याय में पाठ्यक्रम पर विचार किया है और नवीं कक्षा से बी० ए० तक के पाठ्यक्रम में हिन्दी को निम्नलिखित स्थान दिया है—

नवीं दसवीं में अनिवार्य विषय

१—मातृभाषा (क्षेत्रीय भाषा)।

२—राष्ट्र-भाषा या क्लासिकल अथवा आधुनिक भारतीय भाषा (उन विद्यार्थियों के लिए जिनकी मातृभाषा राष्ट्र-भाषा है)।

३—अँग्रेज़ी।

ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाएँ—

नवीं-दसवीं कक्षाओं की भाँति तीन भाषाएँ अनिवार्य हों।

डिग्री कक्षाएँ—

१—राष्ट्र-भाषा अथवा क्लासिकल या आधुनिक भारतीय भाषा (उन विद्यार्थियों के लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी है)।

२—अँग्रेज़ी।

माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिश इस प्रकार है—

प्रारम्भिक कक्षाओं के बाद जूनियर कक्षाओं में प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अँग्रेज़ी और हिन्दी अनिवार्य होनी चाहिए। पर इस बात का ध्यान रखा जाय कि कोई दो भाषा एक ही वर्ष में न प्रारम्भ की जायँ। हिन्दी के सम्बन्ध में आयोग का निष्कर्ष इस प्रकार है—

In view of its becoming the official language of the centre and of some states, every pupil at the Secondary Stage should be given an opportunity of acquiring a basic knowledge of the language and it be left to him to develop it according to his needs. From this point of view it is stressed that Hindi should be taught during the Middle School or the Senior Basic Stage.

रिपोर्ट में आगे लिखा है—

We, however, feel that under present circumstances, it should be possible for a child to learn three languages. It is no doubt true the scripts being different, the strain will be a little heavy, but we believe that it is easier for the child to learn these languages at an early stage than at a later stage.

अर्थात् इस आयोग के मत में जूनियर कक्षाओं से ही हिन्दी अनिवार्य हो जानी चाहिए। भाषा आयोग ने पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में तो विस्तार से विचार नहीं किया है पर शिक्षा माध्यम के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट की है और उसी के साथ-साथ हिन्दी भाषा की अनिवार्यता पर भी प्रकाश डाला है। शिक्षा माध्यम के सम्बन्ध में आयोग के लगभग वे ही विचार हैं जो कि विश्वविद्यालय आयोग के हैं। विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिशों का सार इस प्रकार है—

उच्च शिक्षा का माध्यम यथासम्भव शीघ्र ही अँग्रेज़ी के स्थान पर कोई देशी भाषा होनी चाहिए। माध्यमिक और विश्वविद्यालयीय स्तर पर विद्यार्थियों को तीन भाषाएँ जानना आवश्यक है—

१—प्रादेशिक भाषा।

२—राष्ट्र-भाषा।

३—अँग्रेज़ी।

विश्वविद्यलय की शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो, पर विश्वविद्यालयों को इस विषय में छूट होनी चाहिए, कि वे चाहें तो कुछ विषयों का या सब विषयों का माध्यम राष्ट्रभाषा रखें। हाईस्कूलों और विश्वविद्यालयों में अँग्रेज़ी शिक्षा आवश्यक है।

इस प्रकार प्रायः सभी आयोगों की रिपोर्टों में हिन्दी के सम्बन्ध में निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया गया है। इन आयोगों के सदस्य प्रायः हिन्दी भाषी और अहिन्दी भाषी दोनों ही प्रकार के प्रदेशों के रहे हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि आयोगों की सिफारिशों को आज तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। बात यह है कि हमारा देश कई प्रकार के तुल्य-बल-विरोधों का देश है। धर्म और भाषा के विषय में प्राचीन काल से ही भारतवर्ष के मनुष्य बड़े भावुक रहे हैं। इन दोनों ही क्षेत्रों में बुद्धि की अपेक्षा हृदय का प्राधान्य रहा है। इसलिए इन दोनों ही विषयों में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हिन्दीभाषी प्रान्तों की ओर से भी कुछ ऐसी बातें अवश्य हुई हैं जिनसे 'भाषावाद' को बल मिला है। हिन्दी-भाषियों ने यह सब कुछ जानकर किया हो, ऐसी बात नहीं है। भाषा के प्रति उनका उत्कट प्रेम और राष्ट्र-भाषा को शीघ्र ही अँग्रेज़ी के स्थान पर बैठाने के उनके प्रयत्न ही इसमें मूल कारण रहे हैं। देश के भाषावार बँटवारे से यह 'वाद' कुछ और भी ऊपर उभर आया। यह सब स्वाभाविक ही है। विदेशी भाषा होने के कारण अँग्रेज़ी के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना नहीं हो सकती थी। एक परिवार के सदस्यों में जब विवाद होता है तो प्रायः देखा गया है कि बाहरी व्यक्तियों का प्रभुत्व उस परिवार के सभी सदस्यों को स्वीकार होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और उसी का शिकार आज हम बने हुए हैं। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी-भाषियों का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। एक ओर तो उन्हें

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा पद के उपयुक्त बनाने में योग देना है—ऐसी राष्ट्र-भाषा जो संविधान के निर्देशों के अनुकूल हो और दूसरी ओर दूसरी भाषाएँ बोलनेवालों के मन में हीन भावना न उत्पन्न होने देने का प्रयास करना है। यदि इस उत्तरदायित्व का निर्वाह ठीक न हो सका, तो ख़तरा है कि कहीं राष्ट्र की एकता ही खटाई में न पड़ जाय। यह तो आनुषंगिक बात हुई। अब मैं मुख्य विषय अर्थात् हिन्दी-अध्यापन की समस्याओं के विषय में कुछ निवेदन करूँगा।

हमारी शिक्षा-प्रणाली की तीन श्रेणियाँ हैं—

१—प्रारम्भिक शिक्षा।

२—माध्यमिक शिक्षा।

३—विश्वविद्यालय की शिक्षा।

माध्यमिक शिक्षा भी दो भागों में बँटी है—निम्न स्तरीय और उच्च स्तरीय—निम्न स्तरीय जूनियर हाई स्कूल्स, और उच्च स्तरीय हायर सैकण्डरी स्कूल्स। उच्च स्तरीय अर्थात् हायर सैकण्डरी शिक्षा के भी अभी देश में दो भाग हैं—ग्यारहवीं कक्षा तक के हायर सैकण्डरी स्कूल कुछ प्रदेशों में हैं और कुछ प्रदेशों में दसवीं कक्षा तक हाई स्कूल समाप्त करके ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाएँ इण्टरमीजिएट नाम से अलग हैं। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के भी दो भाग हैं—डिग्री अर्थात् स्नातक कक्षाएँ तथा पोस्ट-ग्रेजुएट अथवा स्नातकोत्तर कक्षाएँ। स्नातकोत्तर कक्षाओं की समस्या तथा हिन्दी में शोध की समस्या अलग हैं। वे उस रूप में देशव्यापी नहीं हैं, जिस रूप में डिग्री कक्षाओं तक हिन्दी-अध्यापन की समस्याएँ हैं।

डिग्री कक्षाओं तक हिन्दी-अध्यापन की समस्या के भी दो रूप हैं—

१—हिन्दी-अध्यापन किस रूप में हो—अनिवार्य रूप में अथवा वैकल्पिक रूप में।

२—विभिन्न कक्षाओं का पाठ्यक्रम किस प्रकार का हो।

आज हमारे देश की शिक्षा-संस्थाओं में इन दोनों ही रूपों में बड़ा भेद और वैभिन्य है। नीचे के विवरण से यह भेद स्पष्ट हो जावेगा—

१—प्राइमरी शिक्षा-संस्थाएँ

हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में प्रारम्भिक कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य विषय है। इन क्षेत्रों में जिन बच्चों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, उनके लिए तीसरी कक्षा से हिन्दी अनिवार्य की जाती है। द्विभाषी प्रदेश मध्यप्रदेश में उन बालकों के लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, हिन्दी अनिवार्य है और हिन्दीतर मातृभाषियों के लिए उनकी मातृभाषा। पंजाब में भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। अहिन्दीभाषी प्रदेशों में दो प्रकार की संस्थाएँ हैं—हिन्दी माध्यम वाली और क्षेत्रीय-भाषा-माध्यम वाली। हिन्दी-भाषा-माध्यम वाली संस्थाओं में हिन्दी और क्षेत्रीय-भाषा-माध्यम वाली संस्थाओं में क्षेत्रीय भाषा अनिवार्य है। असम, अण्डमान, निकोबार में चौथी कक्षा के पश्चात् और हैदराबाद में तीसरी कक्षा के पश्चात् अहिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी अनिवार्य है।

२—जूनियर शिक्षा-संस्थाएँ

हिन्दीभाषी क्षेत्रों में इन कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य विषय है। दिल्ली में अहिन्दी-

भाषियों के लिए ही तीसरी कक्षा में हिन्दी अनिवार्य है। मध्य प्रदेश में प्रायः इन कक्षाओं में भी प्रारम्भिक कक्षाओं की भाँति ही हिन्दी की स्थिति है। पंजाब में प्राइमरी शिक्षा की अन्तिम कक्षा से ही पंजाबी बोलनेवालों के लिए हिन्दी और हिन्दी बोलनेवालों के लिए पंजाबी अनिवार्य है। बंबई और सौराष्ट्र में प्रारम्भिक कक्षाओं में तो हिन्दी वालों के लिए हिन्दी अनिवार्य है, पर जूनियर कक्षाओं में अहिन्दी-भाषियों के लिए ही हिन्दी अनिवार्य है।

बंगाल में जिस विद्यार्थी की जो मातृभाषा है उसके लिए वही अनिवार्य है। त्रावणकोर-कोचीन में हिन्दी का क्षेत्रीय भाषा के साथ विकल्प है। उड़ीसा में छठीं कक्षा से नवीं कक्षा तक तो हिन्दी अनिवार्य है, पर चौथी और पाँचवीं में वैकल्पिक है। मद्रास में हिन्दी का काष्ठकला या शिल्पकला से विकल्प है। मैसूर में तीन वर्षों में हिन्दी वैकल्पिक विषय है। हैदराबाद में हिन्दीभाषी विद्यार्थियों के लिए प्रारम्भिक कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य है पर अहिन्दी-भाषियों के लिए तीसरी कक्षा से ही अनिवार्य होती है। अण्डमान निकोबार में चौथी कक्षा से हिन्दी अनिवार्य हो जाती है। जम्मू और काश्मीर में हिन्दी का पंजाबी और उर्दू के साथ विकल्प है।

३. हाई स्कूल श्रेणी

सभी हिन्दीभाषी प्रदेशों में तथा बम्बई, हैदराबाद और अंडमान-निकोबार में हाई स्कूल कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य विषय है। मैसूर में हिन्दी विषय तो अनिवार्य है, परन्तु वह बोर्ड की परीक्षाओं का भाग नहीं है। उड़ीसा में नवीं कक्षा तक हिन्दी अनिवार्य है। मध्यप्रदेश, असम और त्रावणकोर-कोचीन में हिन्दी का क्षेत्रीय भाषाओं के साथ विकल्प है। मद्रास में हिन्दी की वही स्थिति है जो जूनियर कक्षाओं में है, और यह परीक्षाओं का विषय नहीं है।

४. इण्टरमीडिएट

हिन्दीभाषी क्षेत्रों में प्रायः हिन्दी अनिवार्य है। दिल्ली और पंजाब में हिन्दी का दूसरी भाषाओं से विकल्प है। मध्यप्रदेश में सागर विश्वविद्यालय ने कॉमर्स के विद्यार्थियों के लिए तो हिन्दी को अनिवार्य कर दिया पर कला और विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए मराठी, उर्दू तथा सहायक अंग्रेज़ी से विकल्प है। बम्बई में नागपुर विश्वविद्यालय ने कला के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी को मराठी, उर्दू, फ्रेंच, जर्मन भाषाओं के साथ विकल्प में रखा है, और कॉमर्स और विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए उसे अनिवार्य रखा है। बम्बई, गुजरात और कर्नाटक विश्वविद्यालयों में कला और विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी का क्षेत्रीय भाषाओं और अँग्रेज़ी के साथ विकल्प है। पर कॉमर्स के विद्यार्थियों के लिए केवल भारतीय भाषाओं के साथ विकल्प है, बड़ौदा विश्वविद्यालय में हिन्दी अनिवार्य है। कलकत्ता, गोहाटी और उत्कल विश्वविद्यालयों में हिन्दी केवल हिन्दीभाषियों के लिए अनिवार्य है। काश्मीर विश्वविद्यालय में हिन्दी का उर्दू और पंजाबी के साथ विकल्प है। दक्षिण के विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अनिवार्य विषयों के साथ विकल्प है। उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में हिन्दी अलग से ऐच्छिक विषय नहीं है पर और सभी विश्वविद्यालयों में प्रायः हिन्दी ऐच्छिक विषय है।

५. डिग्री कक्षाएँ, कला (Arts)

आगरा, लखनऊ और सागर विश्वविद्यालय में हिंदी अनिवार्य विषय है। अलीगढ़ में हिंदी अनिवार्य तो है पर उर्दू के साथ, काश्मीर में उर्दू और पंजाबी के साथ। बनारस, बिहार, दिल्ली, पटना, कलकत्ता, विश्वभारती, उत्कल और गोहाटी विश्वविद्यालयों में हिंदी का विकल्प बहुत सी अन्य भारतीय भाषाओं के साथ है। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय में क्षेत्रीय और क्लासिकल भाषाओं के विकल्प के साथ हिंदी अनिवार्य है। आंध्र, अनामलाई, मद्रास, मैसूर, त्रावणकोर और श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालयों में हिंदी द्वितीय भाषा के रूप में वैकल्पिक विषय है। ऐच्छिक विषय के रूप में हिंदी प्रायः बड़ौदा, गुजरात, गोहाटी, अनामलाई, त्रावणकोर और श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त सभी विश्वविद्यालयों में है।

६. विज्ञान और व्यापार (Science and Commerce)

विज्ञान और कॉमर्स की कक्षाओं में सागर विश्वविद्यालय को छोड़कर हिंदी कहीं भी ऐच्छिक विषय के रूप में नहीं है। सागर में तो हिंदी वैकल्पिक विषय होते हुए भी अनिवार्य है। अलीगढ़ में कॉमर्स और विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी हिंदी उर्दू के साथ अनिवार्य विषय है। उस्मानिया में विज्ञान और कॉमर्स के विद्यार्थियों के लिए क्लासिकल और क्षेत्रीय भाषाओं के साथ हिंदी अनिवार्य है। आगरा, दिल्ली और सागर विश्वविद्यालयों में कॉमर्स के विद्यार्थियों के लिए भी हिंदी अनिवार्य है। बिहार विश्वविद्यालय में उसका मराठी से विकल्प है।

७. स्नातकोत्तर कक्षाएँ

एम० ए० उपाधि के लिए गोहाटी, काश्मीर, त्रावणकोर, अनामलाई और श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालयों को छोड़कर देश के सभी विश्वविद्यालयों में हिंदी विषय है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि देश की विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में हिंदी का स्थान एकसा नहीं है। हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने से पहले के हिंदी के संबंध के विभिन्न आँकड़ों से यदि आज के आँकड़ों की तुलना की जाय तो बहुत अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होगा। मद्रास प्रदेश के विश्वविद्यालयों और त्रावणकोर-कोचीन की शिक्षा-संस्थाओं में हिंदी की स्थिति अवश्य कुछ सुधरी है। मद्रास की शिक्षा-संस्थाओं में हिंदी का साधारण-सा महत्त्व बढ़ा है। विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में तथा विभिन्न श्रेणियों में हिंदी के संबंध में प्रायः सभी आयोगों ने सिफारिशें की हैं, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। भाषा-आयोग ने भी इस संबंध में विस्तार से विचार किया है, उसकी सिफ़ारिशों का सार इस प्रकार है—

छः वर्ष की आयु से लेकर चौदह वर्ष तक की आयु के बच्चे की शिक्षा का एक स्टेज है। पहले चार वर्ष प्रारम्भिक और दूसरे चार वर्ष माध्यमिक। इन आठ वर्षों में उसकी मातृभाषा का अध्ययन शिक्षा के माध्यम के रूप में और अलग विषय के रूप में होना चाहिए, पर अन्तिम चार वर्षों में हिंदी का अध्ययन भी अनिवार्य होना चाहिए। इन चार वर्षों में उसे हिंदी भाषा का अच्छा ज्ञान हो जाना चाहिए। वर्तमान शिक्षा प्रणाली को

ध्यान में रखते हुए आयोग ने उच्च माध्यमिक स्तर तक हिंदी की अनिवार्यता आवश्यक मानी है, पर साथ-साथ यह भी निर्देश किया है कि हिंदी की अनिवार्यता का प्रारम्भ करने का समय प्रादेशिक सरकारों पर छोड़ देना चाहिए। आयोग की राय में यह आवश्यक नहीं है कि हिंदीभाषी प्रदेशों के विद्यार्थी हिंदी के बदले एक दक्षिण की भाषा अवश्य सीखें, पर आवश्यक है कि हिंदीभाषी प्रदेशों की शिक्षा-संस्थाओं में हिंदीतर भारतीय भाषाओं के अध्यापन का यथोचित प्रबन्ध हो।

मेरी सम्मति में शिक्षा-संस्थाओं में हिन्दी का स्थान इस प्रकार होना चाहिए—

१. प्रारम्भिक शिक्षा संस्थाएँ—

केवल मातृभाषा तथा द्विभाषीय प्रान्तों में मातृभाषा के साथ-साथ दूसरी क्षेत्रीय भाषा।

२. जूनियर हाईस्कूल—

१. मातृभाषा तथा द्विभाषीय प्रदेशों में मातृभाषा के साथ क्षेत्रीय भाषा।
२. हिन्दी।

३. उच्च माध्यमिक शिक्षा संस्थायें

१. मातृभाषा।
२. हिन्दी।

इस प्रकार की संस्थाओं में इण्टरमीडिएट कालिज भी सम्मिलित हैं।

४. डिग्री स्टेज

विश्वविद्यालय की शिक्षा में किसी भाषा को अनिवार्य करने में बहुत से विद्वानों का विरोध है। सिद्धान्ततः बात भी ठीक है, क्योंकि विश्वविद्यालयीय स्तर पर तो विषयों का विशेषीकरण हो जाता है। अँग्रेज़ी की बात दूसरी थी। विदेशी भाषा होने के कारण उसे डिग्री स्टेज तक अनिवार्य रखा गया था। साधारण रूप से इण्टरमीडिएट तक विद्यार्थी की इतनी योग्यता हो जानी चाहिए कि वह हिन्दी के माध्यम से देश के कामों में भाग ले सके और साधारणतया हिन्दी साहित्य को समझ सके, परन्तु अहिन्दीभाषी प्रदेशों के विद्यार्थियों के लिए बहुत समय तक यह बात सम्भव नहीं है। इसलिए उनके लिए कुछ समय के लिए डिग्री स्टेज पर भी हिन्दी का अध्यापन आवश्यक होगा। यह प्रश्न वास्तव में बड़ा पेचीदा है; क्योंकि केवल अहिन्दी-भाषी छात्रों के लिए हिन्दी को अनिवार्य करने की बात भाषावाद के भ्रम को फैला सकती है। इसलिये इसका हल ढूँढ़ने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। हिन्दीभाषी प्रदेश में डिग्री स्टेज पर हिन्दी को अनिवार्य करने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। हाँ, हिन्दी माध्यम से आधुनिक भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन इस स्टेज पर आवश्यक है। ऐच्छिक विषय के रूप में हिन्दी को माध्यमिक और विश्वविद्यालयीय दोनों ही स्तरों पर रखना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर हिन्दीभाषी प्रदेशों में हिन्दी के स्थान पर मैं किसी एक अन्य आधुनिक भारतीय भाषा अथवा क्लासिकल भाषा का ज्ञान आवश्यक समझता हूँ। क्लासिकल भाषा, विशेषकर संस्कृत की आवश्यकता, भाषा और संस्कृति दोनों ही दृष्टियों से है, पर संस्कृत को हिन्दी का अंग बनाकर पढ़ाना हिन्दी और

संस्कृत दोनों के लिए अहितकर है। इस विवेचन में मैंने केवल हिन्दी के ही विषय में विचार किया है, अँग्रेज़ी का प्रश्न नहीं उठाया है, यद्यपि वह प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है और उस पर भी सभी आयोगों ने विस्तार से विचार किया है। वास्तव में हिन्दी और अँग्रेज़ी के प्रश्न को मिलाकर देखना ही ग़लत है। हिन्दी भाषा का महत्त्व राष्ट्रभाषा के कारण है। अँग्रेज़ी का महत्त्व विज्ञान की भाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा आदि होने के कारण है। हो सकता है अन्य कई कारणों से हमें रूसी, चीनी, जर्मन, फ़्रेंच, आदि भाषाओं का भी अध्ययन करना पड़े।

शिक्षा संस्थाओं में हिन्दी के स्थान के साथ ही लगा हुआ प्रश्न संस्थाओं में शिक्षा के माध्यम का भी है। यह एक बड़ी अजीब सी बात है कि शिक्षा के माध्यम को लेकर हिन्दी पर नित्यप्रति प्रहार किए जा रहे हैं। माध्यम का प्रश्न बिल्कुल दूसरा है। पहला प्रश्न हिन्दी-अध्यापन का है, उसमें योग्यता सम्पादन का है, उसके साहित्य की वृद्धि का है। माध्यम तो विचारों का वाहक है, उसमें सरलता, प्रेषणीयता होनी चाहिए। सरल, समर्थ, सशक्त और सुबोध कोई भी भाषा माध्यम का स्थान स्वयं ले लेती है। शिक्षा के माध्यम के विषय में भी देश की शिक्षा संस्थाओं में बड़ा मतभेद है और वैसा होने में कोई आश्चर्य भी नहीं है। शिक्षा-आयोगों ने माध्यम के विषय में भी विस्तार से विचार किया है। विश्वविद्यालय-शिक्षा-कमीशन विस्तृत और गम्भीर विचार के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा था—

"That for the medium of instruction for higher education English be replaced as early as practicable by an Indian language which can not be Sanskrit on account of vital difficulties."

भाषा आयोग की सिफारिशें भी इसी प्रकार की हैं। भाषा आयोग की निश्चित धारणा है कि माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी के स्थान पर कोई भारतीय भाषा या भाषाएँ होनी चाहिए। अँग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के कारण हमारे यहाँ के नवयुवकों का उचित बौद्धिक विकास नहीं हो पाता। साधारण जन-समाज से उनका सम्बन्ध और भी विच्छिन्न हो जाता है। पर माध्यम-परिवर्तन में शीघ्रता की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी को माध्यम बनाने के सम्बन्ध में भी भाषा आयोग ने अपनी सम्मति प्रकट की है, पर विस्तारभय से हम उस पर यहाँ विचार नहीं करेंगे। इस समय देश में इन्टरमीडिएट स्टेज तक प्रायः क्षेत्रीय भाषायें ही माध्यम के रूप में हैं। कहीं कहीं क्षेत्रीय भाषाओं के साथ हिन्दी का विकल्प है, कहीं अँग्रेज़ी का और कहीं दोनों का। डिग्री स्टेज पर आर्ट्स में (कला पक्ष में) और विज्ञान तथा व्यापार पक्ष में शिक्षा के माध्यमों में थोड़ा-सा भेद है। हिन्दी-भाषा प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में अलीगढ़, सागर और दिल्ली को छोड़कर कला की कक्षाओं में हिन्दी और अंग्रेज़ी का विकल्प है। पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी और अँग्रेज़ी के साथ बंगाली और उर्दू का भी विकल्प है। नागपुर, बम्बई और उस्मानिया विश्वविद्यालयों में अँग्रेज़ी के साथ क्षेत्रीय भाषाओं का विकल्प है। विश्वभारती और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में भी अँग्रेज़ी के साथ क्षेत्रीय भाषा का विकल्प है। गुजरात, पूना और कर्नाटक विश्वविद्यालयों में केवल क्षेत्रीय भाषाएँ ही माध्यम के रूप में हैं, शेष विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी है। विज्ञान और कॉमर्स विषयों के लिए माध्यम प्रायः अँग्रेज़ी

है। बनारस, विहार, लखनऊ, सागर, नागपुर, पटना विश्वविद्यालयों में अँग्रेज़ी का हिन्दी से विकल्प है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० एस-सी० के लिए और राजपूताने में बी० कॉम० के लिए हिन्दी माध्यम हो गया है।

माध्यम के सम्बन्ध में यह तो सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि अँग्रेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाएँ ही हों, केवल समय के सम्बन्ध में मतभेद है। समय का विषय भी बड़े विवाद का है, और पक्ष-विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर इस समय इस प्रश्न पर बहस करने से भ्रान्ति और बढ़ने की आशंका है, इसलिए इस प्रश्न को अभी यों ही छोड़ दिया जाय तो अच्छा है।

हिन्दी-अध्यापन से सम्बद्ध दूसरी समस्या पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकों की है। आज हिन्दी के पाठ्यक्रम में आमूल-चूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। वर्षों से हमारी शिक्षा-संस्थाओं में ऐसा पाठ्यक्रम चला आ रहा है जिससे न तो विद्यार्थी का भाषा पर ही अधिकार हो पाता है और न ही साहित्य के प्रति उसकी अभिरुचि होती है। पुराने ढर्रे के संकलन नाम-परिवर्तन के साथ चले आ रहे हैं जिनको देखकर अहिन्दीभाषी प्रान्तों के लोगों को कभी-कभी तो यह भ्रान्ति होने लगती है कि हिन्दी साहित्य अभी बड़ी अपरिपक्व अवस्था में है और उसकी दशा बड़ी दयनीय है। हिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों का भी हिन्दी का स्तर बड़ा असंतोषजनक है। दोषपूर्ण भावाभिव्यक्ति की बात तो छोड़ दीजिए, हिन्दी के स्नातक वर्तनी की अशुद्धियाँ भी पर्याप्त मात्रा में करते हैं। स्वच्छ और परिष्कृत दृष्टिकोण की बात तो अलग रही साहित्य की सामान्य बातों का ज्ञान भी इन विद्यार्थियों को नहीं होता। इन सब बातों के लिए कुछ सीमा तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का भी उत्तरदायित्व है, पर पाठ्यविधान भी कम दोषी नहीं है। माध्यमिक स्तर तक विद्यार्थियों को ठीक-ठीक भाषा लिखनी पढ़नी आ जानी चाहिए। साहित्य में उनकी अभिरुचि उत्पन्न हो जानी चाहिए। डिग्री स्टेज पर साहित्य-सरोवर में प्रवेश कर उसे मज्जन और अवगाहन का आनन्द आना चाहिए, और स्नातकोत्तर स्टेज पर उसमें साहित्य-महोदधि के मंथन का सामर्थ्य होना चाहिए। इसलिए हमें पाठ्यक्रम का निर्धारण करने में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हिन्दीभाषी और अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में कुछ समय के लिए माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक कुछ भेद रखना पड़ेगा, परन्तु विश्वविद्यालयीय स्तर पर पाठ्यक्रम एक सा ही रखना चाहिए। स्थूल रूप में हम पाठ्यक्रम को इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

१. प्रारम्भिक स्तर—

भाषा का सामान्य ज्ञान, व्याकरण, वर्तमान युग के कवियों की सरल कविताएँ, खड़ी बोली का सरल गद्य। इस स्तर पर विद्यार्थियों में रुचि उत्पन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रश्नावली के द्वारा भाषा का अध्यापन होना चाहिए।

२. जूनियर स्तर—

इस स्तर की कक्षाओं में भाषा का स्तर कुछ ऊँचा हो, व्याकरण के अतिरिक्त पाठ्यक्रम-पुस्तकों के विषय सुरुचिपूर्ण, मनोवैज्ञानिक और आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुसार हों। इस स्तर पर विद्यार्थियों का भाषा-सम्बन्धी ज्ञान और भी दृढ़ हो जाना चाहिए।

३. माध्यमिक शिक्षा स्तर—

इसके अन्तिम वर्षों में विद्यार्थी का हिन्दी साहित्य में प्रवेश आवश्यक है। भाषा, व्याकरण के प्रायः सभी नियमों से विद्यार्थी को इस स्तर पर सुबुद्ध होना चाहिए। विद्यार्थी में अपने विचारों को हिन्दी भाषा में अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य आ जानी चाहिए। वर्तनी की अशुद्धियाँ इस स्तर के विद्यार्थी के लिए क्षम्य नहीं हैं। साहित्य में उसकी ऐसी रुचि उत्पन्न हो जाय कि अन्य भाषाओं के साहित्य को जानने की भी इच्छा उसके मन में उत्पन्न हो। हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की रूप-रेखा से भी उसका परिचय भलीभाँति हो जाना चाहिए। रस और अलंकार का विवेचन इस स्तर पर अपेक्षित नहीं है; हाँ, कविता में उनकी उपयोगिता का परिचय अवश्य कराया जा सकता है। हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की बानगी छात्रों को अवश्य मिल जानी चाहिए, पर उन रचनाओं का आलोचनात्मक, साहित्यिक अध्ययन अपेक्षित नहीं है। अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लिए पाठ्यक्रम की रूपरेखा तो यही हो, पर प्रवृत्ति कुछ सरलीकरण की ओर होनी चाहिए।

४. डिग्री स्तर—

डिग्री स्तर पर जैसा कि मैंने अभी कहा, हिंदी को अनिवार्य बनाने में कुछ आपत्ति हो सकती है, इसलिए यहाँ वैकल्पिक विषय के रूप में ही हिंदी पर विचार किया जावेगा। डिग्री स्टेज पर विषय का अध्ययन गम्भीर एवं व्यापक होना चाहिए। इस समय कुछ विश्वविद्यालयों में तीन वर्षों का डिग्री कोर्स है और कुछ विद्यालयों में केवल दो वर्षों का। इसलिए पाठ्यक्रम भी सब जगह एकसा नहीं है। साधारण रूप से सभी विश्वविद्यालयों में गद्य और पद्य का अलग-अलग पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है, कहीं गद्य के साथ उपन्यास को मिलाया गया है, तो कहीं नाटक को। इसी प्रकार पद्य के साथ भी कहीं रस और अलंकार को रखा गया है तो कहीं हिंदी साहित्य के इतिहास को। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में गद्य और पद्य के संकलनों को महत्त्व दिया गया है। कुछ विश्वविद्यालयों में निबन्ध का कोई स्थान नहीं है, जैसे आगरा विश्वविद्यालय में निबन्ध का कोई प्रश्न-पत्र नहीं है। वास्तव में बी० ए० का पाठ्यक्रम सब विश्वविद्यालयों में लगभग एक सा ही होना चाहिए और उसे दो या तीन वर्षों में इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि विद्यार्थी की साहित्य में उत्तरोत्तर पैठ बढ़ती जाय और उसे हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का समुचित ज्ञान हो जावे। संकलनों के अतिरिक्त यदि कवियों और लेखकों की पूरी-पूरी रचनाएँ या कविताओं के पूरे-पूरे स्थल हों तो अधिक अच्छा है। हिंदी साहित्य के इतिहास का अच्छा ज्ञान विद्यार्थी को इस स्टेज पर हो जाना चाहिए। रस और अलंकार का भी ठीक-ठीक विवेचन इस स्तर पर हो जाना चाहिए। छात्र का दृष्टिकोण स्वच्छ और परिष्कृत होकर शुद्ध आलोचना की ओर प्रवृत्त हो जाना चाहिए, इसलिए लेखन-शैली का इस स्तर पर बड़ा महत्त्व है। साथ ही साथ भारत की अन्य भाषाओं के साहित्यों का परिचय भी उसके लिए आवश्यक है। निबंध-लेखन में छात्र निपुण हो जाने चाहिएँ।

५. स्नातकोत्तर स्टेज—

हमारे विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम भी संतोजनक नहीं कहे जा सकते। उनमें भी संतुलन और संशोधन की आवश्यकता है। एम० ए० परीक्षा प्रायः सभी विश्व-

विद्यालयों में दो वर्षों में पूर्ण होती है, और अन्न एक दो विश्वविद्यालयों को छोड़कर सभी विश्वविद्यालय दोनों वर्षों की अलग-अलग परीक्षाएँ लेते हैं। कहीं-कहीं प्रश्न-पत्रों का चयन अवश्य विद्यार्थी की इच्छा पर है, पर अधिकांश में प्रश्न-पत्र भी दो वर्षों में बाँट दिए गए हैं। पत्रों के विभाजन का सिद्धान्त थोड़े बहुत अंतर से सभी विश्वविद्यालयों में एकसा है अर्थात् प्राचीन काव्य, मध्यकालीन काव्य, आधुनिक गद्य और नाटक, भाषा विज्ञान, आलोचना और हिंदी साहित्य का इतिहास, कोई विशेष कवि, आधुनिक भारतीय भाषाएँ अथवा प्राचीन भाषाएँ और निबंध। किसी-किसी विश्वविद्यालय में मौखिक परीक्षा का भी नियम है, और कुछ विश्वविद्यालयों में निबंध के स्थान पर छोटा सा खोज-प्रबंध (Dissertation) लिखाने की प्रणाली है। कहीं-कहीं आलोचना और हिंदी साहित्य का इतिहास एक ही प्रश्न-पत्र में है, और कहीं अलग। कहीं-कहीं विशेष कवि के विकल्प में निबंध है, तो कहीं अन्य भाषाएँ ; कहीं नाटक और उपन्यास आधुनिक गद्य के साथ हैं, कहीं अलग-अलग; कहीं मध्यकालीन-काव्य विकल्प के रूप में है तो कहीं सामूहिक रूप में। कहीं प्राचीन काव्य में अपभ्रंश-काव्य भी सम्मिलित है। इस प्रकार पाठ्यक्रम का सिद्धान्त सब विश्वविद्यालयों में लगभग एक होते हुए भी विवरणगत भेद पर्याप्त मात्रा में है। विश्वविद्यालयों के हिंदी-विभागों के अध्यक्षों को एक साथ बैठकर एम० ए० के पाठ्यक्रम पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की सिफ़ारिश इस संबंध में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकती है। सिफ़ारिश इस प्रकार है—

"That there should be a uniformity in the regulations for the M. A. and M. Sc. degrees. A pass graduate should study for at least two years and an honours graduate for at least one year; teaching for these degrees should be properly organized by means of regular lectures, seminars and laboratory work. The course should include advanced study of one special subject and training in methods of research, but not actual research. Admission to these courses should be on an all India basis at every university. There should be the closest personal touch between the staff and the students."

मेरे विचार में एम० ए० श्रेणी के विद्यार्थी के लिए बानगी रूप में विभिन्न-कालीन कवियों की रचनाएँ नाकाफ़ी हैं, यह काम तो डिग्री स्टेज पर हो जाना चाहिए। प्रत्येक काल की रचनाओं को विभिन्न वर्गों में बाँट लेना चाहिए—जैसे आदिकाल की रचनाएँ निम्नलिखित दो या तीन वर्गों में बाँटी जा सकती हैं—

१—अपभ्रंश काव्य और प्राचीन हिंदी काव्य।

२—वीर गाथा काव्य।

३—लोक-साहित्य।

इसी प्रकार भक्तिकालीन और रीतिकालीन तथा आधुनिक कालीन रचनाओं का भी विभाजन हो सकता है। प्रत्येक प्रश्नपत्र के अन्तर्गत इस प्रकार वर्ग किए जा सकते हैं और विद्यार्थी कोई भी वर्ग ले सकता है। लोक साहित्य हमारे पाठ्यक्रम में अभी उपेक्षित ही है, उसका भी उचित स्थान होना चाहिए। भाषा-विज्ञान के कोर्स के लिए विशेष विचार की

आवश्यकता है। अब तक हमारे विश्वविद्यालयों में भाषा-विज्ञान का जो अध्ययन है, वह बहुत ही असंतोष-जनक है। हिंदी भाषा के विकास, उसकी ध्वनियाँ, शब्द-विचार, अर्थ-परिवर्त्तन आदि के संबंध में हम प्रायः विदेशी विद्वानों की मान्यताओं पर ही चल रहे हैं। ब्रज, अवधी, खड़ीबोली आदि का भेद उदाहरण देकर बहुत कम विद्यार्थी स्पष्ट कर पाते हैं। भाषा-विज्ञान की उपयुक्त पुस्तकों का भी अभाव है। इसी प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन-अध्यापन भी गम्भीरता से होना चाहिए। साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं का सुसम्बद्ध ज्ञान विद्यार्थियों को नहीं हो पाता। साहित्य के संबंध में जो नए-नए तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं, उन सबका ज्ञान और उपयोग विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। आलोचना में भी विद्यार्थियों का दृष्टिकोण नहीं बन पाता। पुराने पिटे-पिटाए सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति ही उनका लक्ष्य रहता है। इसमें भी अच्छी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव है। हिंदी के पाठ्यक्रम के साथ कुछ विद्वानों का विचार है कि संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है। कुछ विश्वविद्यालयों में तो संस्कृत का एक अनिवार्य प्रश्न-पत्र है, परन्तु कुछ विश्वविद्यालयों में संस्कृत अन्य भाषाओं के साथ विकल्प में है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में से किसी भाषा को एम० ए० के पाठ्यक्रम में अनिवार्य रखना तो अवश्य कुछ लाभदायक प्रतीत होता है, पर प्राचीन व्याकरण-बद्ध भाषाओं को जिस प्रकार आज एम० ए० हिंदी के साथ पढ़ाया जाता है, मुझे तो वह उपहासास्पद-सा ही लगता है, और विद्यार्थी अंकों की वृद्धि के लिए उस भाषा को ले लेते हैं। मैं इस प्रकार के पाठ्य-क्रम के विरुद्ध हूँ। यदि पाठ्यक्रम में कोई प्राचीन भाषा रखनी ही है, तो उसका कोर्स बहुत सोच-समझ कर बनाना चाहिए। निबंध के प्रश्न-पत्र के साथ शोध-निबंध आवश्यक है। जिस प्रकार आज का विद्यार्थी निबंध लिखता है उस संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि वर्ष के प्रारम्भ में विद्यार्थी को कोई विषय दे दिया जाय, और उसका उचित पथ-प्रदर्शन हो तो वर्ष के अंत में वह एक अच्छा सौ डेढ़ सौ पृष्ठों का निबंध प्रस्तुत कर सकता है और आगे के शोध-कार्य के लिए भी उसे दीक्षा मिल सकती है।

आज हिंदी अध्यापकों के सामने इन बहुत सी समस्याओं के साथ एक यह भी समस्या है कि हिंदी पढ़ाने के लिए उन्हें बहुत कम घण्टे मिल पाते हैं। विश्वविद्यालयों अथवा कालिजों के सत्ताधारी अधिकारी अपनी मनोवृत्ति बदलने को तैयार नहीं, जिससे हिंदी के अध्यापन को बड़ी क्षति पहुँचती है। माध्यमिक और विश्वविद्यालयीय स्तर पर हिंदी के लिए नौ से बारह घंटे तक प्रति सप्ताह होने चाहिए और एम० ए० कक्षाओं के लिए एक प्रश्न-पत्र के लिए कम से कम छः घंटे प्रति सप्ताह परम आवश्यक हैं।

अब मैं दो शब्द शोध-कार्य के संबंध में निवेदन करके अपना भाषण समाप्त करता हूँ। यों तो आर्ट्स के सभी विषयों में शोध संबंधी अव्यवस्था है, पर हिंदी में तो वह चरम सीमा को पहुँच चुकी है। इसका अनुभव विश्वविद्यालय का प्रत्येक अध्यापक भलीभाँति करता होगा। जिस प्रकार विषयों का शोध के लिए चयन हो रहा है—जैसे शोध-प्रबंध प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जैसा शोध-कार्य में पथ-प्रदर्शन होता है, जैसी शोध-कार्य के लिए विश्वविद्यालयों में सामग्री उपलब्ध है—उसका उल्लेख न करना ही श्रेयस्कर है। शोध का कार्य कुछ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण एक व्यवसाय बनकर रह

गया है। एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करके कोई काम न मिलने तक विद्यार्थी क्या करे, उसके लिए केवल एक ही व्यवसाय है, अनुसंधान (रिसर्च) करना। शोध-कार्य साध्य बनना तो अलग रहा, साधन की भी अधम कोटि को पहुँच गया है। विषयों की पुनरावृत्ति धड़ाधड़ हो रही है। इस अव्यवस्था को रोकने की बड़ी आवश्यकता है। विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग की इसके संबंध में स्पष्ट सिफ़ारिश है—

"That the training for the Ph. D. degree should extend over a period of at least two years. A Ph. D. student should not become a narrow specialist but his grasp of his subject should be characterised both by breadth and depth. The examination should include a thesis and a viva voce examination to test the candidate's general knowledge of the whole field on the subject. Admission to Ph. D. Courses should be made with great care and should be on an all-India basis.

हिंदी-अध्यापन की कुछ समस्याओं का संक्षेप में विवेचन मैंने आपके सामने प्रस्तुत किया है। मुझे आशा है कि हिंदी का प्रत्येक अध्यापक इन समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करेगा। अन्त में मैं भारतीय हिंदी परिषद् के अधिकारियों के प्रति अपना आभार प्रगट करता हूँ, कि उन्होंने मुझे आपसे कुछ निवेदन करने का अवसर प्रदान किया।

निबन्ध-गोष्ठी—(१)

सभापति डॉ० नगेन्द्र का वक्तव्य

हिंदी में शोध की कुछ समस्याएँ

साहित्यिक बन्धुओ,

इस निबन्ध-गोष्ठी का सभापति निर्वाचित कर भारतीय हिन्दी परिषद् की कार्यकारिणी ने मुझे निश्चय ही गौरव-दान किया है। इस निर्णय के लिए मैं उनका और निर्णय को स्वीकार कर यहाँ समवेत होने के लिए आपका हृदय से कृतज्ञ हूँ। किन्तु यह आभार एकांगी नहीं है; आप विश्वास कीजिए कि गोष्ठी के अंत में मंत्री महोदय अवश्य ही मेरे प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करेंगे और उसे केवल उपचार मात्र नहीं मानना चाहिए क्योंकि परिषद् में गति और प्राणवत्ता का संचार करने के लिए सदा ही नये ख़ून की आवश्यकता रहेगी। और आख़िर यह नया ख़ून आएगा कहाँ से? इसके लिए अब तो हम और आप जैसे लोगों की ही ज़रूरत पड़ेगी जिनका ख़ून अभी ताज़ा है। इसलिए मुझे विश्वास है कि रक्तदान के बदले में मंत्री महोदय मुझे धन्यवाद तो अवश्य देंगे ही।

आज की गोष्ठी के निम्बन्धों के विषयों में इतना वैविध्य है कि उनके आधार पर किसी समान प्रसंग का विवेचन मेरे लिए सम्भव नहीं था, अतएव मैंने हिन्दी में शोध की कुछ मौलिक समस्यओं पर ही अपने विचार व्यक्त करने का निर्णय किया है।

आज हिन्दी में शोध की सबसे प्रमुख समस्या है शोधार्थियों की वर्धमान संख्या। अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय में पधारे थे। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपनी भाषा और साहित्य की प्रगति का वर्णन किया। काफ़ी देर तक आदरपूर्वक सुनने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपके साहित्य में सभी विश्वविद्यालयों से से कितने विद्यार्थी एम० ए० की परीक्षा में बैठते हैं, और अनुसन्धाताओं की कुल संख्या कितनी है? उन्होंने बड़े गर्व से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया—कोई तीस-चालीस छात्र एम० ए० में बैठते हैं और शोधार्थियों की संख्या आठ-दस ज़रूर होगी। विद्वान् मित्र ने फिर यही प्रश्न मुझ से किया। मैंने कहा कि आप विश्वास कर सकें तो अपनी दोनों संख्याओं को कम से कम ५० से गुणा कर दीजिए। यह वर्धमान संख्या हमारे लिए यदि गर्व का कारण नहीं है तो कम से कम लज्जा का कारण भी नहीं है। किन्तु यह एक समस्या अवश्य है जो समाधान की अपेक्षा करती है। इस के द्वारा पहले तो विषयों की समस्या खड़ी होती है क्योंकि नित्य-नवीन अनुसंधेय विषय भी तो असंख्य नहीं हो सकते। अनुसंधेय विषय से मेरा यह अभिप्राय है कि उस विषय की परिधि के भीतर तथ्य-शोध और तत्त्व-बोध दोनों के

लिए ही वांछित अवकाश हो, पुनरावृत्ति न होने पाए और साथ ही उसके परिणाम भी ज्ञानवर्धक हों। दूसरी सम्बद्ध समस्या है निरीक्षकों की। इतने निरीक्षक कहाँ से आएँ ? संख्या की यह वृद्धि जिस वेग से हो रही है उसके अनुपात में पूर्ति के साधन अत्यन्त अपर्याप्त हैं। बढ़ती हुई बेकारी ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। आजकल जो अपरिचित व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में भटकते हुए मेरे पास आते हैं, आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनमें से प्रायः ३३ प्रतिशत नौकरी के लिए और ६७ प्रतिशत शोध-कार्य के लिए आते हैं। जब मुझ जैसे अदना आदमी का यह हाल है तो लब्धकीर्त्ति दिग्गजों के पास भटकने-वालों की दयनीय दशा की कल्पना आप सहज ही कर सकते हैं। जनसंख्या की वृद्धि के समान शोधार्थी-संख्या की वृद्धि का नियन्त्रण भी आवश्यक है। किन्तु यह नियन्त्रण आयोजन के रूप में ही होना चाहिए दमन के रूप में नहीं। जहाँ तक विषयों का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी संख्या अनन्त नहीं हो सकती किन्तु हिन्दी साहित्य का विस्तार काल और कार्य दोनों की दृष्टि से इतना अधिक है कि अभी तक निराश होने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। अभी तक राजस्थान, व्रज, पंजाब और अवध के क्षेत्रों में इतना प्रचुर साहित्य अज्ञात पड़ा हुआ है कि सैकड़ों अनुसन्धाताओं का श्रम उसमें सफल हो सकता है। इस अभाव-पूर्त्ति का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है अंतर्साहित्यिक विषयों का चयन। अंतर्साहित्यिक से मेरा आशय ऐसे विषयों से है जिन पर भारत के विभिन्न साहित्यों में परस्पर सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध है। हमारे प्राचीन और नवीन साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनका भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में समान रूप से विकास हुआ है और यह साम्य अनेक प्रकार का है : कहीं मूल स्रोत का साम्य है, कहीं विकास की सरणियाँ समान हैं तो कहीं-कहीं परस्पर आदान-प्रदान मिलता है। ये तथ्य अत्यन्त मूल्यवान् है, सत्य की शोध के लिए सामान्य रूप से और भारत की सांस्कृतिक परम्परा की मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसंधान हिन्दी शोध के इतिहास में एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध पुनरावृत्ति की समस्या भी है : हिन्दी शोध के क्षेत्र में यह शिकायत बार-बार सुनने में आती है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में एक से विषयों पर अनुसंधान हो रहा है जिससे श्रम का अपव्यय और स्तर का ह्रास हो रहा है। इस तथ्य में सत्य का अंश है इसमें सन्देह नहीं—किन्तु उचित आयोजन से इस दोष का परिहार हो सकता है। कई स्थानों पर एक ही विषय पर शोध होना अपने आप में दोष नहीं है : यह विषय पर निर्भर है। यदि विषय की परिधि सीमित है तो पुनरावृत्ति की आशंका हो सकती है, अन्यथा व्यापक विषयों पर तो शोध के लिए अनन्त अवकाश है—सत्य के अनेक पह-लुओं का उद्घाटन भी ज्ञान के विस्तार में अमूल्य योगदान करता है। इस दिशा में शोध-संस्थानों के कार्य को आयोजित और समंजित करने की आवश्यकता है—जो विश्वविद्यालय-स्तर पर, या विभागीय स्तर पर और भी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का दोष गुण बन जाएगा, एक ही विषय के अनेक पक्षों का उद्घाटन होगा और और विवेचन में गम्भीरता एवं सूक्ष्मता आएगी।

दूसरा प्रश्न निरीक्षकों का है। यह प्रश्न निश्चय ही थोड़ा जटिल है किन्तु इसका समाधान भी असम्भव नहीं है। विश्वविद्यालयों में निरीक्षण कार्य को व्यवस्थित करने के

लिए अनुसंधान-कक्षों का प्रबन्ध होना चाहिए—जहाँ पर शोध की शिल्प-विधा (मैथोडौलॉजी) की सामूहिक रूप से नियमित शिक्षा दी जा सके। इसके अतिरिक्त बाहर के शुद्ध साहित्यिक संस्थानों और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के हिंदी-प्रेमी विद्वानों और स्रष्टा साहित्यकारों से भी सम्पर्क स्थापित करना एक विशिष्ट सीमा के भीतर लाभप्रद हो सकता है। ऐसे अनेक साहित्यकार आज हमारे बीच विराजमान हैं जो हिन्दी के शोध-कार्य में अनेक दृष्टियों से अमूल्य सहयोग दे सकते हैं। उपाधि के अभाव में उनके सहयोग से अपने को वंचित करते रहना समझदारी नहीं होगी।

स्तर का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आजकल चारों ओर यह चिंता व्यक्त की जा रही है कि हिंदी में शोध का स्तर बहुत गिर गया है और बराबर गिरता जा रहा है। इस विषय में मेरा आपसे निवेदन है कि यह आरोप सर्वथा सत्य नहीं है—परिमाण की वृद्धि के साथ एकदम 'ए वन' माल की आशा करना संगत नहीं है—परंतु सारा माल या अधिकांश माल घटिया है, यह कहना अन्याय है। वास्तव में इस आरोप के मूल में अनेक कारण हैं—विश्वविद्यालयों के बीच अस्वस्थ स्पर्धाभाव, पण्डितों की पारस्परिक ईर्ष्या, जेठी पीढ़ी के लोगों की थोड़ी-सी अनुदारता, हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों का हिन्दी के विषय में अज्ञान और उसकी प्रगति के प्रति द्वेष आदि। यदि आप स्थिर मन से स्थिति का विश्लेषण करें तो रहस्य प्रकट हो जाएगा। शिकायत करनेवाले कौन लोग हैं? हर जेठी पीढ़ी के लोगों का यह अटूट विश्वास होता है कि योग्यता के जो मानदण्ड उन्होंने और उनके साथियों ने स्थिर कर दिए हैं वे ही अटल हैं—बाद की पीढ़ियाँ तो निरन्तर अवनति की ओर बढ़ रही हैं। जब हर पहली पीढ़ी का मैट्रिक अगली पीढ़ी के एम० ए० को पढ़ा सकता है तो आज की पीढ़ी का शोध-कार्य पिछली पीढ़ी के शोधकों की दृष्टि में सर्वथा हेय हो, इसमें आश्चर्य ही क्या! इस प्रसंग में मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहूँगा कि प्रतिभा और निपुणता किसी पीढ़ी का एकाधिकार नहीं है: एक ओर यदि पिछली पीढ़ी के कुछ प्रबन्ध आज भी हमारे लिए आदर्श हैं तो दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रबंधों पर भी बुज़ुर्ग लोग बड़ी से बड़ी उपाधि मार ले गए हैं जिनको छपाने का साहस भी आज उनको नहीं है। हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों की आलोचना प्रायः अज्ञान, शंका और द्वेष से प्रेरित है। आख़िर इन विषयों का भी शोध-कार्य तो सामने है—अधिकांश के लिए तो प्रकाशक ढूँढ़े से नहीं मिलता और जो प्रकाशित हो गए हैं उनके स्तर से किसी प्रकार आतंकित होने का कारण हमें दिखाई नहीं देता। शेष दो कारण स्वभावजात हैं—अस्वस्थ स्पर्धा धीरे-धीरे स्वस्थ रूप धारण करती जा रही है, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों के बीच सौमनस्य स्थापित होता जा रहा है: लक्ष्य की एकता और अधिकारों तथा कर्तव्यों का उचित विभाजन इस सौहार्द को शीघ्र ही दृढ़ कर देंगे ऐसा मेरा विश्वास है। पिछले पंद्रह वर्ष के शोध-कार्य का निस्संग विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने आगे या पीछे इस दिशा में पर्याप्त योगदान किया है, आगे काम करनेवालों को यदि पथ-प्रदर्शन का गौरव प्राप्त है तो पीछे बढ़नेवालों को विकास का श्रेय है। परस्पर सहयोग से और भी अधिक लाभ की आशा है।

किन्तु मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि जो कुछ हो रहा है वह सर्वथा संतोषजनक है—उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। स्तर से सम्बद्ध कुछ समस्याएँ

वास्तव में अत्यन्त गम्भीर हैं, उनके समाधान के लिए आवश्यक उपाय होने चाहिए। सब से पहला उपाय तो है उचित निरीक्षण की व्यवस्था। अभ्यर्थियों की वर्धमान संख्या के अनुपात में निरीक्षकों की संख्या वास्तव में बहुत ही कम है। परिणाम यह होता है कि कहीं एक-एक निरीक्षक के अधीन अनेक प्रकार का शोध-कार्य हो रहा है, कहीं निरीक्षक और अनुसंधाता में कम से कम ५०० मील की दूरी है और पूरी अवधि के भीतर मुश्किल से ही दो-तीन बार मुलाक़ात हो पाती है, कहीं निरीक्षक को शोध-प्रबन्ध पढ़ने का अवकाश ही नहीं है और कहीं शोधार्थी अनुभव करता है कि निरीक्षक महोदय से तो मैं ही अधिक जानता हूँ। ये परिस्थितियाँ वास्तव में चिन्त्य हैं, किन्तु इनके लिए निरीक्षकों या प्राध्यापकों को दोष देना सर्वथा अनुचित होगा। विद्यार्थी की माँग इतनी अधिक है कि निरीक्षक लाचार हो जाता है। परन्तु यह लाचारी समस्या का समाधान तो नहीं है। निरीक्षक की अपनी सीमाएँ होती हैं—बौद्धिक भी और शारीरिक भी। शारीरिक का अर्थ यह है कि वह अपने नैत्यिक कार्य के साथ-साथ तीन-चार से अधिक शोध-प्रबन्धों का निरीक्षण नहीं कर सकता—और बौद्धिक का आशय यह है कि निरीक्षक विशेषज्ञ ही हो सकता है सर्वज्ञ नहीं। हमारे विश्व-विद्यालयों को विवश होकर ऐसे विषय स्वीकार करने पड़ते हैं जिन में निरीक्षक का कोई प्रवेश नहीं—कभी-कभी तो निरीक्षक विषय से सर्वथा अबोध होता है। एक ही निरीक्षक को आल्हखण्ड, कमायूनी भाषा, छायावाद, रीतिकाल और कहानी की शिल्पविधा जैसे सर्वथा असम्बद्ध विषयों का निर्देशन करना पड़ता है। कहीं-कहीं निरीक्षक का नाम मात्र पाने के लिए भटकता हुआ छात्र अनेक भौतिक सीमाओं को पार कर किसी ऐसे निरीक्षक से जा टकराता है जिसके साथ सम्पर्क भी प्रायः दुर्लभ होता है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऊँचे स्तर की आशा करना व्यर्थ होगा। मेरा सुझाव है कि कम से कम इस प्रकार के निरीक्षक कार्य पर अवश्य प्रतिबन्ध लगना चाहिए। यह न नैतिक दृष्टि से उचित है न शैक्षिक दृष्टि से ही इसके अतिरिक्त पहले निरीक्षक को और बाद में परीक्षक को थोड़ी निर्ममता बरतनी चाहिए—कठोर न्याय चाहे न किया जाए किन्तु कम से कम सदय न्याय तो करना ही। चाहिए। और इसमें अन्ततः विद्यार्थी का अहित नहीं होता। तात्कालिक संतोष के लिए कच्ची-पक्की रचना को स्वीकृति दे देना अपने विषय और व्यवसाय के प्रति अन्याय है, साथ ही विद्यार्थी के लिए भी यह अत्यन्त अहितकर होता है क्योंकि आरम्भ से ही वह गम्भीर अनुसंधान से पराङ्मुख होकर लीपा-पोती की आदत डाल लेता है जो अंत में जाकर नितान्त घातक सिद्ध होती है। आरम्भ में एक-आध वर्ष अधिक परिश्रम कर लेना विद्यार्थी के हित में पहले होता है, शिक्षा के हित में बाद में। इनके अतिरिक्त एक तीसरा ठोस उपाय है शोध-पूर्व शिक्षण-क्रम की व्यवस्था। मैंने स्वयं इस उपाय का व्यवहार करके देखा है, और मुझे इससे बड़ा संतोष है। विद्यार्थी को उसकी रुचि के अनुकूल विषय देकर निर्देशन की व्यवस्था कर देनी चाहिए और यह शर्त लगा देनी चाहिए कि सामग्री का संकलन तथा कम से कम भूमिका भाग पूरा कर लेने के बाद ही उसका नियमित प्रवेश हो सकेगा। इससे दो लाभ हो सकते हैं, एक तो उन विद्यार्थियों की झूठी भूख मर जाती है जो किसी और कार्य के अभाव में इच्छा-अनिच्छापूर्वक शोध के लिए टूट पड़ते हैं : इस प्रकार अनधिकारी व्यक्तियों के छँट जाने से अनुशासन में भी दृढ़ता आती है। दूसरे सच्चे शोधक को अपनी सीमा और शक्ति समझने, शोध का पूर्वाभ्यास करने और विधि-विधान का उचित

ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है—उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है और लपक-झपक में उपाधि प्राप्त कर लेने की अस्वस्थ स्पृहा का शमन हो जाता है। सब मिलाकर इस पद्धति से विद्यार्थी नुक़सान में नहीं रहता क्योंकि तीन वर्ष तो शोध-प्रबंध लिखने में लग ही जाते हैं।

आज वास्तव में परिस्थितियों के कारण शोध के प्रति अभीष्ट दृष्टिकोण का लोप हो गया है। इसलिए आवश्यकता यह है कि उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर शुद्ध बौद्धिक एवं शैक्षिक दृष्टिकोण का पुनर्विकास किया जाए। शोध-उपाधि का संबंध व्यावसायिक उन्नति के साथ एक उचित सीमा के भीतर ही रहना चाहिए : उत्कर्ष की कामना तो होनी ही चाहिए किन्तु उत्कर्ष का रूप केवल आर्थिक या व्यावसायिक ही न होकर बौद्धिक एवं आत्मिक भी होना चाहिए। यह काम अधिकारियों के करने का है—उन्हें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि पी-एच० डी० की उपाधि कॉलिज-शिक्षा के लिए एल० टी० की स्थानापन्न न बन जाए। इससे शिक्षा और शोध दोनों की हानि है। प्रत्येक अच्छा शोधक अच्छा शिक्षक नहीं होता—कभी-कभी वह साधारण से भी निकृष्ट अध्यापक सिद्ध होता है, इसलिए दोनों के उद्देश्य और पद्धति में भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। शोध-कार्य के पुरस्कार को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित कर देने के परिणाम अत्यन्त अप्रिय हो सकते हैं और हो रहे हैं—उसके लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए, अलग प्रतिष्ठान होने चाहिए जहाँ अनुसंधाता की प्रतिभा और उपलब्धि का सम्यक् उपयोग किया जा सके। इस भ्रांति के निराकरण से स्तर में वृद्धि असंदिग्ध है।

स्तर से सम्बद्ध एक और व्यावहारिक समस्या है पी-एच० डी० और डी० लिट्० के सापेक्षिक मूल्यांकन की। अभी तक इस विषय में बड़ी गड़बड़ रही है। पहले तो प्रायः अकेली डी० लिट्० की ही उपाधि थी—फिर पी-एच० डी० और डी० लिट्० दो उपाधियाँ चलने लगीं—कहीं केवल एक और कहीं तारतम्य से दोनों। आज स्थिति प्रायः स्पष्ट हो चुकी है; उत्तर भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० प्रथम शोध-उपाधि हो गई है और डी० लिट्० उसके बाद की, जो अपने क्षेत्र में उच्चतम उपाधि है। मैं समझता हूँ इस अन्तर को नियमित मान्यता प्रदान कर स्तर-भेद की उचित व्यवस्था अनिवार्यतः हो जानी चाहिए; जिन विश्वविद्यालयों में ऐसा नहीं है वहाँ भी शिक्षाक्रम की एकरूपता की दृष्टि से ऐसा हो जाना आवश्यक है। इस व्यवस्था के बाद फिर शोध के निरीक्षण परीक्षण का भी क्रम-भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए। डी० लिट्० के लिए निरीक्षक की आवश्यकता नहीं है—कदाचित् परामर्शदाता की भी नहीं, जो दूसरे का आसरा डी० लिट्० में भी तकें उन्हें कुछ और काम करना चाहिए। मूल्यांकन की दृष्टि से भी हमारी धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त हो जानी चाहिए : पी-एच० डी० के अपेक्षा डी० लिट्० के शोध-प्रबन्ध में विषय का विस्तार, विवेचन का गांभीर्य तथा प्रतिपादन की सर्वांगपूर्णता निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और इसी आधार पर उनका मूल्यांकन होना चाहिए। डी० लिट्० का प्रबन्ध एक दूसरा शोध-प्रबन्ध मात्र नहीं है : वह वस्तुतः एक गुरुतर और गंभीरतर शोधकार्य है—संस्तुति करने से पूर्व इस विषय में परीक्षक को निरन्तर ही आश्वस्त हो जाना चाहिए : तभी वांछित क्रम-भेद की रक्षा हो सकेगी और दोनों का अन्तर सार्थक हो सकेगा।

अब तक मैंने एक व्यावसायिक अध्यापक और निरीक्षक की हैसियत से समस्या के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन किया है। साहित्यिक पक्ष का. विवेचन अभी शेष है।—किन्तु आप घबराइए नहीं, मैं केवल दो मौलिक प्रश्नों को ही लेता हूँ। एक प्रश्न यह है कि अनुसंधान और आलोचना में परस्पर क्या सम्बन्ध है? आज से ८-१० वर्ष पूर्व जब हिंदी में शोध-कार्य का व्यवस्थित रूप से आरम्भ हुआ तो एक आवाज़ यह उठी थी कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। यह बात कई बार मैंने इस परिषद् के मंच से भी सुनी है। यह नारा कुछ अजीब-सा है, किन्तु इसकी भी एक ऐतिहासिक भूमिका है। सन् ४० के बाद जब विश्वविद्यालयों में शोध की नियमित व्यवस्था हो रही थी, उसी समय हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विवेचन-पद्धति का बोलबाला था। शुक्लजी की मेधा अपूर्व थी—उनकी पैठ इतनी गहरी और पकड़ इतनी मज़बूत थी कि कट्टर से कट्टर विरोधी भी उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता था। शुक्लजी ने पूरी दो शताब्दियों के बाद भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक आकर लुप्त हो जानेवाली भारतीय साहित्य-चिंतन-परम्परा को अपनी प्रतिभा के आलोक से पुनरुद्दीत किया। किन्तु उनकी विवेचना-पद्धति में तथ्य-शोध की अपेक्षा तत्त्व-चिंतन का प्राबल्य था—वृत्त की अपेक्षा विचार की गरिमा थी। उदाहरण के लिए अपने इतिहास में उन्होंने सामग्री का संकलन प्रायः पूर्ववर्ती लेखकों से ही किया है, उनका ध्यान तो रूपायोजन और विवेचन पर केन्द्रित रहा है। उधर पश्चिम के कुछ विश्वविद्यालयों में बहुत पहले से एक नवीन शोध-प्रणाली का विकास हो रहा था जहाँ विज्ञान की तथ्य-परक विधियों का प्रयोग बढ़ते-बढ़ते साहित्य की सीमा में भी प्रवेश कर चुका था। शुक्लजी की पद्धति में इसका प्रायः अभाव था—और इधर शोध की नई व्यवस्था में इस पर अत्यधिक बल देने का प्रयत्न किया जा रहा था: इसी संघर्ष की आवाज़ थी यह नारा कि अनुसन्धान आलोचना नहीं है। इससे लाभ नहीं हुआ, यह बात नहीं। एक झटके के साथ इस प्रकार के नारों ने दो उपेक्षित अंगों अर्थात् तथ्याधार और शिल्प-विधा की ओर शोधक का ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु हानि भी कम नहीं हुई: अनेक शोधक आलोचना के गर्हित स्तर से ऊपर उठकर अनुक्रमणिका की सुख-सरल भूमिका पर विचरण करने लगे। आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व रोमानी कवियों ने पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में एक अत्यन्त मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना की थी और वह यह कि किसी कला-कृति की समीक्षा-पद्धित का निष्कर्षण उसके प्रेरक तत्त्वों तथा रचना-विधान में से ही करना चाहिए। यह सिद्धान्त शोध के क्षेत्र में भी इतना ही मान्य है: विद्या के प्रत्येक अंग के शोध-सिद्धान्त और शोध-प्रणाली का निर्धारण कुछ हद तक उसके अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुरूप ही होना चाहिए। चट्टान और हीरे की तराश की प्रविधि एक नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञान या समाज-विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रयोग उपयोगी हैं वे सभी साहित्य के क्षेत्र में भी यथावत् ग्राह्य हैं यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। साहित्यिक शोध की भी एक व्यवस्थित शिल्प-विधा होनी चाहिए—किन्तु वह शिल्प-विधा साहित्य के स्वरूपानुरूप ही होगी जो तथ्य-संकलन मात्र के लिए उपयोगी न होकर तत्त्व-बोध में उचित सहायता दे सके। आज तक सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की प्रगति मानव-सत्य के अनुसन्धान में ही लगी हुई है: जब कभी मानव-तत्त्व से असम्पृक्त सत्य का शोधन हुआ है तभी अणुबम जैसी वस्तु का आविष्कार हो गया है। साहित्य का तो समस्त व्यापार-विनिमय ही मानव तत्त्वों में होता है: अतः साहित्यिक शोध

की सिद्धि साहित्य में अभिव्यक्त मानवात्मा के साक्षात्कार से भिन्न और कुछ नहीं हो सकती और आत्मा के साक्षात्कार के लिए केवल तथ्य-सीमित दृष्टि, अधिक से अधिक वैज्ञानिक होने पर भी, श्रेयस्कर नहीं मानी जा सकती। मैं तथ्यानुसंधान का किसी प्रकार अवमूल्यन नहीं करना चाहता—तथ्य-निर्णय सभी प्रकार के अनुसंधान की आधार-भूमि है। शुक्ल जी के समय में उसकी उपेक्षा से अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं—इस पद्धति के अवलम्बन से उनका निराकरण हुआ है और राशि-राशि अज्ञात सामग्री प्रकाश में आई है। फिर भी मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि कृपा कर इसे साधन ही मानिए सिद्धि नहीं।

इस वर्धमान तथ्य-शोध प्रवृत्ति के एक और ख़तरे की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर मैं प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करता हूँ। साहित्य का विद्यार्थी होने के नाते मैं एक प्रश्न आपसे करता हूँ—क्या यह सभी उपलब्ध सामग्री साहित्य के अन्तर्गत खप सकती है? आदि-काल, निर्गुण-सगुण भक्ति और वर्तमान युग के प्रथम चरण से सम्बद्ध बहुत सी सामग्री क्या किसी भी लक्षण के अनुसार साहित्य की परिधि में समा सकती है? यदि नहीं तो इस प्रकार के तथ्यों से साहित्य के शरीर को फुला देना क्या उचित है? क्या इस प्रकार साहित्य और असाहित्य की भेदक दृष्टि आविल नहीं होती जा रही—और इसलिए क्या साहित्यिक मूल्यों को भ्रान्त कर यह नवीन तथ्यानुसंधान साहित्य-शोध की मौलिक क्षति नहीं कर रहा? आप कह सकते हैं कि इसका सांस्कृतिक मूल्य है—ठीक है, पर संस्कृति और साहित्य पर्याय तो नहीं। इस शोध के फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में पिछले दशक के अन्तर्गत इतना अधिक असाहित्यिक द्रव्य भर गया है कि मूल्यांकन असम्भव होता जा रहा है। मैं साहित्य के मर्मज्ञ को इस वृद्धि के प्रति सतर्क कर देना चाहता हूँ: यह सब कच्चा माल है इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) में साफ़ करके इस्तेमाल कीजिए।

किन्तु, अपने वक्तव्य का उपसंहार मैं निराशा के स्वर में नहीं करना चाहता। उत्कर्ष के लिए आत्म-निरीक्षण आवश्यक होता है और मैंने वही किया है। कुल मिलाकर गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से शोध के क्षेत्र में हमारी उपलब्धि किसी प्रकार लज्जा या चिन्ता का विषय नहीं है। अंतरंग दृष्टि से देखें तो हिन्दी में सबसे अधिक स्फूर्ति एवं सक्रियता आज इसी क्षेत्र में मिलती है और बहिरंग दृष्टि से अखिल भारतीय स्तर पर विचार करें तो हमारे यहाँ जितना शोधकार्य हो रहा है उतना भारत की सभी भाषाओं में मिलाकर नहीं हो रहा। हिन्दी के राष्ट्रभाषा या राज्यभाषा बन जाने के बाद दूसरी भाषाओं का विरुद-गान ही हमारा धर्म हो गया है फिर भी कभी-कभी दबी ज़बान से सत्य को स्वीकार करने में भी कोई बड़ा नुकसान नहीं है।

———

निबन्ध गोष्ठी—(२)

सभापति डॉ० राजबली पाण्डेय का वक्तव्य

सदस्यगण, प्रतिनिधि-मंडल तथा आगंतुक देवियो एवं सज्जनों,

मैं परिषद् का बहुत आभार मानता हूँ कि इसने मुझे मध्यदेशीय संस्कृति की निबंध-गोष्ठी का सभापतित्व करने का निमंत्रण दिया। मैं अपनी त्रुटियों का अनुभव करता हूँ, किन्तु परिषद् की आज्ञा मेरे लिए कई कारणों से अनिवार्य थी। संस्कृति की बात करना जितना ही सरल है, उतनी ही उसकी पकड़ और व्याख्या कठिन। साहित्यिक को रस-कलश अथवा रस-सागर सुलभ है, किन्तु संस्कृति के विद्यार्थी की तो मधुकरी-वृत्ति है। जीवन के अनेक और विभिन्न व्यापारों से रस का भी सारांश दोहन करना बहुत ही कठिन कार्य है। इससे कभी तिलोत्तमा की सृष्टि संभव है—अभी तक इतिहास-पुराण में एक ही तिलोत्तमा बन पाई है—परन्तु हममें से अधिकांश रास्ते में ही थककर बैठ जाते हैं। मैंने चलने का प्रयास तो अवश्य किया है, परन्तु अनेक आशंकाओं के साथ। 'मध्यदेशीय संस्कृति' शब्द से थोड़ा मुझे संकोच हुआ, क्योंकि भारतीय संस्कृति को इस प्रकार कई खंडों में विभक्त नहीं किया जा सकता। इस समय देश में ब्राह्मण-संस्कृति बनाम श्रमण-संस्कृति, आर्य-संस्कृति बनाम द्रविड-संस्कृति, उत्तरभारतीय संस्कृति बनाम दाक्षिणात्य संस्कृति, वंग संस्कृति बनाम हिंदुस्तानी संस्कृति, अभिजात संस्कृति बनाम सर्वहारा संस्कृति, वर्ग संस्कृति बनाम लोक संस्कृति के उद्घोष और नारे सुनायी पड़ते हैं। वास्तव में ये संकुचित ग्रंथियों और कुंठाओं के परिणाम हैं। केवल एक ही अर्थ में 'मध्य-देशीय, संस्कृति की चर्चा हो सकती है कि इस देशविशेष ने भारतीय संस्कृति के निर्माण और विकास में कितना योगदान किया है। केवल इसी दृष्टि से कुछ बातें आपके संमुख प्रस्तुत करने का साहस करता हूँ।

मध्यदेशीय संस्कृति

१. संस्कृति का अर्थ और उद्देश्य

संस्कृति के अनेक अर्थ और परिभाषायें की गई हैं और इस विषय पर विद्वानों में बहुत मतभेद है। परन्तु सामान्यतः यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के वे सभी विचार और क्रियाएँ, जो उसके जीवन का संस्कार करती हैं और उसके उन्नयन के मार्ग को सुलभ और प्रशस्त बनाती हैं, संस्कृति के अन्दर समाविष्ट हैं। कभी धर्म मनुष्य के कल्याण और संस्कार का सबसे बड़ा साधन माना जाता था। उसकी रूढ़ परम्परा और अनेक प्रतिबंधों और कुंठाओं के कारण उससे प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और नीति पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। परन्तु नैतिक आचार और क्रियाओं की भी परम्परायें बन गयीं और उनमें रूढ़ियाँ उत्पन्न हो गयीं। नैतिक विचारों और उपदेशों से भी प्रतिक्रिया हुई और मनुष्य अपने संस्कार

और मुक्ति के लिए स्वतंत्र मार्ग ढूँढ़ने लगा। फिर भी मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसको जीवन की पवित्रता, सौंदर्य और उत्थान की आवश्यकता है। इसलिए आजकल धर्म, दर्शन और नीति से उदासीनता होने पर भी एक नया साधन ढूँढ़ निकाला गया है और उसके लिए नया प्रचलित शब्द है 'संस्कृति'। परन्तु माध्यम बन जाने पर संस्कृति मनुष्य के उन सभी प्रयासों का अपने में समाहार करती है, जो उसके जीवन को सुन्दर, पवित्र और ऊँचा बनाते हैं। अतः संस्कृति के अंतर्गत राजनीति, समाजनीति, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि सभी का समावेश हैं।

२. संस्कृति के विकास का क्रम

मानव के सांस्कृतिक जीवन का विकासक्रम इतिहास की कई श्रेणियों से होकर आया है। मनुष्य अपने विकास के प्रथम चरण, इतिहास के आदिम काल में, अन्य जीवधारियों की भाँति क्षुधा और यौन प्रवृत्तियों की तृप्ति में ही अपनी शक्ति और समय को लगाता था। उसका जीवन इसी में समाप्त होता था। उसे अपने विकास की संभावनाओं, जीवन के मूल्यों और विश्व के रहस्य की कल्पना और चिंता नहीं थी। किंतु अन्य पशुओं और जीवधारियों से मनुष्य में एक विशेषता थी। वह थी, उसके हाथों की ग्रहणशक्ति, उसके मस्तिष्क का चिंतन और मनन और हृदय का अनुभव और प्रातिभ ज्ञान। अपने विकास के दूसरे चरण में मनुष्य ने प्रथम दो की सहायता से अपने जीवन के साधनों का अभूतपूर्व विस्तार किया और संसार के विभिन्न भागों में कई विशाल सभ्यताओं का उदय हुआ। किंतु मनुष्य अब भी संस्कृत नहीं हुआ। शक्ति और ऐश्वर्य के साथ उसमें विध्वंस और नृशंसता की बर्बर प्रवृत्तियाँ प्रचुर मात्रा में बनी हुई थीं। मनुष्य के विकास के तृतीय चरण में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों ने उसके जीवन में प्रवेश किया। शारीरिक तथा मानसिक व्यायाम और कुशलता के साथ विचार, चिंतन, भावना, आस्था, विश्वास आदि जीवन के मूल्यों में वह रस लेने लगा और इनका महत्त्व समझने लगा। सभ्यता और संस्कृति का भेद भी उसके सामने स्पष्ट होने लगा। जीवन के लिए दोनों ही आवश्यक प्रतीत हुए। सभ्यता के बिना जीवन कठिन था, संस्कृति के बिना व्यर्थ। यद्यपि आज भी संसार की संस्कृतियों में आदिम और मध्यकाल के बर्बर अवशेष हैं, किन्तु मनुष्य बर्बरता और संस्कृति के भेद और संघर्ष को समझता है और अपना संस्कार और उन्नयन करने में प्रयत्नशील है।

संस्कृति के विकास में मनुष्य जो प्रयास करता है, उसकी दिशाएँ परम्परा से निर्धारित और परिस्थितियों से बदलती रहती हैं। परन्तु मुख्य दिशाएँ प्रायः स्पष्ट हैं। अपने वातावरण और बाह्य जगत् से संपर्क और सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न में ही संस्कृति का विकास हुआ है। इसके लिए अपनी आंतरिक वृत्तियों का संस्कार, जीवन के साधनों का परिष्कार और अपने सीमित व्यक्तित्व की सीमाओं का विस्तार आवश्यक है। इस दृष्टि से मध्यदेशीय संस्कृतिक का अध्ययन भारतीय इतिहास में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

३. 'मध्यदेश' की कल्पना और उसका विस्तार

'मध्यदेश' की कल्पना केवल भौगोलिक विभाजन नहीं अपितु एक सांस्कृतिक प्रयत्न है। जिस प्रकार व्यक्ति अपनी चिंताधारा और जीवन की क्रियाओं में समन्वय और एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए अपने जीवन के केंद्रबिंदु को ढूँढ़कर उससे अपनी प्रवृत्तियों को संबद्ध

करता है उसी प्रकार भौगोलिक इकाइयाँ और देशीय व्यक्तित्व भी अपने केंद्र की चेतना और स्थिरता से बल और संतुलन प्राप्त करते हैं। जिस तरह आज एशियाई जागरण और एकीकरण का युग है, उसी प्रकार बहुत प्राचीन काल में जंबूद्वीप की कल्पना विकसित हो चुकी थी। पुराण-साहित्य में इसका स्पष्ट उद्घोष और उल्लेख है। इसके नव खंड थे—(१) कुरु, (२) हिरण्मय, (३) रम्यक, (४) इलावृत, (५) हरि, (६) केतुमाल, (७) भद्राश्व, (८) किन्नर और (९) भारत। मोटे तौर पर जंबूद्वीप का उत्तरी भाग इलावृत, दक्षिणी भाग आर्यावर्त (भारतवर्ष) और पश्चिमी भाग आर्यव्रज था। उसका केंद्रभाग मध्यदेश था, जहाँ पुराणों के अनुसार मूल आर्य राज्यों का उदय और विकास हुआ। पुराणों में मध्यदेश की सीमाएँ स्पष्ट नहीं हैं, किंतु उनके अनुसार अयोध्या, प्रतिष्ठान (प्रयाग) और गया (सौद्युम्नों की राजधानी) मध्यदेश के अंतर्गत स्थित थे। ऐसा लगता है कि आदिम मध्यदेश जंबूद्वीप का केंद्र अथवा हृदयस्थल था, जहाँ सबसे पहले शक्ति, सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ।

मध्यदेश की परिभाषा और सीमा का संकोच और विस्तार विविध युगों और परिस्थितियों में बदलता रहा है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त (१२।१।६३) में जिस माताभूमि की कल्पना है, वह उर्वी (विस्तृत), विपुल वन, उपवन, नदी-सिंधु-समुद्र-गिरि-संकुल है; जिसमें पूर्वजों का इतिहास और परम्परा संचित है और जिसका धारण दीक्षा, यज्ञ, तप, ऋत, सत्य, ब्रह्म आदि नैतिक गुणों से संभव है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयंति।
सानो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
(अथर्व० १२।१।१)

यह वैदिक कल्पना किसी दो नदियों और दो पहाड़ियों की मध्यवर्ती घाटी या दून की नहीं, परन्तु एक विस्तृत भूभाग की है। ऐसा जान पड़ता है कि जनपदीय भावनाओं और राजनीति में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की शक्तियों के बलाबल के आधार पर मध्यदेश की कल्पना का निर्माण होता रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण (८. १४) में इंद्राभिषेक के अवसर पर दिशा-क्रम से 'मध्यमा' का उल्लेख है : **एतस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपंचालनां राजानः स-वशोशीनराणां राज्यायैव ते भिषिच्यन्ते।** (इस ध्रुव प्रतिष्ठित मध्यमा दिशा में जो वश-उशीनरों के साथ कुरु-पंचालों के राजा हैं, वे एक-तांत्रिक राज्य के लिए अभिसिञ्चत होते हैं।) इस अवतरण से प्रकट है कि मध्यमा दिशा में प्रमुख राज्य कुरु (गंगा-यमुना-घाटी का उत्तरी भाग), पञ्चाल (गंगा यमुना-घाटी का दक्षिण भाग), वश (प्रयाग से लेकर वर्तमान बघेलखण्ड) और उशीनर (कनखल के उत्तर सिवालिक शृंखला में) थे, किंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मध्यमा (मध्यदेश) इससे सीमित थी। दूसरे राज्य (मध्यदेशीय) अन्य प्रकार के राजतंत्र के पक्षपाती थे। मनुस्मृति (२।२१) के अनुसार हिमालय और विंध्य के मध्य विनशन (सरस्वती के राजस्थान-समुद्र में लुप्त होने का स्थान) के पूर्व प्रयाग के पश्चिम तक मध्यदेश प्रकीर्तित है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

इसमें ब्रह्मर्षिदेश (सरस्वती और दृषद्वती के बीच) और ब्रह्मावर्त (कुरु, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन) सम्मिलित थे (मनु० २।१७, १९) । गरुड-पुराण (१।१५) मध्यदेश के अंतर्गत पञ्चाल, कुरु, मत्स्य, यौधेय, पटच्चर, कुंति और शूरसेन की गणना करता है। मार्कण्डेय (३२-३३) पुराण के अनुसार मध्यदेश और विस्तृत था और इसमें मत्स्य, अश्वकूट, कुल्य, कुंतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलक और वृक सम्मिलित थे। वराहमिहिर की वृहत्संहिता में (अध्याय १४) जहाँ जनपदों की गणना की गई है, वहाँ मध्यदेश को विशेष महत्त्व मिला है और उसकी अपेक्षा से विभिन्न दिशाओं में स्थित जनपद गिनाये गये हैं (भारतवर्षं मध्य प्रागादि विभाजिता देशाः।) वृहत्संहिता के अनुसार मध्यदेश में मद्र, अरिमेद, मांडव्य, साल्व, नीप, उज्जिहान, मरु, वत्स, घोष, यामुन, सारस्वत, मत्स्य, माध्यमिका, माथुरक, उपज्योतिष, धर्मारण्य, शूरसेन, गौरग्रीव, उद्देहिक, पाण्डु, गुड, अश्वत्थ, पाञ्चाल, साकेत, कंक, कुरु, कालकोटि, कुकुर, पारियात्र पर्वत, औदुंबर, कापिष्ठ और गज संमिलित थे। वृहत्संहिता का मध्यदेश काफी विस्तृत है।

बौद्ध साहित्य में मध्यदेश की विस्तृत और उदार परिभाषा है। महावग्ग (५ । १२, १२) के अनुसार मध्यदेश की सीमा पूर्व से प्रारंभ होती है। मध्यदेश की पूर्वी सीमा कजंगल (राजमहल) और उसके पूर्व महाशाल तक, उसके दक्षिण पूर्व में सलावती नदी, दक्षिण में सेतकण्णिक, पश्चिम में स्थूल (स्थाणीश्वर) नगर और जनपद तथा उत्तर में उशीरध्वज (कनखल के उत्तर सिवालिक की शृंखला) पर्वत था। ब्राह्मण-ग्रंथों में आचार की कठोरता के कारण भी मध्यदेश की सीमाएँ संकुचित होती रहती थीं। बौद्ध धर्म को आचार की कठोरता का उतना ध्यान नहीं था, अतः उसने बहुत से निषिद्ध जनपदों को भी मध्यदेश में सम्मिलित कर लिया। भगवान् बुद्ध की चारिका के प्रायः सभी प्रदेश मध्यदेश के भीतर आ गए।

मोटे तौर पर आर्यावर्त का अधिकांश मध्यवर्ती भाग (तीन चौथाई से अधिक) मध्यदेश के अन्तर्गत था। आर्यावर्त से पश्चिमोत्तर सीमांत, पश्चिम में अपरांत (सुराष्ट्र का पश्चिम भाग) और पूर्व में सुदूर प्राची—आसाम, बंगाल और उड़ीसा—निकाल देने से जो शेष रहता है वह मध्यदेश है। प्राचीन काल में मध्यदेश काफ़ी प्रचलित नाम था। किन्तु परवर्ती काल में इसका प्रचार कम हो गया। मध्ययुग में मुसलिम विजेताओं ने इसी प्रदेश को 'हिंदुस्तान' नाम से प्रसिद्ध किया और यहाँ की बहुजन-प्रचलित भाषा को हिंदवी, हिंदी अथवा हिंदुस्तानी नाम दिया। भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'मध्य भारतीय भाषा' का प्रदेश यही है। वास्तव में आज हिंदी भाषा का भी यही क्षेत्र है, जिसमें बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, दिल्ली और हिमांचल के प्रदेश अंतर्हित हैं और जिसके बोलनेवालों की संख्या लगभग उन्नीस करोड़ है।

उपर्युक्त मध्यदेश हिमालय और विंध्य के बीच सुविस्तृत नदी-घाटियों (सिंधु और गंगा) का समतल प्रदेश है, जो अपने प्रयत्नों पर पर्वत, वन और मरु को भी धारण करता है। जलवायु, उपज, यातायात की सुविधा तथा कर्मठ और मनस्वी जनसमुदाय के कारण यहाँ सभ्यता और संस्कृति के विकास के प्रचुर साधन उपलब्ध थे। अतः भारतीय संस्कृति के विकास में मध्यदेश का प्रमुख योग रहा है। इसने अपनी विशालता, विविधता और

सहिष्णुता से देश के जीवन को बराबर प्रभावित किया है। इसकी रूपरेखा जीवन के विविध क्षेत्रों में निम्नलिखित प्रकार से संक्षेप में प्रस्तुत की जा सकती है :

४. भौगोलिक तथा जातीय इकाई से राज्य और राष्ट्र की कल्पना

राज्य की व्यवस्था यद्यपि एक सामाजिक यन्त्र है, फिर भी इसके निर्माण में मानवी भावनाओं और धारणाओं का बहुत बड़ा हाथ होता है और एक बार बनकर यह मनुष्य-जीवन को दूर तक प्रभावित करता है। मध्यदेश अपने इतिहास के प्रारम्भ में अनेक भौगोलिक इकाइयों और जनों में बँटा हुआ था। इनसे उपर उठकर बड़े पैमाने पर राज्य का निर्माण जीवन के विकास और उत्थान की बहुत बड़ी घटना थी। राजनीतिक जीवन की मूल इकाई कुटुम्ब या कुल था। इसके सीमित घेरे से निकलकर गोत्र, जन, विश आदि उत्तरोत्तर बड़े जीवन-वृत्तों से होते हुए राज्य और राष्ट्र का विकास हुआ। जहाँ प्राकृतिक बाधाएँ मानव-समुदायों को एक दूसरे से अलग रखती हैं वहाँ बड़े राज्यों और राष्ट्रों का विकास संभव नहीं होता। मध्यदेश में ऐसे विकास के लिए सहज सुविधाएँ थीं। इसीलिए इस समतल और विशाल प्रदेश में महान् राज्यों और साम्राज्यों की कल्पना संभव हुई। देश के एकीकरण तथा समस्त देश की सार्वभौम राजनीतिक सत्ता में विकास और उसके प्रति भक्ति का माध्यम प्राचीन और मध्ययुग में साम्राज्य ही था, जिसका स्थान वर्तमान युग में संघ ने ग्रहण किया है। देश की भावात्मक इकाइयों और समष्टि का विकास भी मध्यदेश में हुआ। ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, आर्यावर्त और भारतवर्ष तथा बृहत्तर भारत और भारत के नव भेदों की भावना का उदय और विस्तार यहाँ से ही हुआ और समस्त देश में ओत-प्रोत हो गया। यही कारण है कि समस्त देश के राजनीतिक जीवन के संघटन, संवर्धन तथा संरक्षण के प्रयास यहाँ होते रहे हैं और विदेशी आक्रमण, आघात और प्रभाव के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया और प्रतिरोध के आंदोलन भी। यह राजनीतिक संस्कार आर्यावर्त और मध्यदेश की कल्पना से संपृक्त हो गया। आर्यावर्त की परिभाषा करते हुए मनुस्मृति के मध्यकालीन भाष्यकार मेधातिथि ने कहा है : **'यत्र आर्या आवतन्ते म्लेच्छा पुनः पुनराक्रम्यापि न तिष्ठातारो भवन्ति'**। इसके पूर्व गार्गी संहिता में 'मध्यदेशे न तिष्ठन्ति यवनाः युद्धदुर्मदः' की कल्पना दृढ़ हो चुकी थी। इसी भावना का परिणाम है कि जहाँ बड़े-बड़े राजनीतिक तथा धार्मिक आक्रमणों के झंझावात से संसार के अन्य देश ध्वस्त हो गए वहाँ यह देश उनको सहन करके बारंबार अपना पुनरुत्थान करने में सफल हुआ। दृढ़ राष्ट्रीय भावना के विकास के ही कारण राजनीतिक तथा राष्ट्रीय मुक्ति के महान् युद्ध—ईसा पूर्व ६ वीं शती में ईरानी आक्रमण से लेकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध १९४२ ई० विद्रोह तक—यहीं लड़े गए। इस राजनीतिक तथा राष्ट्रीय संस्कार का जीवन के राजनीतिक मूल्यों के साथ घना सम्बन्ध है।

५. सामाजिक संस्कृति

सामाजिक चेतना के उदय, सामाजिक संघटन और व्यवस्था तथा सामाजिक चिंतन और शास्त्र के विकास में भी मध्यदेश की बहुमूल्य देन है। जिस प्रकार जीवन के राजनीतिक संस्कार में विभिन्न तत्त्वों को मिलाकर एकता और विस्तार का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में विविध और विभिन्न घटकों को जोड़कर समाज के संगठन और समष्टि

का प्रश्न महत्त्व रखता है। राजनीति की भौगोलिक इकाइयों की तरह समाज भी कई स्थानीय, जातीय, व्यावसायिक तथा साम्प्रदायिक सहस्रों समूहों में विभक्त था। इस प्रकार के समाज को व्यक्तित्व प्रदान करना और उसको सेंद्रिय रूप देना कुछ कम कठिन काम नहीं था। समाज को सेंद्रिय पिंड क रूप में देखने का सर्वप्रथम प्रयास ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में दिखाई पड़ता है। इसमें विराट् सामाजिक पुरुष के विविध अंगों के रूप में विभिन्न सामाजिक वर्गों—ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र—की कल्पना की गई है। समाज की सहस्रों इकाइयों से सहस्राक्ष और सहस्रपाद पुरुष की भावना उत्पन्न हुई। इस मूल भावना को पकड़कर मध्यदेश में समाज-शास्त्रीय धर्मसूत्रों, स्मृतियों, भाष्यों और निबन्धों की रचना हुई जिनके द्वारा सामाजिक संगटन और समन्वय करने का प्रयत्न किया गया। इसकी परम्परा जब मध्यदेश में बन गई तो देश के अन्य भागों में भी इसकी आवृत्ति और विकास हुआ। इस व्यवस्था का केंद्र 'वर्ण' था, जो मूलतः गुण, कर्म तथा स्वभाव के ऊपर अवलम्बित था। संसार के अन्य देशों में, जहाँ जातियों का मिश्रण हुआ है, वहाँ तीन प्रकार की नीतियों का व्यवहार प्रायः हुआ है—(१) विजित जातियों का पूर्ण संहार, (२) पराजित जनों का दासीकरण और (३) वर्जनशीलता और अयोग्यता का आरोप। मध्यदेश में जिस सामाजिक व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, उसका आधार था संपर्क, समाजीकरण और समन्वय। समाज को एक पिंड मानकर वर्णों के उत्कर्ष और अपकर्ष के सिद्धान्त को अपनाकर सभी व्यक्तियों को समाज में स्थान दिया गया। इसके कारण समाज अनावश्यक संघर्ष और विनाश से बच गया। भारत में आर्य तथा आर्येतर जातियों का एक समाज में सम्मिलन तथा समन्वय इसी सिद्धान्त द्वारा संभव हो सका, जब कि अन्य देशों में 'श्वेत' और 'श्वेतेतर' का संघर्ष अभी जारी है।

योजनाबद्ध व्यक्तिगत जीवन की कल्पना भी मध्यदेश में ही सर्वप्रथम विकसित हुई। भारतीय सामाजिक व्यवस्था का एक स्तंभ 'वर्ण' और दूसरा 'आश्रम' था। यदि वर्ण का सम्बन्ध समाज के विभिन्न वर्गों में समन्वय से था तो आश्रम का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन की विविध अवस्थाओं में संगति उत्पन्न करने से। वर्ण का आधार मनुष्य की प्रकृति, स्वभाव और वृत्ति थी। आश्रम का आधार व्यक्तिगत संस्कृति और जीवन का परिष्कार था। और संस्कृतियों में व्यक्तिगत संस्कार की उपेक्षा नहीं है किंतु आश्रम की निश्चित योजना इस प्रदेश की विशेषता थी।

६. धर्म और दर्शन

जीवन का सूक्ष्मतम संस्कार धर्म और दर्शन के क्षेत्र में होता है। इसमें भी मध्यदेश को प्राथमिकता प्राप्त है। विश्व को धारण करनेवाली धर्मभावना का जन्म सर्वप्रथम यहीं हुआ। इसके प्रतीक ब्रह्म, ईश्वर, जीव, बंध, मोक्ष आदि की कल्पनाएँ भी यहीं पहले विकसित हुईं। नैतिक जीवन के आधार ऋत, सत्य, व्रत आदि सिद्धान्तों की जन्मभूमि यही प्रदेश था। वैदिक धर्म का प्रादुर्भाव ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि प्रदेश में ही हुआ और नीति एवं सदाचार का भी। उपनिषदों का आत्मज्ञान और रहस्यवाद यहीं परिस्फुटित हुआ। बौद्ध तथा जैन धर्म और दर्शन जैसे सुधारवादी तथा क्रांतिकारी आंदोलन भी यहीं घटित हुए। वैष्णव, शैव, महायान, तन्त्र आदि सम्प्रदायों की आदिभूमि भी मध्यदेश ही था। दर्शनों

में मीमांसा, वेदांत, सांख्य, योग, न्यायवैशेषिक, बौद्ध जैन, लोकायत आदि दर्शनों का प्रणयन भी इसी प्रदेश में हुआ। इन सभी धर्मों और दर्शनों ने आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों के विकास में काफ़ी योग दिया। परस्पर विरोधी वादों और आदर्शों के बीच पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की समन्वयवादी कल्पना इस प्रदेश की समतल भूमि में ही उत्पन्न हुई।

७. भाषा और साहित्य

सामाजिक आदर्शों और आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों के उपयुक्त माध्यम भाषा और साहित्य का संतुलित विकास इस प्रदेश में हुआ। प्राकृतिक बाधाएँ जन-समुदाय के परस्पर संपर्क को संकुचित करती हैं। इसलिए जहाँ प्राकृतिक और भौगोलिक रुकावटें अधिक हैं, वहाँ छोटे क्षेत्र में भी अनेक भाषाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। किंतु मध्यदेश में मिथिला से सुराष्ट्र तक की विस्तृत और समभूमि में महान् भाषाओं का जन्म संभव हुआ। संस्कृत-वैदिक और लौकिक-पालि तथा हिंदी जैसी देशव्यापी भाषाएँ यहाँ विकसित हुई हैं। भारत की अक्षय सांस्कृतिक संपत्ति इन भाषाओं में सुरक्षित है। संस्कृत भाषा अपने लघुत्व, आरोग्य, अलोलुपत्व, प्रसाद और स्वरसौष्ठव के लिए प्रसिद्ध है। भारत के समस्त यौगिक अथवा समत्वपूर्ण जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति संस्कृत भाषा में हुई है। इसीलिए इसका अन्वर्थ नाम संस्कृत है। वाक् और अर्थ की जो संपृक्ति इस भाषा में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत भाषा और साहित्य का यूरोप द्वारा अनुसंधान आधुनिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी घटना थी। इसने भाषाविज्ञान और साहित्यशास्त्र के अध्ययन की नयी संभावनाएँ प्रस्तुत कीं। संस्कृत का बहुमुखी एवं समृद्ध साहित्य न केवल भारत की अपितु विश्व-साहित्य की अमर निधि है। काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका, धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजनीति, विज्ञान आदि विविध विषयों की ज्ञानराशि संस्कृत भाषा में सन्निहित है, जो समस्त भारतीय भाषाओं और साहित्यों के लिए अनुप्राणन, भावना और विषय का अटूट स्रोत है। बौद्ध संस्कृति भारत और उत्तरी एशिया के बीच एक अभेद्य कड़ी है। पालि भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया को मिलानेवाला सफल माध्यम है। वेदों को लिखने के लिए जिस संस्कृत वर्णमाला और ब्राह्मी लिपि का आविष्कार मध्यदेश में हुआ, वह पश्चिमोत्तर को छोड़कर आज भी संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया की वर्णमालाओं और लिपियों की जननी है। परिवर्ती युग में भी मध्यदेश में सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि का जो संत-साहित्य विकसित हुआ, वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है और उसका प्रभाव सौराष्ट्र और महाराष्ट्र से लेकर आसाम तक है। आधुनिक हिंदी में भी जो राष्ट्रीय और देशव्यापी उद्भावना है, वह उसका निजी वैशिष्ट्य है।

८. कला

कलात्मक मानों और मूल्यों में भी मध्यदेश का अपना कर्तृत्व और वैशिष्ट्य है। वैदिक ऋचाएँ कलात्मक प्रतीकों और शब्दरूपों से ओतप्रोत हैं। सृष्टि के अभ्यांतर रहस्य की बाह्य रूपों और शब्दों में अभिव्यक्ति सर्वप्रथम उन्हीं में पाई जाती है। वास्तव में भारतीय कला का प्रतीकत्व वेदों से ही प्रारंभ होता है। उपनिषदों की 'सत्यं शिवं आनन्दं,' की सूक्ष्म कल्पना ने जब मूर्त रूप ग्रहण किया तब कला का प्रादुर्भाव हुआ। उसी ने 'सुंदर'

का रूप धारण किया। ग्राम, नगर, मंदिर, भवन और राजप्रासादों का निर्माण इसी कलात्मक अभिव्यक्ति में हुआ। चौथी शती ई० पू० में पाटलिपुत्र की राजसभा को देखकर यवन-दूत मेगस्थनीज आश्चर्यचकित था और उसकी तुलना में सूसा और पार्सिपॉली के राजभवन उसको फीके लगते थे। पाँचवीं शती ई० में चीनी यात्री फाह्यान को ऐसा लगा कि उन भवनों का निर्माण देवदूतों ने किया था। भोज के 'समराङ्गणसूत्रधार' और 'मानसार' में जिस स्थापत्य और वास्तुकला का विन्यास और निरूपण है, वह अद्भुत है। वास्तु की यह परंपरा आज भी जीवित है। वैदिक युग के देवताओं की दारुमूर्तियों से लेकर मध्ययुग की तांत्रिक देव-देवियों की अगणित मूर्तियों की सृष्टि तक एक लंबी कहानी है। विश्वास, कल्पना और कला की इतनी अधिक विविधता और उत्कर्ष और कहीं मिलना कठिन है। मध्यदेश में चित्रकला के पुराने नमूने अवशेष के रूप में नहीं मिलते, किंतु साहित्य में जिस चित्र के 'ललित कला' का उल्लेख है, उसकी परम्परा बहुत पुरानी है। चित्रपटों का जितना लंबा संरक्षण संभव है, तब से चित्रकला के कई प्राचीन तथा मध्य और अर्वाचीन संप्रदायों के नमूने प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। जो भावनाएँ और आदर्श मूर्तिकला को प्रभावित करती थीं, वे ही चित्रकला को भी। मध्ययुग में भारतीय और ईरानी तत्त्वों के समन्वय से राजपूत और मुगल शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में कई बाहरी प्रभावों का संपर्क और समन्वय भारतीय चित्रकला से हो रहा है। संगीत के क्षेत्र में 'प्रथम सामरव मध्यभारत के तपोवन' में सुनाई पड़ा था और उसकी बहुमुखी धाराएँ भारत के कई संगीत-संप्रदायों में प्रवाहित हो रही हैं। रंगमंच का सबसे पुराना अभिनय-शास्त्र 'भरत-नाट्यशास्त्र' यहीं लिखा गया था और रंगमंच का सबसे पुराना प्रेक्षागृह सरगुजा की गुहाओं में मिला था।

इन समस्त उपलब्धियों के कारण मध्यदेश का आचार-विचार न केवल भारत अपितु समस्त विश्व के लिए आदर्श माना जाता था :

> तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
> वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥
> एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवः ॥ मनु० २।१८,२०

६. मध्यदेश और भारत

संस्कृति के सभी क्षेत्रों में मध्यदेश की अपनी साधना और पुरुषार्थ है। यह अभिमान और संतोष की बात है; किंतु अहंकार और अतिमान की नहीं। मध्यदेश की उपलब्धियाँ और कृतियाँ संपूर्ण देश की संपत्ति थीं। वास्तव में मध्यदेश की कल्पना भारत के हृदयस्थल के रूप में हुई थी। जिस प्रकार संपूर्ण शरीर से ग्रहण किया हुआ रस हृदय में रक्त और प्राण बनकर पुनः सारे शरीर में लौट आता है, उसी प्रकार भारत की संपूर्ण साधना और प्रयास का फल मध्यदेश को प्राप्त था, जिसे वह पुनः अपनी ओर से संपूर्ण देश को अर्पित करता था। यह प्रक्रिया भारतवर्ष में निरंतर चलती रही है। 'आर्य' की जातीय कल्पना शीघ्र नष्ट होकर नैतिक रूप में सारे भारतवर्ष में फैली। भरतों की प्रारंभ की हुई संस्कृति और संतति 'भारती' के अव्यक्त और अमूर्त रूप में ही भारत के सभी भागों और बृहत्तर भारत में पहुँची। कुरु-पांचालों की भाषा का प्रतिमान कौरवी और पांचाली के रूप में नहीं,

अपितु संस्कृत के माध्यम से सर्वत्र पूजित हुआ। पाली मध्यदेश की स्थानीय बोली के रूप में नहीं, किंतु बुद्धवचन को अंकित करनेवाली पंक्तियों के रूप में सुदूर देशों तक गई। कला ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया। यहाँ के धर्म और दर्शन का प्रचार भी आक्रमण और मत-परिवर्तन द्वारा न होकर क्रमशः संपर्क और प्रभाव के माध्यम से हुआ। मध्यदेश की संस्कृति कहीं लादी और आरोपी नहीं गई, लोगों ने इसे समझा, सीखा और अपनाया।

१०. मध्यदेशीय संस्कृति की विशेषताएँ

अपने लंबे इतिहास में मध्यदेश की संस्कृति ने अपनी विशेषताएँ विकसित कीं। इसकी प्रथम विशेषता **विशालता और विविधता** है। बड़े भूभाग की संस्कृति होने के कारण इसमें स्थानीयता और संकीर्णता का अभाव है। तुच्छता और हीनता का यह बराबर अतिक्रमण करती है। दूसरी विशेषता इसकी **अविच्छिन्न परंपरा** है। अपने अतीत के किसी भी बहुमूल्य आवश्यक तत्त्व को इसने खोया नहीं है। इसकी शृंखला की कड़ियाँ एक दूसरे के बाद जुटती जाती हैं। इसमें अतीत और वर्तमान का संघर्ष नहीं, मेल और समन्वय है। इसी अर्थ में यह पुरानी और सनातन है, परन्तु नित्य नई भी, क्योंकि नवीन, आगत और अनागत सभी से लिए इसका द्वार खुला हुआ है। इसकी तीसरी विशेषता **ग्रहिष्णुता** है अर्थात् अपने अतीत और वातावरण से यह पोषक द्रव्यों को बराबर ग्रहण करती गई है। किसी संस्कृति के जीवित रहने का यह स्वस्थ लक्षण है, जो इसमें प्रचुर मात्रा में वर्तमान है। इसकी चौथी विशेषता **सहिष्णुता** है। दूसरों के अस्तित्व और दृष्टिकोण को समझने के लिए धैर्य, सहानुभूति और क्षमता संस्कृति का प्रधान अंग है। मध्यदेश की संस्कृति में यह अंग परिपुष्ट हुआ है। इन विशेषताओं के साथ साथ अपने राष्ट्रीय जीवन के मूल तत्त्वों के संरक्षण और संवर्धन के प्रति आग्रहिकता भी इसका एक विशेष गुण रहा है। यही कारण है कि राष्ट्रीय आंदोलनों और विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध में मध्यदेश बराबर अग्रणी रहा है।

११. वर्तमान सांस्कृतिक समस्याएँ

आज इस संस्कृति के सामने कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं। पहली समस्या लोक-तांत्रिक जन-जागरण की है। संस्कृति को आज वर्गविशेष की संपत्ति न बनकर जन-साधारण तक पहुँचना है। जहाँ यह परम वांछनीय और महान कार्य है, वहाँ इसमें एक संकट भी है और वह है, ग्राम्य दोषों की अभिवृद्धि। संस्कृति के विस्तार के साथ ही जनजीवन के संस्कार और उसके स्तर को ऊपर उठाना अत्यंत आवश्यक है। आभिजात्य और कौलिन्य चाहे संकुचित अर्थ में न माने जायँ, किन्तु शील और शालीनता तो संस्कृति के लिए अनिवार्य हैं। दूसरी समस्या है बाहरी प्रभावों के आक्रमण और आघात की। लंबी राजनीतिक पराधीनता के दो सांस्कृतिक दुष्परिणाम होते हैं। एक तो विजयी जाति के द्वारा अपने जीवन के मानों और साधनों का विजित जाति पर आरोप और दूसरी विजित जाति द्वारा उनका अंधानुकरण। इसका फल यह होता है कि विजित जाति अपने ही देश में विदेशी चोगा पहनकर बैठ जाती है। इस प्रकार का परिवर्तन जीवन का बर्बरीकरण (विदेशीकरण) है। इस प्रक्रिया से बहुत सी प्राचीन संस्कृतियाँ मर चुकी हैं। तीसरी समस्या स्थिति-वादिता और जड़ता की है। समाज

में स्थिर स्वार्थ के कुछ वर्ग ऐसे हैं जो किसी प्रकार का परिवर्तन और सुधार नहीं चाहते। जीवन के विकास के लिए परिस्थितियों का आकलन, नियंत्रण और उनसे सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है, इस बात पर वे ध्यान नहीं देते। इससे सामाजिक जड़ता और कुंठा उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक जड़ता आज भी हमारी प्रमुख समस्या है। वास्तव में संस्कृति के विकास का स्वस्थ और उपयुक्त मार्ग है आत्मचेतन और आत्मविश्वास के साथ अपने सहज और परंपराप्राप्त उपयुक्त तत्त्वों के संरक्षण के साथ जागरूक रहकर अपने वातावरण से पोषक और उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करना। अतीत और अर्वाचीन अथवा अभ्यंतर और बाह्य में सतत आरोप या संघर्ष की दृष्टि अपूर्ण और खंडित दृष्टि है। विवेक पर आधारित औचित्य और समन्वय का मार्ग ही संस्कृति का मार्ग है। इस प्रसंग पर भारतीय संस्कृति के उद्गाता कविवर कालिदास की उक्ति स्मरण हो जाती है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं नहि प्रकृत्या नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

(मालविकाग्निमित्र)

सांस्कृतिक प्रतिमानों और मूल्यों के निर्धारण और सांस्कृतिक संस्थाओं के निर्माण और विकास में मध्यदेश का ऐतिहासिक दायित्व है। आशा है इस दायित्व के सँभालने में यह प्रदेश सफल होगा।

भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, आय-व्यय का लेखा सन् १९५६-५७ ई० (३१ मार्च १९५७ तक का)

आय		रुपया आना पाई
१—पिछले वर्ष की शेष रोकड़		१४० – १५ – ७
२—सदस्यता शुल्क :—		८८६ – १० – ०
आजीवन सदस्य	२००– ०–०	
साधारण सदस्य	८३५–१०–०	
सभासद	५१– ०–०	
३—अधिवेशन शुल्क		१४८ – ० – ०
४—अनुशीलन ग्राहक शुल्क		२९१ – ११ – ०
५—हिन्दी शोध के पच्चीस वर्ष के विक्रय से		३ – ५ – ०
६—जमानत श्री गंगाधर तिवारी से		३२ – २ – ०
७—नागपुर अधिवेशन की बचत		५७९ – ४ – ६
८—केन्द्रीय सरकार के अनुदान		१०,००० – ० – ०
९—मिश्रित आय		१० – ० – ०
	कुल योग रु०	१२,०९२ – ० – १

व्यय		रुपया आना पाई
१—कार्यालय पर खर्च		३६० – ० – ०
२—अनुशीलन के प्रकाशन पर खर्च		१,५५८ – १० – ६
छपाई	१,१४५–२–०	
बाईंडिंग	७०–८–०	
कागज़	३४३–०–६	
३—'हिंदी साहित्य का इतिहास' पर खर्च		४,४९७ – ७ – ०
४—टाईप राइटर		८९८ – १३ – ०
५—यात्रा-व्यय		५० – १० – ०
६—स्टेशनरी पर खर्च		३७ – ९ – ६
७—डाक और तार का खर्च		४४५ – २ – ६
८—अधिवेशन व्यय		१८० – ० – ०
९—फर्नीचर पर खर्च		५३६ – १२ – ०
१०—बैंक चार्ज		५ – ० – ०
११—कैश और बैंक बैलेंस :—		३५२१ – १५ – ७
हाथ में	४२– ४–०	
बैंक में	३४३६–१३–७	
पोस्ट आफिस में	४२–१४–०	
	कुल योग रु०	१२,०९२ – ० – १

आडिटर का प्रमाणपत्र

हमने भारतीय हिंदी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग का उपर्युक्त ३१ मार्च १९५७ तक के आय-व्यय का लेखा, लेखा बही तथा वाऊचरों से मिलाया जो हमारे सामने उपस्थित किए गए। हम प्रमाणित करते हैं कि यह आय-व्यय का लेखा परिषद् की वास्तविक और सही स्थिति उपस्थित करता है।

बनारस : ९ सितम्बर १९५७ (सील) ह० घनश्याम दास (चार्टर्ड एकाउंटेंट)

विचार विनिमय गोष्ठियाँ —

प्रथम गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

विषय—देश की भावी समाजवादी व्यवस्था में भारतीय भाषाओं की स्थिति

काका साहब कालेलकर के विषय-प्रवर्तन के बाद प्रथम वक्ता श्री मोहनलाल भट्ट (वर्धा) ने देश में हिन्दी के विकास और प्रसार के पिछले इतिहास का उल्लेख करते हुए कहा कि हिन्दी को राज्यभाषा पद प्राप्त होने के बहुत पहले ही राष्ट्रभाषा होने का गौरव जनता तथा हमारे देश के महान् नेताओं द्वारा प्राप्त हो चुका था। हिन्दी ने जनता की स्वीकृति से अँगरेज़ी राज्यकाल में ही देश के सम्पूर्ण जीवन में स्थान बनाना प्रारम्भ कर दिया था। बापू ने देश की भावना के अनुकूल ही हिन्दी प्रचार का दायित्व हम को सौंपा था। आज हमको सरकारी नीति और राजनीति के माध्यम से हिन्दी की समस्या पर विचार करना छोड़ना चाहिए। हमको केवल सरकार के भरोसे रहकर हिन्दी की उन्नति के स्वप्न नहीं देखना चाहिए। हमको संगठित रूप से भाषा के विकास का प्रयत्न करना चाहिए। सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के विकास की संभावना एक साथ बँधी हुई है और इन भाषाओं के विकास और उन्नति के साथ हमारी देश की जनता के जीवन का स्तर उन्नत हो सकेगा, गतिशील हो सकेगा। इसके लिए जनता में जाग्रति लानी ज़रूरी है।

दूसरे वक्ता श्री शंकरराजू नायडू (मद्रास) ने भाषा के प्रश्न पर हिन्दी भाषा-भाषियों को सतर्क करते हुए कहा कि यह प्रश्न भावना का है। श्री राजा जी ने जिस संदर्भ में इस प्रश्न को उठाया है और दक्षिण भारत की जो प्रतिक्रिया है उस पर हमको सोच लेना चाहिए। इस प्रश्न को लेकर राष्ट्रीय एकता ख़तरे में है, ऐसा जान पड़ता है। दक्षिण के लोग समझते हैं कि हिन्दी हम पर लादी जा रही है, हिन्दी प्रदेश के लोगों का इसमें विशेष लाभ है और हमारी हानि है। यह रोज़ी का सवाल है और इस विषय में उनकी इस प्रकार की तीखी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। हिन्दी के लोगों को इस विषय में समझ से काम लेना चाहिए और इस समय आप लोगों को किसी बात का आग्रह नहीं करना चाहिए। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि इस समय यदि हिन्दी, तमिल और अँगरेज़ी तीनों को राजभाषा मान लिया जाय और राष्ट्रभाषा को अखिल भारतीय रूप दिया जाय तभी राष्ट्रीय एकता क़ायम रह सकती है।

इसके बाद श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प' (काश्मीर) ने विभिन्न भाषाओं के व्यक्तित्व की रक्षा पर बल देते हुए कहा कि हिन्दी के विकास के साथ हमको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अन्य भाषाओं का दम न घुटे। सम्पूर्ण देश में अनेक स्वतंत्र और विकसित भाषाएँ हैं, जिनका साहित्य और परम्पराएँ बहुत प्राचीन हैं। सभी प्रदेश के लोगों को अपनी संस्कृति, अपनी भाषा तथा साहित्य का मोह है। विभिन्न प्रदेशों की उन्नाते उनके साहित्य की समृद्धि के साथ लगी हुई है, हिन्दी का कर्त्तव्य इन सबको एक सूत्र में बाँधने का है। इस भाषा के प्रश्न को लेकर देश में दो अतिवादी विचारधाराएँ चल रही हैं। एक भाषागत

विभिन्नता पर बल देकर देश को छिन्न-भिन्न कर देना चाहता है और दूसरा हिन्दी के आधिपत्य से अन्य भाषाओं के विकास को कुंठित कर देना चाहता है। ऐसी स्थिति में आज समन्वयवादी लोगों के हाथ मज़बूत करने की आवश्यकता है।

परिचर्चा को आगे बढ़ाते हुए श्री ना० नागप्पा ने अँगरेज़ी की स्थिति देश की सम्पूर्ण भाषाओं के विकास में बाधक माना। उनके अनुसार अँगरेज़ी से विरोध केवल हिन्दी का ही नहीं वरन् सभी भारतीय भाषाओं का है। अँगरेज़ी को हिन्दी के समकक्ष रखकर जो विचार किया जाता है वह ठीक नहीं है। अँगरेज़ी को बनाए रखने के पीछे मूल कारण हिंन्दी का विरोध ही नहीं है वरन् कुछ निहित स्वार्थ हैं। ये निहित स्वार्थ के लोग देश के प्रत्येक भाग में अँगरेज़ी को क़ायम रखना चाहते हैं और भारतीय भाषाओं को आगे बढ़ने नहीं देना चाहते। वास्तव में इस प्रश्न के साथ उनकी दृष्टि राष्ट्रहित की न होकर अपने हित की प्रधानतः है। अँगरेज़ी की बदौलत जिनका यश और सम्मान क़ायम रहा है, जिनकी रोज़ी चलती रही है, वे अँगरेज़ी को डगमगाते देखकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संगठित हो रहे हैं।

अन्तिम वक्ता डा० बाबूराम सक्सेना ने पं० नेहरू के भाषा सम्बन्धी वक्तव्य का हवाला देकर उसका स्वागत किया और काका साहब के कथन का समर्थन किया। उन्होंने सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के विकास को राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक बताया। भाषाओं के विकास के साथ विभिन्न प्रदेशों का जनजीवन समुन्नत हो सकेगा। हिन्दी का किसी भी भारतीय भाषा से विरोध संभव नहीं है, वरन् हिन्दी के माध्यम से सभी भाषाएँ आपस में सुविधापूर्वक आदान-प्रदान कर सकेंगी। इस प्रकार हिन्दी समस्त भारतीय भाषाओं के एकता का सूत्र सिद्ध हो सकती है। असल बात यह नहीं है कि हिन्दी का स्थान क्या होगा, वरन् इस समय मूल प्रश्न तो है कि अँगरेज़ी जैसी विदेशी भाषा हमारे देश में साधारण व्यवहार, शिक्षा अथवा शासन-व्यवस्था की माध्यम नहीं रह सकेगी। उसको यह स्थान कुछ स्तरों पर प्रदेश की भाषाओं को और कुछ स्तरों पर हिन्दी को देना ही पड़ेगा।

अन्त में इस गोष्ठी के अध्यक्ष डा० विश्वेश्वर प्रसाद (दिल्ली) ने ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में सिद्ध किया कि अँगरेज़ी हमारे राष्ट्रीय जीवन की भावनाओं, महत्वाकांक्षाओं और भविष्य में अग्रसर करनेवाली योजनाओं को गतिशील कर सकने में असमर्थ हैं। आज के प्रजातंत्र में आज की समाजवादी व्यवस्था को लाने के लिए जन-शक्ति को संगठित और संचालित करना आवश्यक है और उसको प्रेरित करने का एक मात्र माध्यम जन-भाषाएँ है। अँगरेज़ी नौकरशाही की भाषा है और रहेगी. ऐसी स्थिति में देश की योजनाओं तथा जनता के बीच बराबर
अँगरेज़ी का व्यवहार होता रहेगा।

अन्त में साहित्य मंत्री ने काका साहब, अध्यक्ष त
धन्यवाद दिया।

द्वितीय गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

विषय : हिन्दी अध्यापन की समस्या

श्री जयेन्द्र त्रिवेदी (भावनगर) ने अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के अध्यापन की समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हिन्दी के व्यापक प्रचार तथा प्रसार के लिए उसका स्थिरीकरण आवश्यक है। शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में एकरूपता क़ायम की जानी चाहिए। वर्तनी के सम्बन्ध में हिन्दी की प्रकृति की दृष्टि से कुछ नियम निर्धारित किए जा सकते हैं। हिन्दी भाषा में लिंग प्रयोग को मिटाया नहीं जा सकता, यह भाषा की प्रकृति है और किसी भाषा को उसकी प्रकृति से हटाना उसे नष्ट करना है। पर लिंग प्रयोग को नियमबद्ध कर लेना अपेक्षित है और अपवादों पर भी विचार कर लेना चाहिए। पाठ्य-क्रमों में निर्धारित पुस्तकों के विषय सरस तथा आकर्षक होने चाहिए, जिससे उसके माध्यम से भाषा को सीखने में कम आयास करना पड़े। पाठ्य-पुस्तकों पर लिखे जानेवाले सस्ते किस्म के नोट्स की आलोचना करते हुए त्रिवेदी जी ने उनके प्रचलन को तत्काल बन्द कर देने का आग्रह किया। इन नोट्स से वास्तविक तथा गम्भीर अध्ययन की बहुत हानि हो रही है और स्तर भी गिर रहा है। हिन्दी के अध्ययन के साथ दूसरी भाषा का अध्ययन हिन्दी के क्षेत्र को विस्तृत करने की तथा उसके स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से आवश्यक है, अतः हिन्दी की उच्च कक्षाओं के पाठ्य-क्रमों में अन्य भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य कर देना चाहिए।

श्री माधवाचार्य (बम्बई) ने हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य विचार-धाराओं के बढ़ते हुए प्रभाव पर चिन्ता प्रकट की और कहा कि हमको अपने साहित्य में किसी प्रकार की पाश्चात्य विचार-धारा को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। हिन्दी के कवियों और लेखकों को चाहिए कि विदेशी मान्यताओं की नकल न करें वरन् अपनी भारतीय प्राचीन संस्कृति की ओर ध्यान दें और उससे प्रेरणा ग्रहण करें।

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी (प्रयाग) ने 'विदेशी विद्यार्थी तथा हिन्दी' शीर्षक अपना निबन्ध प्रस्तुत किया (जो आगे दिया जा है)।

श्री ना० नागप्पा ने अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में, हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार की समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहा कि व्याकरण के नियमों के सम्बन्ध में स्थिरीकरण कर देने मात्र से समस्या का पूरा समाधान नहीं हो सकता। लिखित और बोली जानेवाली भाषा में अन्तर रहता है। किसी भाषा की लिपि पूर्ण नहीं होती। हिन्दी में ही ह्रस्व 'अ' का उच्चारण प्रायः नहीं किया जाता पर लिखते हैं। इसी प्रकार अनेक बार लिखते हैं दीर्घ स्वर और उच्चारण ह्रस्व स्वर का करते हैं। इस सम्बन्ध में श्री नागप्पा ने कुछ व्यव-

हारिक सुझाव भी रखे। अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी क्षेत्र के अध्यापकों का सम्पर्क बना रहना चाहिए। दोनों क्षेत्रों के हिन्दी अध्यापकों में परिवर्तन होते रहने से बहुत लाभ की सम्भावना है। इन क्षेत्रों में कुछ ऐसे आदर्श हिन्दी अध्यापक भेजे जाने चाहिए जिनका अनुसरण वहाँ के अध्यापक तथा विद्यार्थी कर सकें। इसी प्रकार हिन्दी उच्चारण के सम्बन्ध में निश्चित नियम बन जाने से भी बहुत सहायता मिल सकती है। इस सम्बन्ध में आकाशवाणी का माध्यम भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा और साथ ही भाषा के आदर्श के लिए हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों तथा लेखकों के रिकार्डों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

श्री गोपालशरण तिवारी (कोल्हापुर) ने अहिन्दी भाषी प्रान्तों के हिन्दी अध्यापकों की कठिनाइयों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि लोग हिन्दी को दीन समझते हैं और इसी कारण हिन्दी अध्ययन के प्रति लोगों का दीन-भाव है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा हिन्दी के प्रति सम्मान-भाव का प्रचार करना चाहिए। अभी सारे देश में हिंदी के बी० ए० तथा एम० ए० की परीक्षाओं के पाठ्य-क्रमों में बहुत अन्तर है। हमको इस स्तर-भेद को दूर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्राइमरी कक्षाओं से लेकर उच्चतम कक्षाओं तक हमको पाठ्य-क्रम को क्रमिक विकास के रूप में देखना चाहिए। एम० ए० के पाठ्य-क्रम में प्रायः नवीन साहित्य की अवहेलना की जाती है जो उचित नहीं है।

डॉ० उदयभानसिंह (दिल्ली) ने इस समस्या पर महत्त्वपूर्ण ढंग तथा गम्भीरता पूर्वक विचार करने का आग्रह प्रकट किया। उनके अनुसार निबन्ध-गोष्ठियों में कम समय लगाकर इस गोष्ठी के विचार-विमर्श में समय का उपयोग अधिक होता है। उन्होंने प्राध्यापकों को अपने आत्मविश्लेषण के लिए उत्साहित करते हुए कहा की आखिर बाजारू नोट्स लिखने वाले भी तो हमारे बीच के अध्यापक ही हैं। उनका प्रश्न था कि क्या हम प्राध्यापक अपने उत्तरदायित्व के प्रति स्वयं सजग हैं। वस्तुतः अध्यापकों के स्तर के ऊँचे उठने की आवश्यकता है। पाठ्य-क्रमों के निर्धारण में स्वार्थ-साधन की दृष्टि जब तक रहेगी हमको न सुव्यवस्थित पाठ्य-क्रम मिल सकता है और आदर्श पाठ्य-पुस्तकें ही हिन्दी की शिक्षा के अन्तर्गत संस्कृति का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिए।

डॉ० श्रीकृष्णलाल (काशी) ने हिन्दी अध्यापन की समस्या पर तीन स्तरों पर विचार करने का प्रस्ताव किया। विदेशियों को हिन्दी पढ़ाने के लिए अँग्रेज़ी माध्यम से हिन्दी-शिक्षा पर अच्छी पुस्तकों की नितान्त आवश्यकता है। अहिन्दी भाषा-भाषी में भारत में हिन्दी के अध्ययन की स्थिति हिन्दी-प्रदेश की स्थिति से नितान्त भिन्न है। हिन्दी की उच्च शिक्षा के अन्तर्गत प्राचीन हिन्दी के विविध रूपों, डिंगल, पिंगल, व्रजभाषा, अवधी राजस्थानी आदि की जानकारी आवश्यक मानी जाती है। हिन्दी प्रदेश के विद्यार्थियों के लिए यह उचित और अपेक्षाकृत सरल है पर अहिन्दी प्रदेश के विद्यार्थियों पर हिन्दी के अध्ययन के मार्ग में इसके कारण बहुत कठिनाई आ जाती है, उन पर अनावश्यक बोझ लद जाता है। डॉ० लाल ने वस्तुओं तथा दृश्यों के बिम्बग्रहण करने के लिए विद्यार्थियों के देश के पर्यटन की आवश्यकता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया।

श्री महाप्रसाद अग्रवाल (रीवाँ) ने हिन्दी पाठ्यक्रमों के अधिक से अधिक उपयोगी होने पर बल देते हुए कहा कि आज एम० ए० डिग्री प्राप्त विद्यार्थियों के सामने प्रश्न है

कि उनका अध्ययन उनके भविष्य के जीवन-संघर्ष में कहाँ तक काम आ सकेगा। हमको अपने पाठ्यक्रमों का निर्धारण इसी दृष्टि से करना चाहिए। हम अपने उच्च-शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी से यह आशा करते हैं कि वह आज के संसार की व्यापक समस्याओं से परिचित हो अतः उसके लिए एक विदेशी भाषा सीखना अनिवार्य है। श्री अग्रवाल ने हिन्दी की उच्चतम शिक्षा के पाठ्य-क्रम में सम्पादन-कला को एक विकल्प के रूप में स्थान देने का प्रस्ताव किया।

डॉ० हरिहरनाथ टण्डन ने हिन्दी के अध्ययन की समस्या को दो प्रमुख भागों में बाँटा (१) विदेशियों की तथा अहिन्दी भाषाभाषियों की हिन्दी अध्ययन विषयक कठिनाइयाँ, तथा (२) हिन्दी भाषा क्षेत्रों के अध्यापन कार्य सम्बन्धी समस्याएँ। इन दोनों वर्गों के लिए उन्होंने दो समितियों के बनाने का प्रस्ताव किया जो परिषद् के अगले अधिवेशन के पूर्व अपनी रिपोर्ट पेश करें। उनका यह प्रस्ताव सभी ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया।

प्रो० कपिलदेव नारायण सिंह (मुंगेर) ने हिन्दी परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों को अधिक उपयोगी बनाने की ओर सदस्यों का ध्यान आकर्षित किया। परिषद् के अधिवेशनों में देश के कोने-कोने से हिन्दी के विद्वान् एकत्र होते हैं और हम अधिकांश समय तर्क-वितर्क में बिता देते हैं। इस अवसर पर यदि सेमीनारों की योजना रखी जाय तो अधिक उपयोगी कार्य हो सकता है, और सभी लोगों का लाभ हो सकता है।

डॉ रामधन शर्मा (दिल्ली) ने डॉ० टण्डन द्वारा प्रस्तावित कमेटियों का स्वागत किया और कहा कि इनमें अहिन्दी प्रदेश के अध्यापक को विशेष रूप से रखा जाय। केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित अहिन्दी प्रदेशों के हिन्दी प्राध्यापकों तथा हिन्दी प्रदेश के प्राध्यापकों के सम्मिलित सेमीनार का उल्लेख करते हुए अपने सेमीनार की योजना का भी समर्थन किया।

अन्त में दोनों समितियों का निर्माण निम्नलिखित रूप से हुआ—प्रथम समिति के सदस्य—सर्वश्री रा० स्व० चतुर्वेदी (संयोजक), श्री ना० नागप्पा (मैसूर), डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा (मुजफ़्फ़रपुर), डॉ० कामिल बुल्के (राँची), श्री पृथ्वीनाथ पुष्प (श्रीनगर), डॉ० इन्दु प्रकाश पाण्डेय (बम्बई) तथा डॉ० इन्द्रनाथ मदन (पंजाब)। द्वितीय समिति के सदस्य—डॉ० हरिहरनाथ टण्डन (संयोजक), डॉ० श्रीकृष्ण लाल (वाराणसी), डॉ० विनयमोहन शर्मा (जबलपुर), डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा (प्रयाग) तथा डॉ० हरवंश लाल शर्मा (अलीगढ़)।

अन्त में संयुक्त साहित्य मंत्री ने अध्यक्ष तथा अन्य वक्ताओं को धन्यवाद दिया।

विदेशी विद्यार्थी तथा हिंदी

रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिंदी के प्रचार-प्रसार के साथ उसकी अध्यापन सम्बन्धी समस्याएँ कई दिशाओं से उठती दिखाई देती हैं। विदेश से आए विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ाने के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिन्हें सामान्यतः नहीं समझा जा सकता। विदेशों के प्रायः सभी प्रमुख शिक्षाकेन्द्रों में हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था धीरे-धीरे हुई जा रही है। और दूसरी ओर बहुत से देशों से विद्यार्थी हिंदी पढ़ने के लिए भारत आ रहे हैं। हिंदी विद्यार्थियों के इस वर्ग की कुछ अपनी समस्याएँ हैं। इनमें भी विदेशों में हिंदी प्राध्यापकों की कठिनाइयाँ अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही हैं, जहाँ कक्षा के बाहर उनके विद्यार्थियों को हिंदी सीखने का कोई अवसर नहीं मिलता, जब कि भारत आए हुए विदेशी विद्यार्थियों को कक्षा में तथा उसके बाहर, दोनों ही स्थानों पर हिंदी के समुचित अभ्यास को बढ़ाने की पर्याप्त सुविधा रहती है। पिछले कई वर्षों में विदेशियों को हिंदी पढ़ाने के जो अनुभव मुझे हुए हैं, उनके आधार पर कुछ विचारणीय तथ्य आपके सम्मुख रखता हूँ। ये अनुभव मुख्यतः तुर्की, यूगोस्लावियन, चीनी, जापानी तथा अमेरिकन छात्रों के अध्यापन से ग्रहण किए गए हैं।

यहाँ यह मानकर चलना होगा कि विस्तार से देखने पर प्रत्येक देश के छात्रों की हिंदी सीखने के सम्बन्ध में अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हो सकती हैं, जो मुख्यतः उनकी अपनी भाषा की उच्चारण तथा व्याकरण-प्रकृति के कारण भिन्न-भिन्न होंगी। पर यहाँ केवल उन समस्याओं पर ही विचार करना संभव होगा, जो प्रायः सभी विदेशी विद्यार्थियों के सम्मुख किसी न किसी रूप में आती हैं। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के विद्यार्थियों की दृष्टि से हिंदी में अभी तक कोई साहित्य तैयार नहीं किया गया है।

सबसे पहले मैं उच्चारण की समस्या लेना चाहूँगा। मैं समझता हूँ कि हिंदी सीखने में विदेशियों को सबसे पहली तथा संभवतः सबसे अधिक कठिनाई उच्चारण को लेकर ही होती है। यह कठिनाई विभिन्न देशों के विद्यार्थियों को अलग-अलग प्रकार की हो सकती है। किन्तु सामान्यतः यह कठिनाई स्वरों के लघुत्व तथा दीर्घत्व और व्यंजनों में मूर्धन्य तथा महाप्राण ध्वनियों को लेकर होती है। कुछ विद्यार्थियों को तो बहुत दिनों तक लघु और दीर्घ स्वरों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं समझ में आता, या कम से कम बोलते समय इस अन्तर को वे प्रकट नहीं कर पाते। इसी प्रकार क और ख, च और छ आदि अल्पप्राण तथा

महाप्राण ध्वनियों में वे विवेक नहीं कर पाते। मूर्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में प्रायः सभी विदेशियों को कठिनाई होती है। सीमित अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि विदेशी विद्यार्थियों में सामान्यतः चीनियों का उच्चारण हिंदी के ध्वनि-समूह के सबसे निकट है।

उच्चारण सम्बन्धी इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए कई प्रकार के उपायों का अवलंबन लिया जा सकता है। पर इसके लिए संबद्ध अध्यापक का सामान्य ध्वनिशास्त्र तथा ध्वनिनियमों का ज्ञान आवश्यक है। 'फ़ोनेटिक' प्रणाली की सहायता से उच्चारण का परिष्कार अपेक्षाकृत आसानी से कराया जा सकता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वैज्ञानिक पद्धति पर हिंदी की 'फ़ोनेटिक रीडर' तैयार कराई जाएँ। क़ादरी की 'हिंदुस्तानी फ़ोनेटिक रीडर' न तो अद्यतन ही है और न सुलभ ही। इसके अतिरिक्त यदि संबद्ध शिक्षण-संस्थाओं में प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान के आवश्यक यंत्र भी सुलभ हों तो उनकी सहायता से उच्चारण की बहुत सी कठिनाइयों को अधिक सुविधापूर्वक सुलझाया जा सकता है। भाषा सिखाने वाले 'लांगप्ले रिकार्ड्स' की व्यवस्था तो संभवतः हमारे देश में अभी आसानी से सुलभ न हो सके, पर विदेशों में जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था संभव हो सकती है, वहाँ इस सुविधा से काफ़ी लाभ उठाया जा सकता है और कहीं-कहीं उठाया भी जा रहा है। वैसे यांत्रिक सुविधाएँ उपलब्ध न होने पर भी 'फ़ोनेटिक रीडर' तथा 'फ़ोनेटिक ड्रिल' से पर्याप्त सफलता मिल सकती है।

व्याकरण के क्षेत्र में भी विदेशी विद्यार्थियों को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सामान्यतः लिंग तथा सहायक क्रिया को लेकर उन्हें विशेष उलझन होती है। इस असुविधा का मूल कारण हिंदी में किसी मानक व्याकरण ग्रंथ का अभाव ही कहा जा सकता है। व्याकरण नियमों के सुनिश्चित हो जाने पर ही किसी संक्षिप्त तथा सरलीकृत व्याकरण-ग्रंथ की रचना संभव हो सकती है, जिसके माध्यम से विदेशियों को भाषा सीखने में विशेष सुविधा हो सके। परन्तु ऐसे व्याकरण में उसके कुछ मूल नियमों तथा आधारों की भी चर्चा करनी होगी, क्योंकि बुद्धि-वयस्क होने के कारण उन्हें इस बात का भी ध्यान रहता है कि व्याकरण का अमुक अंश किसी विशेष प्रकार के नियमों से ही क्यों परिचालित होता है। उदाहरण के लिए हिंदी की अधिकांश क्रियाओं में लिंग-परिवर्तन की बात वे आसानी से समझ सकते हैं, यदि उन्हें यह बता दिया जाए कि यह परिवर्तन कृदंतीय रूपों से बनी क्रियाओं में होता है। संप्रति व्याकरण के क्षेत्र में विदेशी विद्यार्थियों की मूल कठिनाई अनेक प्रकार के अपवादों के कारण होती है, जो एक मानक व्याकरण-ग्रंथ के बन जाने पर अपने आप दूर हो जायगी।

विदेशी विद्यार्थियों की तीसरी कठिनाई हिंदी शब्द-समूह को लेकर होती है। इस प्रसंग में सबसे आवश्यक बात यह है कि हिन्दी की आधारभूत शब्दावली तथा विभिन्न स्तरों की अलग-अलग शब्दावलियाँ तैयार हो जानी चाहिए। इन शब्दावलियों को तैयार करने के समय एक दूसरे प्रकार की कठिनाई आ जाती है। और यह कठिनाई है अनेक तरह के पर्यायों की। हिन्दी में जितनी बड़ी संख्या में पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, उतने कम ही भाषाओं में मिलते होंगे। कुछ विद्वान इसे भाषा की समृद्धि समझ कर इसे गर्व का विषय मान

सकते हैं। पर वास्तविकता तो यह है कि जब तक इन पर्यायों के सूक्ष्म अंतर स्पष्ट नहीं होते, उन के विभिन्न 'शेड्स' निश्चित नहीं होते तब तक इन विभिन्न पर्यायों से समृद्धि का अनुभव न होकर एक उलझन की ही स्थिति अधिक दिखाई देती है। हिन्दी के इन अनेक पर्यायों में मूलतः विशिष्ट अन्तर अवश्य रहे होंगे। पर वर्तमान स्थिति में या तो वे अन्तर मिट गए हैं, या फिर एकदम अस्पष्ट हो गए हैं। जो भी हो, इस दिशा में किया गया कार्य जितना विदेशी विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद होगा उतना ही स्वतः हिन्दी भाषियों के लिए भी उपयोगी होगा। हिन्दी की आधारभूत शब्दावली तैयार करने के समय यदि विदेशियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भाषा के कुछ प्रारंभिक वाक्यों को भी छाँट लिया जाए तो इससे भी उन्हे हिन्दी सीखने में विशेष सुविधा हो सकेगी।

भाषा सम्बन्धी चर्चा करते समय लिपि की समस्याओं पर विचार कर लेना संगत होगा। यदि हम नागरी लिपि की वर्तमान स्थिति ध्यानपूर्वक देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि कई दिशाओं से महत्त्वपूर्ण प्रयत्नों के बावजूद लिपि सम्बन्धी अव्यवस्था प्रायः यथावत् है। स्थिरीकृत रूपों के न होने के कारण विदेशियों को नागरी लिपि सीखते समय स्थान-स्थान पर उलझनें होती हैं। विभक्तियों को मिला कर लिखा जाय अथवा अलग, यह हमारे यहाँ अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। इसी प्रकार की अव्यवस्था अनुनासिक ध्वनियों को अंकित करने की है। इन ध्वनियों को मुद्रित पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों में कभी अनुस्वार की सहायता से अंकित देखकर और फिर कभी उन्हीं ध्वनियों को पंचम वर्णों में लिखा देख कर विदेशी विद्यार्थी बहुत दिनों तक स्थिति को स्पष्ट नहीं समझ पाते। इस प्रकार की अव्यवस्थाओं के दूर हो जाने पर इन विद्यार्थियों को अंतिम रूप से लिपि सीखने में अपेक्षाकृत बहुत कम समय लगेगा।

इस प्रसंग में अंतिम समस्या हिंन्दी साहित्य के अध्यापन की है। अपने अनुभवों के आधार पर मेरा मत तो यह है कि विदेशी विद्यार्थियों को खड़ी बोली साहित्य के साथ-साथ ब्रजभाषा तथा अवधी आदि संबद्ध बोलियों के साहित्यों को भी एक निश्चित अनुपात में पढ़ाया जाना चाहिए। इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो यह कि अपेक्षाकृत वयस्क और अधीत होने के कारण उन्हें साहित्य के आंतरिक मर्मों को समझने में कठिनाई नहीं होती, जब कि उन्हीं स्थलों को हिन्दी भाषा अथवा किसी प्रांतीय भाषा को बोलनेवाला उस शिक्षण-स्थिति का विद्यार्थी प्रायः नहीं समझ सकता। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन काव्य-साहित्य में संस्कृत की तत्सम शब्दावली अधिक संख्या में व्यवहृत होने के कारण खड़ीबोली से भली-भाँति परिचित विद्यार्थी उसे बिना किसी विशेष कठिनाई के समझ लेता है। साथ ही हमें प्रसिद्ध भाषा तथा शिक्षा-शास्त्री जैस्पर्सन के उस महत्त्वपूर्ण कथन को भी न भुला देना चाहिए, जिसे उसने अपनी पुस्तक "हाऊ टु टीच ए फौरेन लैंग्वेज" में विस्तार से समझाया है। जैस्पर्सन का कहना है कि किसी भी भाषा के प्रति विदेशी विद्यार्थी उसके विशिष्ट साहित्य का आस्वादन करने की दृष्टि से अधिक आकर्षित होते हैं। हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में इस प्रकार के आकर्षक तत्व कदाचित् सबसे अधिक मात्रा में हैं, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। यह अवश्य है कि वर्तमान स्थिति में विदेशी विद्यार्थियों के हिन्दी सीखने के कुछ निश्चित व्यावहारिक कारण हैं भी। इनमें से प्रमुख हैं अनुवाद,

ध्वनि-प्रसारण, अध्यापन तथा दूतावास के कार्य। पर फिर भी साहित्य का वह मौलिक आकर्षण अक्षुण्ण है।

विदेशियों को अंगरेजी के माध्यम से हिन्दी सिखानेवाली कई प्रकार की पुस्तकें उपलब्ध हैं। पर इनकी दृष्टि सीमित है। उदाहरण के लिए फौज के सिपाहियों अथवा मिशनरियों को हिन्दी सिखानेवाली पुस्तकें देखी जा सकती हैं। इनसे भाषा का व्यापक और स्वाभाविक रूप सामने नहीं आता। पिछले दिनों हिन्दी सिखानेवाली कुछ बाजारू पुस्तकें भी निकली हैं। पर इनकी प्रकृति सीमित होने के साथ ही साथ अवैज्ञानिक भी है। आवश्यकता इस बात की है कि भाषावैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित भाषा प्राइमरें तथा साहित्य का प्रारंभिक परिचय देनेवाली पुस्तकें तैयार की जाएँ, जिनसे विदेशी विद्यार्थी बिना किसी अनावश्यक परिश्रम के हिन्दी का भाषा तथा साहित्य विषयक समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकें।

प्रस्ताव

प्रस्ताव १—भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन देश के कुछ भागों में उठाई गई हिन्दी साम्राज्यवाद की झूठी विभीषिका पर खेद प्रकट करता है। उसका यह निश्चित मत है कि भारतीय संविधान में सर्वसम्मति से स्वीकृत राजभाषा के प्रति इस प्रकार की दुर्भावना घातक होगी और इस संदर्भ में वह भारत के प्रधान मंत्री माननीय पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा की गई इस प्रकार के प्रयासों की भर्त्सना का हृदय से स्वागत और समर्थन करता है।

प्रस्ताव २—भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन राजभाषा हिन्दी के संबंध में उठाई गई विभिन्न प्रकार की आशंकाओं को निराधार और भ्रामक मानता है। परिषद् का यह निश्चित मत है कि हिन्दी देश के समस्त भाषाओं के विकास और प्रसार के लिए आकांक्षिणी है और वह सबकी सद्भावनाओं की अपेक्षा करती है।

प्रस्ताव ३—भारतीय हिन्दी परिषद् का यह पंद्रहवाँ वार्षिक अधिवेशन देश की भाषा-समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए और राष्ट्रभाषा की सर्वतोभावेन समृद्धि को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक समझता है कि उत्तर भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय में हिन्दी छात्रों के लिए कम से कम दक्षिण की एक भाषा के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की जाय। इस सम्बन्ध में यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमेटियों तथा कमीशन का ध्यान इस आवश्यक कार्य के लिए तुरन्त समुचित आर्थिक प्रबन्ध करने की ओर आकृष्ट करता है।

प्रस्ताव ४—एक अन्य शोक प्रस्ताव में हिन्दी के सेवक स्वर्गीय रविशंकर शुक्ल, स्वर्गीय भगवानदास केला, स्वर्गीय रामचन्द्र भालेराव तथा स्वर्गीय सुखराम चौबे गुणाकर के दुखद निधन पर शोक प्रकट किया गया और श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

अन्त में भारतीय हिन्दी परिषद् के स्वागत मंत्री डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने उन सभी व्यक्तियों को धन्यवाद दिया जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समारोह की सफलता में योग दिया।

भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग

पन्द्रहवें अधिवेशन, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद में सम्मिलित होनेवाले, प्रतिनिधियों की सूची

सन् १९५७

अलीगढ़

१. श्री मनोहर गौड़
२. डॉ० हरवंशलाल शर्मा
३. श्री विनयपाल सिंह
४. श्री शिवशंकर शर्मा
५. श्री पुष्पा हज़ेला
६. श्री गिरधारीलाल शास्त्री
७. श्री ख्यालीराम गुप्ता

आगरा

८. डॉ० टीकमसिंह तोमर
९. डॉ० हरिहरनाथ टण्डन
१०. श्री कैलाशचन्द्र भाटिया
११. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

आजमगढ़

१२. श्री किशोरीलाल गुप्त

आरा

१३. श्री रवीन्द्रनाथ भ्रमर

उरई

१४. श्री जगदीशनारायण अग्रवाल

कलकत्ता

१५. श्री केशवदेव उपाध्याय

कानपुर

१६. डॉ० मुंशीराम शर्मा
१७. डॉ० रमानाथ त्रिपाठी
१८. श्री बालमुकुन्द गुप्त
१९. डॉ० विद्याभूषण 'विभु'

कोटा

२०. श्री रामचरण महेन्द्र

गया

२१. श्री कृष्णकुमार सिनहा

गोरखपुर

२२. श्री श्रीपति शर्मा
२३. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
२४. श्री बालगोविन्द मिश्र

ग्वालियर

२५. श्री शिवनाथ उपाध्याय
२६. श्री कोमलसिंह सोलंकी
२७. श्री हरीराम वर्मा
२८. सुश्री उषा भार्गव
२९. कु० निर्मल वर्मा
३०. कु० सन्तोष सक्सेना
३१. श्री मित्रेश्वर प्रधान
३२. श्री वल्लभराम शर्मा
३३. श्री बनवारीलाल शर्मा
३४. श्री चन्द्रशेखर शर्मा
३५. श्री बनवारीलाल श्रीवास्तव

छतरपुर

३६. श्री उर्मिलाप्रसाद

३७. श्री नन्दलाल जैन

छपरा

३८. श्री मुरलीधर श्रीवास्तव

जबलपुर

३९. प्रो० विनयमोहन शर्मा
४०. श्री हरिदत्त दुबे
४१. श्री रमेशचन्द्र गंगराड़े
४२. श्री शिवशंकर
४३. श्री श्रीशकुमार

जौनपुर

४४. श्री श्री पालसिंह 'क्षेम'

दिल्ली

४५. डॉ० दशरथ ओझा
४६. डॉ० नगेन्द्र
४७. श्रीमती स्नेहलता श्रीवास्तव
४८. डॉ० उदयभान सिंह
४९. श्री देवीदत्त शर्मा
५०. श्रीमती कमलेश सक्सेना
५१. श्री मनमोहन गौतम
५२. श्री रामधन शर्मा

नागपुर

५३. श्री गोपाल गुप्त
५४. श्री प्रेमचन्द्र

नैनीताल

५५. श्री पुत्तूलाल शुक्ल

पटना

५६. श्री पारसनाथ शर्मा

बम्बई

५७. प्रो० माधवाचार्य
५८. श्री शिवसहाय पाठक
५९. श्री रामसकल शर्मा
६०. श्री इन्दुप्रकाश पाण्डेय

बड़ौदा

६१. श्री भारतेन्दु सिन्हा

बलिया

६२. श्री रमाशंकर तिवारी
६३. प्रो० हरदत्त मिश्र
६४. श्री परशुराम चतुर्वेदी

बिलासपुर

६५. श्री रामेश्वर शर्मा
६६. श्री राजेन्द्र मिश्र
६७. श्री गजानन शर्मा
६८. श्री दुर्गाप्रसाद पाण्डेय

बेलगाँव (मैसूर)

६९. डॉ० बालकृष्ण लक्ष्मण कोतमिरे
७०. डॉ० हिरण्मय

लक्ष्मीपुरम (मैसूर)

७१. प्रो० ना० नागप्पा

मद्रास

७२. श्री चा० सूर्यनारायण मूर्ति
७३. श्री शंकर राजू नायडू

मुंगेर

७४. प्रो० कपिलदेव नारायण सिंह

मुजफ्फरपुर

७५, डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा

राँची

७६. श्री कमलेश कान्ति
७७. श्री मिथिलेश कान्ति
७८. श्री हरिशंकर त्रिपाठी

रीवां

७९. श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल
८०. श्री दीपचन्द्र जैन
८१. श्री गणेशदत्त चतुर्वेदी
८२. श्री कृष्णचन्द्र वर्मा

लखनऊ

८३. डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

लखीमपुर खिरी

८४. श्री चन्द्रप्रकाश सिंह

वर्धा

८५. श्री मोहनलाल भट्ट

पूना

८६. श्री हरिहर प्रसाद गुप्त

वाराणसी

८७. श्री राजदेव सिंह

८८. श्री सतीशकुमार राय
८९. श्री त्रिभुवन सिंह
९०. श्री मुदमंगल सिंह
९१. श्री श्यामसुन्दर शुक्ल
९२. श्री शिरोही राय
९३. श्री विश्वनाथ मिश्र
९४. डॉ० राजबली पाण्डेय
९५. डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव
९६. डॉ० श्री कृष्णलाल
९७. श्री उमेशचन्द्र

लुधियाना

९८. श्री धर्मपाल मैनी

सागर

९९. श्री रामलाल सिंह

भावनगर (सौराष्ट्र)

१००. श्री जयेन्द्र त्रिवेदी

श्रीनगर

१०१. श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

दिल्ली

१०२. आचार्य काका कालेलकर

इलाहाबाद

१०३. डॉ० बाबूराम सक्सेना
१०४. डॉ० सत्यप्रकाश
१०५. प्रो० धीरेन्द्र वर्मा
१०६. डॉ० माताप्रसाद गुप्त
१०७. डॉ० उदयनारायण तिवारी
१०८. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१०९. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
११०. डॉ० रघुवंश
१११. डॉ० जगदीश गुप्त
११२. डॉ० हरदेव बाहरी
११३. डॉ० धर्मवीर भारती
११४. डॉ० शैलकुमारी
११५. डॉ० पारसनाथ तिवारी
११६. सुश्री चन्द्रावती त्रिपाठी
११७. श्रीमती सावित्री श्रीवास्तव
११८. श्री माताबदल जायसवाल
११९. श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी
१२०. श्री पं० उमाशंकर शुक्ल

होने के कारण इस इतिहास की उपयोगिता निर्विवाद है और इस प्रकार यह प्रत्येक हिंदी पाठक के लिए संग्रहणीय है।

लगभग सातसौ पृष्ठों के 'हिन्दी साहित्य' के इस खंड का मूल्य लगभग १२) रुपया होगा। परिषद् के सदस्यों के लिए मूल्य में नियमानुसार छूट दी जायगी।

'हिंदी साहित्य' के अन्य दो खंड

भूमिका खंड

भारतीय हिंदी परिषद् द्वारा आयोजित तीन खंडों के हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रथम खंड भी शीघ्र ही प्रेस में जा रहा है। इस खंड में इतिहास के प्रारंभ से लेकर हिंदी प्रदेश के हिंदी भाषा और साहित्य के उदय तक के भूगोल, नृतत्व, धर्म, समाज, भाषा और कला सम्बन्धी संपूर्ण इतिहास का पर्यवेक्षण तथा संस्कृत, पालि-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य का समीक्षण प्रस्तुत किया गया है। इस खंड के लेखक भी अपने-अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं। इसके अध्यायों और उनके लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—

१. हिंदी प्रदेश : नृतत्वशास्त्र तथा भूगोल संबंधी इतिहास—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, वाराणसी।
२. हिंदी प्रदेश : राजनीतिक इतिहास—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, दिल्ली।
३. हिंदी प्रदेश : धार्मिक इतिहास—श्री बलदेव उपाध्याय, वाराणसी।
४. हिंदी प्रदेश : सामाजिक इतिहास—डॉ० वासुदेव उपाध्याय, पटना।
५. हिंदी प्रदेश : भाषा संबंधी इतिहास—डॉ० जगवंश किशोर बलवीर, नैनीताल।
६. हिंदी प्रदेश : कला संबंधी इतिहास—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर।
७. संस्कृत साहित्य—डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल, प्रयाग।
८. संस्कृत साहित्य शास्त्र—डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, प्रयाग।
९. पालि साहित्य—श्री भिक्खु जगदीश काश्यप, नालंदा।
१०. प्राकृत साहित्य—स्व० डॉ० बनारसीदास जैन।
११. अपभ्रंश साहित्य—डॉ० रामसिंह तोमर, शांतिनिकेतन।

तृतीय खंड

'हिन्दी साहित्य' के तृतीय खंड की योजना भी पूर्ण की जा रही है। 'हिंदी साहित्य' के ये तीनों खंड हिंदी के प्रत्येक गंभीर विद्यार्थी के लिए अत्यंत उपयोगी होंगे, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। ग्राहकों की सूची में नाम लिखाने के लिए निम्नलिखित पते से लिखिए।

भारतीय हिंदी परिषद्,
प्रधान कार्यालय—प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग।

प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद् के प्रकाशन

तुलसीदास—लेखक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, मूल्य ८)

तुलसीदास से सम्बन्ध रखने वाली नवीनतम प्रामाणिक सामग्री के लिए यह ग्रन्थ उच्च कक्षा के हिन्दी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है।

सूरदास—लेखक, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, मूल्य ८)

लेखक ने सूरदास से संबंध रखने वाली समस्त उपलब्ध सामग्री का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अपने निष्कर्षों को उपस्थित किया है।

आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका—लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ८)

इसमें लेखक ने आधुनिक हिंदी साहित्य पर नवीन प्रकाश डाला है।

आधुनिक हिंदी साहित्य (१८५०-१९०० ई०) लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ६)

आधुनिक हिन्दी साहित्य की लगभग एक शताब्दी का यह प्रथम विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००—१९२५ ई०—) लेखक, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, द्वितीय संस्करण, मूल्य ६)। हिन्दी साहित्य के विकास का क्रमबद्ध, सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन इस ग्रन्थ में हिन्दी पाठकों को प्रथम बार प्राप्त होगा।

राम-कथा—लेखक, रेवरेंड फ़ादर डॉ० कामिल बुल्के, प्रथम संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रन्थ राम-कथा संबंधी सामग्री का विश्वकोष है। हिन्दी क्या किसी भी यूरोपीय अथवा भारतीय साहित्य में इस प्रकार का दूसरा राम-कथा विषयक अध्ययन उपलब्ध नहीं है।

कवित्त रत्नाकर—मूल लेखक, सेनापति, संपादक, पं० उमाशंकर शुक्ल, मूल्य ३॥)

अर्द्धकथा—मूल लेखक, बनारसीदास जैन, संपादक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, मूल्य १)

बीसलदेव रास—संपादक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचंद नाहटा, प्रथम संस्करण, मूल्य ३॥)। यह ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी विक्रमी के राजस्थानी काव्य का वैज्ञानिक रीति से संपादित संस्करण है।

हिंदी साहित्य (१९२६-१९४७)—लेखक डॉ० भोलानाथ, मूल्य ८)

डी०फ़िल्० के लिए स्वीकृत यह शोध प्रबंध हिंदी साहित्य के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण योग है।

गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन—लेखक, डॉ० जगदीश गुप्त, प्रथम संस्करण, मूल्य ८)। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल् उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी और ज्ञान-वर्द्धक ग्रन्थ।

रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव—लेखक, डॉ० बदरी नारायण श्रीवास्तव, प्रथम संस्करण, मूल्य ८)। आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी एच्० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध। प्रस्तुत ग्रंथ रामानन्द सम्प्रदाय का प्रथम विस्तृत और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है और हिन्दी, संस्कृत तथा भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।